हिन्दी-उपन्यास

का

वि

का

स

और

नैतिकता

❦

अनुसन्धान
प्रकाशन

हिन्दी-उपन्यास का विकास और नैतिकता

डॉ० सुखदेव शुक्ल
एम० ए०, पी-एच० डी०

अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर

प्रस्तावना

उपन्यास की जितनी भी परिभाषायें की गयी हैं, उनमें इसके मूल तत्व (उप+न्यस्त्—अर्थात्, जीवन के निकट) को ही अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गयी है। मैथ्यू आर्नल्ड ने इसे 'जीवन की आलोचना' कहा है, तो हैनरी जेम्स ने उपन्यास की सार्थकता 'जीवन की अभिव्यक्ति' में देखी है। इसी प्रकार राल्फ फाक्स ने जहां इसे 'मानव जीवन का गद्य' कहा है और जेम्स वारेन बीच ने 'मानव स्वभाव के अध्ययन' को उपन्यास का मूल लक्ष्य बताया है, वहां ग्रांट ओवर्टन ने उपन्यास में 'मानव के अन्तर्जीवन' की अभिव्यक्ति' को प्रमुखता दी है और प्रेमचन्द ने 'मानव-चरित्र के रहस्योद्घाटन को' उपन्यास का मूल तत्व कहा है। तात्पर्य यह कि घुमा फिरा कर एक ही बात कही गयी है कि उपन्यास-रचना का मूलाधार मानव जीवन है और इसका मूल लक्ष्य मानव-जीवन की व्याख्या करना है। उपन्यास और मानव-जीवन को सभी ने अभिन्न माना है, और विविध शब्द-योजना द्वारा इस अभिन्नता को उन्मुक्त रूप से स्वीकार किया है।

उपन्यास और मानव-जीवन की इस अभिन्नता का अनिवार्य परिणाम उपन्यास और नैतिकता की अभिन्नता में भी प्रकट हुआ है। उपन्यास का काम मानव-आचरण की व्याख्या करना है तो नैतिकता, मानव के आचरण का नियमन करती है। इसलिये, उपन्यास और नैतिकता का क्षेत्र एक होने के कारण दोनों को अलग-अलग रखना सम्भव नहीं है। मानव आचरण की व्याख्या अथवा मूल्यांकन करते समय उपन्यासकार को विवश होकर नैतिक आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों का सहारा लेना पड़ता है, इसलिये भी उपन्यास और नैतिकता में दूरी बनाये रखने का प्रयास असफल ही नहीं, हास्यास्पद कहलायेगा।

उपन्यास और नैतिकता की उपर्युक्त अभिन्नता को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत शोध की योजना की गयी है। उपन्यास और नैतिकता का क्षेत्र एक होने के कारण उपन्यास रचना में नैतिकता का समावेश अनिवार्य तो है ही, साथ ही उपन्यास की रचना और इसके विकास पर भी नैतिकता का प्रबल एवं अमिट प्रभाव पड़ना अपरिहार्य है। अतएव, उपन्यास-रचना पर नैतिकता के प्रभाव के दृष्टि-कोण से प्रस्तुत प्रबन्ध में हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास का अध्ययन किया गया है। एक दृष्टि से देखा जायें तो हिन्दी उपन्यास के विकास का नैतिक दृष्टिकोण

से अध्ययन, नया होने के साथ-साथ मौलिक भी है। इस अध्ययन को गहन एवं व्यापक बनाने के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध को पांच परिच्छेदों में बांटा गया है। ये पांच परिच्छेद, वस्तुत:, इस अध्ययन के पांच विविध पहलू हैं, इसलिये इसके आगे इन पांच परिच्छेदों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, जिससे इस अध्ययन की सामान्य रूपरेखा स्पष्ट की जा सके।

प्रस्तुत प्रबन्ध का प्रथम परिच्छेद उपन्यास-रचना पर नैतिकता के प्रभाव के अध्ययन के सिद्धान्त-पक्ष से सम्बन्ध रखता है। इसमें नैतिकता के लक्ष्य और इसके त्रिविध-रूप की विवेचना करते हुए नैतिकता और साहित्य के परस्पर सम्बन्धों पर विचार किया गया है। तदुपरान्त, उपन्यास-रचना की प्रक्रिया और उपन्यास के लक्ष्य, उपन्यास-साहित्य पर उपन्यासकार की आत्माभिव्यक्ति और उसके नैतिक चिन्तन के प्रभाव के आलोक में इसी बात को परखने की चेष्टा की गयी है कि यह प्रभाव कहां तक अनिवार्य है और उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण में इसका कहां तक हाथ है। इस प्रकार, साहित्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करने के उपरान्त, प्रस्तुत प्रबन्ध के मूल विषय—अर्थात्, उपन्यास और नैतिकता के आपसी सम्बन्ध के विविध पहलुओं की विवेचना की गयी है।

दूसरे परिच्छेद में हिन्दी उपन्यास के विकास की पृष्ठभूमि का नैतिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्यों-ज्यों उपन्यास और मानव-जीवन की निकटता बढ़ती गयी, त्यों-त्यों हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का उत्तरोत्तर विकास होता गया है। इस सामीप्य-वृद्धि की तीन स्थितियों, और तदनुसार, हिन्दी उपन्यास के विकास के तीन चरणों पर दूसरे परिच्छेद में विचार किया गया है। इस विकास के प्रथम चरण में हिन्दी उपन्यास और मानव-जीवन का बहुत थोड़ा सम्बन्ध था, इसलिए नीति-शिक्षा अथवा लोकरंजन की प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए हिन्दी में उपदेशात्मक अथवा तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों का बोलबाला रहा। दूसरे चरण में मानव-जीवन की व्याख्या के प्रयास के कारण सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा पुष्ट हुई, और तीसरे चरण में मानव के अन्तर्जीवन के चित्रण के कारण मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की नींव पड़ी। इस प्रकार, इस परिच्छेद में यही बात दिखायी गयी है कि हिन्दी का उपन्यास-साहित्य मानव-जीवन के विविध पहलुओं की अधिकाधिक व्याख्या करने के प्रयास में स्वयं भी विकसित हुआ है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के तीसरे परिच्छेद में, उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण पर उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन एवं जीवन-दर्शन के प्रभाव की दृष्टि से, हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-विकास का सविस्तार अध्ययन किया गया है। इस स्वरूप-विकास सम्बन्धी अध्ययन के लिये हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासकारों की रचनाओं पर विचार किया गया है। हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासकारों के नाते सर्वश्री प्रेमचन्द, जयशंकरप्रसाद

वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' और यशपाल प्रभृति प्रसिद्ध उपन्यासकार लिये गये हैं। इन उपन्यासकारों के नैतिक चिन्तन एवं जीवन-दर्शन की विविधता ने हिन्दी उपन्यास के उद्देश्य, कथानक, चरित्र-चित्रण, भाषा आदि विभिन्न तत्वों को किस प्रकार प्रभावित किया है और हिन्दी उपन्यास का स्वरूप-विकास कैसे हुआ है—वस्तुत, इन बातों का सविस्तार अध्ययन ही तीसरे परिच्छेद का लक्ष्य है। इस विस्तृत अध्ययन के कारण प्रस्तुत प्रबन्ध का तीसरा परिच्छेद अत्यन्त महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। इस परिच्छेद में उपन्यास-रचना पर उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन के प्रभाव का अध्ययन प्रमुख रूप से किया गया है, इसलिए इसे व्यक्तिपरक अध्ययन कहना अधिक ठीक है। साथ ही, हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासकारों का अध्ययन इस क्रम से किया गया है कि हिन्दी उपन्यास-साहित्य के क्रमिक विकास की सामान्य रूपरेखा भी खिंचती चली गयी है।

उपन्यास-रचना पर उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन के प्रभाव का एक और पहलू से अध्ययन करने के लिए, चौथे परिच्छेद में पात्रों के सृजन और उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन में विद्यमान मूलभूत साम्य पर विचार किया गया है। इस मूलभूत साम्य के आलोक में हिन्दी उपन्यास के नायक, खलनायक, नायिका तथा गौण पात्रों की उद्भावना और उनके चरित्र-विकास की प्रवृत्तियों की विशेष रूप से विवेचना की गयी है। इस परिच्छेद में यही दिखाया गया है कि ज्यों-ज्यों उपन्यासकार का चिन्तन नैतिक मर्यादा-पालन और नैतिक आस्था से परे हटकर, नैतिक विद्रोह और नैतिक अनास्था की ओर प्रवृत्त हुआ है, त्यों-त्यों उपन्यास के नायक और नायिकाओं के चरित्र की उद्भावना और उनके चरित्र-विकास में नैतिक अनास्था और विद्रोह का स्वर प्रबल हो उठा है। इसी प्रकार, खलनायक की उद्भावना में भी उपन्यासकार का नैतिक चिन्तन मुखरित हो उठा है। सामाजिक कलुषता को खलनायक का चोला ओढ़ाते-ओढ़ाते उपन्यासकार ने मानव-मन की आन्तरिक गन्दगी को खलनायक के रूप में प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के अंतिम परिच्छेद में हिन्दी उपन्यास के विकास के व्यक्तिपरक अध्ययन के बजाय, वस्तुपरक अध्ययन को प्रमुखता दी गयी है। तीसरे और चौथे परिच्छेद में उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन को आधार मानकर हिन्दी उपन्यास के विकास का जहां व्यक्तिपरक अध्ययन किया गया है, वहां पांचवें परिच्छेद में, समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन पर सामान्य विचार करते हुए हिन्दी उपन्यास के विकास का वस्तुपरक अध्ययन किया गया है। हिन्दी उपन्यास ने समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन को चित्रित करने का प्रयास किया है और इस चित्रण के प्रयास में स्वयं भी विकसित हुआ है। समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाला परिवर्तन मुख्यतः समाज में धर्म-भावना, वर्ण-व्यवस्था, नारी

की स्थिति, प्रेम, विवाह आदि विविध क्षेत्रों में हुआ है। हिन्दी उपन्यास के विकास पर समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन की प्रवृत्तियों एवं परिवर्तन के क्रम का इस रूप में प्रभाव पड़ा है कि नैतिक परिवर्तन की प्रगतिवादी, बुद्धिवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां उपन्यास के विकास की भी प्रवृत्तियां बन गयी है और नैतिक परिवर्तन का उद्बोधन, विश्लेषण और विद्रोह का क्रम उपन्यास के विकास का क्रम बन गया है। इस प्रकार, पांचवें परिच्छेद में नैतिक दृष्टि से हिन्दी उपन्यास के विकास का वस्तुपरक अध्ययन किया गया है।

हिन्दी उपन्यास के विकास का नैतिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने के लिए प्रस्तुत प्रबन्ध को जिन पांच परिच्छेदों में बांटा गया है, उनका ऊपर संक्षिप्त परिचय-मात्र दिया गया है। इस परिचय से इस प्रबन्ध के लक्ष्य एवं क्षेत्र की सामान्य जानकारी देने के अतिरिक्त हिन्दी उपन्यास के विकास की सामान्य प्रवृत्तियों की हल्की-सी रूपरेखा खींचने का यत्न किया गया है। अतएव, यहां पर इस संक्षिप्त परिचय से ही सन्तोष कर, इसके आगे हिन्दी उपन्यास के विकास का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत शोध-कार्य लखनऊ विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक, गुरुवर डा० विपिन बिहारी जी त्रिवेदी के निर्देशन में सम्पूर्ण हुआ है। शोध के क्षेत्र में मुझ सरीखे नौसिखिये अनुसन्धित्सु को अपने अगाध स्नेह से प्रोत्साहित कर और अपने अमूल्य सुझावों से सही मार्ग बताकर, आपने इस शोध को अधिकाधिक गहन बनाने और इस प्रबन्ध को संवारने के लिए जो मेरा अनुपम मार्गदर्शन किया है, उसके लिए मैं गुरुवर का बहुत ही आभारी हूं। इस शोध को पूरा करने का श्रेय, वस्तुतः, आपके स्नेहपूर्ण निर्देशन को ही दिया जायेगा, मैं तो केवल निमित्त-मात्र रहा हूं। इस पर, इस प्रबन्ध की पाण्डुलिपि को बार-बार पढ़ने और सुझाव देने का आपने जो अनेक बार कष्ट उठाया, उसे देखते हुए अन्त में मैं यही कहूंगा कि प्रस्तुत शोध की जो भी अच्छाइयां हैं, वे आपके निर्देशन के कारण हैं, और जो भी कमियां हैं, वे मेरे अनाड़ीपन के कारण है, इसलिये मेरी हैं।

—सुखदेव शुक्ल

विषयानुक्रम

वाद, आशावाद, आदर्शवाद, प्रेमचन्द के चिन्तन के विविध रूप, सुधारवादी रूप, गांधीवादी रूप, समाजवादी रूप, साहित्यिक आदर्श, साहित्य और जनकल्याण, साहित्यादर्श और जीवनादर्श में समानता; उपन्यास-रचना का उद्देश्य—सोद्देश्य साहित्य रचना, उपयोगितावादी पक्ष, नामकरण, विषय चयन, नारी समस्या, अछूत समस्या, कृषक वर्ग की समस्यायें, निष्कर्ष, उपदेशात्मकता, परोक्ष प्रणाली, प्रत्यक्ष प्रणाली; कथावस्तु—समस्या मूलक कथानक, उपसंहार, नाटकीय प्रसंग, सुखान्त व दुखान्त कथानक; चरित्रचित्रण—पात्रों का चयन, पात्रबाहुल्य, आदर्शानुराग की प्रवृत्ति, पात्रों का चरित्र विकास; भाषा—सोद्देश्य भाषा, नीति वाक्यों की भरमार, व्यंग्य पूर्ण भाषा, संयमपूर्ण भाषा ।

जयशंकर 'प्रसाद'—यथार्थवादी उपन्यास रचना की परम्परा, जीवनदर्शन, साहित्य और दर्शन, अध्यात्मवाद, आनन्दवाद, मानववाद; उद्देश्य पक्ष—दुख और अभाव का चित्रण, नामकरण, विषय चयन, निष्कर्ष-निर्धारण; कथानक—कथानक का गठन, नियति, चमत्कारपूर्ण घटनायें, उपसंहार; चरित्र चित्रण—पात्रों का व्यापक चयन, चरित्र चित्रण, सामाजिक विषमता का चित्रण; भाषा—काव्यतत्व का प्राधान्य, सूक्तियां, व्यंग्यपूर्ण भाषा । वृन्दावनलाल वर्मा—ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा, साहित्य सृजन और ऐतिहासिक शोध का समन्वय, बुन्देलखण्ड के प्रति श्रद्धा, व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति, जीवन-दर्शन, आत्मत्याग का आदर्श, प्रेम का सात्विक रूप, तेजस्विता और शौर्य का आदर्श; उद्देश्यपक्ष—स्वर्णिम अतीत का उद्घाटन, विषयचयन, निष्कर्ष निर्धारण; कथानक—गठन, विकास, युद्ध की घटनायें, प्रणय-प्रसंग, उपसंहार, चरित्र चित्रण–पात्रों का चयन, चरित्र-विकास, स्वाभिमान की भावना, आत्मबलिदान; भाषा—ओजस्विता, वीरदर्पोक्तियां, संयत भाषा ।

जैनेन्द्रकुमार—जीवनदर्शन; दार्शनिकता, बुद्धिवादिता, अहिंसाभाव, अहं का दमन, हिंसा का तिरस्कार, जैनेन्द्र और गांधीवाद, साहित्यादर्श, साहित्य और साहित्यकार, साहित्य का लक्ष्य, उपन्यास का लक्ष्य; उद्देश्यपक्ष—नामकरण, नामकरण द्वारा उद्देश्य का संकेत, विषय चयन, नैतिक और मनोवैज्ञानिक जटिलताओं का चित्रण, अहमन्यता का उद्घाटन, समाज का चित्रण; निष्कर्ष-निर्धारण—जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा, त्याग और प्रेम का आदर्श, अहिंसा का आदर्श, आत्मरति के दुष्परिणाम, आत्मपीड़न का महत्व, निस्पृह जीवन का आदर्श; कथानक—कथावस्तु की गौण स्थिति; कथानक का गठन—नैतिक अन्तर्द्वन्द्व पर आधारित; कथा-का विकास—व्यक्तिनिष्ठ कथानक, संकेत प्रधान कथानक । असाधारण

घटनाओं का अभाव, औत्सुक्य का संचार, अश्लील घटनायें, जैनेन्द्र का साध्य; कथानक का उपसंहार—नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा, नैतिक कर्तव्य, अहंभाव का दमन, हिंसा की व्यर्थता, निस्संग जीवन का आदर्श, दुखान्त कथानकों का बाहुल्य, प्रशनान्त कथानक; पात्र व चरित्र चित्रण—पात्रों का चयन, वर्गीकरण, स्वल्पता, प्रवृत्ति निर्देश, आदर्शवादी और दार्शनिक पात्र चरित्रविकास, प्रवृत्ति उद्‌घाटन, रहस्यात्मक आदर्शवाद, नारी पात्रों का स्वेच्छाचार, व्यक्तित्वहीन पतिपात्र, स्वेच्छाचार का समर्थन; भाषा—सरल एवं प्रवाहमयी भाषा, विचार प्रवर्तकता, समर्थ एवं लालित्यपूर्ण भाषा, जनसंस्कृति की प्रतिष्ठा, प्रतीक योजना, संयत भाषा ।

इलाचन्द्र जोशी—जीवनदर्शन : जनवाद, अहंवाद का उन्मूलन, समन्वयवाद, जनसंस्कृति की प्रतिष्ठा; उद्देश्यपक्ष—उद्देश्यपक्ष की प्रबलता, विषय चयन, मानसिक जटिलता और अन्तर्द्वन्द्व; निष्कर्ष निर्धारण—उदात्त निष्कर्ष, अहंवाद और समाजघाती प्रवृत्तियां, कुण्ठा और समाजघात, बूर्जवामनोवृत्ति और अहम्प्रेम; कथानक—कथानक का गठन, मानसिक द्वन्द्व और कुण्ठा का आधार, उलझन का मूलरूप; कथानक का विकास—द्वन्द्व और कुण्ठा का उद्‌घाटन, मानसिक प्रतिक्रिया, असाधारण घटनाओं का समावेश, वासनापूर्ण प्रसंग, विश्लेषण का लक्ष्य, उपसंहार, अन्त; पात्र व चरित्र चित्रण—पात्र-चयन, समाज का व्यापक चित्रण, व्यापक चयन, जटिलता का चित्रण; प्रवृत्ति निर्देश—असाधारण प्रवृत्तियां, चरित्रविकास, अतिवादी चित्रण, असाधारण पात्र, अतिमानव पात्र, दार्शनिक चिन्तन और मनोविश्लेषण; भाषा—उपमाओं की भरमार, वैज्ञानिक उपमायें, लम्बे कथोपकथन ।

'अज्ञेय'—जीवनदर्शन : फ्रायडवाद का प्रभाव, व्यक्तिवादी चिन्तन, आत्मदमन का विरोध, विद्रोहभावना, दुखपूजा; साहित्यिक आदर्श—अहं की प्रतिष्ठा, विद्रोह का स्वर, उद्देश्यपक्ष—विषयचयन, विद्रोह भावना; निष्कर्ष निर्धारण—विद्रोह में सिद्धि; कथानक—गठन और विकास, विद्रोह की कहानी, नियति की गाथा; कामुक प्रसंग, नैतिक मर्यादाओं की उपेक्षा; पात्र व चरित्रचित्रण—निजत्व का प्रक्षेपण, सृजन और चरित्रविकास, जटिल पात्र, स्वच्छन्द आचरण, दार्शनिक आधार, भावुक आदर्शवाद; भाषा—समर्थ एवं प्रौढ़ भाषा, प्रतीक योजना, काव्यमयी भाषा, नग्न चित्रण ।

यशपाल—राजनैतिक उपन्यासों की परम्परा; जीवनदर्शन—मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव, आर्थिक निर्धारण का प्रभाव, समाजवाद का लक्ष्य, चिंतन का आधार, समाजवाद का आदर्श, पूंजीवाद और गांधीवाद से

१

साहित्य और नैतिकता

(सिद्धान्त पक्ष)

वर्तमान युग में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिक प्रश्न अधिकाधिक उभर कर सामने आ रहे हैं और हरेक का ध्यान अपनी ओर खींच रहे हैं। क्या विज्ञान और राजनीति, क्या उद्योग और समाज-व्यवस्था, क्या धर्म और शिक्षा और क्या दर्शन एवं साहित्य—इन सभी में नैतिकता और नैतिक प्रश्नों के प्रति बढ़ती हुई रुचि तुरन्त दिखाई दे जाती है। उदाहरण के लिये, जब हम विज्ञान की प्रगति अथवा इस प्रगति के अन्तिम लक्ष्य के बारे में विचार करते हैं तो हमारा चिन्तन इस प्रश्न के नैतिक पहलू के प्रति बरबस आकृष्ट हो जाता है। यही बात राजनैतिक सिद्धान्त और आन्दोलन, साहित्य-सृजन और साहित्य के लक्ष्य आदि, जीवन के इतर क्षेत्रों के बारे में भी सत्य है। जब तक हम इन विविध क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रश्नों के नैतिक पहलुओं पर विचार न कर लें, तब तक हमें अपना चिन्तन अधूरा और अपने निष्कर्ष दोष-पूर्ण प्रतीत होते हैं। अतः, सम्यक् चिन्तन एवं सम्यक् निष्कर्ष-निर्धारण में नैतिक दृष्टिकोण का महत्व इस बात का साक्षी है कि वर्तमान युग का रुझान नैतिकता और नैतिक प्रश्नों की ओर उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

नैतिक संक्रमण का काल

नैतिकता के इस बढ़ते हुये महत्व के बारे में यदि हम थोड़ा-सा विचार करें तो इस महत्व का मूल कारण स्पष्ट हो जायेगा। आज हम जिस युग में रह रहे हैं उसमें नवीनता और प्रगति का बोलबाला है। पुराने जीवनादर्शों के स्थान पर नये जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा हो रही है और पुरानी जीवन-प्रणाली के स्थान पर नई जीवन-प्रणाली अपनाई जा रही है। इतना ही नहीं, धार्मिकता और नैतिकता को, श्रद्धा और आध्यात्मिकता की पुरानी कसौटियों के बजाय, तर्क और बुद्धिवाद की नई कसौटियों पर परखा जा रहा है। इस प्रगति और नवीनता का आगे चल कर

चाहे जो परिणाम हो, इस समय इसके कारण पुराने नैतिक विश्वासों की जड़ें हिलती जा रही हैं और पुराने नैतिक आदर्शों की चमक-दमक फीकी पड़ती जा रही है। इस दृष्टि से देखा जाये तो यह नैतिक संक्रमण का काल है जिसमें पुराने जीवनादर्श और विश्वास, मत और मूल्यों में परिवर्तन आता जा रहा है और नये युग के नये आदर्श, नये विश्वास, नये मत और नये मूल्य घर करते जा रहे हैं। यह संक्रमण धीरे-धीरे किन्तु निश्चित रूप से हो रहा है।

इस संक्रमण के तात्कालिक परिणामस्वरूप व्यक्ति के मन में पुराने जीवनादर्शों के प्रति अश्रद्धा और पुरातन नैतिक मूल्यों के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु जब पुरातन पर तो व्यक्ति की पकड़ ढीली हो जाये और नूतन उसकी समझ में न आये, तब ऐसी शून्य स्थिति में उसकी जो असहाय अवस्था हो सकती है, उसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। देखा जाये तो आज का मानव प्रायः ऐसी ही निराधार एवं निःसहाय अवस्था में है। जीवन का पुराना आधार वह खो बैठा है और नया आधार उसे अभी मिला नहीं है। कोई-न-कोई आधार प्राप्त करने के लिये वह व्याकुल है, और आश्चर्य की बात नहीं कि उसकी इस व्याकुलता और छटपटाहट ने ही उसे नैतिक प्रश्नों के बारे में सोचने को विवश कर दिया है। जिस प्रकार स्वस्थ व्यक्ति की अपेक्षा बीमार को अपनी सेहत की चिन्ता अधिक सताती है, उसी प्रकार नैतिक संक्रमण काल में नैतिक प्रश्न जितना उभर कर सामने आते हैं उतना अपेक्षाकृत स्थिर अथवा शान्त काल में नहीं। आज के नैतिक संक्रमण-काल में नैतिक प्रश्नों के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई रुचि के पीछे, वस्तुतः, यही कारण है।

नैतिक विकास-क्रम और संक्रमण काल—मानव के नैतिक विकास के क्रम में ऐसे संक्रमण-काल बहुधा आते रहते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि नैतिक क्षेत्र में मानव के विकास का क्रम वैसा सुनिश्चित अथवा क्रमबद्ध नहीं है, जैसा कि उदाहरण के लिए विज्ञान में क्षेत्र में है। मानव के नैतिक विकास में उतार-चढ़ाव एवं उत्कर्ष-अपकर्ष की अनेक स्थितियां आती हैं। यहां तो बीच-बीच में ऐसा प्रतीत होता है कि मानों अनैतिकता की बाढ़ आ गयी है और मानव ने पुराने नैतिक आदर्शों की अवहेलना करने तथा परम्परागत नैतिक विश्वासों की खिल्ली उड़ाने पर कमर कस ली है। तब उसके लिये नैतिक आस्था अथवा नैतिक सत्य नाम की किसी चीज का अस्तित्व शेष नहीं रहता और वह मूलभूत नैतिक आदर्शों एवं मान्यताओं के प्रति सन्दिग्ध दृष्टि से देखने लगता है। इस अनास्था की स्थिति को सर डेविड रास ने मानव के नैतिक विकास-क्रम में अत्यन्त स्वाभाविक माना है और इस अनास्था के मूल में स्थित उसकी ईमानदारी एवं नैतिक आधार ढूंढ़ने के लिये उसकी व्याकुलता की ओर संकेत किया है।[1] आज के नैतिक संक्रमण-काल में इसी

1. Sir W. David Ross, 'Foundations of Ethics', P. 21

छटपटाहट का ही यह परिणाम है कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिक प्रश्न प्रमुख हो उठे हैं और इसके प्रति आग्रह उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

नैतिकता के प्रति बढ़ता हुआ यह आग्रह, जीवन के अन्य क्षेत्रों के समान, साहित्यिक क्षेत्र में भी दिखायी देता है। साहित्य-सृजन की नयी-नयी प्रवृत्तियों और नये-नये साहित्यिक प्रयोगों ने पुराने साहित्यिक आदर्शों एवं मापदण्डों को मानों चुनौती दे दी है। इन नयी प्रवृत्तियों ने जहां एक ओर साहित्य के विकास के शतशः मार्ग प्रशस्त कर दिये हैं, वहां दूसरी ओर, इन्होंने कुछ नयी समस्यायें भी उत्पन्न कर दी हैं। ये समस्यायें इन नयी प्रवृत्तियों और नये साहित्यिक प्रयोगों के औचित्य-अनौचित्य के मूल्यांकन से सम्बन्ध रखती हैं। यदि हम तनिक गहरे जाकर विचार करें तो पता चलेगा कि यह मूल्यांकन, अन्ततोगत्वा, नैतिक आधार पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार, इन नयी प्रवृत्तियों ने जिन ससस्याओं को जन्म दिया है उनके मूलतः नैतिक होने के कारण, साहित्यक क्षेत्र में भी नैतिक प्रश्नों की भरमार हो गयी है। उदाहरणार्थ, साहित्य और नैतिकता का परस्पर क्या सम्बन्ध है, साहित्य को नैतिकता की कसौटी पर परखना चाहिये या नहीं, साहित्य में नैतिक तत्व का समावेश होना चाहिये या नहीं, इत्यादि अनेक प्रश्न उठ खड़े हुये हैं। इन अनेक विध प्रश्नों का उत्तर देने के पहले यह आवश्यक है कि नैतिकता के वास्त-विक स्वरूप की व्याख्या की जाये। अतः, इसके आगे नैतिकता के विवेचन, इसके विविध स्वरूपों की व्याख्या को प्राथमिकता दी गयी है। तदुपरान्त, साहित्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध और इस सम्बन्ध के इतर पहलुओं पर विचार किया गया है।

शब्द-व्याख्या और नैतिकता के त्रिविध रूप

प्रत्येक समाज अपने अन्दर शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये एक विशिष्ट प्रकार की आचार पद्धति निर्धारित करता है। इस आचार पद्धति का लक्ष्य यही होता है कि समाज के सदस्य एक-दूसरे से टकराने के बजाय परस्पर मिल-जुल कर जीवन व्यतीत करें और समाज के सामूहिक जीवन को समृद्ध एवं सुखी बनायें। समूचे समाज द्वारा स्वीकृत यह विशिष्ट आचार पद्धति धीरे-धीरे एक सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित व्यवस्था का रूप धारण कर लेती है और समाज के अन्दर रहने वाले सभी व्यक्तियों के आचरण का निर्देशन व नियन्त्रण करने लगती है। यहां आकर इस सुनिश्चित एवं व्यवस्थित आचार पद्धति को 'नैतिकता' की संज्ञा दी जाती है और सामाजिक जीवन में व्यवस्था एवं शान्ति बनाये रखने वाला आचरण 'नैतिक' कहलाने लगता है। इस प्रकार नैतिकता से अभिप्राय व्यक्ति के आचरण का निर्देशन करने वाली उस विशिष्ट नियम-व्यवस्था अथवा आचार-पद्धति से है जिसे समाज अपने सदस्यों के लिये रचता है। इस व्यवस्था के अनुरूप किये जाने वाले आचरण

को 'नैतिक' कहकर समाज उसकी सराहना करता है, और विपरीत आचरण को 'अनैतिक' कहकर उसकी भर्त्सना करता है।

सामाजिक जीवन में शान्ति एवं समरसता उत्पन्न करने वाली नैतिक व्यवस्था की व्याख्या करते हुये श्री राल्फ पैरी ने भी इसे 'परस्पर विरोधी हितों के संघर्ष को मिटाने वाली व्यवस्था' कहा है।[1] तदनुसार, व्यक्ति अथवा समाज के विविध वर्गों की संघर्षात्मक प्रवृत्तियों और हितों की सीमा बांध दी जाती है ताकि ये प्रवृत्तियां सामूहिक जीवन में उत्पात मचाने के बजाय अपने ही दायरे में सीमित रहें। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिससे समाज के सदस्य आपस में ही लड़-भिड़ कर नष्ट होने के बजाय एक-दूसरे के हित का ध्यान रखते हुये परस्पर मिलजुल कर रह सकते हैं।

धर्म और नैतिकता—नैतिकता के जिस सर्वहितकारी एवं मंगलमय रूप का ऊपर उल्लेख किया गया है उसके दर्शन हमें भारतीय समाज की धर्म-भावना में हो जाते हैं। हमारे यहां धर्म की व्याख्या करते हुये कहा गया है—

धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयति प्रजाः।
यत् स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चय ॥[2]

धर्म की उपर्युक्त व्याख्या में प्रजा की, समाज की धारणा को शीर्षस्थान दिया गया है। जिस कर्म से समाज का हित-साधन हो उसे धार्मिक या नैतिक, और जिससे समाज के हित को क्षति पहुंचे उसे अधार्मिक अथवा अनैतिक कहा जाता है। इस दृष्टि से भारतीय समाज में धार्मिकता और नतिकता सम्बन्धी धारणायें अलग-अलग न होकर, एकरूप हो गई हैं; धार्मिक और नैतिक आचरण में कोई भिन्नता नहीं है। इसके अतिरिक्त, 'अभ्युदय निःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः' कह कर धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि का—अर्थात्, इस लोक और परलोक दोनों में कल्याण-सम्पादन का साधन माना गया है। धर्म की इस व्यापक कल्पना के अन्तर्गत जीवन के सभी पहलू आ जाते हैं। सांसारिक हो या आध्यात्मिक, इहलौकिक हो या पारलौकिक, अथवा भौतिक हो या नैतिक, सभी प्रकार के कर्मक्षेत्र पर धर्म का शासन स्वीकार किया गया है। धर्म की इस व्यापक कल्पना में नैतिकता का समावेश हो जाता है। धर्म का लक्ष्य है प्रजा की, समाज की धारणा और यही नैतिकता का भी चरम लक्ष्य है।

नैतिकता के त्रिविध रूप—सामाजिक सामंजस्य एवं समरसता को नैतिकता का चरम लक्ष्य मान कर इसकी जो व्याख्या अब तक की गई है, वह स्वयं पूर्ण होते हुये भी एकांगी है; एकांगी इसलिये, क्योंकि यदि समाज-हित को ही प्रमुखता दी

---

1. Ralph Barton Perry, 'Realms of Value' P. 90.
२. महाभारत, कर्णपर्व, श्लोक-६८।

जाये तो इसके कारण समाज का निर्माण करने वाले व्यक्तियों के प्रति अथवा इतर समाजों के प्रति उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो जायेगा। समाज-हित की चिन्ता एक निश्चित सीमा पार करने के बाद अतिवाद का रूप धारण कर लेगी और तब यह अतिवाद समाज की रचना करने वाले व्यक्तियों को अथवा इतर समाजों को कुचलने पर उतारू हो जायेगा। इस अतिवाद से बचने के लिये नैतिकता को, समाज की रचना करने वाले व्यक्तियों का तथा इतर समाजों का—अर्थात्, मानवता का भी ध्यान रखना होगा। इस प्रकार नैतिकता को मानवता, समाज और व्यक्ति—इन तीनों के हितों के बारे में एक साथ सोचना पड़ता है। इन तीनों का अलग-अलग ध्यान रखने के कारण हमें नैतिकता के तीन रूप दिखाई देते हैं—मूल नैतिकता या सार्वभौम नैतिकता, सामाजिक नैतिकता और वैयक्तिक नैतिकता। नैतिकता के इन तीनों रूपों का विवेचन करने के बाद ही हम इसका यथार्थ रूप जान सकेंगे।

मूल नैतिकता—भारतीय मनीषियों ने मानव-मात्र के कल्याण की कामना करते हुये कहा है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुखभाग्भवेत् ।।

उन्होंने अपने ही समाज तक अपनी सहानुभूति सीमित न रखकर समस्त मानवता के कल्याण की कामना की है। उनकी दृष्टि विशाल थी इसलिये उनकी नैतिकता की कल्पना सार्वभौमिक और सर्वकालिक है। दूसरे शब्दों में, यह मूल नैतिकता की कल्पना है जिसमें मानव-मात्र के सुख और कल्याण को सर्वोपरि समझा गया है। इस रूप में मूल नैतिकता और मानववाद में कोई अन्तर नहीं है। श्री कोर्लिस लेमंट ने मानववाद की व्याख्या करते हुये इसे मानवप्राणिवाद की संज्ञा दी है।[1] इसका अर्थ है मानव-मात्र के हित की चिन्ता, फिर वह मानव चाहे कहीं भी रहे और किसी भी वर्ग का हो। मानववाद, मानव के हित को ही प्रत्येक आचरण की अच्छाई या बुराई की कसौटी मानता है। इस प्रकार मानव-मात्र के कल्याण पर आधारित मूल नैतिकता और मानववाद के आदर्श समान हैं।

मूल नैतिकता मानवता के कल्याण की चिन्ता करती है इसलिये इसकी दृष्टि विशाल है और इसका चिन्तन उच्चादर्शों को अपने सम्मुख रखे हुये है। मूल नैतिकता ने मानव को मानव के नाते सम्मानित करते हुये मानव-मात्र की स्वतन्त्रता भ्रातृत्व और समता के आदर्शों को प्रमुखता दी है। इसने रंगभेद, जातिभेद, अथवा धर्मभेद की संकुचित घेरेबन्दी को तोड़कर सम्पूर्ण मानवता के कल्याण को अपना चरम लक्ष्य बनाया है। कहना न होगा कि विश्व भर के जितने भी प्रसिद्ध जीवन-

---

1. Corliss Lamont, 'Humanism as a Philosophy' P. 23

दर्शन हैं उन्होंने मूल नैतिकता के इस आदर्शवादी चिन्तन को किसी-न-किसी रूप में अपना आधार बनाया है, और इसी से जीवन-रस पाकर वे फले-फूले हैं।

मूल नैतिकता ने जहां एक ओर मानव-मात्र की स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व की आदर्शत्रयी को अपने सम्मुख रखा है, वहां दूसरी ओर इसने मानव-मात्र के लिये कुछ कर्त्तव्यों की योजना भी की है। इन कर्त्तव्यों में प्रमुख हैं—प्रेम, सेवा और त्याग। मूल नैतिकता मानव-मात्र से इस बात की अपेक्षा करती है, कि वह इतर प्राणियों के प्रति प्रेमभाव रखे, उनकी सेवा में तत्पर रहे, और उनके हितार्थ अपने क्षुद्र स्वार्थों को त्यागने के लिये सदैव उद्यत रहे। मानव के इन मूल कर्त्तव्यों का उपदेश विश्व के सभी विख्यात जीवन-दर्शन देते आ रहे हैं। इतना ही नहीं, संसार की महान विभूतियां उपर्युक्त त्रिविध कर्त्तव्यों का पालन करते हुये अपने पीछे आने वाली मानवता को इन कर्त्तव्यों की शिक्षा दे गयी हैं।

मानव सभ्यता का मूलाधार—मूल नैतिकता ने जिन उच्चादर्शों को जन्म दिया है वे प्रत्येक सभ्य समाज के नैतिक चिन्तन के मूलाधार बन गये हैं। प्रत्येक सभ्य समाज ने अपने सदस्यों के लिये कुछ मूल कर्त्तव्यों की योजना की है और यदि हम इन मूल कर्त्तव्यों का विश्लेषण करें तो हमें पता चलेगा कि इन कर्त्तव्यों की जड़ में मूल नैतिकता का चिन्तन व्याप्त है। श्री मारिस गिंसबर्ग ने इन मूल कर्त्तव्यों में सच्चाई क्षतिपूर्ति, कृतज्ञता, परोपकार, अहिंसा और आत्मोन्नति—इन छह कर्त्तव्यों को गिना है।[1] सच्चाई से तात्पर्य है वचनबद्धता और सत्यभाषण। क्षतिपूर्ति को, अर्थात् किसी गलत काम से होने वाली हानि के बदले मुआवजा देने को, प्रत्येक समाज की न्याय-व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसी प्रकार कृतज्ञता, परोपकार और अहिंसा के मूल में मानव-जीवन के प्रति आदर की भावना निहित है। आत्मोन्नति का कर्त्तव्य यद्यपि सभ्य समाजों में ही स्वीकार किया गया है, तो भी पिछड़े हुए समाजों में यह आत्म-सम्मान और समुदाय के प्रति गौरव की भावना में निहित है। उपर्युक्त मूल सामाजिक कर्त्तव्यों पर सरसरी निगाह डालते ही हमें पता चल जायेगा कि इन सब में मूल नैतिकता अथवा मानव-धर्म के आदर्श किसी--किसी रूप में विद्यमान हैं। परिस्थिति-भेद के कारण इन कर्त्तव्यों में थोड़ी-बहुत भिन्नता आ जाना स्वाभाविक है। तो भी, इस भिन्नता के कारण मूल नैतिकता अथवा मानवधर्म की श्रेष्ठता और व्यापकता को कोई आघात नहीं पहुंचता। मानवधर्म शाश्वत् धर्म है, मानव सभ्यता का आधार है। जब तक मानव जाति जीवित है यह धर्म बना रहेगा।

सामाजिक नैतिकता—जिस प्रकार मूल नैतिकता का चरम लक्ष्य है मानवता का कल्याण, उसी प्रकार मानसिक नैतिकता भी समाज-विशेष के कल्याण को सर्वो-

---

1. Morris Ginsberg, 'Moral Progress' P. 13-15

परि मानती है। सामाजिक नैतिकता का लक्ष्य है समाज में व्यवस्था उत्पन्न करना तथा समाज-जीवन को अक्षुण्ण बनाये रखना जिससे कि समाज के अन्तर्गत प्रत्येक समूह, और समूह के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य के हित परस्पर टकराने के बजाय एक-दूसरे को सहयोग देते रहें और समाज में समरसता बनी रहे। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये सामाजिक नैतिकता कुछ नियमों, बन्धनों और कर्त्तव्यों की योजना करती है। कालान्तर में यही नियम और कर्त्तव्य सामाजिक नैतिकता का प्रकट एवं सर्वस्वीकृत रूप धारण कर लेते हैं।

उदाहरण के लिये, भारतीय समाज में वर्णाश्रम धर्मानुसार विहित कर्त्तव्य सामाजिक नैतिकता के आधार हैं। तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने वर्ण और आश्रम सम्बन्धी धर्मों—अर्थात्, कर्त्तव्यों का पालन करे। भारतीय समाज व्यवस्था में जिस प्रकार समाज के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के अलग-अलग कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं, उसी प्रकार मानव-जीवन को चार खण्डों अथवा आश्रमों में विभक्त कर के ब्रह्मचर्य, गृहस्थ बानप्रस्थ और सन्यास—इन चार आश्रमों अथवा जीवन-खण्डों के कर्त्तव्य भी निश्चित कर दिये गये हैं। भारतीय समाज व्यवस्था वर्णाश्रम-व्यवस्था पर टिकी हुई है, इसलिये सामाजिक नैतिकता ने इस व्यवस्था को कायम रखने के लिये तदनुरूप कुछ निश्चित धर्मों अथवा कर्त्तव्यों के पालन पर सर्वाधिक आग्रह किया है।

वर्णाश्रम धर्म के अतिरिक्त, भारतीय समाज में व्यक्ति के साधारण धर्म अथवा सामान्य कर्त्तव्यों की व्यवस्था भी की गयी है। ये साधारण धर्म सभी व्यक्तियों के लिये मान्य ठहराये गये हैं और वर्णाश्रम धर्म की तरह किसी वर्ण अथवा आश्रम तक ही सीमित नहीं हैं। इन साधारण धर्मों में धैर्य, क्षमा, चौर्याभाव, शौच, इन्द्रियनिग्रह, सत्य, अक्रोध आदि दस धर्म सम्मिलित किये गये हैं। इतना ही नहीं, इन साधारण धर्मों के अतिरिक्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य—ये चार यम; और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-परिनिधान—ये पांच नियम भी हैं। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म, साधारण धर्म, यम और नियम—सब मिल कर भारतीय समाज की नैतिक व्यवस्था का रूप स्थिर करते हैं। सामाजिक नैतिकता इस व्यवस्था को अक्षुण्य बनाये रखने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपना-अपना धर्म-पालन करने के लिए आदेश देती है।

सामाजिक नैतिकता और सामाजिक सुदृढ़ता—भारतीय समाज में कर्त्तव्यों के विभाजन की इस संक्षिप्त रूपरेखा का उल्लेख करने का उद्देश्य केवल यही दिखाना है कि किस प्रकार सामाजिक नैतिकता समाज-व्यवस्था को अक्षुण बनाए रखने के लिए समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए अलग-अलग कर्त्तव्यों, नियमों और आचार-प्रणालियों की योजना करके इन्हें व्यवहार में लाने के लिए सचेष्ट है। इन

कर्त्तव्यों और नियमों की रचना द्वारा सामाजिक नैतिकता का समाज के असंख्य सदस्यों पर प्रकट एवं अप्रकट रूप में नियन्त्रण बना रहता है। कर्त्तव्य और नियम समाज-जीवन को सुदृढ़ बनाते है, इसलिए जो समाज अपने अन्दर अधिकाधिक दृढ़ता लाना चाहता है, वह अपने सदस्यों को कर्त्तव्यों और नियमों के बन्धन में अधिकाधिक जकड़ने का प्रयास करता है। सामाजिक कर्त्तव्य और सामाजिक सुदृढ़ता, परस्पर पोषक हैं। कर्त्तव्यों और नियमों की सहायता से समाज के सदस्यों का आचरण समान सांचे में ढल जाता है, और यह समान सांचे में ढला हुआ आचरण सामाजिक नियमों को पुष्ट करता हुआ, समाज-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में सहायक होता है।

यहां पर उल्लेखनीय है कि समाज-जीवन का नियन्त्रण करने वाले इन कर्त्तव्यों और नियमों का सृजन, समाज स्वयं करता है, ये उस पर किसी बाहरी शक्ति द्वारा थोपे नहीं जाते। दूसरे, ये नैतिक नियम अथवा कर्त्तव्य समाज-विशेष की कुछ खास आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बनाए जाते हैं, इसलिए कालान्तर में नई आवश्यकतायें उत्पन्न होने तथा परिस्थिति-भेद के कारण पुराने नियमों और कर्त्तव्यों के स्थान पर नये नियमों और कर्त्तव्यों की रचना अनिवार्य हो जाती है और फलस्वरूप सामाजिक नैतिकता के स्वरूप में भी परिवर्तन आ जाता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो सामाजिक नैतिकता, मूल नैतिकता के समान अटल अथवा शाश्वत् न होकर, युगानुसार परिवर्तित होती रहती है। सामाजिक नैतिकता और मूल नैतिकता में यही अन्तर है। मूल नैतिकता परिस्थिति निरपेक्ष है, परिस्थिति के परिवर्तन का इसके मूल सिद्धान्तों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। विपरीत इसके, सामाजिक नैतिकता परिस्थिति सापेक्ष है और परिस्थिति के बदलते ही इसके बाह्य रूप—अर्थात्, इसके द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों एवं नियमों में परिवर्तन आ जाता है।

वैयक्तिक नैतिकता—सामाजिक नैतिकता को बाह्य नैतिकता भी कहा गया है। व्यक्ति पर इसका दबाव बाहर से पड़ता है और इस दबाव के कारण वह अपने आचरण को सामाजिक नियमों और रीतियों के अनुसार ढालता हुआ, समाज की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो व्यक्ति में नैतिक आचरण का गुण बाहर से उत्पन्न किया जाता है, यह जन्मजात नहीं होता। सामाजिक नैतिकता के दबाव के कारण नैतिक आचरण की उसकी आदत पड़ जाती है। यह बाह्य नैतिकता है और तब तक कायम रहती है जब तक कि समाज-व्यवस्था बनी रहे।[1] समाज-व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर सामाजिक नैतिकता का दबाव कम हो जाता है। ऐसी उन्मुक्त स्थिति में समाज में उच्छृंखलता उत्पन्न होना अनिवार्य हो जाता है।

---

(1) Mary Stuart and Margaret Hobling 'Practical Ethics'—P. 19

किन्तु कोई भी समाज केवल बाह्य नैतिकता के सहारे जीवित नहीं रह सकता। जब तक सामाजिक नैतिकता समाज के सदस्यों के हृदयों में गहरी जड़ें नहीं जमा लेती, तब तक इसका स्थायी प्रभाव न होगा। इस कारण समाज-व्यवस्था को सुस्थिर बनाये रखने के लिए समाज के सदस्यों में आन्तरिक नैतिकता चाहिए। कोरी बाह्य नैतिकता अपर्याप्त है। इस आन्तरिक नैतिकता को वैयक्तिक नैतिकता भी कहते हैं। वैयक्तिक नैतिकता के अन्तर्गत व्यक्ति में भले-बुरे अथवा उचित-अनुचित का ज्ञान, उसके मत और विश्वास, उसके नैतिक आदर्श और मूल्य आ जाते हैं। इस वैयक्तिक नैतिकता की सहायता से वह अपने आचरण को समाजानुकूल बनाने में समर्थ हो जाता है। यह वैयक्तिक नैतिकता, अपने व्यापक अर्थ में, व्यक्ति का अपना जीवन-दर्शन है, जिसके सहारे वह जीवनयापन करता है।

वैयक्तिक नैतिकता का स्वरूप-निर्धारण—वैयक्तिक नैतिकता के स्वरूप-निर्धारण पर सांस्कृतिक परम्परा और सामाजिक रहन-सहन का बहुत प्रभाव पड़ता है। सांस्कृतिक परम्परा के अन्तर्गत समाज के नैतिक आदर्श एवं मूल्य तथा मत और विश्वास आ जाते हैं। इस परम्परा की शिक्षा देने के लिए जहां एक ओर समाज में विशिष्ट शिक्षा-पद्धति रची जाती है वहां दूसरी ओर, व्यक्ति जन्म से ही इस परम्परा की शिक्षा ग्रहण करने लगता है। बचपन में माता-पिता, बड़े होने पर गुरुजन और शिक्षक, तथा वयस्क होने पर उसके संगी-साथी उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को पुष्ट करते हैं। परिणाम यह होता है कि ये मत और विश्वास तथा आदर्श और मूल्य, व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं चिन्तन का अंग बन जाते हैं और उसके आचरण की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों को जन्म देते हैं।[1] और केवल उसी का आचरण एवं चिन्तन ही नहीं, सांस्कृतिक परम्परा की शिक्षा के फलस्वरूप, समूचे समाज के आचरण एवं चिन्तन की समान प्रवृत्तियां निर्धारित हो जाती हैं।

इसी प्रकार सामाजिक रहन-सहन का भी व्यक्ति के चिन्तन और आचरण पर बहुत प्रभाव पड़ता है। समाज में रहते-रहते व्यक्ति पर विशिष्ट सामाजिक मूल्यों व मान्यताओं की ऐसी छाप पड़ती है कि व्यक्ति में बँधी-बँधाई सामाजिक रीति के अनुसार आचरण करने की आदत पड़ जाती है। इस आदत के कारण उसे अपने समाज की आचार-पद्धति श्रेष्ठ प्रतीत होती है और अपरिचित आचार-पद्धति को वह संशय की दृष्टि से देखने लगता है। सामाजिक रहन-सहन और वातावरण के प्रभाव के कारण व्यक्ति के स्वभाव-निर्धारण की यह प्रक्रिया अप्रत्यक्ष होने पर भी बहुत महत्वपूर्ण है। इसके कारण व्यक्ति का नैतिक चिन्तन समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शों एवं मान्यताओं को आत्मसात् कर धीरे-धीरे तदनुरूप हो जाता है।

---

(1) R. M. Maciver and Charless H. Page, 'Society-introductory Analysis' P. 144

स्वतन्त्र व्यक्तित्व का विकास—सांस्कृतिक परम्परा और सामाजिक रहन-सहन यद्यपि वैयक्तिक नैतिकता के स्वरूप-निर्धारण में बहुत महत्वपूर्ण हैं, तो भी ये दोनों अन्तिम नहीं हैं। इन्हें हम वैयक्तिक नैतिकता की नींव कह सकते हैं, क्योंकि इसके शेष भवन का निर्माण व्यक्ति का निजी व्यक्तित्व करता है। इस कारण, ज्यों-ज्यों व्यक्ति में स्वतन्त्र व्यक्तित्व विकसित होने लगता है, त्यों-त्यों उसकी वैयक्तिक नैतिकता भी सुस्पष्ट रूप धारण करने लगती है। व्यक्ति में व्यक्तित्व के विकास से तात्पर्य है समूह से पृथक् एवं आत्म-निर्भर जीवन का विकास। जब व्यक्ति सामाजिक रीति का दास होने के बजाय स्वय प्रेरणा से तथा भले-बुरे का स्वय निर्णय कर आचरण करने लगता है तब उसमें स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास की झलक दिखाई देती है।[1] सामाजिक नियमों और रीतियों का अन्धानुकरण व्यक्तित्वहीनता का द्योतक होने के साथ-साथ वैयक्तिक नैतिकता के दिवालियेपन का भी सूचक है। इसलिये वैयक्तिक नैतिकता, व्यक्ति के अन्दर स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास पर बहुत निर्भर है।

समाज-जीवन के अधिकाधिक पेचीदा होने पर व्यक्ति के लिये वैयक्तिक नैतिकता का महत्व बहुत बढ़ जाता है, क्योंकि उसे समाज के विविध कर्तव्यों और नियमों, परस्पर-विरोधी धार्मिक, नैतिक और सामाजिक आदेशों और रीतियों में से अपने लिये उचित आचार-पद्धति चुननी पड़ती है। सामाजिक नैतिकता सामान्य आचार-पद्धति का निर्धारण अवश्य कर देती है किन्तु जब व्यक्ति को तरह-तरह की परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, तब वह निर्धारित आचार-पद्धति में अपनी आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर लेता है। इस प्रकार, वह एक ऐसी आचार-पद्धति को जन्म देता है जो उसके निजी व्यक्तित्व, उसके निजी जीवन-दर्शन की छाप लिये होती है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो यह विशिष्ट आचार-पद्धति उसकी वैयक्तिक नैतिकता के अनुरूप होती है। उदाहरण के लिये, सामाजिक नैतिकता के अनुसार सच बोलना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। किन्तु हर समय और हरेक के सामने सच बोलना नैतिक के स्थान पर अनैतिक भी हो सकता है। अपने प्रिय सम्बन्धी की हत्या करने पर तुले हुये शत्रु को उसका सही-सही पता बता देना नैतिक न होकर मूर्खता है। इस प्रकार सामाजिक नैतिकता से सामान्य आचार-पद्धति ही नियत की जा सकती है। इसमे परिस्थिति-भेद के कारण परिवर्तन करने का निर्णय व्यक्ति को स्वय करना पड़ता है, और यह काम वैयक्तिक नतिकता का है।

वैयक्तिक और सामाजिक नैतिकता में संघर्ष—वैयक्तिक नैतिकता का मूलाधार यद्यपि सामाजिक नैतिकता ही है, किन्तु अलग-अलग परिस्थितियों में इसका व्याव-

1. R. M. Maciver and Charles H. Page, 'Society an introductory Analysis; P-50

हारिक रूप स्थिर करते समय व्यक्ति को इसमें संशोधन करना पड़ता है। इस संशोधन के कारण कभी-कभी आधारभूत सामाजिक नैतिकता और व्यक्ति की व्यावहारिक नैतिकता में अन्तर ही नहीं, वरन् संघर्ष भी उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार, सामाजिक और वैयक्तिक नैतिकता एक-दूसरे को सहारा देते हुये भी चलती हैं और टकराते हुये भी। पहली स्थिति सामाजिक सामंजस्य की है और दूसरी तनाव और संघर्ष की।

वैयक्तिक और सामाजिक नैतिकता में परस्पर संघर्ष के दो प्रमुख रूप हैं। एक में व्यक्ति की नैतिक धारणाओं तथा समाज में व्याप्त नैतिक धारणाओं में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। उदाहरण के लिये, समाज की प्रचलित अर्थव्यवस्था, नारी-पुरुष के यौन सम्बन्धों की व्यवस्था और धार्मिक विश्वासों को लेकर वैयक्तिक और सामाजिक नैतिकता में प्राय: टक्कर हो जाती है। संघर्ष का दूसरा रूप तब प्रकट होता है जब व्यक्ति के सम्मुख प्राय: समान महत्व के दो या दो से अधिक कर्तव्य उपस्थित होकर उसे अपनी-अपनी ओर खींचने लगते हैं और उसे विभिन्न कर्तव्यों में से किसी एक को चुनना होता है। इस प्रकार का संघर्ष और मानसिक द्वन्द्व हमारे दैनिक जीवन में बहुधा उत्पन्न होता रहता है।

वैयक्तिक नैतिकता और जीवन दर्शन—वैयक्तिक नैतिकता और सामाजिक नैतिकता के बीच उत्पन्न होने वाले इस संघर्ष को यदि भावात्मक दृष्टि से देखा जाये तो पता चलेगा कि इस संघर्ष में भी बहुत अर्थ भरा हुआ है। वैयक्तिक नैतिकता ही व्यक्ति को अपने चारों ओर की विषम परिस्थितियों में से जीवन का एक निश्चित पथ चुनने में सहायता देती है। इसके सहारे ही वह जीवन में उपस्थित होने वाली कठिनाइयों को सुलझाते हुये अपने जीवन का अर्थ ढूंढ़ता है। संक्षेप में कहा जाये तो यह व्यक्ति को सशय और द्वन्द्व के चक्कर में से निकाल कर उसके जीवन में स्पष्टता लाती है। वैयक्तिक नैतिकता जीवन की व्याख्या करने और इसका अर्थ ढूंढ़ने का एक विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण है, इसलिये, कोलिस लेमंट ने इसे व्यक्ति के जीवन-दर्शन की संज्ञा दी है।[1] इस जीवन-दर्शन के सहारे वह अपने आचरण को और अपने जीवन को एक निश्चित सांचे में ढाल लेता है। यह जीवन-दर्शन उसकी समझ में भले ही न आये, किन्तु उसके आचरण में यह साफ-साफ प्रतिबिम्बित होता है।

नैतिकता के बाह्य रूप—नैतिकता के उपर्युक्त त्रिविध रूपों की विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि इन तीनों में से केवल मूल नैतिकता का स्वरूप स्थिर एवं शाश्वत् है। मूल नैतिकता के आदर्शों व कर्तव्यों में स्थान-भेद अथवा परिस्थिति-भेद के कारण कोई अन्तर उत्पन्न नहीं होता, इसलिए मूल नैतिकता सार्व-

1. Corliss Lamont, 'Humanism as a Philosophy', P-8

भौमिक होने के साथ-साथ सार्वकालिक भी है। इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मानवता से है, मानवता के किसी भाग-विशेष से नहीं। इसी कारण मूल नैतिकता का लक्ष्य एवं क्षेत्र व्यापक है। यह व्यापकता ही, वस्तुतः, इसकी स्थिरता, सार्वभौमिकता और शाश्वतता का मुख्य कारण है। सामाजिक नैतिकता यद्यपि मूल नैतिकता के इस स्थिर और शाश्वत् रूप के आधार पर टिकी हुई है, तो भी लक्ष्य एवं क्षेत्र के सकोच के कारण सामाजिक नैतिकता सम्पूर्ण मानवता के बजाय समुदाय विशेष के हित-साधन की ओर अग्रसर हुई है। साथ ही, परिस्थिति सापेक्ष होने के कारण यह भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट हुई है। यही कारण है कि सामाजिक नैतिकता स्थिर न होकर परिवर्तनशील है, व्यापक न होकर संकुचित है।

जिस प्रकार सामाजिक नैतिकता, मूल नैतिकता के आदर्शों और समाज-विशेष की परिस्थितियों के संयोग से उपजी हुई है, उसी प्रकार वैयक्तिक नैतिकता भी सामाजिक नैतिकता के आदर्शों और व्यक्ति के व्यक्तित्व के संयोग से उत्पन्न हुई है। सामाजिक नैतिकता समाज-निर्भर है, जबकि वैयक्तिक नैतिकता व्यक्ति-निर्भर है। हरेक व्यक्ति की रुचि, स्वभाव, प्रवृत्ति और परिस्थिति अलग-अलग होती है, इसलिये वैयक्तिक नैतिकता का कोई एक रूप न होकर, 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' की लोकोक्ति के अनुसार यह भिन्न-रूपा है।

अन्तःप्रकृति में साम्य—नैतिकता के बारे में दिखायी देने वाली उपर्युक्त भिन्नता इसके बाह्य रूप तक ही सीमित है। जब हम नैतिकता के आन्तरिक रूप पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि इसके इन तीनों रूपों की अन्तःप्रकृति एक ही है। नैतिकता का एकमेव उद्देश्य है अव्यवस्था, संघर्ष और असहयोग को दूर कर मानव जीवन में व्यवस्था, सामजस्य और सहयोग उत्पन्न करना। मूल नैतिकता के रूप में यह विश्व भर में सहयोग और सामजस्य की स्थापना के लिये प्रयत्नशील है तो सामाजिक नैतिकता के रूप में यह समाज के अन्दर समरसता और व्यवस्था उत्पन्न करने के लिये सचेष्ट है। इसी प्रकार, वैयक्तिक नैतिकता के रूप में यह मानव की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों में होने वाले संघर्ष को दूर करने और उसके जीवन में एकस्वरता लाने के लिये क्रियाशील है। इस दृष्टि से देखा जाए तो नैतिकता मानव जीवन में सामंजस्य, सहयोग और उन्नयन को सम्भव बनाने वाली आचार-पद्धति है। अतएव विविध रूप होने पर भी नैतिकता का साध्य एक ही है—विश्व भर में सहयोग, समरसता और शान्ति उत्पन्न करते हुए मानव को पूर्णता की ओर ले जाना, नर को नारायण बनाना।

साहित्य और नैतिकता

नैतिकता के स्वरूप एवं लक्ष्य के उपर्युक्त विवेचन के उपरांत अब अपने मूल प्रश्न पर आ जायें कि साहित्य और नैतिकता का परस्पर क्या सम्बन्ध है?

इस प्रश्न पर विचार करने के पहले हमें दोनों के समान और भिन्न तत्वों पर विचार करना होगा। तदुपरान्त साहित्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करते हुये साहित्यिक मूल्यांकन सम्बन्धी कुछ प्रसिद्ध मान्यताओं पर विचार किया जायेगा। साहित्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध के अध्ययन की जरूरत इसलिये भी है क्योंकि इसी के आधार पर आगे चलकर उपन्यास और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर विचार किया जा सकता है। अतः, यहां पर पहले साहित्य और नैतिकता के समान तथा भिन्न तत्वों पर विचार कर लें।

साहित्य और नैतिकता में साम्य—जहां तक दोनों के आधार एवं लक्ष्य का सम्बन्ध है, साहित्य और नैतिकता समान हैं। नैतिकता का आधार मानव जीवन है और इसका लक्ष्य है मानव जीवन में सामंजस्य उत्पन्न करते हुये इसका विकास करना। इस सामंजस्य की उत्पत्ति हेतु, नैतिकता समाज में एक विशिष्ट आचार-पद्धति का सृजन करती है और समाज क सभी सदस्यों का आचरण समाज के हित के अनुकूल बनाते हुये, समाज के विकास को सम्भव बनाती है। नैतिकता का उदय मानव समाज में ही सम्भव है, इसलिये नैतिकता का अस्तित्व मानव जीवन की पूर्व कल्पना को लेकर ही है।

इस दृष्टि से यदि हम साहित्य के बारे में विचार करें तो पता चलेगा कि नैतिकता के समान, साहित्य का आधार भी मानव जीवन ही है, और मानव जीवन की पूर्व कल्पना के बिना साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं है। साहित्य और मानव जीवन के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध का बोध कराते हुये श्री हडसन ने साहित्य की व्याख्या की है—'यह भाषा के माध्यम से मानव जीवन की अभिव्यक्ति है।'[1] उनके मतानुसार मानव जीवन ही साहित्य का आधार है और साहित्य का काम है मानव-जीवन के विविध पहलुओं का उद्घाटन करना ताकि मानव जीवन का सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाये। प्रेमचन्द ने भी साहित्य और मानव जीवन की घनिष्ठता पर जोर देते हुये कहा है—'साहित्य की बहुत-सी परिभाषायें की गई हैं, पर मेरे विचार से उसकी सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबन्ध के रूप में हो, चाहे कहानियों के, या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिये।'[2] इसी भाव को व्यक्त करते हुये उनका एक और कथन है—'साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है।'[3] उनके कथन का सारांश यही है कि साहित्य मानव जीवन के विविध अनुभवों, समस्याओं, सीमाओं और सम्भावनाओं में से अपने लिये सामग्री चुनता है

---

१. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार' पृष्ठ ३।
२. वही, पृष्ठ ९५।

और इसके आधार पर मानव-जीवन की सच्ची तस्वीर खींचने अर्थात्, व्याख्या करने का प्रयास करता है।

जो साहित्य मानव जीवन को आधार बनाकर रचा गया है, वह यदि, नैतिकता के समान मानव जीवन की समृद्धि को चरम लक्ष्य के रूप में अपने सम्मुख रखे तो इसमें कोई असंगति नहीं है। यही कारण है कि साहित्य के उद्देश्य के निर्धारण में मानव का कल्याण प्रमुखता धारण कर लेता है। विश्व के प्रसिद्ध साहित्यकारों ने साहित्य के इस उन्नत आदर्श पर बार-बार जोर दिया है। उदाहरण के लिये, मैक्सिम गोर्की ने जहां 'मानव चेतना के विकास तथा मानव की सहानुभूति के विस्तार' को साहित्य का सर्वोपरि गुण माना है।[1] वहां प्रेमचन्द ने भी साहित्य के उद्देश्य के रूप में मानव मन के संस्कार को प्रमुखता दी है। उनका कथन है 'साहित्य हमारे जीवन को स्वाभाविक और स्वाधीन बनाता है; दूसरे शब्दों में, उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है, यही उसका मुख्य उद्देश्य है।[2] जैनेन्द्रकुमार ने भी साहित्य का उद्देश्य मानव जीवन की अभिव्यक्ति तक ही सीमित न रखकर इसमें मानव जीवन के उन्नयन को प्रमुख स्थान दिया है। उनका कथन है 'साहित्य अब प्रेरक भी है। वह झलकाता ही नहीं, अब वह चलाता भी है। हमारी बीती ही उसमें नहीं, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे है।'[3] साहित्य के आधार एवं लक्ष्य की उपर्युक्त विशिष्टता के कारण ही साहित्य में यथार्थ और आदर्श के समन्वय की बात कही जाती है। साहित्य का यथार्थ, मानव जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति में है और इसका आदर्श, मानव जीवन के उन्नयन में निहित है। साहित्य में यथार्थ और आदर्श के समन्वय का, वस्तुतः यही अर्थ है।

भिन्नता के कारण—साहित्य और नैतिकता में आधार और लक्ष्य की समानता होने पर भी दोनों की रचना प्रक्रिया और माध्यम में अन्तर है। नैतिकता का सृजन एक व्यक्ति नहीं, पूरा समाज करता है। समाज के सदस्य अपने-अपने आचरण की विशिष्ट रीति, परम्परा अथवा प्रणाली को स्वीकार करते हैं जो कि पूरे समाज के हित-साधन में योग देती है। सम्पूर्ण समाज द्वारा स्वीकृत यह आचरण पद्धति कालान्तर में नैतिकता का रूप धारण कर लेती है। विपरीत इसके, साहित्य-सृजन का काम समाज का एक व्यक्ति करता है, पूरा समाज नहीं। इसे यों भी कह सकते हैं कि नैतिकता सम्पूर्ण समाज की संयुक्त अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का परिणाम है तो साहित्य केवल एक व्यक्ति की अनुभूति की अभिव्यक्ति का। नैतिकता के

1. Maxim Groky, 'Literature and life' P. 91
२. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार' पृष्ठ १०।
३. जैनेन्द्रकुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' पृष्ठ २५।

लिए समाज की सामूहिक स्वीकृति और सहयोग नितान्त आवश्यक है, इसलिये इस पर साकाजिकता का रंग चढ़ा हुआ है। किन्तु साहित्य के लिये ऐसी कोई मजबूरी नहीं है। साहित्य का सृजन एक व्यक्ति करता है, इसलिये इस पर वैयक्तिकता का रंग चढ़ा हुआ है।

इसके अतिरिक्त, साहित्य और नैतिकता व्यक्ति पर अलग-अलग तरीके से प्रभाव डालते हुये उनके जीवन का विकास और परिष्कार करते हैं। इस कारण दोनों के माध्यम भी भिन्न हैं। नैतिकता तर्क और युक्तियों का सहारा लेकर मानव की बुद्धि और विचार को प्रभावित करती है और उसे सदाचार की ओर प्रवृत्त करती है। इस कारण नैतिकता में उपदेश और आदेश की प्रवृत्ति का प्राधान्य है। परन्तु साहित्य, तर्क और युक्तियों के सहारे मानव की बुद्धि को प्रभावित करने के बजाय, इन्ही तत्त्वों की रागात्मक अभिव्यंजना द्वारा मानव के भाव क्षेत्र को प्रभावित करता है। साहित्य मानव की कोमल और सात्विक भावनाओं को जगाकर उसे सन्मार्ग की ओर प्रेरित करता है। साहित्य में उपदेश का नहीं, उद्बोधन का स्वर प्रधान है, इसलिये साहित्य आदेश नहीं देता, प्रेरणा देता है।

साहित्य और नैतिकता का परस्पर सम्बन्ध—साहित्य और नैतिकता के स्वरूपों में समानता और भिन्नता के विवेचन के उपरान्त जब हम इन दोनों के परस्पर सम्बन्ध के बारे में विचार करने को उद्यत होते हैं तो पता चलता है कि दोनों के परस्पर सम्बन्ध को लेकर दो परस्पर-विरोधी मत प्रचलित हैं। एक मत के अनुसार नैतिकता और साहित्य का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं है, दोनों अलग-अलग चीजें हैं। 'कला कला के लिये है'—इस सिद्धान्त का अनुसरण करते हुये पहला मत साहित्य के कला अथवा सौन्दर्य-पक्ष पर ही जोर देता है और साहित्य तथा नैतिकता के सयोग की तीव्र भर्त्सना करता है। इस मत के अनुसार साहित्य ही परम साध्य है, इसलिये इसे यह कदापि सह्य नहीं कि साहित्य किसी इतर उद्देश्य की चाकरी करे।

दूसरा मत इसके सर्वथा विपरीत है। इसके अनुसार नैतिकता और साहित्य का आपस में अटूट सम्बन्ध है, दोनों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता। यह मत 'कला जीवन के लिये है'—इस सिद्धान्त को मानते हुये साहित्य और नैतिकता के संयोग को परमावश्यक मानता है। इसका साहित्य के उपयोग-पक्ष पर ही सर्वाधिक आग्रह है, साहित्य के सौन्दर्य-पक्ष पर नहीं, इसलिये इस मत के अनुसार साहित्य स्वयं साध्य न होकर नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा का साधन-मात्र है।

अतिवादी चिंतन—साहित्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध के बारे में उपर्युक्त दोनों मतों के किंचित् विश्लेषण पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस सम्बन्ध के बारे में सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाने के बजाय दोनों में दुराग्रह का भाव आ गया

है। फलस्वरूप, जहाँ एक मत ने साहित्य के सौन्दर्य-पक्ष पर सर्वाधिक आग्रह करते हुये और इसके उपयोग-पक्ष को गौण ठहराते हुये साहित्य और नैतिकता का परस्पर कोई भी सम्बन्ध मानने से साफ-साफ इनकार कर दिया है, वहाँ दूसरे ने साहित्य के उपयोग-पक्ष पर ही सर्वाधिक आग्रह किया है और साहित्य व नैतिकता के संयोग को परमावश्यक माना है। वस्तुतः, साहित्य के कला अथवा उपयोग-पक्ष पर दुराग्रह करने के कारण इन दोनों मतों में अतिवादी चिन्तन प्रधान हो गया है। श्री जेम्स टी० फारेल के अनुसार, जहाँ पहले अतिवाद ने साहित्येतर साहित्य-सृजन का कोई अन्य उद्देश्य स्वीकार करने से इनकार कर दिया है, वहाँ दूसरे अतिवाद ने उद्देश्य प्रधान साहित्य को सर्वोपरि मानते हुये इसके अन्य पक्षों के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव पैदा कर दिया है।[1] इतना ही नहीं, एक का अतिवाद दूसरे की प्रतिक्रिया का कारण बन गया है; इसलिए अतिवादी होने के साथ-साथ, कुछ अंशों में दोनों मत प्रतिक्रियावादी भी हैं और अपने-अपने मत के मण्डन में सन्तुलित चिंतन खो बैठे हैं।

साहित्य-रचना की प्रक्रिया और नैतिकता—साहित्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध के बारे में उपर्युक्त अतिवादी दृष्टिकोण के बजाय यदि हम साहित्य-रचना की प्रक्रिया पर निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो इनके परस्पर सम्बन्ध का तुरन्त बोध हो जायेगा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, साहित्य मानव जीवन का सही-सही चित्र प्रस्तुत करने के लिये तरह-तरह की समस्याओं, विविध प्रकार के लोग और उनके अनुभवों तथा मानव की हार-जीत, सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, और उत्थान-पतन को चित्रित करता है। किन्तु साहित्यकार मानव जीवन को ज्यों-का-त्यों चित्रित कर दे तो इसमें न तो कोई सौन्दर्य होगा और न ही कोई सार। अपने चित्रण में सौन्दर्य व सार उत्पन्न करने के लिये वह इन साधारण-सी दीखने वाली घटनाओं अथवा बातों में से कुछ-एक को चुनता है और इन्हें व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करता है। साहित्यकार द्वारा मानव जीवन के खास पहलुओं अथवा घटनाओं को चुनने की प्रक्रिया पर यदि विचार करें तो मालूम हो जायेगा कि वह कुछ निश्चित मूल्यों अथवा कसौटियों के अनुसार ही इनमें से महत्वपूर्ण बातों का चुन लेता है और शेष को छोड़ देता है। इन मूल्यों अथवा कसौटियों का साहित्यकार के नैतिक चिन्तन के साथ गहरा सम्बन्ध होने के कारण ये मूल्य अथवा कसौटियां मूलतः नैतिक ही हैं। इस प्रकार साहित्य-रचना के अन्तर्गत मानव जीवन के महत्व-पूर्ण पहलुओं अथवा घटनाओं के चयन की प्रक्रिया ही ऐसी है कि यह नैतिकता की सहायता के बिना पूरी नहीं हो पाती। इसी भाव को व्यक्त करते हुये श्री ग्रेनविल हिक्स ने कहा है कि सामान्य में से उत्कृष्ट को चुनने की क्रिया को कला का आधार स्वीकार करने पर हमें इस क्रिया से सम्बद्ध अन्य बातें भी स्वीकार करनी होंगी।

1. James T- Farell,

हमें वे प्रतिमान और कसौटियां, विश्वास और मान्यतायें भी स्वीकार करनी होंगी जिनकी सहायता से ही साहित्यकार जीवन के सामान्य तथ्यों में से महत्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट तथ्यों को चुनता है।[1]

इसके अतिरिक्त, किसी भी साहित्यकार की श्रेष्ठता उसके कुशल शिल्प-विधान अथवा साहित्यिक प्रतिभा पर निर्भर न होकर इस बात पर निर्भर है कि उसने मानव जीवन का महत्व या सार ढूँढ़ने का कितना प्रयास किया है, और इस महत्व का दूसरों के समक्ष उद्घाटन करने में कितना सफल हुआ है।[2] दूसरे शब्दों में, किसी भी साहित्यिक कृति की श्रेष्ठता इसमें की गयी मानव जीवन की व्याख्या पर निर्भर है। किन्तु यह व्याख्या अथवा आलोचना कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों की सहायता से ही की जा सकती है, इसलिये सहित्यकार को भी मानव जीवन की आलोचना करने—अर्थात्, इसका औचित्य-अनौचित्य, महत्व-सारहीनता, उत्कर्ष अथवा अपकर्ष दिखाने के लिए कुछ सिद्धान्तों का सहारा लेना पड़ता है। यदि इन सिद्धान्तों के वास्तविक रूप पर विचार करें तो पता चलेगा कि औचित्य-अनौचित्य अथवा उत्कर्ष-अपकर्ष सम्बन्धी ये सिद्धान्त मूलतः नैतिक ही हैं। इस प्रकार मानव जीवन की व्याख्या करने के लिए साहित्यकार को नैतिकता का अनिवार्य रूप से सहारा लेना पड़ता है।

साहित्य और नैतिकता की अभिन्नता—साहित्य-सृजन की प्रक्रिया में चयन तत्व तथा साहित्य के व्याख्या-तत्व में नैतिकता के संयोग की अनिवार्यता को देखते हुए साहित्य और नैतिकता को एक-दूसरे से सर्वथा असम्पृक्त समझना अथवा दोनों को अलग-अलग खण्डों में विभक्त करना असम्भव है। साहित्य और मानव जीवन का परस्पर अटूट सम्बन्ध के कारण ही मानव जीवन को व्यवस्थित एवं अनुशासित रूप देने वाले नीति-शास्त्र अथवा नैतिकता का साहित्य के साथ ऐसा गहरा सम्बन्ध स्थापित हो गया है कि दोनों अभिन्न हैं। 'कला कला के लिये है'—इस नारे का सहारा लेकर कला के आधार—अर्थात्, मानव जीवन का महत्व कम करने और कला के सौन्दर्य पक्ष को मानव जीवन के सामाजिक, नैतिक, बौद्धिक अथवा धार्मिक पक्षों से काटकर अलग करने की बात भले ही की जाये, किन्तु यह तो सत्यता को झुठलाने का असफल प्रयास है। साहित्य अथवा कला का सार यदि है तो मानव जीवन को आधार बनाने के कारण ही। इस आधार को अलग कर दो, कला निःसार हो जायेगी। मानव जीवन की उपेक्षा और कला के सौन्दर्य-पक्ष पर दुराग्रह के भाव की कटु आलोचना करते हुए श्री डेविड डेचस ने भी कहा है—'यदि कला का महत्व और सार, मानव जीवन के साथ सम्बन्धित होने के कारण ही है तो

1. Granville Hicks
2. Edward Wagenknecht.

'कला कला के लिए' के अन्तर्गत 'कला जीवन के लिए' का स्वतः समावेश हो जाता है।[1]

आदर्शवाद की प्रतिष्ठा—साहित्य के आधार अथवा साहित्य-सृजन की प्रक्रिया के अतिरिक्त यदि हम साहित्य में आदर्शवाद की प्रतिष्ठा की ओर ध्यान दें, तो इससे भी साहित्य और नैतिकता की अभिन्नता प्रकट हो जायेगी। आदर्शवाद का लक्ष्य मानव जीवन में श्रेठता का संचार करना है। इस श्रेष्ठता की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है किन्तु इस कल्पना के मूल में मानव जीवन के उत्कर्ष और उन्नयन का भाव रहता है। अतः तनिक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि आदर्शवाद का मूलाधार—अर्थात्, उत्कर्ष और उन्नयन का भाव वस्तुतः नतिक ही है। इस आदर्शवाद की प्रतिष्ठा के लिए साहित्यकार सदैव सचेष्ट रहता है और उसकी यह चेष्टा उसकी रचना में उद्देश्य-पक्ष की प्रधानता के रूप में प्रकट होती है। इस प्रकार उद्देश्य-पक्ष की प्रधानता के पीछे प्रत्येक साहित्यकार का नैतिक आदर्शवाद मूल कारण होता है—फिर वह साहित्यकार चाहे प्रेमचन्द हो या जयशंकर प्रसाद, जैनेन्द्रकुमार हो या इलाचन्द्र जोशी, अथवा सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' हो या यशपाल। अपने-अपने जीवनादर्शों एवं नैतिक चिन्तन के अनुसार मानव जीवन की व्याख्या करने तथा इसके उत्कर्ष के उपाय सुझाने के प्रयास में इन साहित्यकारों की नैतिक चेतना मुखरित हो उठी है और उद्देश्य-पक्ष के प्रति सतर्कता की भावना में प्रकट हुई है। अतः साहित्य में आदर्शवाद की प्रतिष्ठा और उद्देश्य-पक्ष की प्रधानता की दृष्टि से भी यदि हम साहित्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध पर विचार करें तो दोनों की अभिन्नता का हमें सहज ही बोध हो जाता है।

उपन्यास और नैतिकता

साहित्य और नैतिकता की परस्पर अभिन्नता और साहित्य-रचना में नैतिक तत्त्व के समावेश की अनिवार्यता का अध्ययन करने के बाद हमें साहित्य के सर्वाधिक लोकप्रिय रूप—अर्थात्, उपन्यास-साहित्य और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध के विविध पहलुओं का अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन की आवश्यकता इसलिये है क्योंकि प्रस्तुत प्रबन्ध में हमें नैतिक दृष्टि से हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास का अध्ययन करना है। किन्तु अपने मुख्य विषय पर पहुंचने के पूर्व हमें उपन्यास-रचना के लक्ष्य, उपन्यास और दार्शनिकता, उपन्यास-रचना पर उपन्यासकार के जीवन-दर्शन तथा समाज की नैतिक व्यवस्था के प्रभाव, इस प्रभाव के विश्लेषण, आदि विविध विषयों पर विचार करना होगा। हिन्दी उपन्यास के विकास की रूप-रेखा को भली भांति समझने के लिए यह प्रारम्भिक अध्ययन नितान्त आवश्यक है, अतः, इसके आगे उपन्यास-रचना के लक्ष्य पर विचार किया गया है।

1. David Daiches.

उपन्यास-रचना का लक्ष्य—साहित्य के आधार एवं लक्ष्य की विवेचना करते हुये जहां प्रख्यात साहित्यकारों ने भिन्न भिन्न तरीके से साहित्य में मानव जीवन के चित्रण को शीर्षस्थान दिया है, वहाँ उपन्यास-रचना के आधार एवं लक्ष्य की व्याख्या करते समय भी इन्होंने इसमें मानव जीवन की अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी है। इस बात में सभी एकमत हैं कि मानव-जीवन की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त उपन्यास-रचना का न तो कोई उद्देश्य है, और न ही कोई होना भी चाहिए। हैनरी जेम्स ने मानव जीवन की अभिव्यक्ति में ही उपन्यास की सार्थकता देखी है। उनका कथन है—'उपन्यास के अस्तित्व का एक ही कारण है कि यह मानव जीवन की अभिव्यक्ति का प्रयास करता है। यदि उपन्यास इस प्रयास को छोड़ दे, तो चित्रकला के समान, इसकी विचित्र दशा हो जायेगी।'[1] राल्फ फाक्स ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए इसे 'मानव जीवन का गद्य' कहा है। उनका कहना है—'उपन्यास कोरा कथात्मक गद्य नहीं, यह तो मानव जीवन का गद्य है। उपन्यास-कला ही पहली कला है जो मानव के सम्पूर्ण जीवन को अभिव्यक्त करने का प्रयास करती है।'[2]

मानव जीवन के चित्रण में उपन्यास-रचना की सार्थकता को, उपर्युक्त दो साहित्यकारों के अतिरिक्त, अन्य उपन्यासकारों ने भी अपने-अपने ढंग से स्वीकार करते हुए मानव जीवन की अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी है। इस एक लक्ष्य के अतिरिक्त, उपन्यास-रचना का उन्होंने कोई अन्य लक्ष्य नहीं माना। जेम्स वारेन बीच ने मानव स्वभाव के अध्ययन को 'उपन्यास का मूल लक्ष्य'[3] बताया है तो ग्रांट आवर्टन ने उपन्यास-रचना में जीवन के मर्म और मूल्यों की अभिव्यक्ति द्वारा 'मानव के अन्तर्जीवन के चित्रण' को प्रमुखता दी है।[4] प्रेमचन्द ने भी मानव-चरित्र के रहस्योद्घाटन एवं चित्रण को उपन्यास-रचना का उद्देश्य बताते हुये कहा है—'मैं उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र-मात्र समझता हूं। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।'[5] इस प्रकार, अलग-अलग भाषा में सभी ने एक ही बात कही है कि उपन्यास का काम है मानव के आचरण की पेचीदगियों और उसके स्वभाव की गुत्थियों को सुलझाते हुए मानव जीवन का एक जीता-जागता और अर्थपूर्ण चित्र प्रस्तुत करना। इस लक्ष्य को प्रत्येक उपन्यासकार ने अपने सम्मुख रखा है और उपन्यास के रूप में जिस कथात्मक गद्य का सृजन किया है वह कोरी कहानी न होकर, अन्ततः, मानव जीवन की कहानी बन गयी है।

---

1. Henry James.
2. Ralph Fox.
3. Joseph Warren Beach.
4. Grant Overton.
५. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ-४७

उपन्यास और दार्शनिकता—किन्तु मानव जीवन की तरह-तरह की समस्याओं उलझनों और अन्तर्विरोधों में से जीवन का एक सुस्पष्ट एवं कर्थपूर्ण चित्र खींचने के लिये साहित्यकार की कोरी साहित्यिक प्रतिभा अपर्याप्त रहती है। उसे जीवन की विभिन्नता में से एकसूत्रता तथा विविधता में से एकरूपता की खोज करनी पड़ती है। उपन्यासकार को साहित्यिक प्रतिमा के साथ-साथ जिस दूसरे तत्त्व का सहारा लेना पड़ता है वह विविधता में से एकरूपता ढूंढ़ सकने की क्षमता—अर्थात् दार्शनिकता ही है। इस दार्शनिकता के सहारे उपन्यासकार, मानव के आचरण, उसकी समस्याओं और उसके आदर्शों का विश्लेषण करके मानव जीवन का एक सुस्पष्ट और अर्थ-पूर्ण चित्र खींच सकता है। यहां आकर उपन्यासकार के दार्शनिक और साहित्यकार ये दोनों रूप एक हो जाते हैं। दार्शनिक के नाते वह मानव जीवन की विविधता और जटिलता में से एकरूपता ढूंढ़ने की ओर प्रवृत्त होता है तो साहित्यकार के नाते वह उस एकरूपता की कल्पना को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करने का प्रयास करता है। इस प्रकार, दार्शनिकता उसे जीवन का सार ढूंढने में सहायक सिद्ध होती है तो साहित्यिक प्रतिभा उस सार को मूर्त्त रूप देने में सहायता पहुंचाती है।

उपन्यास और दार्शनिकता की उपर्युक्त घनिष्ठता के कारण उपन्यास-रचना में दार्शनिक चिन्तन को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि दार्शनिकता की धुरी पर सम्पूर्ण उपन्यास घूमता है। दार्शनिक चिन्तन के आधार के विना श्रेष्ठ उपन्यास का सृजन सम्भव नहीं है, क्योंकि दार्शनिक चिन्तन के अभाव में कोई उपन्यासकार क्यों न हो, वह मानव जीवन से प्राप्त होने वाली तरह-तरह की सामग्री को एक संश्लिष्ट एवं मनोरम आकार देने में समर्थ नहीं हो सकता। इसी कारण, उपन्यास-रचना में दार्शनिक तत्व के समावेश को अनिवार्य मानते हुये एडविन बेरी बरगम ने कहा है—'विशिष्ट चिन्तन को अपनाकर ही उपन्यासकार, निराकार को साकार बनाता है।'[1] मानव जीवन के अनेक पहलुओं, तरह-तरह की विशिष्टताओं, रंग-विरंगी अनुभूतियों और स्वप्निल आकांक्षाओं को वह अपने विशिष्ट चिन्तन के कारण ही एक सुस्पष्ट रूप प्रदान करने में समर्थ होता है, इसीलिये निराकार को साकार बनाने की बात कही गयी है।

उपन्यास में दार्शनिक तत्त्व की तुलना में कल्पना-तत्व को गौण स्थान देते हुये जेम्स मिचेनर ने भी दार्शनिकता को ही साहित्य-सृजन का मूलाधार[2] कहा है। उन्होंने दार्शनिकता को विशुद्ध चिन्तन तक सीमित नहीं रखा, अपितु, इस चिन्तन

---

1. Edwin Berry Burgum.
2. James A. Michener.

की सार्थकता, मानव के कर्मक्षेत्र को आलोकित करने और जीवन से संघर्ष करने में सहायता देने में देखी है। इस कारण, उपन्यास में दार्शनिक-तत्व की श्रेष्ठता पर बल देते हुये उन्होंने कहा है—'मैं यह कदापि नहीं मान सकता कि किसी भी देश का श्रेष्ठ साहित्य कोरी कल्पना पर आधारित है। कोरी कल्पना अपर्याप्त है। इसमें ठोस और निर्भीक चिन्तन होना चाहिये जिससे वर्तमान समाज की समस्याओं का हल खोजा जा सके।'[1] इतना ही नहीं, मार्क शोरर ने तो इससे भी आगे बढ़ कर कहा है कि उपन्यास-साहित्य में इतनी क्षमता होनी चाहिये कि वह हमारे सोये हुये चिन्तन को जगाते हुये हमें मानव जीवन की जटिलताओं व समस्याओं को नये दृष्टिकोण से देखने का आह्वान करे। उनका कथन है—'उपन्यास के लिये यह जरूरी नहीं है कि वह हमारे सामाजिक विश्वासों और धारणाओं के अनुकूल ही हो। उपन्यास में मानव जीवन की जटिलताओं का इतना अच्छा चित्रण होता है कि यह हमें अपने सामाजिक विश्वासों की पुन: जांच-पड़ताल करने का आह्वान करता है।[2]

उपन्यास-रचना में दार्शनिकता को अनिवार्य मानने के साथ-साथ इसे परमावश्यक भी माना गया है। उदाहरण के लिये, राल्फ फाक्स, दार्शनिकता के अभाव में उपन्यास-रचना को असम्भव मानते हैं। उनका कहना है—'यह सही है कि ऐसे अनेक दार्शनिक मिल जायेंगे जो उपन्यास लिखने में सर्वथा असफल रहे, किन्तु ऐसा कोई भी उपन्यासकार नहीं मिलेगा जो अपने पात्रों के स्वभाव और उनकी चरित्रगत प्रवृत्तियों का मूलस्रोत ढूंढ़ने की क्षमता, जो कि दार्शनिक चिन्तन से ही उत्पन्न होती है, न रखता हो।'[3] उन्होंने उपन्यासकार में दार्शनिकता का गुण परमावश्यक माना है।

उपन्यास-रचना और उपन्यासकार का जीवन-दर्शन—उपन्यास-रचना में उपन्यासकार के दार्शनिकता सम्बन्धी गुण पर बार-बार जोर दिये जाने का एकमेव कारण यही है कि उपन्यासकार को मानव जीवनके व्याख्याकार के रूपमें देखा गया है। पुराने नैतिक आदर्शों के ह्रासोन्मुख होने के कारण उपन्यासकार को इस नैतिकता के संक्रमण काल में मानव जीवन के चिरन्तन सत्यों एवं आधारभूत लक्ष्यों की व्याख्या करने की जिम्मेदारी सम्भालनी पड़ी है।

उपन्यासकार के इस महत्वपूर्ण दायित्व के बारे में विचार करने पर पता चलेगा कि वह अपनी रचना में मानव जीवन की जो व्याख्या करता है उसमें निष्पक्षता के बजाय निजत्व का प्राधान्य होता है। निजत्व के प्राधान्य से तात्पर्य है उसके व्यक्तित्व, उसके हृदयपक्ष और बुद्धिपक्ष का उसकी रचना में प्राधान्य।

---

1. James A. Michener's lecture,
2. 'Society and Self in the Novel'
3. Ralph Fox,

उपन्यासकार के भावपक्ष में उसकी रुचि-अरुचि, आशा-आकांक्षा तथा उसके मन में उठने वाले विविध मनोभाव आते हैं। अतः, जब उपन्यासकार अपने सम्पूर्ण भावपक्ष सहित अपनी रचना में प्रकट होता है तो उसके द्वारा की गई मानव जीवन की व्याख्या निष्पक्ष अथवा शास्त्रीय न होकर वैयक्तिक बन जाती है और उसमें दार्शनिक की शुष्कता के स्थान पर साहित्यकार की सरसता उमड़ पड़ती है।

उपन्यासकार की व्याख्या में निजत्व अथवा व्यक्तित्व के प्राधान्य का दूसरा रूप तब प्रकट होता है जब उपन्यासकार अपने जीवन-दर्शन के अनुरूप ही यह व्याख्या करता है। उपन्यासकार के जीवन दर्शन के अन्तर्गत उसके मत और विश्वास, नैतिक आदर्श और मूल्य, तथा मान्यतायें और धारणायें आती हैं। जिस प्रकार मानव जीवन की व्याख्या करते समय इस पर उपन्यासकार के मनोभावों की अनिवार्य छाप पड़ती है, उसी प्रकार इस पर उसके जीवन-दर्शन की छाप पड़ना भी अनिवार्य है। उपन्यासकार एक विशिष्ट दृष्टिकोण अथवा विशिष्ट मनोभाव से मानव जीवन का अध्ययन करता है, और तदनुसार ही अपनी रचना में मानव जीवन की व्याख्या करता है। इस दृष्टि से उपन्यासकार की रचना उसके नैतिक आदर्शों एवं मूल्यों की प्रतिच्छाया-मात्र होती है और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व इसमें झलकता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि उपन्यासकार की रचना उसकी मानस-सन्तान सरीखी है और इसमें अपने स्रष्टा के स्वभाव की विचित्रता और विशिष्टता, गुण और दोष, तथा उसका निजत्व और व्यक्तित्व साफ-साफ झलकता है।

उपन्यास-रचना पर उपन्यासकार के सम्पूर्ण व्यक्तित्व और समस्त चिन्तन की अनिवार्य छाप को सभी साहित्यकारों ने स्वीकार किया है। जैनेन्द्र कुमार ने इसी भाव को व्यक्त करते हुये कहा है—'साहित्य साहित्यिक की आत्मा को व्यक्त करता है।'[1] ग्रेनविल हिक्स ने भी उपन्यासकार की रचना में उस के जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति को अनिवार्य माना है और इसे उसकी कृति में एक-सूत्रता लाने का श्रेय दिया है। उनका कथन है—ऐसा कोई भी उपन्यासकार या नाटककार नहीं है जिसने अपनी रचना में अपना चिन्तन या जीवन-दर्शन अभिव्यक्त न किया हो। उपन्यास या नाटक में विविध अनुभूतियों की एकसूत्रता के अध्ययन से इसके रचयिता की धारणाओं अथवा मान्यताओं का साफ-साफ पता चल जाता है। इसी भाव को तनिक दूसरे ढंग से स्काट जेम्स ने भी व्यक्त किया है। उनका कथन है—'कलाकार बाह्य प्रतीकों के सहारे मानव जीवन सम्बन्धी अपनी मूल धारणाओं को व्यक्त करने का प्रयास करता है।'[2] इस प्रकार उपन्यासकार की रचना में मानव जीवन की जटिलता और समस्या, आदर्श और आचरण की व्याख्या करते हुये जो चित्र प्रस्तुत

१. जैनेन्द्र कुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ-२१७।
2. R. A. Scott James

किया जाता है उसमें रचयिता का समस्त व्यक्तित्व और सम्पूर्ण जीवन-दर्शन स्पष्ट झलकता है। यहां आकर उपन्यास-रचना और नैतिकता में कोई अन्तर नहीं रह जाता, क्योंकि उपन्यासकार का जीवन-दर्शन, अन्ततः, उसकी वैयक्तिक नैतिकता का ही दूसरा नाम है। उपन्यासकार के नैतिक आदर्श एवं विश्वास, मान्यतायें तथा धारणायें उसके जीवन-दर्शन—या कहें कि जीवन सम्बन्धी उसकी मूल धारणाओं, की रूपरेखा निर्धारित करते हैं और जब यही जीवन-दर्शन उसकी रचना में मुखर हो उठता है तो उपन्यास-रचना और नैतिकता को अलग-अलग करना असम्भव हो जाता है।

जीवन-दर्शन की अनिवार्य अभिव्यक्ति—उपन्यास-रचना में उपन्यासकार के जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति, और फलस्वरूप, उपन्यास-रचना और नैतिकता की की अभिन्नता के बारे में यदि हम उपन्यास-रचना की प्रक्रिया तथा उपन्यास-रचना में उपन्यासकार की ईमानदारी और सच्चाई की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि उपन्यास-रचना की प्रक्रिया पर ही पहले विचार करें। उपन्यासकार की कला, अन्ततः, उपन्यास के लिए उचित सामग्री चुनने, इसे व्यवस्थित रूप देने और इसकी व्याख्या करने में निहित है। इस दृष्टि से देखा जाये तो वह चयन, व्यवस्था विशिष्ट नैतिक मूल्यों के अनुसार ही करता है, और शेष को निःसार समझ कर छोड़ देता है। इतना ही नहीं, इस चुनी हुई सामग्री को व्यवस्थित रूप देने अथवा इसकी व्याख्या करने में भी उसका नैतिक चिन्तन मुखर हो उठता है। देखा जाये तो व्याख्या करने का काम ही कुछ ऐसा विशिष्ट है कि उपन्यासकार अपने मत और सिद्धान्त के अनुसार ही यह व्याख्या करता है। यदि उसकी व्याख्या उधार ली हुई होगी तो वह चाहे कितनी कुशलता दिखाये, उसकी रचना फीकी ही रहेगी। इस प्रकार चयन, व्यवस्था और व्याख्या की प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए वह जिस रचना का सृजन करता है वह उसके नैतिक आदर्श और सिद्धान्त की मुँह-बोलती तस्वीर बन जाती है।

उपन्यासकार की आत्माभिव्यक्ति और सच्चाई—उपन्यास-रचना की प्रक्रिया के अतिरिक्त जब हम उपन्यास-रचना में उपन्यासकार की सच्चाई पर विचार करते हैं तो उपर्युक्त कथन की पुनः पुष्टि हो जाती है। उपन्यासकार की सच्चाई से तात्पर्य है कि उसकी रचना में उसके जीवनादर्शों और सिद्धान्तों का सही-सही प्रकटीकरण होना चाहिये। इस सच्चाई या ईमानदारी के अभाव में उसकी रचना श्रेष्ठ न होकर घटिया किस्म की बनकर रह जायेगी। साहित्यकार की सच्चाई पर आग्रह करते हुए एजरा पाऊण्ड ने कहा है—'यदि कोई कलाकार मानव की प्रवृत्ति, अपने स्वभाव अथवा पूर्णता के आदर्श का गलत चित्रण इसलिए करता है कि वह नक्कू न बने अथवा उसकी कृति परम्परागत नैतिक आदर्शों के अनुरूप रहे, तो वह सच्चा कलाकार नहीं, झूठा कलाकार है।'[1]

1. 'Literary Essays of Ezra Pound'

उपन्यास-रचना में उपन्यासकार की सच्चाई को उसकी आत्माभिव्यक्ति के रूप में भी देखा गया है। आत्मभिव्यक्ति का अर्थ है अपने जीवन-दर्शन और अनुभूतियों का निर्भीक चित्रण। साहित्यिक कृति में साहित्यकार के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर सर्वाधिक आग्रह करते हुए स्काट जेम्स ने कहा है—'हम कलाकार से इस बात की मांग करते हैं कि उसकी रचना सच्ची हो—अर्थात्, उसकी मूलभूत मान्यता, सिद्धान्त और विश्वास के अनुकूल हो। संक्षेप में कहा जाये—उसकी रचना उसके व्यक्तित्व के सर्वथा अनुकूल होनी चाहिये।'[1]

आत्माभिव्यक्ति और नैतिक कर्त्तव्य—उपन्यासकार की आत्माभिव्यक्ति या सच्चाई को उसकी रचना की श्रेष्ठता के लिए ही परमावश्यक नहीं माना गया, अपितु इसे उपन्यासकार का परम नैतिक कर्त्तव्य भी कहा गया है। हैनरी जेम्स ने तो साहित्यकार की ईमानदारी अथवा आत्माभिव्यक्ति को नैतिकता के समकक्ष माना है। उनका कथन है—'नैतिकता और कला जिस बात में आकर एक हो जाती हैं, वह यह है कि कलाकार का चिन्तन जितना सच्चा होगा, उसकी रचना भी उतनी ही श्रेष्ठ होगी। छिछले चिन्तन से श्रेष्ठ उपन्यास का सृजन नहीं हो सकता।'[2] यहां आकर उपन्यासकार की आत्माभिव्यक्ति और ईमानदारी उसकी रचना की श्रेष्ठता का कारण बन जाती है। और इस दृष्टि से नैतिकता और साहित्यिक श्रेष्ठता, दोनों एकरूप हो जाती हैं। सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' ने भी साहित्यकार की रचना के मूल्यांकन के लिए साहित्यकार की सच्चाई को उसकी रचना की कसौटी माना है। उनका कथन है—'अपनी सृष्टि के प्रति कलाकार में एक दायित्वभाव रहता है—अपनी चेतना के गूढ़तम स्वर में वह स्वयं अपना आलोचक बनकर जांचता रहता है कि जो उसके विद्रोह का फल है, जो समाज को उसकी देन है, वह क्या सचमुच इतना आत्यन्तिक मूल्य रखती है कि उसे प्रमाणित कर सके, सिद्धि दे सके? इस प्रकार कथावस्तु की रचना का एक नैतिक मूल्यांकन निरन्तर होता रहता है।'

उपन्यास का स्वरूप-निर्धारण और नैतिकता—उपन्यास-रचना में उपन्यासकार की आत्माभिव्यक्ति, तथा उपन्यास और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध के अध्ययन के उपरान्त अब हमें उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण पर नैतिकता के प्रभाव का अध्ययन करना है। देखा जाये तो इस प्रभाव के दो रूप हैं—एक है उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन—अर्थात्, वैयक्तिक नैतिकता का, और दूसरा है समाज की नैतिक व्यवस्था का, अर्थात्, सामाजिक नैतिकता का। इस प्रकार नैतिकता, उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण पर दोहरा प्रभाव डालती है। सर्वप्रथम, उपन्यास-रचना पर उपन्यासकार के जीवन-दर्शन और नैतिक चिन्तन के प्रभाव का विश्लेषण करें।

---

1. 'Personality in Literature,' p. 211.
2. 'The Art of Fiction in Literary Criticism in America,' p. 160.

जैसा कि हमने देखा है, उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार, अपने जीवन-दर्शन के अनुरूप मानव जीवन की झांकी प्रस्तुत करता है, और अपनी नैतिक मान्यताओं एवं मूल्यों के अनुसार मानव जीवन की व्याख्या करता है। यह व्याख्या ही उसका साध्य है, उपन्यास-रचना तो साधन-मात्र है। उपन्यास-रचना उसके साध्य की अनुगामिनी बन कर हमारे सम्मुख आती है, और उपन्यासकार की नैतिक मान्यतायें, साध्य के अनुरूप ही इसका स्वरूप निर्धारित करती हैं। उदाहरण के लिये, यदि हम उपन्यास के विविध तत्वों पर, उपन्यासकार की नैतिक मान्यताओं के प्रभाव पर विचार करें तो इस कथन की सहज ही पुष्टि हो जायेगी। उपन्यासकार एक विशिष्ट उद्देश्य सामने रख कर उपन्यास की रचना करता है। यह उद्देश्य होता है मानव जीवन के किसी उपेक्षित पक्ष का उद्घाटन, किसी नये आदर्श की प्रतिष्ठा, अथवा किसी बुराई पर प्रहार करना। उपन्यासकार का उद्देश्य उसके कथ्य, उसके अभिप्रेत और उसके जीवन-दर्शन के अनुसार निर्धारित होता है।

किन्तु उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन और जीवन-दर्शन का प्रभाव उसकी रचना के उद्देश्य-पक्ष तक ही सीमित होकर नहीं रह जाता। यह प्रभाव बहुत दूरगामी होता है। उसकी रचना के उद्देश्य-पक्ष के अनुरूप ही उपन्यास के इतर तत्वों का स्वरूप निर्धारित होता है। उदाहरण के लिये, उपन्यास की कथावस्तु को ही लें। उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन के अनुसार कथानक का विकास और कथानक का अन्त होता है। वह कथावस्तु के विकास में वही घटनायें और परिस्थितियां लेता है जिनसे कि उसके उद्देश्य की पूर्ति हो। कथावस्तु का दुखपूर्ण अथवा सुखपूर्ण अन्त करते समय भी उपन्यासकार अपने नैतिक आदर्शों के प्रति सदैव सतर्क रहता है। 'अन्त भले का भला' अथवा 'सत्यमेव जयते' के सिद्धान्त को मानने वाला उपन्यासकार, भले कर्म का बुरा और बुरे कर्म का अच्छा अन्त नहीं दिखा सकता। लोक-कल्याण के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति की पराजय दिखाना उसकी नैतिक मान्यताओं के विरुद्ध होने के कारण वह ऐसे व्यक्ति की कहानी का सुखपूर्ण अन्त दिखायेगा।

कथावस्तु के समान, पात्रों के चयन और चरित्र-चित्रण पर भी उपन्यासकार की नैतिकता का बहुत प्रभाव पड़ता है। उपन्यासकार अपने नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिये यथोचित पात्रों की उद्भावना करता है। उदाहरण के लिये, नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा के लिये वह जिन पात्रों का सृजन करता है, वे अनिवार्य रूप से तेजस्वी होंगे। यही बात स्थिर और गतिशील, वर्गगत और असाधारण पात्रों की रचना के बारे में है। परम्परागत नैतिक आदर्शों के अनुयायी उपन्यासकार के पात्र स्थिर और वर्गगत प्रकार के तथा नई नैतिक मान्यताओं की प्रतिष्ठा करने वाले उपन्यासकार के पात्र गतिशील और असाधारण प्रकार के होंगे। पात्रों की भांति, उपन्यास की भाषा पर भी उपन्यासकार की नैतिक मान्यताओं की स्पष्ट छाप अंकित हो जाती है। कामुक अथवा मनोरंजक उपन्यासों की भाषा में वह शिष्टता अथवा

संयम नहीं दिखायी देगा जो कि उच्चादर्श से प्रेरित उपन्यास का जन्मजात गुण होता है। उपन्यास के शब्द-चित्र, उपन्यासकार की नैतिक मान्यताओं के अनुसार नग्न और छिछले, अथवा संकेतात्मक और गम्भीर होंगे। शब्द-चयन और शब्द-प्रयोग के बारे में भी यही बात है। जिस प्रकार साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार भाषा व्यक्ति की अभिव्यक्ति है। उपन्यासकार की भाषा से उसके व्यक्तित्व का अनुमान लगाना कठिन नहीं है, क्योंकि क्या शब्द-चयन और शब्द-प्रयोग, क्या शब्द-चित्रण और शब्दार्थ—भाषा के ये सभी पहलू उपन्यासकार के व्यक्तित्व से प्रभावित होते हैं।

उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन का उपन्यास के विविध तत्वों पर, और फलस्वरूप उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण पर जो प्रभाव पड़ता है उसका यहां पर संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। इसका विशद् विवेचन आगे चलकर किया जायेगा।[1] यहां इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उपन्यासकार के नैतिक आदर्श, मत और विश्वास उपन्यास के सभी तत्वों और पहलुओं को छूते हुये इन पर अपनी अमिट छाप अंकित कर देते हैं।

उपन्यास-रचना और सामाजिक नैतिकता—उपन्यास-रचना के विविध पहलुओं एवं तत्वों पर उपन्यासकार के जीवन-दर्शन का सुस्पष्ट प्रभाव पड़ने के अतिरिक्त, इस पर समाज की प्रचलित नैतिक व्यवस्था और नैतिक आदर्शों का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। जो नैतिक आदर्श समाज द्वारा मनोनीत होते हैं, वे साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी साहित्यकार को प्रेरणा देते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज का उपन्यास-साहित्य अपने युग और समाज के आदर्शों की छाप लिये रहता है। प्रेमचन्द ने साहित्य-सृजन पर समाज के नैतिक आदर्शों के प्रभाव को सुस्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है--'साहित्य अपने काल का प्रतिबिम्ब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदयों को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी छाया डालते हैं।'[2]

किन्तु उपन्यास-साहित्य समाज द्वारा मनोनीत आदर्शों को प्रतिबन्धित करने के अतिरिक्त, उन आदर्शों में होने वाले क्रमिक परिवर्तन की झलक भी दिखा देता है। दूसरे शब्दों में, उपन्यास-साहित्य समाज की नैतिक व्यवस्था और समाज के प्रचलित आदर्शों का चित्र-मात्र ही नहीं, यह समाज के नैतिक परिवर्तन तथा इस परिवर्तन की प्रवृत्तियों को भी चित्रित करता है, इसलिये इसमें समाज की रूढ़िवादिता के साथ-साथ हमें इसमें समाज की नैतिक विकासोन्मुखता के भी दर्शन होते

---

१. तृतीय परिच्छेद में।
२. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ४-५

हैं। इतना ही नहीं, नैतिक परिवर्तन की जो-जो प्रवृत्तियां हमें समाज में दिखायी देती हैं, वे उपन्यास-रचना पर भी अपना प्रभाव डालती हैं। उपन्यास साहित्य के विकास पर नैतिक परिवर्तन के प्रभाव का विशद् विवेचन यद्यपि इस प्रबन्ध में आगे चलकर किया गया है, तो भी यहां उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार समाज की नैतिक व्यवस्था में क्रमिक परिवर्तन की प्रगतिवादी, बुद्धिवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियां दिखाई देती हैं, उसी प्रकार उपन्यास-साहित्य के विकास में भी इन तीनों प्रवृत्तियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

उपन्यास का नैतिक व्यवस्था पर प्रभाव—उपन्यास-रचना पर नैतिकता के उपर्युक्त प्रभाव को देखते हुये यद्यपि यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन तथा समाज के नैतिक आदर्शों का उपन्यास-रचना पर भरपूर प्रभाव पड़ता है, तो भी इस बात को भुलाया नहीं जा सकता कि उपन्यास-साहित्य का समाज के नैतिक चिन्तन पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। व्याख्याकार के रूप में जहां उपन्यासकार मानव जीवन की व्याख्या और विश्लेषण करता है, वहां स्रष्टा के रूप में वह नये नैतिक आदर्शों का सृजन भी करता है और समाज की नैतिक चेतना को उद्बुद्ध करता है। इस प्रकार, व्याख्याकार और स्रष्टा के दोहरे उत्तरदायित्व को निभाने के कारण, उपन्यास-साहित्य सामाजिक और नैतिक परिवर्तन का एक महत्वपूर्ण साधन भी है और यह समूचे समाज के आचरण को एक निश्चित दिशा में मोड़ने की क्षमता रखता है। उपन्यास-साहित्य की इस विपुल सामर्थ्य की ओर टी० एस० इलियट का ध्यान गया है और उन्होंने इसके प्रभाव को धार्मिक प्रभाव के समकक्ष माना है। उनका कथन है–'धर्म और उपन्यास, दोनों का क्षेत्र मानव आचरण है। धर्म हमारी नैतिकता की, तथा दूसरों के प्रति हमारे आचरण की रूपरेखा निर्धारित करने के अतिरिक्त, हमारे अन्दर आत्म-विश्लेषण की भावना जगाता है तो उपन्यास-साहित्य भी हमारे आचरण को प्रभावित करने के अतिरिक्त हमारे व्यक्तित्व और चिन्तन पर प्रभाव डालता है। जब हम देखते हैं कि उपन्यास के पात्र एक खास तरह का आचरण करते हैं और उपन्यासकार उस आचरण का समर्थन करता है, तो अप्रत्यक्ष रूप में हम भी वैसा ही आचरण करने को प्रेरित होते हैं।'[2]

निष्कर्ष—उपन्यास और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध के उपर्युक्त विवेचन के उपरांत हम यह कह सकते हैं कि उपन्यास-रचना में नैतिक-तत्त्व के अनिवार्य समावेश के अतिरिक्त, उपन्यास-रचना पर नैतिकता के बहुत दूरगामी प्रभाव होते हैं।

---

1. पंचम परिच्छेद में।
2. T. S. Eliot.

उपन्यासकार के जीवन-दर्शन के रूप में उपन्यासकार की नैतिकता उसकी रचना पर इतनी छायी रहती है कि यही उसकी कृति का मूलस्वर बनकर उसकी रचना के अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर अपना प्रभाव डालती है और इसका स्वरूप निर्धारित करती है। नैतिकता द्वारा उपन्यास-साहित्य के इस स्वरूप-निर्धारण का अध्ययन करना ही प्रस्तुत शोध का लक्ष्य है, अतः, इसके आगे इस स्वरूप-निर्धारण एवं स्वरूप-विकास के विविध पहलुओं का विवेचन किया गया है।

२

विकास की पृष्ठभूमि और नैतिकता

प्रथम परिच्छेद में उपन्यास और नैतिकता के परस्पर संबंध की विवेचना करते हुये कहा गया था कि उपन्यासकार अपनी रचना में मानव जीवन की व्याख्या करने तथा मानव आचरण का उद्घाटन करने की ओर प्रवृत्त होता है, इसलिये उसके जीवन-दर्शन अथवा नैतिक चिन्तन का उसकी रचना पर अमिट प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। इस कथन की सत्यता सिद्ध करने के लिये उपन्यास के आधार एवं लक्ष्य, तथा उपन्यास-रचना की प्रक्रिया का नैतिक दृष्टि से अध्ययन किया गया था। एक प्रकार से देखा जाये तो यह अध्ययन, उपर्युक्त कथन के सिद्धांत-पक्ष से संबंध रखता है, जबकि इस कथन की पुष्टि के लिये इसके व्यवहार-पक्ष का अध्ययन भी नितांत आवश्यक है। इस व्यवहार-पक्ष के अध्ययन के लिये हमें प्रस्तुत परिच्छेद में हिन्दी उपन्यास के विकास की पृष्ठभूमि के बारे में नैतिक दृष्टिकोण से विचार करना होगा।

जैसा कि हम पहले देख आये हैं, उपन्यास-साहित्य के आधार और लक्ष्य के निर्धारण में मानव जीवन के चित्रण और व्याख्या को सदैव प्रमुखता दी गयी है। हैनरी जेम्स ने उपन्यास की सार्थकता मानव जीवन की अभिव्यक्ति में देखी है, तो राल्फ फाक्स ने इसे 'मानव जीवन का गद्य' कहा है। इसी प्रकार, जेम्स वारेन बीच ने मानव स्वभाव के अध्ययन को 'उपन्यास का मूल लक्ष्य' कहा है और ग्रान्ट ओवर्टन ने उपन्यास में 'मानव के अन्तर्जीवन की अभिव्यक्ति' को प्रमुखता दी है, तो प्रेमचन्द ने भी मानव-चरित्र के रहस्योद्घाटन को 'उपन्यास का मूल तत्व' बताया है। इस प्रकार, घुमा-फिरा कर एक ही बात कही गयी कि उपन्यास-रचना का मूलाधार मानव जीवन है और इसका मूल लक्ष्य मानव जीवन की व्याख्या करना है। उपन्यास की उपर्युक्त परिभाषायें उपन्यास और मानव जीवन, और फलस्वरूप, उपन्यास और नैतिकता की अभिन्नता को ध्यान में रखकर की गयी है।

किंतु यहां उल्लेखनीय है कि उपन्यास और जीवन, और फलस्वरूप, उपन्यास और नैतिकता की यह अभिन्नता, उपन्यास-साहित्य का जन्मजात गुण न होकर, इसके द्वारा अर्जित गुण है। हमारे लिए उपन्यास के इस गुण-विशेष का बहुत महत्व है—क्योंकि हिन्दी उपन्यास का विकास, वस्तुतः, इस गुण-विशेष के उत्तरोत्तर विकास, का ही परिणाम है। इतना ही नहीं, हिन्दी उपन्यास के विकास की पृष्ठभूमि को, उपन्यास और जीवन की उत्तरोत्तर घनिष्ठता के दृष्टिकोण से हम जितनी अच्छी तरह समझ सकते हैं, उतना अन्य किसी दृष्टिकोण से नहीं। इसलिये, इसके आगे इसी दृष्टिकोण को अपनाकर हिन्दी उपन्यास के विकास का रहस्य समझने का यत्न किया गया है।

हिन्दी उपन्यास के विकास की पृष्ठभूमि

हिन्दी उपन्यास के विकास की पृष्ठभूमि के बारे में यहां पर प्रारम्भ में ही एक बात कह देना आवश्यक है कि ज्यों-ज्यों उपन्यास साहित्य मानव जीवन को आधार बनाने और इसकी व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हुआ है, त्यों-त्यों इसका उत्तरोत्तर विकास होता गया है। हिन्दी उपन्यास के विकास के बारे में यह कथन यद्यपि सूत्ररूप में है, तो भी यदि हम इसके विकास की विविध स्थितियों का अध्ययन करें तो इस कथन की पुष्टि हो जायेगी। हिन्दी उपन्यास के विकास की प्रथम स्थिति अथवा चरण में मानव जीवन के चित्रण और व्याख्या को, जो कि आधुनिक उपन्यास का मानों प्राण है, उपन्यास रचना में प्रायः गौण स्थान प्राप्त था। इस स्थिति में मानव जीवन के चित्रण अथवा व्याख्या के बजाय सदाचार के उपदेश अथवा कुतूहल-सृष्टि का प्राधान्य था। दूसरे शब्दों में, तत्कालीन उपन्यास-साहित्य लोक-जीवन की व्याख्या के बजाय लोक-शिक्षा अथवा लोक रंजन में ही रमा हुआ था। इसका मानव जीवन से कोई खास लगाव न था, इसलिये हिन्दी उपन्यास के विकास की दृष्टि से यह इसका आरम्भकाल था, प्रथम चरण था।

हिन्दी उपन्यास के विकास के दूसरे चरण में उपन्यासकार, उपन्यास को मानव जीवन से अभिन्न मानकर, अपनी रचना में जीवन के विविध पहलुओं और तथ्यों का उद्‌घाटन करने और मानव जीवन का सार ढूँढ़ने की ओर अग्रसर हुआ। लोकोपदेश अथवा लोकरंजन के लक्ष्यों से ऊपर उठकर उसने मानव के सुख-दुख, हर्ष-शोक, तथा उत्कर्ष और अपकर्ष के चित्रण द्वारा लोक-जीवन की व्याख्या करने का यत्न किया। उपन्यास और मानव जीवन, और फलतः उपन्यास और नैतिकता के गठबन्धन का यह आरम्भ था। तदुपरान्त, विकास के तीसरे चरण में, उपन्यासकार ने मानव जीवन के बाहरी प्रसार और समस्याओं के चित्रण के बजाय, उसके अन्तर्जीवन की जटिलता के उद्‌घाटन और व्याख्या का यत्न करना प्रारम्भ किया। यहां आकर उनका ध्यान बहिर्जगत् के बजाय अन्तर्जगत् की ओर, तथा जीवन की

बाहरी प्रवृत्तियों के बजाय जीवन की अन्तर्प्रवृत्तियों की ओर गया। इतना ही नहीं, उसने समाज के प्रचलित नैतिक आदर्शों और नैतिक मर्यादाओं को परम्परागत कसौटियों के बजाय मानव के स्वभाव और उसकी अन्तर्प्रवृत्तियों की नयी कसौटियों पर परखना शुरू किया। इस प्रकार, हिन्दी उपन्यास के विकास के दूसरे चरण में जहां हम उपन्यास और मानव जीवन के गठबन्धन के अतिरिक्त उपन्यासकार को परम्परागत नैतिक मूल्यों और मर्यादाओं के अनुसार मानव जीवन की व्याख्या करते देखते हैं, वहां इसके विकास के तीसरे चरण में उपन्यास में मानव के अंतर्जीवन के चित्रण के साथ साथ उपन्यासकार को नये नैतिक मूल्यों एवं मान्यताओं के अनुसार मानव-आचरण का मूल्यांकन तथा मानव जीवन की व्याख्या करते भी देखते हैं।

हिन्दी उपन्यास के विकास की उपर्युक्त पृष्ठभूमि में हमें एक ही बात दिखायी देगी कि उपन्यास और मानव जीवन की उत्तरोत्तर घनिष्ठता में इसका स्वरूप-विकास निहित है। उपन्यास और मानव जीवन की प्रारम्भिक दूरी ने जहाँ नीति शिक्षा अथवा मनोरंजन-प्रधान उपन्यास-साहित्य को जन्म दिया, वहां दोनों के गठबन्धन ने सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों को, तथा उपन्यास और मानव के अन्तर्जीवन के गठबन्धन एवं घनिष्ठता ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को जन्म दिया है। उपन्यास और मानव जीवन की उपर्युक्त घनिष्ठता का अनुसरण करते हुये उपन्यास-रचना में नैतिक तत्व के समावेश में भी क्रमिक परिवर्तन हुआ है। तदनुसार हम देखते हैं कि उपन्यास के विकास के प्रथम चरण में नीति-शिक्षाप्रधान उपन्यासों के रूप में जहां उपन्यास-रचना पर नैतिकता छायी हुई है, वहां दूसरे चरण के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में नैतिक चेतना का, तथा इस विकास के तीसरे चरण के मनो-वैज्ञानिक उपन्यासों में नैतिक संघर्ष का स्वर प्रधान है। इस प्रकार अन्तिम दो चरणों में भी मानव जीवन की व्याख्या करने के प्रयास में उपन्यासकार की रचना में नैतिक तत्व का अलक्ष्य, किन्तु सुनिश्चित, संयोग हो गया है। हिन्दी उपन्यास के विकास की पृष्ठभूमि के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय के उपरान्त अब हमें इस विकास की विविध स्थितियों पर नैतिक दृष्टिकोण से विचार करना होगा, ताकि प्रस्तुत परिच्छेद के प्रारम्भ में व्यक्त किये गये इस अभिमत की पुष्टि हो सके कि 'ज्यों-ज्यों हिन्दी का उपन्यास-साहित्य मानव जीवन को आधार बनाने और इसकी व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हुआ है त्यों-त्यों इसका उत्तरोत्तर विकास होता गया है।'

विकास का प्रथम चरण

जैसा कि पहले कहा गया है, हिन्दी उपन्यास के विकास के प्रथम चरण में उपन्यास-रचना में मानव जीवन के चित्रण को गौण स्थान प्राप्त था। इसलिए,

तत्कालीन उपन्यास-साहित्य ने मानव जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण अपनाने और इसका सार ढूँढ़ने के बजाय, मानव जीवन को छुआ भर ही। इस उपेक्षा का परिणाम यह हुआ कि जीवन की गहराइयों में प्रवेश न करके इस साहित्य ने या तो उपदेष्टा के रूप में नीति-शिक्षा को अथवा मनोरंजनकर्त्ता के रूप में कुतूहल-सृष्टि को प्रमुखता दी। नीति-शिक्षा की प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुये उपन्यासकार जहां-तहां से नीति-वचन इकट्ठा करने और इन्हें अपनी रचना में सजाने की ओर विशेष ध्यान देता था। हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार, ला० श्रीनिवासदास ने अपनी रचना 'परीक्षा गुरु' के निवेदन में नीति-वचनों के चयन के बारे में कहा है—'इस पुस्तक के रचने में मुझको महाभारतादि संस्कृत, गुलिस्तान वगैरा फारसी, स्पेक्टेटर, लार्ड वेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि के पुराने लेखों और स्त्रीबोध आदि के वर्तमान रिसालों की बड़ी सहायता मिली है।' उन्होंने अपनी इस रचना के प्रत्येक परिच्छेद का आरम्भ भिन्न-भिन्न ग्रन्थों के उद्धरणों और नीति-वचनों से किया है और इन्हें जहां तहां सजाने का भरसक प्रयास किया है ताकि पाठक को बीच-बीच में नीति-शिक्षा भी मिलती रहे।

हिन्दी उपन्यास के विकास के इस प्रथम चरण में उपन्यास-रचना में नीति-शिक्षा को प्रमुखता देने का एक परिणाम यह हुआ कि इस काल के उपन्यास-साहित्य पर नैतिकता का पूरा-पूरा दबदबा हो गया। नीति-शिक्षा के लक्ष्य को इतना महत्व मिला कि उपन्यास-रचना के इतर पक्ष गौण हो गये। उदाहरण के लिये, पं० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' नामक उपन्यासों में उपर्युक्त प्रवृत्ति स्पष्ट दिखायी देती है। उन्होंने 'नूतन ब्रह्मचारी' के निवेदन में इस बात का दावा किया है—'हमारी इस पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को अवश्य मालूम हो जायेगा कि बालकों के लिए यह कितनी शिक्षा-प्रद है और शिक्षा विभाग में जारी होने से हमारे कोमल बुद्धिवाले बालकों को कितनी उपकारी हो सकती है।' इसी प्रकार उन्होंने 'सौ अजान एक सुजान' की समाप्ति पर कहा है—'अन्त में हम अपने पढ़ने वालों को सूचित करते हैं कि आप लोगों में यदि कोई अबोध और अजान हों तो हमारे इस उपन्यास को पढ़ आशा करते हैं सुजान बनें। इस किस्से के अजानों को सुजान करने को चन्दू था, आप लोगों को हमारा यह उपन्यास होगा।'

मनोरंजनप्रधान उपन्यास—हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक काल में उपन्यास और मानव जीवन की परस्पर दूरी के कारण जहां एक ओर उपन्यासकार ने उपदेशक के रूप में नीति-शिक्षा की ओर ध्यान दिया, वहां दूसरी ओर उसने मनोरंजन का सामान जुटाने और पाठक का मनबहलाव करने को ही उपन्यास का लक्ष्य समझ लिया। मानव जीवन की दिन-प्रतिदिन की समस्याओं अथवा मानव-आचरण की पेचीदगियों से उसका कोई सम्बन्ध न था, इसलिए काल्पनिक समस्याओं और

पेचीदगियों को सुलझाने में ही वह व्यस्त था। इस काल की ऐसी हल्की-फुल्की, काल्पनिक और मनोरंजन-प्रधान औपन्यासिक रचनाओं के बारे में प्रेमचन्द ने लिखा है—'हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमें मनमाने तिलस्म बांधा करते थे। कहीं फिसानये अजब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चन्द्रकान्ता सन्तति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था।'[1]

उपन्यास-रचना की इस लोकरंजनात्मक प्रवृत्ति का अनुसरण करते हुए बाबू देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी में तिलस्म और ऐयारी से भरपूर मनोरंजन-प्रधान उपन्यासों की नींव डाली। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में घटनाओं के चक्रजाल, तिलस्म के चमत्कार और ऐयारों के वेश बदलने, लखलखा सुंघाने आदि अद्भुत कारनामों की इतनी भरमार है कि पाठक की उत्सुकता सदैव सजग रहती है, और वह लेखक की उंगली पकड़े अंधेरे तहखानों, खतरनाक सुरंगों और सजे-सजाये सुनसान महलों को पार करता हुआ कथा के अन्त तक सकुशल पहुंच जाता है। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का संसार कल्पना-लोक का संसार है, जिसकी अद्भुत एवं विस्मयकारी घटनाओं को पाठक विस्फारित नेत्रों से देखता भर रह जाता है। मानव के सहज जीवन के सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, और सफलता विफलता के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध यदि है तो राजकुमार और राजकुमारियों की एकान्तिक प्रेम-कथा से, खलनायकों की दुष्टता से और तिलस्म के विलक्षण इन्द्रजाल से ही। ठोस धरती और यहां के निवासी मानव के जीवन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

ऐयारी और तिलस्म से भरपूर उपन्यासों का अनुकरण करते हुए इसी काल में जासूसी उपन्यास भी लिखे गये। इन उपन्यासों के लेखकों में गोपालराम गहमरी अग्रणी हैं। ऐयारी और तिलस्म से पाठकों की तबीयत ऊब गयी थी। वे कुछ नवीनता चाहते थे, और गोपालराम गहमरी ने उनको वही चीज दी। उन्होंने उपन्यास-साहित्य को तिलस्म और ऐयारी के क्षेत्र से निकालकर इसे जासूसी के क्षेत्र में अवस्थित किया, अर्थात् इसका मानवीकरण किया। भले ही उन्होंने केवल मनोरंजन और मन-बहलाव के लिये उपन्यास लिखे, पर अपने पात्रों को सामान्य जीवन के अधिकाधिक निकट लाने की चेष्टा उन्होंने जरूर की। फलस्वरूप, उनके पात्र अतिमानव न होकर सामान्य प्राणियों की तरह के थे; उनके पात्रों की चालाकी और कुशलता, किसी मानवेतर प्राणी का गुण न होकर, एक नकाबपोश, पिस्तौलधारी और दिलेर जासूस का स्वाभाविक गुण था।

जैसा कि पहले कहा गया है, इस काल के उपन्यास-साहित्य की नीति शिक्षा और मनोरंजन में ही इति हो जाती है। उपन्यास का पद, मनोरंजनकर्ता अथवा

---

१. 'कुछ विचार',

उपदेशक से कहीं ऊँचा है, इस बात से तत्कालीन साहित्यकार अपरिचित-से थे। फलस्वरूप, उनमें मानों इस बात की होड़-सी लगी हुई थी कि दुनिया को मनोरंजन अथवा उपदेश अधिक से अधिक कौन दे सकता है। इस बात को देखते हुये कहा जा सकता है कि उपन्यास और लोक-जीवन के बीच एक गहरी खाई विद्यमान थी, जिसके कारण उपन्यास का विकास रुका हुआ था। ज्यों-ज्यों इस खाई को पाटने का यत्न होने लगा, और उपन्यास साहित्य को लोक जीवन के निकट लाने का प्रयास किया जाने लगा, त्यों-त्यों हिन्दी उपन्यास के विकास में एक नये अध्याय का सूत्रपात होने लगा। किन्तु, यहां उल्लेखनीय है कि इस प्रयास की प्रेरणा बाहरी थी, भीतरी न थी—अर्थात् हिन्दी उपन्यास-साहित्य का सामान्य जीवन की ओर रुझान, अंग्रेजी और बंगला उपन्यासों के देखा-देखी हुआ। अंग्रेजी उपन्यास साहित्य का प्रभाव, सर्वप्रथम बंगला साहित्य पर पड़ा, और तदुपरांत हिन्दी पर—कुछ बंगला साहित्य से छनकर और कुछ सीधे रूप में। इस प्रभाव के फलस्वरूप, हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में भी मानव जीवन की विविध समस्याओं को छूने का प्रयास किया जाने लगा। इस काल के प्रायः अन्त में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं की ओर भी ध्यान देना शुरू किया। किन्तु गोस्वामी जी का मुख्य व्यसन उपन्यास लिखना था; इसलिये उनके उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं को तथा इनके विश्लेषण को गौण स्थान प्राप्त था। उन्होंने केवल उपन्यासों को लिखने के लिये लेखनी उठायी और ऐतिहासिक, तिलस्म, एवं ऐयारी से भरपूर उपन्यासों के साथ-साथ सामाजिक उपन्यास भी लिखे। अतः, यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने लोक-जीवन को तथा सामाजिक समस्याओं को छुआ भर ही। उनके इस प्रधान व्यसन की चर्चा करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'और लोगों ने भी उपन्यास लिखे, पर वह वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वह उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वहीं पर घर करके बैठ गये। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिये चुन लिया और उसी में रम गये।'[1]

हिन्दी उपन्यास के विकास का यह प्रथम चरण था जबकि इसका रूप स्थिर न हुआ था। एक ओर थी विरासत में प्राप्त ब्रजकाव्य की नायिका-भेद, नख-शिख वर्णन तथा शाब्दिक चमत्कार की रोमानी परम्परा और दूसरी ओर थी अंग्रेजी तथा बंगला साहित्य की देखा-देखी मानव जीवन का चित्रण और व्याख्या करने की नयी प्रेरणा एवं नयी साहित्यिक परम्परा। एक का लक्ष्य मनोरंजन और मनबहलाव था, तो दूसरी ने सामाजिक एवं नैतिक चेतना का विकास करने का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा। हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक विकास पर दूसरी परम्परा का पर्याप्त

---

१. 'हिंदी साहित्य का इतिहास'

प्रभाव पड़ा, यहां तक कि इसी परम्परा का अनुसरण करने से इसका स्वरूप निखरा, और लोक-शिक्षा अथवा लोकरंजन के प्रारम्भिक लक्ष्यों से ऊपर उठकर, इसने अपने सम्मुख लोक-जीवन की व्याख्या का लक्ष्य रखना प्रारम्भ किया।

विकास का दूसरा चरण--हिन्दी उपन्यास के विकास के दूसरे चरण में पहुंचते ही हमें उपन्यास रचना के क्षेत्र में एक अद्भुत परिवर्तन दिखायी देता है। उपन्यास-साहित्य ने मानव जीवन की उपेक्षा करते हुए मानों अब तक कल्पना-लोक में विचरण किया था, किन्तु दूसरे चरण में पहुंचते ही इसने मानव जीवन के प्रति रुचि दिखानी शुरू की, और उपन्यास और मानव जीवन के बीच विद्यमान खाई को पाटने का यत्न होने लगा। देखा जाय तो दूसरे चरण में आकर हिंदी उपन्यास ने सही अर्थों में उपन्यास (उप+न्यस्त्-अर्थात्, जीवन के निकट) का नाम सार्थक करना शुरू किया। उपन्यास और मानव जीवन के बीच बढ़ती हुई इस घनिष्ठता के कारण हिंदी उपन्यास ने कोरी नीति-शिक्षा अथवा कोरे मनोरंजन को छोड़कर नयी जिम्मेदारियां सम्भालने की चेष्टा की। तिलस्म, ऐयारी और जासूसी के इंद्रजाल से निकलकर, उपन्यास ने मानव जीवन की समस्याओं और कठिनाइयों की ओर ध्यान देना शुरू किया। संक्षेप में कहा जाये तो दूसरे चरण में पहुंचकर हिंदी उपन्यास-साहित्य अद्भुत से सामान्य, चमत्कार से सहज, कल्पना से ठोस वास्तविकता, तथा उपदेश से व्याख्या की ओर प्रवृत्त हुआ।

प्रेमचन्द—उपन्यास और जीवन की परस्पर बढ़ती हुई घनिष्ठता के इस दूसरे चरण में हिंदी उपन्यास-रचना के क्षेत्र में एक ऐसी विभूति ने पदार्पण किया, जिसने सस्ते मनोरंजन के दलदल से उबारकर हिंदी उपन्यास के सम्मुख नये लक्ष्य रखे और इसे नयी दिशा सुझायी। ये थे प्रेमचन्द, जिन्हें हिंदी जगत 'उपन्यास-सम्राट' के नाम से याद करता है। उन्होंने हिंदी उपन्यास को अपने पांव पर खड़ा किया और उपन्यास-साहित्य की श्रेष्ठता सम्बंधी नयी कसौटियां कायम कीं। हिंदी उपन्यास के विकास में प्रेमचंद के इस अपूर्व योगदान के बारे में डा० रामविलास शर्मा ने कहा है—'प्रेमचंद ने चन्द्रकान्ता के पाठकों को अपनी तरफ ही नहीं खींचा, चन्द्रकांता में अरुचि भी पैदा की, जनरुचि के लिये उन्होंने नये मापदण्ड कायम किये और साहित्य के नये पाठक और पाठिकाएं भी पैदा कीं।'[1]

हिंदी उपन्यास को प्रेमचंद की इस अनुपम देन के बारे में यदि हम तनिक गहरे जाकर विचार करें तो पता चलेगा कि उपन्यास की प्रयोजनीयता सम्बंधी प्रेमचंद की धारणा अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों की धारणा से सर्वथा भिन्न थी। उपन्यास और जीवन को अभिन्न मानकर उन्होंने उपन्यास के माध्यम से मानव-

---

१. डा० रामविलास शर्मा, 'प्रेमचंद और उनका युग'

जीवन के विविध व्यापारों और तथ्यों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। उपन्यास रचना उनके लिये साध्य न होकर, मानव जीवन की व्याख्या का साधन मात्र थी। उन्होंने कहा भी है--'मैं उपन्यास को मानवचरित्र का चित्र-मात्र समझता हूं। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।'[1]

जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट है, प्रेमचंद के सम्मुख उपन्यास-रचना के नये लक्ष्य थे। सामाजिक कुरीतियों और अनाचारों की ओर उनका ध्यान गया और उन्होंने इसका भण्डाफोड़ करने के लिये कमर कस ली। समाज के पतित और पीड़ित वर्गों की ओर उनकी दृष्टि गयी, और अपनी कलम से उनकी वकालत करने के लिए वे उठ खड़े हुये। समाज में व्याप्त अज्ञान, निष्क्रियता और रूढ़िवादिता को उन्होंने देखा, और बस प्रेमचन्द को मानों काम मिल गया। उपन्यास के अस्त्र से अज्ञान के अंधेरे को काटने तथा समाज में चेतना व क्रियाशीलता फैलाने के लिए वे समुद्यत हुये। उन्होंने अत्याचार को ललकारा, अनाचार को कोसा और मिथ्याचार पर फब्ती कसी। इस प्रकार, प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं के माध्यम से लोक-जीवन के विविध पहलुओं और अनेकविध समस्याओं की विवेचना की तथा इन समस्याओं का हल सुझाया। ऐसा करते समय प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास साहित्य में उपन्यास रचना की एक नयी परम्परा को पुष्ट किया, जो 'सामाजिक उपन्यास-परम्परा' के नाम से विख्यात है।

प्रेमचंद ने सामाजिक उपन्यासों की रचना में जिस सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि का परिचय दिया है, उससे उनकी रचनायें सशक्त एवं सप्राण बन गयी हैं। इतना ही नहीं, सामाजिक जीवन के विविध पहलुओं और समस्याओं के प्रति अपने मत और विश्वास व्यक्त करने में उन्होंने किसी प्रकार की आड़ नहीं ली। अपनी बात को खुलकर और जोरदार शब्दों में उन्होंने कहा, इसलिए प्रेमचंद की रचनाओं पर उनके चिंतन की पूरी-पूरी छाप पड़ी हुई है। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों को सुधारने और नये नैतिक आदर्शों को प्रतिष्ठित करने पर भरपूर बल दिया है, इस कारण उन्हें सुधारवादी और उनकी रचनाओं को ध्येयोन्मुख कहा जाता है।[2] तो भी यह निर्विवाद है कि तिलस्म और ऐयारी के मायाजाल से निकालकर उपन्यास को सामाजिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्रेमचंद को ही दिया जायेगा। कल्पना के स्थान पर यथार्थवाद का धरातल मिलते ही हिंदी उपन्यास का मानों कायाकल्प हो गया। उपन्यास का लोकजीवन से सम्बंध स्थापित होते ही इसका स्वरूप विकसित हुआ, इसमें गहराई आयी और इसकी व्यापकता भी बढ़ी। लोक-जीवन के विविध पहलू हैं, भिन्न-भिन्न खण्ड हैं, इसलिये इनके चित्रण और व्याख्या के प्रयास में हिंदी उपन्यास का भी उत्तरोत्तर विकास होता गया।

१. प्रेमचंद, 'कुछ विचार'

२. नंददुलारे बाजपेयी, 'आधुनिक साहित्य';

जयशंकर प्रसाद—प्रेमचन्द ने सामाजिक उपन्यासों की जिस सबल परम्परा को जन्म दिया, उसे अन्य प्रतिभासम्पन्न उपन्यासकारों ने आगे बढ़ाया। इसी परम्परा के पोषक के रूप में जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' उपन्यास हमारे सामने हैं। इन दो उपन्यासों में उन्होंने समाज की नैतिक दुरावस्था के साथ-साथ समाज के उत्थान की भावी रूपरेखा का चित्र खींचते हुये, समाज के विगलित और मुखरित, दोनों रूप प्रस्तुत किये हैं। किन्तु प्रसाद ने साहित्य के एक ही अंग को पुष्ट नहीं किया; वे कवि थे और नाटककार भी। कवि के रूप में उनकी दार्शनिकता और नाटककार के रूप में उनका इतिहास-प्रेम विख्यात है। दार्शनिक के नाते जहां वे जीवन का मर्म समझने और युगधर्म को परखने की ओर प्रवृत्त हुये हैं, वहां इतिहास के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की भावना से प्रेरित होकर उन्होंने इस युगधर्म को ऐतिहासिक आधार दिया है। इसी कारण क्या नाटक, क्या काव्य और क्या उपन्यास—सभी में दार्शनिकता और इतिहास-प्रेम अथवा वर्तमान और अतीत, दोनों का स्वर गूंजता है। युगधर्म को समझने तथा विगत वैभव के साथ उसका मेल बैठाने के लिये उन्होंने इतिहास का आश्रय लिया। डा० ललिता प्रसाद सुकुल के शब्दों में प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' भी लिखा, 'कंकाल' और 'तितली' भी लिखी, लेकिन उनके चाणक्य और उनके चन्द्रगुप्त में ध्वनि निकली बापू और जवाहर की, यही था युगधर्म।[1] युग की चेतना को उन्होंने ऐतिहासिक चेतना के साथ जोड़ कर, इसे अधिक मनोरम बना दिया। 'इरावती' भी उनका इसी दृष्टि से लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यास है। 'इरावती' की भाव-पीठिका की ओर संकेत करते हुये उन्होंने कहा है—'मानवता ने अपने युगों के जीवन में सृष्टि का विकास किया है और विनाश से सृष्टि की है।...अतिसुन्दर बनाने के लोभ में प्रायः वस्तु को वीभत्स बना दिया जाता है। हमारी अहिंसा अब हमारी हिंसा करने लगी है। हमारा प्रेम हमीं से द्वेष करने लगा। और देखो, धर्म पाप बनता जा रहा है।'

उपर्युक्त उद्धरण, प्रसाद की युगचेतना तथा ऐतिहासिक चेतना के संयोग का एक सुन्दर उदाहरण है। उनकी ऐतिहासिक चेतना जहां एक ओर अतीत के सुनहले चित्र, वैभव एवं श्री-सम्पन्न अतीत तथा 'रामराज्य' की ओर इंगित करती है, वहां युग की चेतना वर्तमान समस्याओं तथा जटिलताओं का चित्र खींचते हुये, परोक्ष रूप से, इनके समाधान के उपाय भी सुझाती है। प्रसाद के नाटकों और उनके अधूरे उपन्यास 'इरावती' में दोनों चेतनायें सक्रिय हैं। 'इरावती' में शुंग वंश एवं बौद्ध धर्म के ह्रास के चित्रण के माध्यम से वे देश की वर्तमान पतित अवस्था को चित्रित करना चाहते थे। उन्होंने इस पतितावस्था से उन्नति की ओर अग्रसर होने का उपाय सुझाना चाहा होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश, उपन्यास का उत्तरार्द्ध पूरा न हो सका।

---

१. 'साहित्य-जिज्ञासा',

वृन्दावनलाल वर्मा—जयशंकर प्रसाद के उपरान्त, हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास की परम्परा को वृन्दावनलाल वर्मा ने आगे बढ़ाया। वर्तमान के कलह-द्वेष, समस्या एवं जटिलता, बाधा एवं वीभत्सता की तुलना में सुनहले गौरवमण्डित अतीत के प्रति मानव के मन में एक स्वाभाविक आकर्षण होता है। अतीत की अद्भुत रहस्यमयता के बावजूद, इसके प्रति विश्वास सहज ही उत्पन्न हो जाता है। अतीत के बारे में इस रहस्यमयता के कारण मानव प्राणी, इसके प्रति विस्मय का भाव लिये रहता है, और कल्पना का थोड़ा-सा सहारा पाकर इसमें से आधुनिक काल की पेचीदगियों एवं समस्याओं का हल ढूंढ़ने की ओर प्रवृत्त होता है। ऐसी स्थिति में, उसके लिये अतीत एक प्रेरणा-स्रोत का रूप धारण कर लेता है। अतीत के प्रति श्रद्धा का भाव उदय होने पर, वर्तमान से जूझने का हौसला, और, कठिनाइयों पर विजय पाने का विश्वास, मानव में उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

वृन्दावनलाल वर्मा ने भी, प्रसाद के समान, अतीत को श्रद्धापूर्ण नेत्रों से देखा है। अतीत के जीवनादर्शों के प्रति उनके मन में गौरव एवं आदर की भावना निहित होने के कारण ही वे अतीत का सफल एवं सजीव चित्रण कर पाये हैं। उन्होंने पुरातन जीवनादर्शों को बुन्देलखण्ड के इतिहास-प्रसिद्ध श्रेष्ठ पुरुषों और वीर नारियों में साकार करने के लिये कल्पना और ऐतिहासिक सत्य का सरस समन्वय कर दिखाया है। यही कारण है कि वे अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास की मनमोहक छवि उतारने में सफल हुये हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा ने इतिहास की टूटी हुई कड़ियों को जोड़ कर, कल्पना के सहारे इनके अंदर विद्यमान व्यवधान को पूरा करने का यत्न किया है। बुन्देलखण्ड उनकी जन्मभूमि है, अतः इसके प्रति स्वाभाविक अनुराग उनके उपन्यासों में स्थान-स्थान पर छलकता दिखाई देता है। बुन्देलखण्ड की इतिहास-प्रसिद्ध विभूतियों को उन्होंने आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है, और वहां की छटा का वर्णन करते हुये वे भाव-विभोर हो उठते हैं। जहां तक बन पाया है उन्होंने अपने ऐतिहासिक पात्रों और उनके क्रीड़ास्थलों को वास्तविकता पर ही आधारित करने का यत्न किया है। इस कारण उन्होंने अपनी कृतियों में इतिहास की शोध को विशेष स्थान दिया है। इतिहास-वेत्ता की जिज्ञासा और उपन्यासकार की कला के समन्वय ने उनके उपन्यासों में ऐसी सजीवता भर दी है कि जान पड़ता है कि उनके उपन्यासों में वर्णित सभी ऐतिहासिक घटनायें मानों कल-परसों ही घटित हुई हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त, वर्मा जी ने सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं। उनके दोनों प्रकार के उपन्यासों की तुलना करने पर, ऐतिहासिक उपन्यास सहज ही बाजी ले जाते हैं। वर्मा जी की उपन्यास-कला, ऐतिहासिक विषयों को लेकर जितनी निखरी है, उतनी सामाजिक विषयों को लेकर नहीं। इसका कारण

वर्मा जी की प्रवृत्ति, रुचि और झुकाव की विशिष्टता है। अतीत के सत्य पर उनकी पकड़ अधिक मजबूत है, और उसी में वे अच्छी तरह रम सके हैं।

प्रेमचंद से वृन्दावनलाल वर्मा तक हिन्दी उपन्यास के विकास को एक विहंगम दृष्टि से देखने पर, हमें इस विकास की दो प्रवृत्तियां—सामाजिक एवं ऐतिहासिक, दिखाई देती हैं। किन्तु, इन प्रवृत्तियों के मूल में एक ही भाव काम कर रहा है—मानव-जीवन के साथ उपन्यासकार की अधिकाधिक घनिष्ठता एवं उपन्यास के माध्यम से मानव-जीवन की आलोचना तथा व्याख्या का प्रयास। मानव-जीवन की वर्तमान अवस्था पर अधिक ध्यान देने, इसकी समस्याओं एवं जटिलताओं को समझने एवं सुलझाने के प्रयास के कारण सामाजिक उपन्यासों का जन्म हुआ। किन्तु, जब उपन्यासकार ने ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण की सहायता से मानव की वर्तमान अवस्था के विश्लेषण का प्रयास किया, तो इसका परिणाम ऐतिहासिक उपन्यासों के सृजन में प्रकट हुआ। इस प्रकार, सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के लक्ष्य समान हैं, अंतर यदि है तो केवल वर्तमान और अतीत की छाप का।

विकास का तीसरा चरण

हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास के तीसरे चरण में उपन्यासकारों ने उपन्यास के माध्यम से जीवन के तथ्यों के अन्वेषण का लक्ष्य स्वीकार जरूर किया, पर उनका दृष्टिकोण एवं उनकी प्रणाली भिन्न थी। उनके दृष्टिकोण की भिन्नता को ही पहले लें। प्रेमचंद और प्रसाद ने अपना ध्यान समाज की ओर केन्द्रित किया, और सामाजिक जीवन की आलोचना करते हुये वे अपने पात्रों के चरित्र-निरूपण की ओर प्रवृत्त हुये। दूसरे शब्दों में, उनके उपन्यास समाजोन्मुख हैं, सामाजिक जीवन की विवेचना ही उनका प्रधान कार्य है। विपरीत इसके, प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यासकारों ने व्यक्ति के चरित्र-निरूपण की ओर अधिक ध्यान दिया है। उन्होंने व्यक्ति के माध्यम से सामाजिक जीवन का निरीक्षण किया है, इसलिये उन्होंने जिन जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा की है, उनमें व्यक्तिवादी दृष्टिकोण का स्वर प्रधान हो उठा है। इस प्रकार उनकी रचनायें व्यक्ति-अभिमुख हैं, समाजोन्मुख नहीं, उनमें व्यक्ति के चरित्र और समस्याओं के विश्लेषण को प्रधानता दी गई है जबकि सामाजिक व्यवस्था तथा सामाजिक समस्याओं के निरूपण को गौण स्थान प्राप्त है।

दूसरी भिन्नता उनकी प्रणाली की है। अब तक के उपन्यासकारों ने मानव को सामाजिक अथवा ऐतिहासिक धरातल पर खड़ा करके, उसके जीवन की व्याख्या की थी। किन्तु उपन्यास-रचना में मनोविज्ञान के संयोग से इस धरातल में परिवर्तन हो गया और उपन्यासकार ने मानव जीवन को बाहर से नहीं, भीतर से देखने का

प्रयास किया। बाह्य परिस्थितियों के घात-प्रतिघात गौण हो गये और मानव मन के आन्तरिक द्वन्द्व, संघर्ष, उद्वेलन तथा आलोड़न को महत्व मिला और उपन्यासकार, वहिजगत् की अपेक्षा, मानव के अन्तर्जगत् की व्याख्या करने को समुद्यत हुआ।

मानव जीवन के अन्तर्जीवन के प्रति उपन्यासकार की बढ़ती हुई रुचि के बहुत दूरगामी प्रभाव हुए हैं। उपन्यासकार ने मानव जीवन की व्याख्या एक नये ढंग से—अर्थात्, मनोवैज्ञानिक रीति से करनी शुरू की और इसका फल यह हुआ कि उसके लिए परम्परागत नैतिक मूल्य एवं आदर्श फीके पड़ गये। मानव के अन्तर्मन में पैठ उसकी कर्म-प्रेरणा, प्रवृत्ति, जटिलता और कुण्ठा की मनोवैज्ञानिक व्याख्या करने के प्रयास में उपन्यासकार ने जीवन को एक नये दृष्टिकोण से देखा और इसके नये मूल्य एवं नये आदर्श निर्धारित करने शुरू किये। देखा जाये तो इस नये दृष्टिकोण ने उपन्यासकार की जीवन सम्बन्धी परम्परागत धारणाओं की मानों जड़ हिला दी। अब तक धार्मिक दृष्टिकोण से मानव-जीवन की जो व्याख्या की गयी थी, उसके प्रति उपन्यासकार की आस्था लुप्त हो गयी। वह मानव-जीवन का नियमन करने वाली परम्परागत व्यवस्थाओं, नियमों, निषेधों एवं नैतिक मान्यताओं को स्वयं प्रमाण मानने को तैयार न था, अपितु, इनके आधारभूत सिद्धान्तों को परखने की ओर वह प्रवृत्त हुआ। परम्परागत नैतिकता के प्रति उसकी बढ़ती हुई अनास्था को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की नयी पद्धति का सहारा मिला और वह इन नैतिक मान्यताओं की सच्चाई ढूँढ़ने के लिए इनकी चीरफाड़ की ओर अग्रसर हुआ। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से नैतिक आदर्शों का मूल्य आंकने पर उसे दिखाई दिया कि ऊपर से स्वस्थ दिखायी देने वाली परम्परागत नैतिक मान्यताओं की जड़ में तो घुन लगा हुआ है। यह एक ऐसा प्रबल धक्का था जिसने उसके नैतिक विश्वासों को लड़खड़ा दिया और वह इनका नया आधार एवं नयी नैतिक कसौटियां खोजने की ओर प्रवृत्त हुआ। इस नयी प्रवृत्ति के फलस्वरूप, श्रीमती शचीरानी गुर्टू के शब्दों में—'मानव-जीवन के नैतिक मूल्यों के निर्धारण में आकाश-पाताल का अन्तर पैदा हो गया।'[1] इस दृष्टि से देखा जाये तो उपन्यासकार की उपर्युक्त नई प्रवृत्ति ने पुरानी नैतिक मान्यताओं को चुनौती देकर, नये तथा पुराने जीवनादर्शों के बीच संघर्ष के बीज बो दिये।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास—हिन्दी उपन्यास के विकास में नैतिक मान्यताओं की भिन्नता से उद्भूत इस संघर्ष का बहुत महत्व है। इस संघर्ष ने उपन्यास-साहित्य को एक नया मोड़ दिया और सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा के उपरान्त मनोवैज्ञानिक उपन्यासों को जन्म दिया। यदि तनिक गहरे में जाकर इस मनोवैज्ञानिक परम्परा के उद्भव का विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि एक

१. 'जैनेन्द्र का मनोवैज्ञानिक अतिवाद', साप्ताहिक हिन्दुस्तान, ६ मार्च, १९५८।

विशिष्ट दृष्टिकोण से मानव-जीवन की समालोचना अथवा व्याख्या करने का ही यह परिणाम है, और जैसा कि सर्वविदित है, इस दृष्टिकोण के पीछे फ्रायडीय चिन्तन व्याप्त है।

फ्रायडीय मनोविज्ञान ने अवचेतन मन को ही मानव की समस्त प्रवृत्तियों का कोष माना है। मानव के व्यवहार की विचित्रता एवं असामान्यता की जड़ में इस चिन्तनधारा ने, मानसिक कुण्ठाओं की कल्पना की है जो कि मूल प्रवृत्तियों के दमन से उपजती हैं। अतः मानव का सही-सही चरित्र-निरूपण करने के लिये उपन्यासकार ने उसके अचेतन मन की गहराई में झांकना शुरू किया। इलाचन्द्र जोशी के शब्दों में—'अन्तरतम प्रदेश की गहराइयों, गहन खाइयों, भयंकर चट्टानों, प्रलयंकर तूफानों, निरन्तर उलझती रहने वाली मानसिक गांठों के कारण उत्पन्न हाहाकारपूर्ण शून्यमय अवसादों, विषादों तथा चित्त की अव्यवस्थित और असामंजस्यपूर्ण परिस्थितियों से (उपन्यासकार) भली भांति परिचित रहता है।'[1] इस प्रकार, उपन्यासकार ने मानव-जीवन की व्याख्या करते समय बहिर्मुखी दृष्टि के बजाय, अन्तर्मुखी दृष्टि का सहारा लेना शुरू किया। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मानव के अन्तर्जगत का कोना-कोना झांकने, उसके मन में उठने वाले द्वन्द्वों और संघर्षों की जड़ में जाकर इनका विश्लेषण करने की प्रवृत्ति मिलती है।

जैनेन्द्रकुमार—हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की नींव डालने का श्रेय जैनेन्द्र कुमार को दिया जायेगा। उन्होंने 'परख' और तदुपरांत 'त्यागपत्र' लिखकर हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास का एक नया मार्ग प्रशस्त किया। फिर तो 'सुनीता', 'कल्याणी', 'सुखदा' आदि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना कर उन्होंने इस परम्परा को प्राणवान् ही नहीं बनाया, वरन् साहित्यक क्षेत्र में इसका एक विशिष्ट महत्व एवं स्थान भी निर्धारित कर दिया।

जनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की विशेषतायें पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुई है। व्यक्ति-चरित्र का निरूपण करने के कारण जैनेन्द्रकुमार की साहित्य-सृष्टि व्यक्तिमुखी है। सामाजिक जीवन के व्यापक स्वरूपों एवं विविध पहलुओं से उनका बहुत थोड़ा संबंध है। नन्ददुलारे बाजपेयी के शब्दों में—'जैनेन्द्र-सामाजिक जीवन से दूर जाकर जिस साहित्य की सृष्टि करते है, उसमें व्यक्ति के मानसिक संघर्ष और उसकी परिस्थिति-जन्य समस्यायें प्रमुख रूप से आती हैं।'[2] प्रेमचंद के समान उनकी दृष्टि बहिर्मुखी नहीं, अंतर्मुखी है। इसलिए भी उनके साहित्य में सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य का प्रश्न प्रधान हो उठा है। सामाजिक जीवन के वास्तविक प्रवाह से

---

१. 'साहित्य चिन्तन' २. 'आधुनिक साहित्य'

दूर जाकर उन्होंने अपने आपको वैयक्तिक मनोभावों और मन:स्थितियों के चित्रण तक ही सीमित रखा है।

व्यक्तिमुखी होने के साथ-साथ, जैनेन्द्र कुमार व्यक्तिवादी लेखक भी हैं। इस कारण वे सामाजिक मूल्यों और परम्परागत नैतिक आदर्शों की अवहेलना-सी करने की ओर झुकते है। इतना ही नहीं, उन्होंने सामाजिक आचरण के औचित्य को संशयपूर्ण दृष्टि से देखते हुए अपने पात्रों का चित्रण एक ऐसे धरातल पर किया है जिसका सामाजिक नैतिकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। परम्परागत नैतिकता एवं सामाजिक आदर्शों के विरुद्ध जैनेन्द्र कुमार का यह विद्रोह है, जिसे उन्होंने अपने साहित्य में प्रमुख स्थान दिया है।

इस विद्रोह की आवाज को बुलन्द करते हुये जैनेन्द्र कुमार ने नये आदर्शों एवं नये नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना का प्रयास किया है। इन नये मूल्यों एवं आदर्शों को उन्होंने दार्शनिकता एवं रहस्यमयता का परिधान ओढ़ा कर प्रस्तुत किया है। उनके प्रमुख पात्र अपने को दार्शनिक चोले में ही प्रकट करते हैं। इसी कारण उनके उपन्यासों की एक विशेषता है—विचार-प्रवर्त्तकता। प्रभाकर माचवे के शब्दों में—'उनके विचारों का चाहे प्रत्याख्यान हम करें, पर यह तो हम कदापि कह ही नहीं सकते कि वे पाठक या श्रोता के मन में विचार-लहरियां नहीं उठाते। उनको लेखनी की क्षमता इसी में है कि वह विचारों को ठेलती, कुरेदती और आगे बढ़ाती है।'[1] वस्तुत: लोकजीवन के परम्परागत नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों की प्रस्थापना के प्रयास में उनकी दार्शनिक प्रवृत्ति को मनचाहा क्षेत्र मिल गया है। जैनेन्द्र कुमार की विशिष्टता इसी में है कि उन्होंने अपने जीवनदर्शन एवं अपनी मान्यताओं को ईमानदारी से एवं निःसंकोच होकर व्यक्त किया है।

इलाचन्द्र जोशी—उपन्यास-रचना में मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली को बढ़ावा देने वाले दूसरे प्रमुख उपन्यासकार हैं इलाचन्द्र जोशी। इन्होंने भी मानव की अन्तश्चेतना के अगाध वतल में छिपी हुई प्रवृत्तियों के उद्घाटन को अपने उपन्यासों में प्रमुख स्थान दिया है। जोशी जी का मत है कि मानव के राजनैतिक, आर्थिक तथा सामाजिक जीवन के बाह्य रूप उसकी सामूहिक अज्ञात चेतना में निहित प्रवृत्तियों से परिचालित होते हैं। 'इसलिए मानवता के लिए सबसे कल्याणकर उपाय यह है कि वह अपनी उस अज्ञात चेतना के गहरे, और अधिक गहरे, स्तरों में प्रवेश करके उसके भीतर जड़ जमाने वाली आदिकालीन पशु-प्रवृत्तियों की छान-बीन और विश्लेषण करे और उस पातालपुरी की नारकीय अन्धकारा में बद्ध उन संस्कारों की यथार्थता स्वीकार करके ऐसी तरकीब निकालने का प्रयत्न करे जिससे

---

१. जैनेन्द कुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'

गलत रास्ते से होकर उन वद्ध प्रवृत्तियों का विध्वंसक विस्फोट न हो, बल्कि उचित मार्गों से उसका नियमित प्रस्फुटन हो।'[1]

फ्रायड एवं युग प्रवृति मनोविज्ञान के पण्डितों का अनुसरण करते हुये, जोशी जी की भी यह धारणा है कि मानव के बाह्य सभ्य रूप के नीचे बर्बरावस्था की पाशविकता और कुसंस्कार छिपे पड़े हैं। सभ्यता ने इन संस्कारों को नष्ट नहीं किया, उन्हें केवल दबा दिया है। इसलिए, मौका मिलने पर ये कुसंस्कार और पशुप्रवृत्तियां, सभ्यता की झीनी चादर फाड़कर अपने नग्न और वीभत्स रूप में मनुष्य के मन पर छा जाती हैं। इन मूल प्रवृत्तियों का क्या किया जाये? दमन? नहीं, जोशी जी दमन के विरोधी हैं। उनकी धारणा है कि हमें इन मूल प्रवृत्तियों का विश्लेषण करके देखना चाहिए कि इनका सही-सही उपयोग कैसे किया जा सकता है।

इलाचन्द्र जोशी ने मानव के अन्तर्जीवन की मनोवैज्ञानिक चीरफाड़ तक ही अपने-आपको सीमित न रखकर अपने उपन्यासों में नैतिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा भी की है। यही कारण है उनकी रचनाओं में मनोविश्लेषणात्मकता के साथ-साथ रचनात्मकता का स्वर भी गूँजता है। वे चाहते हैं कि मानव प्राणी अपने अहंभाव को तथा इस अहंभाव से उपजी समाजघाती मनोवृत्तियों के सही-सही रूप का परिचय प्राप्त करके ऐसे उपाय ढूँढे जिनसे कि वह जनसमुदाय के हित को बढ़ावा दे सके। इस नैतिक आदर्शवाद की प्रतिष्ठा करते हुये उन्होंने अपने उपन्यासों के अन्त में प्राय: यही दिखाया है कि अधिकांश पात्र अपनी कुण्ठाओं पर विजय प्राप्त कर और मानसिक द्वन्द्वों से छुटकारा पाकर सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं का अंत पश्चाताप-पूर्ण वातावरण में होता है, और जिस नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा वे करना चाहते हैं उसकी प्रतिष्ठा के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हो जाती है।

अज्ञेय—हिंदी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का अध्ययन सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की रचनाओं के उल्लेख के बिना, अधूरा रह जायगा। यद्यपि 'अज्ञेय' ने केवल दो ही उपन्यास लिखे हैं, तो भी ये हैं उत्कृष्ट कोटि के। इन उपन्यासों ने 'अज्ञेय' को एक उच्चकोटि के उपन्यासकार तथा हिंदी उपन्यास-साहित्य के विकास में अपूर्व योग देने वाले के रूप में प्रस्तुत किया है।

उपन्यास-रचना के बारे में 'अज्ञेय' के मत एवं आदर्श अपने पूर्ववर्ती उपन्यासकारों से भिन्न हैं। उनका मत है कि 'कल्पना और अनुभूति-सामर्थ्य के सहारे दूसरे के घटित में प्रवेश कर सकना, और वैसा करते समय आत्म-घटित की पूर्वधारणाओं

---

१. इलाचन्द्र जोशी, 'प्रेत और छाया'

और संस्कारों को स्थगित कर सकना—ही लेखक की शक्ति का प्रमाण है।[1] तात्पर्य यह कि वे उपन्यास को आत्मकथामूलक, अपने ही जीवन का चित्रण न मानकर, इसमें मानव के संघर्ष को प्रतिबिम्बित करना चाहते हैं। यद्यपि इस आदर्श को निवाहने में वे पूर्णतः सफल नहीं हो पाये हैं और उनका आपा सर्वत्र झलकता है, तो भी एक विशिष्ट दिशा में उनका यह प्रयास सराहनीय है।

'अज्ञेय' ने मानव के संघर्ष को चित्रित करते समय अपने उपन्यासों में मानव जीवन का एक गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'शेखर : एक जीवनी' में उनका प्रमुख पात्र शेखर, जीवनी के बिखरे हुए सूत्रों को पकड़ने, और इनके सहारे जीवन को समझने का प्रयास करता है। जिन आदर्शों, इच्छाओं, कुण्ठाओं और मनोविकारों से प्रेरित होकर उसका जीवन तरह-तरह के उत्थान और पतन में से होकर निकला है, अपने पात्रों की द्वन्द्वग्रस्त एवं संघर्षरत मनःस्थिति में प्रवेश कर, उनके मन में उठने वाले अस्पष्ट और धुंधले भावों को चित्रित करने के महत् प्रयास में 'अज्ञेय' की उपन्यास-कला चमक उठी है। पात्रों की मनोग्रन्थियों एवं अनुभूतियों के विश्लेषण, उनकी बुद्धि और मन के द्वन्द्व उनके पूर्वाग्रहों एवं परम्परागत मनोभावों और वर्तमान स्थितियों के बीच होने वाले संघर्ष के अनेकानेक चित्र खींचकर 'अज्ञेय' ने हिंदी में वस्तुतः मनोवैज्ञानिक उपन्यास-रचना की शैली को निखार दिया है।

'अज्ञेय' ने अपने उपन्यासों में जीवन को परखने की नयी कसौटियों एवं इसका मूल्य आंकने के नये नैतिक मूल्यों की प्रस्थापना की है। उन्होंने परम्परागत लोकाचार और लोकनीति के प्रति विद्रोह-भावना व्यक्त की है। 'शेखर : एक जीवनी' में क्रान्ति और विद्रोह स्वयं अपना लक्ष्य है। यह एक मनोवृत्ति ही नहीं, एक स्वतंत्र जीवन-दर्शन है। 'अज्ञेय' के कथनानुसार 'क्रांतिकारी बनाये नहीं जाते, जन्मजात होते हैं।'[2] बौद्धिक घृणा का भाव विकास का एक साधन है। विद्रोह किसी वस्तु या स्थिति के प्रति नहीं, सम्पूर्ण वस्तु और सारी स्थितियों के प्रति, सृष्टि के प्रति, क्योंकि वह अधूरी और अपूर्ण है; समाज के प्रति, क्योंकि वह संकीर्ण है और विकास का विघातक है। सभी संस्थाओं, समस्त रीतियों एवं नियमों के प्रति विद्रोह क्रांतिकारी की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

विद्रोह की इस अन्तर्भूत भावना के कारण 'अज्ञेय' के पात्र, सर्वस्वीकृत नैतिक मानों की अवहेलना कर, स्वच्छंद आचरण की ओर प्रवृत्त होते हैं। उनके पात्रों का आचरण स्वातंत्र्य, निर्बाध प्रेम और उन्मुक्त भोग, उनके अंदर विद्रोह की भावना का ही परिणाम है। श्रीमती शचीरानी गुर्टू के कथनानुसार, श्री 'अज्ञेय' के

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'.   २. वही।

पात्र अपनी संवेदनाओं, विचारों और चेष्टाओं में आचरण स्वातंत्र्य के कायल हैं। लेखक स्वयं भी इस मत का खुलेआम हामी है कि स्त्री-पुरुष के यौन संबंध किसी भी दशा में गर्हित अथवा जघन्य नहीं है, अपितु भूख और प्यास की भांति भोगेच्छा भी जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है, जिस पर किसी प्रकार की पाबन्दी या हस्तक्षेप अनुचित है। व्यक्ति की अबाध, निरपेक्ष सत्ता है, जो किसी मर्यादा, मूल्य और नैतिकता की गिरफ्त में नहीं रहती, अपितु सर्वथा स्वतंत्र और मुक्त है, समय की अमाप पगडंडियों पर जिसकी स्वसंचालित गति है।[1]

सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की भांति मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में भी आदर्शवाद का स्वर प्रबल है। कहीं-कहीं तो यह आदर्शवाद ऐसे उच्चधरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया गया है कि सामान्य एवं सहज जीवन से इसका कोई संबंध ही नहीं रहा है। इसी कारण, अधिकांश मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के पात्र अपने अद्भुत आदर्श-प्रेम के कारण काल्पनिक, तथा अपने अद्वितीय अनुभूति-सामर्थ्य के कारण असामान्य-से प्रतीत होते हैं। पर इस काल्पनिकता और असामान्यता के बावजूद, यह मानना पड़ेगा कि नये-नये साहित्यिक प्रयोगों को जन्म देकर, गद्य में काव्यमयी प्रतीक-पद्धति का सहारा लेकर और बंधी-बंधाई साहित्यिक रूढ़ियों को छोड़कर, इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने अपने ढंग से, उपन्यास-रचना के विकास में महत्त्वपूर्ण योग देते हुये, इसे निश्चय ही अधिक समृद्ध किया है। अब तक अछूते मनोभावों को व्यंजित कर, पकड़ में न आ सकने वाली सूक्ष्मतम अनुभूतियों को चित्रित कर, निःसंदेह. इन्होंने उपन्यास-कला को अधिक निखारा है।

निष्कर्ष—हिन्दी उपन्यास के विकास की पृष्ठभूमि का अध्ययन करते समय हमने इसकी तीन महत्वपूर्ण स्थितियों पर विचार किया है। हमने देखा है कि प्रत्येक स्थिति अथवा चरण में उपन्यास और मानव जीवन की परस्पर घनिष्ठता बढ़ने के कारण उपन्यास का क्षेत्र क्रमशः बढ़ा है, और इसका स्वरूप भी निखरा है। प्रारम्भ में, उपन्यासकार को मानव-जीवन की व्याख्या करने की कोई आवश्यकता महसूस न हुई थी, इसलिये तत्कालीन उपन्यास-साहित्य, अनुरंजन और नीति-शिक्षा को ही साध्य मानकर तिलिस्म, ऐयारी और उपदेश तक सीमित रहा। ज्यों ही उपन्यासकार, उपन्यास के माध्यम से जीवन की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त हुआ, त्यों ही उसने उपदेश और अनुरंजन का लक्ष्य त्यागकर समाज के उन्नयन की चिन्ता करनी शुरू की और उसी उत्कर्ष के आलोक में उसने लोक-जीवन, लोकाचार एवं लोक-मर्यादा का मूल्यांकन करने का प्रयास किया।

सामाजिक उपन्यासों की रचना के पीछे समाज के उन्नयन का स्वर जितना प्रबल है, उतना विद्रोह का नहीं है। परन्तु, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना मान-

---

1. 'अज्ञेय के उपन्यासों में आचरण-स्वातंत्र्य के नैतिक मान।'

सिक द्वन्द्व और नैतिक संघर्ष की जिस पृष्ठभूमि में हुई है, उसके कारण मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की रचना में विद्रोह की भावना सहज ही प्रविष्ट हो गयी है। किन्तु, इस विद्रोह-भावना ने जहां एक ओर उपन्यासकार को समाज की परम्परागत नैतिक मान्यताओं और आदर्शों को नये मूल्यों की कसौटियों पर परखने को प्रेरित किया है वहां इसने हिंदी उपन्यास के विकास में रुकावट पैदा करने के बजाय, इसके विकास के शतशः मार्ग प्रशस्त कर दिये हैं। इस प्रकार, उपर्युक्त तीन स्थितियों को पार करके आज का हिन्दी उपन्यास अल्पकाल में ही प्रौढ़ता और गम्भीरता धारण करता हुआ विश्व के समुन्नत उपन्यास-साहित्य की बराबरी का दावा करने लगा है। इसने जिस तेजी से विकास किया है उसे देखते हुए भगवान वामन के पराक्रम का स्मरण हो आता है जबकि तीन डगों में उन्होंने तीनों लोक पार कर लिये थे।

प्रस्तुत परिच्छेद में हिंदी उपन्यास के विकास की पृष्ठभूमि का उपर्युक्त अध्ययन उपन्यास के मूलतत्व—अर्थात्, मानव-जीवन के चित्रण और व्याख्या के दृष्टिकोण से किया गया था। एक दृष्टि से देखा जाये तो अब एक उपन्यास-साहित्य के सामान्य विकास का अध्ययन किया गया है, और इसके स्वरूप-विकास का अध्ययन अभी बाकी है। अतः, इसके आगे हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-विकास का विस्तृत अध्ययन किया गया है और इस अध्ययन के लिये उपन्यासकार के जीवन-दर्शन एवं नैतिक चिंतन को आधार बनाया गया है।

३

हिन्दी उपन्यास का स्वरूप-विकास और नैतिकता

प्रस्तावना

इस प्रबन्ध के प्रथम परिच्छेद में उपन्यास और नैतिकता के आधार एवं लक्ष्य की समानता और उपन्यास-रचना में नैतिक तत्व के अनिवार्य समावेश का अध्ययन करते समय यह देखा गया था कि उपन्यासकार का नैतिक चिंतन उसकी रचना के अंग-प्रत्यंग को छूता हुआ इसे एक सुनिश्चित रूप प्रदान करता है। मानव आचरण के विश्लेषण और मानव जीवन की व्याख्या के लिए उपन्यासकार को किसी न किसी नैतिक सिद्धांत का सहारा लेना पड़ता है, इसलिये उपन्यासकार की रचना में उसकी साहित्यिक प्रतिभा और उसके नैतिक चिंतन का अपूर्व संयोग हो जाता है। प्रस्तुत परिच्छेद में हमें साहित्य और नैतिकता के इस संयोग की पृष्ठ-भूमि में उपन्यास के सामान्य स्वरूप-निर्धारण का अध्ययन करना है, क्योंकि उपन्यास-साहित्य, अंततः, उपन्यासकार के नैतिक चिंतन की साहित्यिक अभिव्यक्ति है, उसके जीवन-दर्शन का सरस और हृदयग्राही चित्र है।

स्वरूप निर्धारण और नैतिक चिन्तन—उपन्यासकार का नैतिक चिन्तन जहां एक ओर उसे मानव जीवन की जटिलता और समस्या का गहन विश्लेषण करने तथा मानव जीवन की व्याख्या करने में सहायता पहुंचाता है, वहां दूसरी ओर उपन्यासकार की रचना पर उसके नैतिक चिंतन की अमिट छाप भी पड़ जाती है। देखा जाये तो उपन्यासकार की नैतिकता उसकी रचना के प्रत्येक तत्व और प्रत्येक पहलू को छूती हुई इसका स्वरूप निर्धारित करती है। उपन्यासकार की रचना के स्वरूप-निर्धारण पर उसके चिंतन के प्रभाव को स्वीकार करते हुये प्रेमचन्द ने कहा

है—'वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावों का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है। जिसके हृदय में देश की लगन है, उसके चरित्र, घटनावली और परिस्थितियां सभी उसी रंग में रंगी हुई नजर आयेंगी।[1]

उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण पर नैतिकता के अनिवार्य प्रभाव को जहां जैनेन्द्रकुमार ने 'साहित्य कृतिकार के मन का प्रतिबिम्ब है'[2] इस सूत्र वाक्य में व्यक्त किया है, वहां मार्टिन जैरेट ने इस प्रभाव के मूल कारण की व्याख्या करने का यत्न किया है। उन्होंने मानव आचरण के प्रत्येक पहलू और उसके सम्पूर्ण कर्म क्षेत्र पर उसके चिंतन का प्रभाव स्वीकार किया है। उनका कथन है—'मानव का चिंतन और कर्मक्षेत्र अलग-अलग खंडों में बटा हुआ न होकर, एक है। इसलिये जीवन संबंधी उसकी मूल धारणाएं और विश्वास, उसके आचरण, उसकी कल्पना और स्वप्न, उसकी भाषा और (यदि वह कवि हो तो) उसके काव्य में भी प्रकट हो जाते हैं।' अर्थात्, क्या चेतन और अचेतन, क्या दैनिक जीवनयापन और कला-सृजन—सभी में उन्होंने नैतिक चिंतन की अभिव्यक्ति को अनिवार्य बताते हुये उसके चिंतन की अमिट छाप को अत्यन्त स्वाभाविक माना है।

उपन्यास रचना पर नैतिकता के उपर्युक्त प्रभाव की स्वीकारोक्ति तक ही अपने-आपको सीमित न रख कर, राड हार्टन ने इस प्रभाव की सुस्पष्ट रेखा भी खींची है। उन्होंने उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण पर उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन के प्रभाव को इन सारगर्भित शब्दों में व्यक्त किया है—'प्रत्येक कलाकृति व्यक्ति-परक होती है, इसलिये साहित्यकार के शब्द-चयन, प्रतीक-योजना और शब्द-चित्र, वातावरण, पात्रों की प्रवृत्तियां और चरित्र-चित्रण, और यहां तक कि कथानक की परिस्थितियों से उसके अंतर्मन की अचेतन प्रवृत्तियों का पता चल जाता है।' अतः, जिस प्रकार हम उपन्यासकार के जीवन-दर्शन के आलोक में उसकी रचना की सामान्य रूप-रेखा की कल्पना कर सकते हैं, उसी प्रकार उसकी रचना का अध्ययन करने पर हम इसकी रूप-रेखा का निर्धारण करने वाली उसके चिन्तन की सामान्य प्रवृत्तियों की भी कल्पना कर सकते हैं। उपन्यासकार की रचना पर पड़ने वाली उसके चिन्तन की छाप स्वयं इतना सबल प्रमाण है कि इसके सहारे उसके चिन्तन का पता लगाना कठिन नहीं है।

स्वरूप विकास के अध्ययन का क्रम—उपन्यास और नैतिकता के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध तथा उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण पर उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन

१. 'कुछ विचार', पृष्ठ—७०।
२. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ—३१८

के अमिट एवं अनिवार्य प्रभाव को ध्यान में रख कर हमें प्रस्तुत परिच्छेद में हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-विकास का अध्ययन करना है । अत:, प्रस्तुत परिच्छेद में उपर्युक्त दृष्टिकोण से प्रेमचंद से लेकर आधुनिक काल तक के हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यास-कारों के नाते सर्वश्री प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, इलाचंद्र जोशी, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय', यशपाल प्रभृति हिन्दी के प्रख्यात उपन्यासकारों को लिया गया है । उपर्युक्त उपन्यासकारों के जीवनादर्श एवं नैतिक मान्यतायें पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये इन रंग-बिरंगे जीवनादर्शों और तरह-तरह की नैतिक मान्यताओं ने हिन्दी उपन्यास के विकास में जो बहुविध योग दिया है और इसके विकास की जो नई-नई सम्भावनायें प्रस्तुत की हैं, उनका क्रमानुसार अध्ययन नितान्त आवश्यक है । हिन्दी उपन्यास के विकास को भली-भांति समझने में यह अध्ययन कितना मूल्यवान है, इसका अनुमान तो प्रस्तुत प्रबंध की इस प्रस्था-पना से ही लगाया जा सकता है कि उपन्यासकार की नैतिक मान्यतायें एवं नैतिक आदर्श, उसकी रचना के अंग-प्रत्यंग को प्रभावित करते हुये इसे सुनिश्चित रूप प्रदान करते हैं ।

प्रेमचन्द

हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद के पदार्पण से उपन्यास के विकास का एक नया अध्याय आरम्भ होता है । उनके पूर्व का उपन्यास-साहित्य पाठकों के मनो-रंजन की चीज था, उनके मनबहलाव का खिलौना था । जिस प्रकार जीवन के आरम्भ में बालक का संसार खिलौनों तक ही सीमित रहता है, उसी प्रकार प्रेमचंद के पूर्व हिन्दी का उपन्यास साहित्य, मनोरंजन और मनबहलाव का सामान जुटाने में अथवा नीति-शिक्षा देने में ही अपने-आपको सफल-मनोरथ समझ रहा था । तत्का-लीन उपन्यास साहित्य की मानों खिलौनों से खेलने की अवस्था थी, इसी कारण प्रेमचंद के पूर्ववर्ती मनोरंजनात्मक उपन्यास साहित्य के सृजनकाल को हिन्दी उप-न्यास के विकासक्रम में 'बाल्यकाल' की संज्ञा दी गई है ।

विकास की नई दिशा—हिन्दी उपन्यास की इस बाल्यावस्था में प्रेमचंद का प्रादुर्भाव हुआ । उन्होंने हिन्दी के बाल-उपन्यास की किलकारियां सुनीं, इसके बाल-जीवनोचित सरल व सहज क्रियाकलाप देखे । उन्होंने इसे बँगला और अंग्रेजी भाषा के अग्रज प्रौढ़-उपन्यासों की नकल करते भी देखा । किंतु प्रेमचंद यह सब देख कर संतुष्ट न थे । उन्हें खटक गया कि हिन्दी को छोड़ कर अन्य भाषाओं का उपन्यास साहित्य जहां उत्तरोत्तर प्रौढ़ता प्राप्त कर समृद्ध होता जा रहा है, वहां हिन्दी के उपन्यास-साहित्य ने अभी अपने बचपन की लीक भी पार नहीं की । उन्होंने तुरन्त भांप लिया कि अब इस बाल-साहित्य को बचपन का मनोविनोद और दूसरों की नकल छोड़ कर अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास करना चाहिए । प्रेमचंद की खूबी इसी में है कि उन्होंने तत्कालीन उपन्यास-साहित्य की इस आवश्यकता को समझा,

और इसे पूरा करने की ओर प्रवृत्त हुये। देखा जाये तो प्रेमचंद की सूक्ष्म दृष्टि ने हिन्दी उपन्यास-साहित्य का विकास अवरुद्ध करने वाले मूलभूत कारणों को समझ कर इन्हें दूर करने की चेष्टा की और, फलतः, हिन्दी उपन्यास के विकास की दिशा बदल दी।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास-क्रम में इस दिशा-परिवर्तन का बहुत महत्त्व है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप हिंदी का उपन्यास-साहित्य कल्पना-लोक से उतर, वास्तविक जीवन के ठोस धरातल पर अधिष्ठित हुआ, और मानव के यथार्थ जीवन के साथ इसका सम्बन्ध स्थापित हुआ। उपन्यास-रचना के लिए नई सामग्री की ओर ध्यान दिया जाने लगा और नयी सामग्री के उपयोग के कारण उपन्यासकला भी विकसित होने लगी। इस दिशा-परिवर्तन के कारण उपन्यास-रचना में हास-विलास और मनोविनोद के स्थान पर जीवन के गम्भीर पक्ष को भी स्थान मिलने लगा। जो उपन्यास-साहित्य मनोरंजन कर्त्ताओं के हाथ की कठपुतली बनकर पाठकों का मन बहलाता था, वही अब समाज-सुधारकों के हाथ का प्रबल अस्त्र और विचारकों एवं दार्शनिकों के लिए मानव-जीवन के सत्यों की शोध करने का साहित्यिक साधन बनने लगा। देखा जाये तो इस दिशा-परिवर्तन से प्रेमचन्द ने, वस्तुतः, हिन्दी के उपन्यास-साहित्य की मानों काया ही पलट दी।

हिंदी उपन्यास के विकास-क्रम में नये अध्याय का सूत्रपात करने का श्रेय प्रेमचन्द को देने के पूर्व यदि हम उनके जीवनादर्शों, और इन जीवनादर्शों से प्रभावित होने वाले साहित्यिक आदर्शों की ओर ध्यान दें तो पता चलेगा कि यह श्रेय-प्रदान सर्वथा उचित है। साहित्यिक क्षेत्र में प्रेमचन्द ने सद्भावना, सदाकांक्षा और उच्चादर्श को लेकर पदार्पण किया था, इसलिये उनकी रचनाओं में आदर्शवादिता का स्वर गूंजता है। साहित्यकार की कृतियों पर उसके चिन्तन के प्रभाव को स्वयं प्रेमचन्द ने स्वीकार किया है—'वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावों का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है।'[1] अतः हिन्दी उपन्यास के विकास में प्रेमचन्द के महत्वपूर्ण योग का सम्यक् अध्ययन करने के पूर्व उनके जीवन-दर्शन एवं जीवनादर्शों पर विचार करना परमावश्यक है।

जीवन-दर्शन

उपन्यास-रचना के क्षेत्र में प्रेमचन्द ने जो श्रेष्ठता प्राप्त की है उसका कारण सुझाते हुए डा० नगेन्द्र ने उनकी 'व्यापक सहानुभूति' की ओर संकेत किया है।[2] इस 'व्यापक सहानुभूति' का किंचित् विश्लेषण यदि किया जाये तो पता

---

१. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', (सरस्वती प्रेस, बनारस, १९५६) पृष्ठ ७०।

२. डा० नगेन्द्र 'विचार और विवेचन', (गौतम बुक डिपो, दिल्ली, १९४९) पृष्ठ, ८९।

चलेगा कि प्रेमचन्द की इस विशिष्ट मनोवृत्ति के पीछे उनका सम्पूर्ण जीवन-दर्शन छिपा हुआ है। प्रेमचन्द को मानवमात्र से प्रेम था। मानवता के इस पुजारी के लिए धर्म सम्प्रदाय, वर्ण-जाति तथा वर्ग-भूखण्ड की सीमाएं निष्प्रयोजन थीं। इस मानव-प्रेम के आगे उनके लिए धन और वैभव, कुलीनता और श्रेष्ठता की चमक-दमक फीकी पड़ गयी थी। इसलिए, मानव-मात्र से प्रेम के धरातल पर खड़े होकर मानव जीवन के जो चित्र उन्होंने खींचे हैं, उनमें इसी कारण गहराई है, सच्चाई है और व्यापकता है। यह मानव-प्रेम ही, वस्तुतः, उनकी 'व्यापक सहानुभूति' का मूल कारण है, और इसी विशुद्ध प्रेम से उनकी रचनायें सिक्त हैं।

मानववाद—प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन के मूलाधार, अर्थात्, मानववाद की व्याख्या करते हुए कहा गया है—'मानववाद से अभिप्राय है मानव-प्राणिवाद, अर्थात्, मानव प्राणियों के हित का ध्यान; फिर वह मानव चाहे कोई भी हो और कहीं भी रहे।' इस रूप में मानववाद, वस्तुतः, अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री का और भ्रातृत्व का बोध कराता है, क्योंकि मानव मात्र का हित किसी जाति अथवा देश तक ही सीमित न रहकर अपनी परिधि में समस्त मानवजाति को समेट लेता है। इस मानववाद को अपने जीवन-दर्शन का मूलाधार बनाने के कारण प्रेमचन्द ने मानव को सर्वोपरि माना है, तथा उसके हित के आलोक में सदाचार एवम् सद्गुण अच्छाई एवम् बुराई, पाप और पुण्य आदि का मूल्यांकन किया किया है। उनके लिए मानव ही प्रधान है, अन्य बातें गौण हैं।

आशावाद—मानव के प्रति इस अगाध प्रेम के कारण प्रेमचंद ने मानव की दुर्बलताओं और कमजोरियों को सहिष्णुतापूर्ण दृष्टिकोण से देखा और उसकी अच्छाइयों और सद्वृत्तियों के बारे में अपना विश्वास डिगने नहीं दिया। असत् पर सत् की अंतिम विजय का विश्वास रखने वाले प्रेमचंद को मानव की दुर्वृत्तियों से कभी निराशा नहीं हुई। इस विश्वास का ही यह परिणाम था कि प्रेमचंद ने मानव के उत्कर्ष के बारे में सदैव आशापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया। मानव के प्रति इस अगाध विश्वास की झलक हमें प्रेमचन्द के पात्रों के जीवन में स्पष्ट दिखायी देती है। उनके अनेकानेक पात्र, जीवन में अपनी कमजोरियों से जूझते और आदर्श के अनुसार आचरण करने की चेष्टा करते हुए अंत में अपनी दुर्बलताओं पर विजय पा लेते हैं। 'सेवासदन' की सुमन, गजाधर पाण्डे और पं० पद्मसिंह शर्मा; 'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर, इर्फान अली, डा० प्रियनाथ, और सैयद ईजाद हुसैन; 'गबन' की जालपा, रमानाथ और जोहरा; 'रंगभूमि' के कुँवर विजयसिंह और सोफिया; 'कायाकल्प' की रानी देवप्रिया, राजा विशालसिंह, आदि के चरित्र-विकास में उन्होंने मानव के अंदर विद्यमान दैवी अंश के उद्घाटन का प्रयास किया है। उन्हें मानव की मूलभूत सद्वृत्तियों पर अटूट विश्वास था, इसलिये, प्रेमचंद ने मानव के भविष्य के बारे में सदैव आशा प्रकट की है।

आदर्शवाद—प्रेमचंद के मानववाद ने उन्हें आशावादी बनाने के साथ-साथ आदर्शवादी भी बना दिया। मानव-जीवन की सार्थकता के बारे में उनके जो आदर्श हैं, वे मानव-हित को ध्यान में रखकर ही रचे गये हैं। जीवन की सार्थकता वे प्रेम, सेवा और त्याग में समझते थे; स्वार्थ, भोग और संग्रह में नहीं। उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रेम, सेवा और त्याग की लक्ष्यत्रयी को ही बार-बार दोहराया और इसे सर्वोच्च नैतिक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार, मानव के हित एवं कल्याण को सर्वोपरि मानने के कारण, प्रेमचंद के हृदय में संकीर्णता को भला स्थान कहां ? वहां तो आदर्शवादिता का ही एकमेव वास था। अतएव, मानव-मात्र के हित की चिंता में रत रहने के कारण प्रेमचंद की सहानुभूति भी व्यापक हो उठी। छोटे-बड़े, धनी निर्धन, कुलीन-अन्त्यज तथा पढ़े-लिखे व गंवार, सभी लोगों से उनकी सहानुभूति थी। उनकी व्यापक सहृदयता ने धन, विद्या, कुल, वर्ण आदि में आधार पर मानव में भेद नहीं किया, अपितु, मानव-मात्र के सुख-दुख, हर्ष-शोक में हिस्सा बंटाते हुए, उनके प्रति अपनी प्रगाढ़ सहानुभूति व्यक्त की।

प्रेमचन्द के चिंतन के विविध रूप—मानव-प्रेम के उपर्युक्त आधार के कारण प्रेमचंद का चिंतन जीवन के किसी एक पहलू या अंग तक सीमित न रहकर अपनी व्यापकता में जीवन के समस्त पहलुओं को अपने में समेटे हुये है। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और साहित्यिक क्षेत्रों में से चाहे जिसे भी लें, हमें मानववाद पर आधारित प्रेमचंद के जीवन-दर्शन का सर्वत्र आभास मिल जायेगा। इन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में प्रेमचंद अपने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकटे और निखरे हैं। अपने विशिष्ट जीवन-दर्शन के कारण सामाजिक क्षेत्र में प्रेमचंद का सुधारवादी रूप, राजनैतिक क्षेत्र में गांधीवादी, आर्थिक क्षेत्र में समाजवादी और साहित्यिक क्षेत्र में आदर्शवादी रूप निखरा है। अतः उनके जीवनादर्शों के समझने के लिए प्रेमचन्द के चिन्तन के उपर्युक्त नानाविध पहलुओं को भी समझना होगा।

सुधारवादी रूप—सर्वप्रथम, प्रेमचंद के सुधारवादी रूप को लें। समाज द्वारा व्यक्ति के दमन की ओर प्रेमचंद की दृष्टि गयी और उन्होंने अपने उपन्यासों में इस दमन के स्वरूप एवं इसके मूलभूत कारणों के विश्लेषण का प्रयास किया। उन्होंने पाया कि यह दमन वस्तुतः सामाजिक रूढ़ियों की कठोरता का ही परिणाम है, क्योंकि, समाज की सुरक्षा के लिए जिन सामाजिक नियमों तथा विधि-निषेधों की योजना की जाती है, वही कालांतर में, परिस्थितिभेद के कारण, रूढ़ि का रूप धारण कर लेते हैं। इन रूढ़ियों की जकड़ में आने के कारण व्यक्ति का विकास जब अवरुद्ध हो जाता है, तब इन रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठाना, समाज के हित-चिंतकों का मानों नैतिक कर्त्तव्य बन जाता है। यहां उल्लेखनीय है कि समय-समय पर सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध धार्मिक नेताओं, विचारकों और सुधारकों ने

आवाज उठायी तथा रूढ़ियों का मूलोच्छेदन करके समाज के नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों में नये-नये संशोधन किये। प्रेमचंद ने वही काम साहित्यिक क्षेत्र में किया। उन्होंने मानों ललकार कर कहा कि सामाजिक संस्थाएं एवं नियम मानव के कल्याण के लिए बनाये गए हैं, मानव उनके लिए नहीं बनाया गया। पाश्चात्य विचारधारा में भी इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा गया है—'Sabbath is intended for man, and not man for Sabbath' प्रेमचंद ने भी सामाजिक संस्थाओं एवं रूढ़ियों के अत्याचार के नीचे पिसने वाले मानव को मुक्त करने के लिए सुधार की आवाज उठायी।

प्रेमचंद को सामाजिक संस्थाओं के सुधार की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई क्योंकि समाज की नैतिक चेतना का विकास इन संस्थाओं के सुधार से ही सम्भव था। सामाजिक संस्थाएं समाज के नैतिक आदर्शों का प्रकट रूप हैं, इसलिए किसी भी समाज की नैतिक चेतना का अनुमान उसकी संस्थाओं से सहज ही लगाया जा सकता है। नैतिक दृष्टि से जो समाज जितना उन्नत होगा, उसकी विविध संस्थाएं ही उतनी ही उन्नत ढग की होंगी। और इतना ही नहीं, समाज की नैतिक चेतना के उत्तरोत्तर विकास में सामाजिक संस्थाओं का बहुत बड़ा हाथ रहता है। हैनरी स्टुअर्ट ने तो समाज की नैतिकता के विकास में सामाजिक संस्थाओं को प्रमुख स्थान दिया है। उनका कथन है—'सामाजिक संस्थायें जिस परिमाण में मानव-हित को महत्व देती हैं, उसी अनुपात में समाज का नैतिक विकास होता है।'[1]

प्रेमचंद भी सामाजिक संस्थाओं द्वारा मानव के कल्याण सम्पादन में नैतिकता का विकास मानते थे, अतएव, सामाजिक संस्थाओं एवं परम्पराओं को सुधारने का उन्होंने संकल्प किया। उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से मानवता का गला घोंटने वाली सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों पर कठोर प्रहार किया और मानव के कल्याण को शीर्षस्थान दिया। मानव के प्रति उनका प्रेम अगाध था, उनकी श्रद्धा निःसीम थी और, फलस्वरूप, उनका विश्वास भी अटूट था। यही मानव-प्रेम उसके सुधारवाद का सम्बल है।

सामाजिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु धार्मिक क्षेत्र में भी प्रेमचन्द सुधारवादी हैं। जिस धर्माचरण के कारण मानव की सद्वृत्तियों का लोप हो जाये; उसमें दया, प्रेम, सहानुभूति लेशमात्र भी शेष न रह जाये, और मानव-मात्र के कल्याण के स्थान पर मानव को पीस डालने की दुर्भावना को जिससे बढ़ावा मिले, वह, प्रेमचन्द के मतानुसार, धर्म कदापि नहीं हो सकता। वह तो धर्म का प्रेत है, पाखण्ड है। प्रेमचन्द को अपने चारों ओर धर्म का नकली रूप ही देखने को मिला, अतएव, धार्मिक पाखण्ड और ढोंग पर कड़ा प्रहार करने के लिये वे सन्नद्ध हो गये।

1. Hanry Stuart, 'Human Value'

धर्म-पालन से नैतिक मर्यादाओं का विकास होता है, पर धर्म के नाम पर यदि अनैतिकता, अनाचार, दम्भ और द्वेष के विषवृक्ष की सिंचाई होने लगे तो ऐसे अधर्म की जड़ काट डालना ही प्रेमचन्द को परम कर्त्तव्य जँचा। वे उससे विमुख न हो सकते थे इसलिये सामाजिक रूढ़ियों व कुरीतियों के सुधार के साथ-साथ धार्मिक अन्ध-विश्वास और पाखण्ड का पर्दाफाश करने तथा त्याग, सेवा और प्रेम पर आधारित मानव-धर्म की स्थापना करने की ओर वे अग्रसर हुए। इस मानव-धर्म में धार्मिक सम्प्रदायों की संकीर्णता न थी। इसमें मानव-कल्याण को सर्वोपरि मानकर परस्पर प्रेम और सहयोग को ऊँचा उठाने और अपनी अनुभूति का क्षेत्र व्यापक बनाने का भव्य आदर्श था।

गांधीवादी रूप—प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं के अतिरिक्त, राजनैतिक समस्याओं को भी छुआ है। तत्कालीन सर्वप्रमुख राजनीतिक समस्या थी—देश को ब्रिटिश दासता से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाना। और, इस समस्या के विश्लेषण एवं समाधान में वे गांधी जी से प्रभावित थे, क्योंकि गांधीवाद में ही उनके विशिष्ट चिन्तन को सन्तोष मिल सकता था। गांधीवाद का मूलाधार मानववाद है, जो कि प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन से तनिक नहीं, बल्कि पूर्णतः मेल खाता था। अतः इस मौलिक समानता के कारण प्रेमचन्द ने जब इतर राजनैतिक समस्याओं पर लिखना शुरू किया, तो उन्होंने गांधी जी का अनुसरण करते हुए उनके उपायों को ही अपनाया।

गांधी जी के मतानुसार दुनिया का मूल स्रोत सत्य है। विश्व के अणु-अणु में, भिन्न-भिन्न रूपों और आकार-प्रकारों में वही सत्य व्याप्त है। इसका अर्थ यह हुआ कि हम जीव-मात्र, मनुष्य-मात्र एक ही सत्य के अंश हैं, असल में एक रूप हैं। इस कारण हम सबका नाता आत्मीयता का, सहयोग और सहिष्णुता का ही हो सकता है, न कि द्वेष का, झगड़े का, या मारकाट का। इस प्रकार, गांधी जी के दो मूल सिद्धान्तों—सत्य और अहिंसा—तथा इन सिद्धान्तों के अनुरूप निर्धारित कर्म-योजना, अर्थात्, सत्याग्रह को स्वीकार करते हुए प्रेमचन्द ने राजनैतिक समस्याओं का विश्लेषण एवं समाधान प्रस्तुत किया। स्वतन्त्रता की लड़ाई को वे गांधी जी के बताये हुए अहिंसात्मक तरीके—अर्थात्, सत्याग्रह से ही लड़ने के पक्षपाती थे। हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर एकता के अभाव में यह लड़ाई लड़ी न जा सकेगी, इसका ध्यान आते ही प्रेमचन्द ने, गांधी जी के समान, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की प्रस्थापना को प्रधानता दी। इसके अतिरिक्त जन-जाग्रति फैलाने में शिक्षा, स्वदेशी एवं सार्वजनिक संस्थाओं का जो महत्वपूर्ण योग होता है, उसे प्रेमचन्द ने स्वीकार किया और तत्सम्बन्धी आन्दोलनों को उन्होंने अपने उपन्यासों में स्थान दिया।

समाजवादी रूप—राजनैतिक के साथ-साथ आर्थिक समस्याओं पर विचार करते समय प्रेमचन्द का ध्यान किसान-जमींदार, मजदूर-मिलमालिक, निर्धन-धनवान, और साधनहीन एवं साधन सम्पन्न व्यक्तियों के वर्ग-संघर्ष की ओर गया। किसान और जमींदार के संघर्ष में परास्त कृषक-वर्ग के प्रति उनकी सहानुभूति अधिक थी, इसलिए प्रेमचन्द ने मुख्यतया किसानों की आर्थिक कठिनाइयों पर ही अधिक ध्यान दिया। किसानों की समस्याओं को सुलझाने के लिए जो उपाय उन्होंने सुझाये, वे समाजवादी दर्शन के अनुरूप थे। किसानों की मुख्य समस्या भूमि के स्वामित्व की, और, फलस्वरूप, जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण की थी, इसलिये प्रेमचन्द ने कृषक-वर्ग को चूसने वाली जमींदारी प्रथा के उन्मूलन को ही इस समस्या का हल बताया। यहां पर वे गांधी जी के हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त के कायल न थे, बल्कि, किसानों द्वारा संगठित होकर जमींदारो से अपने अधिकारों को बलात् प्राप्त करने के पक्षपाती थे।

किन्तु एक बात में उनका समाजवाद से विरोध था। समाजवाद औद्योगीकरण का प्रचारक है, बड़ी-बड़ी मिलों और कारखानों की स्थापना में विश्वास रखता है। विपरीत इसके, प्रेमचन्द बड़े-बड़े कारखानों को सामाजिक नैतिकता के लिए अनिष्टकर मानते थे। इनके स्थान पर वे लघु एवं कुटीर-उद्योगों की स्थापना के पक्षपाती थे, जिससे कि सामाजिक व्यवस्था बनी रहे, और अनैतिकता सिर न उठा सके।

साहित्यिक आदर्श, साहित्य-रचना का लक्ष्य—प्रेमचन्द का मानववाद और तज्जनित आदर्शवाद सबसे अधिक यदि कहीं निखरा है तो वह साहित्यिक क्षेत्र में। साहित्य के लक्षण एवं साहित्यकार के कर्त्तव्य सम्बन्धी उनके विचार, मानव कल्याण की भावना से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने साहित्य की परिभाषा एवं मूल्यांकन, वस्तुतः, मानववाद की कसौटी पर किया है। साहित्य के लक्षणों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—'साहित्य में जो सबसे बड़ी खूबी है, वह यह है कि वह हमारी मानवता को दृढ़ बनाता है, हममें सहानुभूति और उदारता के भाव पैदा करता है।'[1] मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति, आत्म-तुष्टि एवं स्वार्थपरता की ओर होती है; किन्तु मानव को इस संकुचित दायरे से निकालने की सामर्थ्य वह साहित्य में मानते हैं। दूसरे शब्दों में, उनका मत है कि साहित्य द्वारा मानव-मन का परिष्कार होता है। उन्हीं के शब्दों में—'साहित्यिक मनोरंजन वह है जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—हममें सत्य, निःस्वार्थ सेवा, न्याय आदि के जो देवत्व के अंश हैं, वे जागृत हों।'[2]

साहित्य और जनकल्याण—साहित्य के प्रयोजनीयता सम्बन्धी इस उच्चादर्श

---

१. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार', पृष्ठ ९३। २. वही, पृष्ठ ४३।

का ही यह परिणाम है कि प्रेमचंद, साहित्य को धर्म और नीति-शास्त्र के समकक्ष मानते हैं। अपने-अपने क्षेत्र में धर्म और नीति-शास्त्र जहां एक ओर नैतिक आदर्शों की स्थापना करते हैं, वहां दूसरी ओर वे जन-साधारण को इन आदर्शों के पालन करने की ओर प्रवृत्त भी करते हैं। अतः, दोनों का काम है सामाजिक जीवन पर नियंत्रण रखते हुये सामाजिक व्यवस्था को कायम रखना। प्रेमचंद के साहित्य संबंधी आदर्शों में धर्म और नीति-शास्त्र के विशिष्ट कर्त्तव्यों का समन्वय है। साहित्य को सामाजिक आदर्शों का सृष्टा मानने के साथ-साथ प्रेमचंद, धर्म और नीति-शास्त्र के समान इसे समाज का नियंता भी मानते है। उन्होंने कहा है—'नीति शास्त्र और साहित्य-शास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीति-शास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का प्रयास करता है, साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओं और भावों का क्षेत्र चुन लिया है।'[1] अतः लक्ष्यों की समानता के कारण, प्रेमचंद साहित्य को नैतिकता के उच्च-धरातल पर प्रतिष्ठित कर देते हैं। इस उच्च-धरातल पर आने के उपरांत, वस्तुतः, साहित्य और नैतिकता में कोई भेद नहीं रह जाता। साहित्य के सामने ऐसा उच्चादर्श जहां हो, वहां उस साहित्य के सृष्टा का तो फिर कहना ही क्या? इसी कारण, साहित्यकार के कर्त्तव्य के बारे में प्रेमचंद की धारणाएं बड़ी उदात्त हैं। साहित्यकार के महान उत्तरदायित्व की ओर संकेत करते हुये उन्होंने कहा है—'साहित्यकार हमारा पथ-प्रदर्शक है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्-भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है।'[2] अतः प्रेमचंद ने साहित्य-कार के जिम्मे मानव-मात्र में मानवोचित गुणों का संचार करने, संकुचितता दूर कर उसकी दृष्टि को व्यापक बनाने का काम सौंपा है। साहित्यकार का काम है कि वह मनुष्य-मात्र में छिपी मानवता को जगाने के लिए अलख जगाता फिरे।

साहित्यादर्श और जीवनादर्श में समानता—उपर्युक्त उदात्त भावनाओं को मन में संजोकर प्रेमचंद ने जिस उपन्यास-साहित्य का सृजन किया है, वह अन्ततः उनके उच्चादर्शों से अनुप्राणित होते हैं। उन्हीं के शब्दों को यदि लें तो उनकी प्रत्येक रचना उनके मनोभावों, चरित्र, जीवनादर्श और दर्शन का आईना है। प्रेम-चन्द के जीवनादर्श उनके उपन्यासों में सजीव हो उठे हैं, और उनके उपन्यासों का प्रत्येक वाक्य मानों उनके जीवन-दर्शन का उच्चारण करता प्रतीत होता है। प्रेमचंद के जीवनादर्शों के जीते-जागते चित्र इन उपन्यासों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिल सकते। अतः, जहां एक ओर हम इनके माध्यम से प्रेमचद को आसानी से समझ सकते हैं, वहां इनके स्वरूप-निर्धारण का विश्लेषण करके यह भी पता लगाया जा सकता है कि प्रेमचंद के जीवनादर्शों ने इन उपन्यासों के स्वरूप को किस प्रकार

---

१. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार' पृष्ठ ७।   २, वही, पृष्ठ-५२।

और किस परिमाण में प्रभावित किया है। हमारा संबंध इस प्रभाव के विश्लेषण से ही है, इसलिये इसके आगे, प्रेमचंद के उपन्यासों के विविध तत्वों पर उनके नैतिक चिंतन एवं जीवनादर्शों के प्रभाव को समझने का प्रयास किया गया है।

उपन्यास-रचना का उद्देश्य

प्रेमचंद की उपन्यास-रचना के सामान्य लक्ष्य पर यदि एक विहंगम दृष्टि डालें तो हमें पता चलेगा कि उनका साहित्य-सृजन सोद्देश्य है। प्रेमचंद ने उपन्यास रचना की पुरानी लीक को छोड़कर एक नयी लीक पर चलने का जो प्रयास किया, यदि उस पर ही हम तनिक विचार करें तो उनकी उपन्यास-रचना की सोद्देश्यता का आभास मिल जाएगा। उन्होंने जो उपन्यास लिखे वे तत्कालीन प्रचलन के अनुकूल न थे। पुराने विषयों को छोड़कर उन्होंने नये विषय लेकर उपन्यास लिखने शुरू किये। उपन्यास साहित्य को कल्पना के इंद्रलोक से उतार कर उन्होंने इसे इहलोक की ठोस वास्तविकता पर प्रतिष्ठित किया। यह काम ऐसा था छो तत्कालीन उपन्यास-रचना के रंग-ढंग को देखते हुये एकदम अभूतपूर्व और अनूठा था। यहां प्रश्न उठता है कि प्रेमचंद को ऐसा अनूठा एवं अद्भुत प्रयास करने की क्यों सूझी ? क्यों नहीं वे बंधी-बंधायी लीक पर चले ?

सोद्देश्य साहित्य-रचना—उत्तर है, कि उपन्यास-रचना के क्षेत्र में विशिष्ट एवं सोद्देश्य साहित्यिक सृजन करने की प्रेरणा के पीछे, वस्तुतः, प्रेमचंद का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण एवं सुस्पष्ट लक्ष्य था। उन्हीं के शब्दों में—'हम साहित्य को मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं।'[1] स्पष्ट है कि मनबहलाव अथवा मनोरंजन का सामान जुटाने वाले साहित्य का सृजन तो दूर, वे तो इसके सर्वथा विरोधी थे। ऐसे साहित्य से जीवन की कठिनाइयों के साथ संघर्ष करने की अथवा कर्म में प्रवृत्त होने की प्रेरणा नहीं मिलती, उल्टे यह हमें भरमाता है। अतः, प्रेमचंद का लक्ष्य ऐसे साहित्य की रचना करना था जिसके द्वारा वे अपने देशवासियों की मानसिक जड़ता का मूलोच्छेदन कर सकें और उनमें अपने चारों ओर व्याप्त विनाशकारी परिस्थितियों को बदलने की बेचैनी पैदा कर सकें। एक दृष्टि से उनके उपन्यास अखण्ड कर्म-शृंखला का सूत्रपात करने, निर्जीव एवं कर्महीन जनसमुदाय में गति और संघर्ष उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही लिखे गये थे। डा० रामरतन भटनागर ने इन्हीं भावों को व्यक्त करते हुये कहा है—'प्रेमचन्द की पुकार कर्म-पथ की पुकार है, आत्म-प्रताड़न और आत्महत्या की नहीं।'[2]

१, प्रेमचंद, 'कुछ विचार', पृष्ठ-२२। २. डा० रामरतन भटनागर, 'कलाकार प्रेमचंद',

कला का उपयोगितावादी पक्ष—प्रेमचंद की सोद्देश्य-साहित्य-रचना का एक कारण और भी है। वह 'कला के लिए कला' सिद्धांत के अनुयायी न थे। वरन्, उन्होंने तो अपने सम्मुख कला का उपयोगितावादी पक्ष ही रखा। उन्होंने कहा भी है—'कला के लिए कला' का वह समय होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भांति-भांति के राजनैतिक और सामाजिक बंधनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है दुःख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रंदन सुनाई देता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे।'[1] अतः, प्रेमचंद के लिए उपन्यासों में अपने-आपको तटस्थ रखने की बात न उठती थी, अपितु, कुरीति और रूढ़ि के जो-जो बंधन उन्हें दिखाई दिए, उन्हें तोड़ने की ओर वे मानों लपक पड़े। वह कलाकार की निष्पक्षता एवं तटस्थता का पक्ष कदापि न ले सकते थे, इसलिए 'कला के लिए कला' के सिद्धांत को नमस्कार कर उन्होंने प्रारम्भ से ही कला के उपयोगितावादी पक्ष को अपनाया।

उद्देश्यपक्ष की सबलता—इस उपयोगितावादी भावना ने प्रेमचंद के उपन्यासों का उद्देश्य-पक्ष बहुत दृढ़ कर दिया है। उनके प्रत्येक उपन्यास में किसी न किसी सामाजिक अथवा राजनैतिक समस्या को उठाया गया है और इस समस्या के विविध अंगों की विवेचना करते हुए वे जिस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं उससे उद्देश्य के प्रति उनकी सजगता की भावना का प्रमाण मिलता है। इसके अतिरिक्त, उपन्यास की सफलता के संबंध में उनके मापदण्ड से भी उनकी 'उपयोगितावादी भावना' पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है। उनका कहना है—'जिस उपन्यास को समाप्त करने के बाद पाठक अपने अंदर उत्कर्ष का अनुभव करे उसके सद्भाव जाग उठें, वही सफल उपन्यास है।'[2] यह है उपन्यास की सफलता संबंधी उनका सुस्पष्ट दृष्टिकोण, जिसके कारण उनके उपन्यासों का उद्देश्य-पक्ष बहुत प्रबल हो गया है।

देखा जाए तो प्रेमचंद की सोद्देश्य साहित्य-रचना, उनके साहित्यिक आदर्शों का स्वाभाविक परिणाम है। साहित्य और जीवन का परस्पर अटूट संबंध मानने के साथ-साथ उन्हें साहित्य द्वारा जीवन का उत्कर्ष वांछनीय था। अतः, उत्कर्ष-साधन के लक्ष्य के कारण उनके उपन्यासों में आदर्श का स्वर प्रधान हो उठा है। जिन जीवनादर्शों को वे साक्षात् जीवन में मूर्तिमंत हुआ न देख सकते थे, उन्हें प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में मूर्तिमंत कर दिखाया। इसलिए, उनके उपन्यास उनके जीवनादर्शों का साहित्यिक कलेवर-मात्र है। उनके उपन्यासों के शब्द-शब्द और वाक्य-वाक्य में उनका आदर्श-प्रेम झलकता है। इस आदर्श-प्रेम और उपयोगितावादी

---

१. प्रेमचन्द, कुछ विचार' २. प्रेमचंद, 'कुछ विचार',

भावना का यह फल है कि उनके उपन्यासों का उद्देश्य-पक्ष बहुत सुस्पष्ट एवं सुदृढ़ है।

उपन्यासों में उद्देश्य-पक्ष की सबलता ने प्रेमचंद के उपन्यासों का स्वरूप निर्धारित करते हुए उन पर एक गहरी छाप डाली है। इस स्वरूप-निर्धारण का सम्यक् अध्ययन करने के लिए हमें उनके उपन्यासों को तीन पहलुओं से देखना होगा। ये तीन पहलू हैं—नामकरण, विषय-चयन और निष्कर्ष-निर्धारण। इनमें से उपन्यासों के नामकरण को ही सर्वप्रथम लें।

नामकरण—नामकरण में उद्देश्य-पक्ष की झलक : प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों का नामकरण, उपन्यास-विशेष के उद्देश्य के अनुरूप किया है, इस कारण उनके उपन्यासों के नामों से उनके उद्देश्य का सहज बोध हो जाता है। उदाहरण के लिए, 'प्रतिज्ञा' नामक उनका उपन्यास, जिसका प्रारम्भिक नाम 'प्रेमा' था, किसी प्रतिज्ञा-विशेष के पालन का सूचक है। 'प्रेमा' से बदल कर इसका नाम 'प्रतिज्ञा' रखने के पीछे भी उनकी यही दृष्टि रही होगी कि उपन्यास के नाम से ही इसके द्वारा प्रतिपादित उद्देश्य का आभास मिल जाए। इस दृष्टि से नया नामकरण 'प्रतिज्ञा' सफल सिद्ध हुआ है। विधुर अमृतराय द्वारा कुंवारी कन्या, प्रेमा से विवाह न कर किसी विधवा के साथ विवाह करने के संकल्प को लेकर इस उपन्यास की रचना की गई है।

इसी प्रकार, 'सेवासदन' में वेश्या जीवन के नरक से स्त्रियों को उबारने और 'सेवासदन' की स्थापना द्वारा उनका जीवन रचनात्मक दिशा में मोड़ने के प्रयास का उल्लेख है। हिन्दू सद्गृहस्थ के उच्चपद से पतित सुमन को अपने घृणित वेश्या-जीवन के प्रति ग्लानि उत्पन्न होती है और वह अपनी जैसी पतिता स्त्रियों की संतान का जीवन ऊँचा उठाने के लिए सेवा का व्रत लेती है। उसके सेवा-व्रत की परिणति 'सेवासदन' की स्थापना में होती है, इसलिए इस उपन्यास का नामकरण, उपन्यास के उद्देश्य की मानों प्रारम्भ में ही घोषणा कर देता है।

'निर्मला' उपन्यास के अतिरिक्त, जिसका नामकरण उपन्यास की नायिका के नाम पर हुआ है और जिससे इस उपन्यास का उद्देश्य ध्वनित नहीं होता, प्रेमचंद के शेष उपन्यासों का नामकरण, उपन्यासों के उद्देश्य को ध्वनित करता है। 'प्रेमाश्रम' में जमींदारी-प्रथा से पीड़ित ग्रामवासियों के कल्याण एवं समृद्धि हेतु ऐसे आश्रम की स्थापना का संकेत है जहां जमींदार-किसान, धनवान-निर्धन और हिन्दू-मुसलमान सब प्रेमपूर्वक इकट्ठा रहते हुए सेवा और त्याग का व्रत ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार 'रंगभूमि' में प्रेमचंद ने सांसारिक जीवन को रंगभूमि के समान माना है जहां हरेक पात्र अपना-अपना अभिनय दिखा कर अंतर्धान हो जाता है। इसी रंगभूमि पर सूरदास आता है और वह मानव जीवन की सफलता इसी में समझता है

कि इस संसार की रंगभूमि में अपना खेल ईमानदारी से खेला जाए। रंगभूमि के प्रतीक की सहायता से प्रेमचंद ने जीवन की सार्थकता सम्बन्धी उस भारतीय चिन्तन को व्यक्त करने का यत्न किया है जिसमें निष्कपटता, सच्चाई और आस्तिकता को प्राधान्य दिया गया है। इस दृष्टि से प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' के नामकरण द्वारा इस उपन्यास में निहित चिन्तन को व्यक्त करने का प्रयास किया है।

'कायाकल्प' उपन्यास के नामकरण से प्रेमचन्द ने रानी देवप्रिया के कायाकल्प की ओर संकेत किया है। विलास और विनोद में मग्न रहने वाली रानी देवप्रिया का यौगिक क्रियाओं से कायाकल्प होता है और वह अपने भोगमय जीवन में संयम और तप का संचार करने में सफल होती है। इसी प्रकार मध्यवित्त गृहस्थ द्वारा ऊपरी टीम-टाम बनाये रखने की लालसा को पूरा करने के लिये गबन की घटना लेकर 'गबन' का नामकरण किया गया है। उपन्यास में रिश्वत और गबन को प्रोत्साहन देने वाले कारणों तथा गबन से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों की कहानी कही गयी है।

प्रेमचन्द के शेष दो उपन्यास—'कर्मभूमि' और 'गोदान' उनकी अन्य रचनाओं के समान अपने नामकरण को सार्थक करते हैं। धनवान पिता समरकान्त का एकमेव पुत्र, अमरकान्त भोग और ऐश्वर्य जीवन पर लात मारकर सेवा एवं त्यागपूर्ण सार्वजनिक जीवन की कर्मभूमि में प्रवेश करता है। वह अपने त्यागपूर्ण जीवन के उदाहरण से धन के मोह में फंसे अपने पिता समरकान्त, विलासपूर्ण जीवन से अनुरक्त अपनी पत्नी सुखदा और सरकारी उच्च-पद पर आसीन अपने घनिष्ठ मित्र सलीम के जीवन में परिवर्तन लाकर उन्हें भी इस कर्मभूमि में ले आता है। उनके अन्तिम उपन्यास 'गोदान' का नामकरण होरी नामक किसान की गरीबी और विवशता दिखाने के लिये किया गया है। होरी के जीवन की ट्रेजडी यही है कि गो-पालन की उसकी कामना जीते-जी पूरी न हो सकी, और मरते समय उसके हाथों औपचारिक गोदान करवाकर उसकी गो-पालन की लालसा के मानों आंसू पोंछ दिये गये हैं। होरी के रूप में प्रेमचन्द ने भारत के किसानों की दुर्दशा का, और अन्त में गोदान की घटना द्वारा उसकी निर्धनता और विवशता का चित्र खींच दिया है।

उपर्युक्त उदाहरणों से प्रेमचन्द द्वारा अपने उपन्यासों के उद्देश्य के अनुरूप उनका नामकरण करने की प्रवृत्ति का स्पष्ट आभास मिलता है। उपन्यास के उद्देश्य के सम्बन्ध में वे पाठक को किसी संशय में नहीं रखना चाहते; इसलिए प्रेमचन्द, उपन्यास के नामकरण द्वारा, उपन्यास के उद्देश्य की घोषणा आरम्भ में कर देते हैं।

विषय-चयन—सामाजिक नैतिकता का उद्बोधन : प्रेमचन्द ने साहित्यकार

के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए कहा है—'वह (साहित्यकार) मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बांधे होता है। जो दलित हैं, पीड़ित हैं, वंचित हैं—चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है।'[1] इसी कर्त्तव्य का पालन करते हुए प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में पीड़ित और दलित मानवता की वकालत को प्रमुख स्थान दिया है। पीड़ितों में उन्हें नारी जाति, अछूत और किसान दिखायी दिये, इसलिए, प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों के जो विषय चुने हैं वे इन्हीं के कष्टमय जीवन के बारे में हैं। इस प्रकार ऐसे विषयों को चुनकर प्रेमचन्द, वस्तुतः, पीड़ितों के कष्टों के प्रति शेष समाज में नैतिक सम्वेदना उत्पन्न करना चाहते थे। समाज के इन पीड़ित अंगों के प्रति जन-साधारण में उपेक्षा का भाव व्याप्त था जो कि समाज में नैतिक चेतना के अभाव का द्योतक था। अतः, समाज के इन पीड़ित अंगों के प्रति चेतना एवं सम्वेदना उत्पन्न करके प्रेमचन्द ने समाज की नैतिकता का उद्बोधन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस वर्ग की दुर्दशा को भाग्य की विडम्बना कहकर टाल दिया जाता था, प्रेमचन्द द्वारा उसी वर्ग की वकालत करने के कारण अब इतने सहज पिंड छुड़ाना असम्भव हो गया। उन्होंने पीड़ितों की दुर्दशा को अपने उपन्यासों का विषय बनाकर समाज की नैतिकता को चुनौती दी और उनके प्रति समाज में सहानुभूति एवं नैतिक सम्वेदना का भाव उत्पन्न किया।

नारी समस्या—प्रेमचन्द ने भारतीय नारी के जीवन की समस्याओं को लेकर 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन' और 'निर्मला' नामक उपन्यासों की रचना की है। अपने इतर उपन्यासों में उन्होंने नारी-जीवन की समस्याओं और विडम्बनाओं को छुआ अवश्य ही है, किन्तु ये तीनों उपन्यास तो भारतीय नारी के जीवन के दुःख-सन्ताप को लेकर लिखे गये हैं। 'प्रतिज्ञा' में प्रेमचन्द ने विधवा नारी की दयनीय एवं असहाय स्थिति को लिया है तो 'सेवासदन' में दहेज-प्रथा तथा अनमेल-विवाह की कुरीति को लेकर विवाहिता के पतन की कहानी कही है। उनका 'निर्मला' उपन्यास भी दहेज-प्रथा और अनमेल-विवाह को लेकर लिखा गया है. किन्तु यहां अनमेल विवाह का जो रूप उन्होंने लिया है, वह दोहाजू-विवाह है। अनमेल विवाह के अभिशाप के कारण जहां एक ओर 'सेवासदन' की सुमन गृहस्थ की मर्यादाओं को तोड़कर वेश्यावृत्ति अपनाती है, वहां दूसरी ओर 'निर्मला' की नायिका, निर्मला, गृहस्थ की मर्यादाओं का विवशता से पालन करते हुये, बसे-बसाये परिवार को नष्ट करने का कारण सिद्ध होती है। अन्त दोनों का ही दुःखपूर्ण है।

प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में विद्या और गायत्री के रूप में स्त्री के अपमान एवं पुरुष द्वारा उसे अपनी स्वार्थपूर्ति का साधन बनाने, 'कायाकल्प' में बहु-विवाह के

---

१. प्रेमचन्द, 'कुछ विचार',

अभिशाप, 'रंगभूमि' में कुंवर महेन्द्रसिंह द्वारा अपनी पत्नी नैना का अनादर करने और अन्त में उसकी हत्या करने, 'गबन' में सम्मिलित परिवार में विधवा की दयनीय स्थिति का चित्रण करने तथा 'गोदान' में स्त्रियों द्वारा समानाधिकार की मांग की निःसारता दिखाने के उद्देश्य से, नारी जीवन के अनेकविध कष्टों और समस्याओं को प्रकाश में लाने का प्रयास किया है। थोड़े में यदि कहा जाये तो उन्होंने प्रायः सभी उपन्यासों में नारी जीवन की विविध समस्याओं एवं कठिनाइयों को चित्रित किया है और भारतीय नारी की दुर्दशा के प्रति समाज का ध्यान आकर्षित करते हुये, जन-साधारण की नैतिकता को मानों चुनौती दी है।

अछूत-समस्या—यही बात अन्त्यजों के बारे में भी है। नारी के समान-प्रेमचन्द ने अछूतों की दयनीय अवस्था का चित्रण करने के लिए उनकी दुर्दशा को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। उन्होंने 'प्रेमाश्रम' में जिस आदर्श आश्रम की कल्पना की है उसमें जाति-पांति तथा ऊंच-नीच की भावना का पूर्ण निषेध है। 'कर्मभूमि' में अछूतों द्वारा मन्दिर-प्रवेश करने और चमारों के जीवन में सुधार लाने के आंदोलन को लेकर प्रेमचन्द ने अछूत-समस्या को उपन्यास-रचना का विषय बनाया है। इतना ही नहीं, 'प्रेमाश्रम' में यतीमों की समस्या का चित्रण कर उन्होंने समाज के एक और उपेक्षित अंग के प्रति सहानुभूति दिखायी है।

कृषक वर्ग की समस्यायें—समाज द्वारा प्रताड़ित उपर्युक्त दो वर्गों के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने कृषक वर्ग की समस्याओं पर बहुत कुछ लिखा है। जमींदारी प्रथा में पिसने वाले किसानों की समस्या को उन्होंने 'प्रेमाश्रम' की रचना का विषय बनाया और तदुपरान्त 'कायाकल्प', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में उन्होंने मुख्यतया इसी समस्या को लेकर इन उपन्यासों की रचना की। 'कर्मभूमि' में उन्होने किसानों द्वारा लगान तक न दे सकने की असमर्थता का चित्रण किया तो 'गोदान' में उन्होंने भारतीय किसान के निराशामय एवं दुःखपूर्ण जीवन की गाथा सुना दी। जमींदारों और साहूकारों द्वारा शोषित होरी की दुर्दशा ही 'गोदान' का विषय है और उन्होंने होरी के रूप में समस्त कृषक-वर्ग की निराशा एवं पीड़ा को उपन्यास में मानों साकार कर दिया है।

साहित्यकार के महान् कर्त्तव्यों के प्रति यदि प्रेमचन्द का रुझान न होता तो वे भी अपने उपन्यासों के लिए सम्भवतः लोकरंजक, रोमानी या तिलस्मी विषय चुनते। किन्तु उन्होंने साहित्य के उच्चादर्शों के अनुरूप केवल उन्हीं विषयों को चुना जो उनके उद्देश्य-पक्ष को पुष्ट कर सकते थे। इस प्रकार, प्रेमचन्द ने सर्वथा नये विषयों को अपने साहित्य-सृजन का आधार बनाकर उपन्यास-रचना के क्षेत्र में एक नयी दिशा की ओर कदम बढ़ाया और, फलस्वरूप, हिन्दी उपन्यास-साहित्य की मानों काया ही पलट दी।

निष्कर्ष—उद्देश्य के अनुरूप : उपन्यास-रचना के लिये उचित विषयों के चयन के अतिरिक्त, प्रेमचन्द ने विषय-निरूपण इस ढंग से किया है कि जिस निष्कर्ष पर वे पहुंचते हैं वह तर्कसम्मत होने के साथ-साथ उनके उद्देश्य-पक्ष के अनुरूप है। अपने सभी उपन्यासों में उन्होंने पाठकों के सद्भावों को जगाने अथवा दलित-वर्ग की वकालत करने के उद्देश्य को प्रमुख स्थान दिया है, इसलिये, इस उद्देश्य के अनुरूप यथोचित निष्कर्ष तक पहुंचने में वे बड़े सतर्क रहते हैं। यहां उल्लेखनीय है कि यह सतर्कता इस ढंग की है कि उनकी रचनाओं में अवांछित आग्रह का भाव नहीं है। बहुधा लेखकों में निष्कर्ष-विशेष तक पहुंचने के लिए बहुत उत्सुकता रहती है और वे विचित्र जोड़-तोड़ कर मनचाहा निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु प्रेमचन्द की विषय-निरूपण एवं निष्कर्ष तक पहुंचने की पद्धति ऐसी अनूठी है कि उसमें दुराग्रह का लेशमात्र भाव नहीं रहता। इसी गुण के फलस्वरूप वे उपन्यास के निष्कर्ष तक पहुंचते-पहुंचते पाठक के हृदय तक भी पहुंच जाते हैं।

स्वाभाविक एवं तर्कसम्मत निष्कर्ष—प्रेमचन्द के निष्कर्ष-निर्धारण की स्वाभाविकता का एक कारण यह है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में निष्कर्ष-प्रतिपादन के पूर्व कार्य-कारण की उचित शृंखला को कायम रखा है। उनके उपन्यासों से जो भी निष्कर्ष ध्वनित होते हैं वे स्वाभाविक एवं तर्क-सम्मत होते हैं, बलात् थोपे हुए नहीं। मानव-स्वभाव के सूक्ष्म विश्लेषण तथा जागतिक घटनाओं और उनके मूलभूत कारणों के चित्रण की सहायता से वे अपने उपन्यास के निष्कर्ष को इतने स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करते हैं कि पाठक इसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है, उसे व्यर्थ की खींचा-तानी की जरूरत नहीं पड़ती। उदाहरण के लिये, उनके 'प्रतिज्ञा' उपन्यास को लें। प्रेमचन्द ने इसमें पूर्णा जैसी निःसहाय विधवाओं की दयनीय दशा चित्रित करने के लिये कमला प्रसाद जैसे धूर्तों की कुचेष्टाओं का वर्णन किया है जो विधवाओं को पतन के गढ़े में ढकेलने को सतत प्रयत्नशील हैं। इन निःसहाय विधवाओं को यदि सहारा मिल जाये तो इनका जीवन बचाया जा सकता है और समाज में अनाचार को फैलने से रोका जा सकता है। प्रेमचन्द ने उपन्यास के अन्त में इस सहारे के दो रूप प्रस्तुत किए हैं—एक है विधवा विवाह का और दूसरा है वनिताश्रम की स्थापना का। कहना न होगा कि उपन्यास के अन्त में प्रेमचन्द द्वारा सुझाये गये इन दोनों तरीकों की उपादेयता स्वीकार करने में पाठक को कोई दिक्कत नहीं होती।

इसी तरह 'सेवासदन' में सुमन के पतन और उद्धार की कहानी कहते-कहते वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब तक समाज में विवाह-प्रथा का मूलाधार धन रहेगा, तबतक अनमेल-विवाह होने के कारण घर उजड़ते रहेंगे। जिस समाज में विवाह का अर्थ बन्धन और पति का कठोर शासन होगा, वहां कुलवधुयें अपनी

मुक्ति के लिए छटपटाती रहेंगी और भोली जैसी वेश्या का सभ्य समाज में सम्मान देखकर तो उनके लिये दालमण्डी का आकर्षण और भी बढ़ जायेगा। इस प्रकार वेश्या-वृत्ति के मूल कारणों का विश्लेषण करते हुये 'सेवासदन' में प्रेमचन्द ने वेश्यावृत्ति को सींचने वाली सामाजिक कुरीतियों को उघाड़ कर रख दिया है।

दहेज की प्रथा और अनमेल विवाह के अभिशाप को प्रेमचन्द ने 'निर्मला' में दोहाजू-विवाह के करुणाजनक अन्त में प्रस्तुत किया है। अपनी नवयौवना पत्नी, निर्मला की आकांक्षायें पूरी करने में असमर्थ मुन्शी तोताराम अच्छा-खासा स्वांग बन जाते हैं और अन्त में अपने बड़े लड़के मंसाराम और निर्मला के बीच अनुचित संबंध का सन्देह कर बैठते हैं। इस सन्देह की चिंगारी उनके भरे-पूरे परिवार को स्वाहा कर डालती है। दोहाजू विवाह का करुणाजनक अन्त दिखाकर प्रेमचन्द ने इस कुप्रथा के उन्मूलन की ओर संकेत किया है।

'प्रेमाश्रम' में प्रेचचन्द ने धन-सम्पत्ति की प्रचण्ड लालसा से उत्पन्न होने वाली अनैतिक एवं पापमूलक प्रवृत्ति का उद्घाटन किया है। धन-सम्पत्ति बटोरने के मोह में पड़ कर ज्ञानशंकर, लखनपुर के आसामियों पर अत्याचार करता है, अपने भाई प्रेमशंकर से दगा करता है, अपने ससुर राय कमलानन्द की हत्या का प्रयास करता है और अपनी साली, गायत्री को भ्रष्ट करने से भी नहीं चूकता। धन के मोह में अन्धे होकर उसे किसी भी दुष्कर्म से परहेज नहीं, किसी भी कुकृत्य से हिचक नहीं। लेकिन यह सुख और शान्ति का मार्ग नहीं, इसलिये ज्ञानशंकर को आत्महत्या करके ही छुटकारा मिलता है। सच्चे सुख की प्राप्ति तो सेवा और त्यागमय जीवन में सम्भव बताकर प्रेमचन्द ने उपन्यास के अन्त में प्रेमाश्रम की स्थापना की है। इसी प्रकार, आत्मिक बल की विजय दिखाने के लिये प्रेमचन्द ने 'रंगभूमि' में सूरदास की कहानी कही है, जो भिखारी और अपंग होने पर भी कुँवर महेन्द्रसिंह जैसे ऐश्वर्यसम्पन्न, प्रतिष्ठावान और नगरपालिका के चेयरमैन को नीचा दिखा देता है। अपने स्वत्व एवं स्वाधिकार की रक्षा में सूरदास भले ही मर मिटता है, परन्तु उसके आत्मिक तेज के सम्मुख कुँवर महेन्द्रसिंह के भौतिक ऐश्वर्य एवं वैभव की चमक फीकी पड़ जाती है।

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने विशुद्ध प्रेम की महिमा गायी है। रानी देवप्रिया और कुँवर महेन्द्र की प्रेम-गाथा को लेकर वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विशुद्ध प्रेम और वासना इकट्ठे नहीं रह सकते, दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। वासना की प्रवृत्ति भोग की ओर होती है, इसलिए वासनासक्त व्यक्ति अपनी इन्द्रियों की तृप्ति की ओर लपकता है। वासना-जनित आत्मतुष्टि की भावना उसमें स्वार्थपरता और विलासप्रियता की भावना भरकर उसके जीवन को कल्याण-पथ से विचलित कर पतन की ओर धकेलती है। विपरीत इसके, वासनारहित

विशुद्ध प्रेम से जीवन में तप और संयम का संचार होता है और मानव-जीवन का मानों कायाकल्प हो जाता है। इसी प्रकार, उनके मतानुसार, सच्चा सुख और आत्मिक शान्ति विलासमय जीवन में न होकर सरल एवं त्यागमय जीवन में है। धन और ऐश्वर्य के लालच में पड़कर जहां मनोरमा सच्चे प्रेम से हाथ धो बैठती है वहाँ अहिल्या भी पति और पुत्र के सुख से वंचित हो जाती है। वस्तुतः, 'कायाकल्प' में उन्होंने सच्चे प्रेम और सरल एवं त्यागमय जीवन से उत्पन्न होने वाले सन्तोष के सम्मुख भोग-विलास और धन-वैभव की निःसारता ही सिद्ध की है।

विलास-प्रियता और झूठी प्रतिष्ठा के चक्कर में पड़कर मानव का कितना पतन हो जाता है, इस बात को प्रेमचन्द ने 'गबन' में चित्रित किया है। झूठी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए रमानाथ अपनी पत्नी, जालपा के गहने चुराता है, रिश्वत लेता है, सरकारी रकम में गबन करने से चूकता नहीं और अन्त में झूठी शहादत देकर निरपराधों को फँसाने के लिए भी तत्पर हो जाता है। विलासमय जीवन को तिलांजलि देने वाली जालपा का उत्कर्ष और रमानाथ का अपकर्ष दिखाकर, प्रेमचन्द इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विलास-प्रियता और झूठी प्रतिष्ठा का मोह नैतिक पतन की ओर ले जाता है।

'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने जन-सेवा में रत व्यक्ति के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाकर सेवा और त्यागमय जीवन की एक झांकी प्रस्तुत की है। शरीर और मन से दुर्बल अमरकान्त ज्यों-ज्यों कर्मशील होकर लोकसेवा के क्षेत्र में उतरता है त्यों-त्यों उसमें आत्म-विश्वास और कर्मठता का संचार होता है, और अंत में उसके जीवन की निराशा एवं अवसाद दूर होकर वह अपने चारों ओर आशा व उत्साह का वातावरण उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार 'गोदान' में होरी के जीवन की दुखान्त गाथा सुनाकर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भारतीय ग्रामीण जीवन के सहज नैसर्गिक विकास को रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने कुंठित कर रखा है। कृषक जीवन की झूठी मर्यादाओं के पालन में और जमींदार एवं साहूकार के चंगुल में फँसे होरी के लिये बाहर और भीतर बन्धन ही बन्धन हैं। उसका अज्ञान और उसका धार्मिक अन्ध-विश्वास जहां उसके मन को बांधे हुये है वहां साहूकार का कर्ज और जमींदार का शासन उसकी शारीरिक शक्तियों को जकड़े हुये हैं। सामाजिक रूढ़ियों और आर्थिक शोषण के दो पाटों के बीच पिसने के कारण प्रेमचन्द ने होरी के रूप में भारतीय कृषक जीवन के स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध होते दिखाया है।

उपदेशात्मकता- सोद्देश्य साहित्य-सृजन को प्रमुखता देने के कारण प्रेमचन्द के उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका विवेचन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उपन्यासों के नामकरण, विषय-चयन और निष्कर्ष-निर्धारण

में उनका उद्देश्य-पक्ष मुखर हो उठा है। साथ ही, घुमा-फिराकर और संकेतात्मक प्रणाली में अपनी बात कहने का विलष्ट प्रयास करने के बजाय प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में स्पष्टता की मात्रा अधिक रखी है। इस स्पष्टता का ही यह परिणाम है कि उपन्यासकार प्रेमचन्द कहीं-कहीं उपदेशक प्रेमचन्द बन गये हैं। उन्होंने उपदेश देने की दो प्रणालियां अपनायी हैं - परोक्ष प्रणाली, अर्थात् पात्रों के मुख से, और प्रत्यक्ष प्रणाली, अर्थात् स्वयं अपने शब्दों में। परोक्ष प्रणाली का अवलम्बन करते हुये, वे वेश्यावृत्ति की तीव्र भर्त्सना करते हैं और गजानन्द के मुख से कहलवाते हैं—'हा अज्ञान की मूर्तियो! हा विषयभोग के सेवको! तुम्हें नाच का नाम लेते लाज नहीं आती? अपना कल्याण चाहते हो तो इस रीति को मिटाओ। इस कुवासना को ~जो वेश्या-प्रेम का त्याग करो।'[1]

परोक्ष प्रणाली स्त्रियों द्वारा मर्यादा-पालन की महिमा का बखान उन्होंने विट्ठलदास से करवाया है—'यही वह विलक्षण भूमि है जहां स्त्रियां नाना प्रकार के कष्ट भोगकर, अपमान और निरादर सहकर पुरुषों की अमानुषीय क्रूरताओं को चित्त में न लाकर हिन्दू-जाति का मुख उज्ज्वल करती थीं। यह साधारण स्त्रियों का गुण था और ब्राह्मणियों का तो पूछना ही क्या? पर शोक है कि वही देवियां अब इस भांति मर्यादा का त्याग करने लगीं।'[2]

'प्रेमाश्रम' में उन्होंने राय कमलानन्द से सम्पत्ति के लोभ से उत्पन्न होने वाली अनीति का कच्चा-चिट्ठा सुनवाया है—'इसी जायदाद के कारण हम और तुम एक दूसरे के खून के प्यासे हो रहे हैं। संसार में जिधर देखो, ईर्षा और द्वेष, आघात और प्रत्याघात का साम्राज्य है, भाई-भाई का वैरी, बाप-बेटे का वैरी, पुरुष स्त्री का वैरी—इसी जायदाद के लिये, इसी धन के लिए। इसके हाथों जितना अनर्थ हुआ, हो रहा है और होगा, उसके देखते कहीं अच्छा है कि अधिकार की प्रथा ही मिटा दी जाती। यही वह खेत है जहां छल और कपट के पौधे लहराते हैं, जिसके कारण संसार रणक्षेत्र बना हुआ है, इसी ने मानव-जाति को पशुओं से भी नीचे गिरा दिया है।'[3]

'कायाकल्प' में प्रेमचन्द ने चक्रधर से सच्चे जीवनादर्शों की व्याख्या इस प्रकार करवायी है—'काल पर हम विजय पाते हैं अपनी सुकीर्ति से, यश से, व्रत से। परोपकार ही अमरत्व प्रदान करता है। काल पर विजय पाने का यह अर्थ नहीं है कि कृत्रिम साधनों से भोग-विलास में प्रवृत्त हों, वृद्ध होकर जवान बनने का स्वप्न देखें और अपनी आत्मा को धोखा दें। लोकमत पर विजय पाने का अर्थ है अपने सद्विचारों और सत्कर्मों से जनता का आदर और सम्मान प्राप्त करना। आत्मा

---

१. प्रेमचन्द, 'सेवासदन', पृष्ठ १३१। २. वही, पृष्ठ ६३।
३. वही, पृष्ठ ३०५।

पर विजय पाने का आशय निर्लज्जता या विषय-वासना नहीं, बल्कि इच्छाओं का दमन करना और कुप्रवृत्तियों को रोकना है।'[1]

देश-हित पर अपना सर्वस्व न्योछावर करने का आह्वान करते हुये उन्होंने 'रंगभूमि' में रानी जान्हवी से देश पर मर मिटने का उपदेश दिलवाया है—'तुम लोग क्यों रोते हो ? विनय के लिए ? तुम लोगों में कितने ही युवक हैं, कितने ही बाल-बच्चों वाले हैं। युवकों से मैं कहूंगी—जाओ और विनय की भाँति प्राण देना सीखो। दुनियां केवल पेट पालने की जगह नहीं है। देश की आंखें तुम्हारी ओर लगी हुई हैं, तुम्हीं उसका बेड़ा पार लगाओगे। मत फँसो गृहस्थी के जाल में, जब तक देश का कुछ हित न कर लो।'[2]

आभूषण-प्रेम और शृंगार-प्रियता की कटु आलोचना करते हुए प्रेमचन्द ने 'गबन' में रमेश बाबू से कहलवाया है—'उन्नत देशों में धन व्यापार में लगता है, जिससे लोगों की परवरिश होती है और धन बढ़ता है। यहां धन शृङ्गार में खर्च होता है, उससे उन्नति और उपकार की जो महान शक्तियां हैं, उन दोनों का अन्त हो जाता है। बस यही समझ लो कि जिस देश के लोग जितने ही मूर्ख होंगे वहाँ जेवरों का प्रचार उतना ही अधिक होगा।...... किन्तु मैं तो कहता हूं, यह गुलामी, पराधीनता से कहीं बढ़कर है।'[3]

इसी प्रकार 'गोदान' में उन्होंने मिस्टर मेहता से स्त्रियों को सेवा और त्याग के आदर्श अपनाने का उपदेश दिलवाया है—संसार में सब से बड़े अधिकार सेवा और त्याग से मिलते हैं, और वह आपको मिले हुये हैं। उन अधिकारों के सामने वोट कोई चीज नहीं। मुझे खेद है, हमारी बहनें पश्चिम का आदर्श ले रही हैं, जहां नारी ने अपना पद खो दिया है और स्वामिनी से गिरकर विलास की वस्तु बन गयी है। पश्चिम की स्त्री स्वच्छन्द होना चाहती है, इसलिये कि वह अधिक से अधिक विलास कर सके। हमारी माताओं का आदर्श कभी विलास नहीं रहा। उन्होंने केवल सेवा के अधिकार से सदैव गृहस्थी का संचालन किया है।'[4]

प्रत्यक्ष प्रणाली यह तो हो गयी उपदेशात्मकता की परोक्ष-प्रणाली। प्रेमचन्द ने उपदेशात्मकता की प्रत्यक्ष प्रणाली भी अपने उपन्यासों में स्थान-स्थान पर अपनायी है। 'सेवासदन' में वेश्याओं को शहर से दूर करने की मांग करते हुए वे कहते हैं—'शराब की दूकानों को हम बस्ती से दूर रखने का यत्न करते हैं, जुएखाने से भी हम घृणा करते हैं, लेकिन वेश्याओं की दूकानों को हम सुसज्जित कोठों पर, चौक बाजारों में ठाठ से सजाते हैं। यह पापोत्तेजना नहीं तो क्या है ?...... इसलिए

---

१. प्रेमचन्द, 'कायाकल्प', पृष्ठ ९२-९३। २. प्रेमचन्द, 'रङ्गभूमि', पृष्ठ ५१४।
३. प्रेमचन्द, 'गबन', पृष्ठ ५१-५२ ४. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ १६३।

आवश्यक है कि इन विषभरी नागिनों को आबादी से दूर किसी पृथक् स्थान में रखा जाय। तब उन निन्द्य स्थानों की ओर सैर करने जाते हुए हमें संकोच होगा।'[1]

दोहाजू विवाह के अभिशाप का वर्णन करते हुए वे 'निर्मला' में उपदेश देते हैं—'जिसे अपना बनाया घर उजाड़ना हो—अपने प्यारे बच्चों की गर्दन पर छुरी फेरनी हो; वह बच्चों के रहते हुए दूसरा ब्याह करे। ऐसा कभी नहीं देखा कि सौत के आने पर घर तबाह न हो गया हो। वही, बाप, जो बच्चों पर जान देता था, सौत के आते ही उन्हीं बच्चों का दुश्मन हो जाता है। उसकी मति ही बदल जाती है। ऐसी देवी ने जन्म ही नहीं लिया, जिसने सौत के बच्चों को अपना समझा हो।'[2]

जीवन में न्याय-प्रेम और सत्यभक्ति के उदात्त गुणों को धारण करने का उपदेश देते हुए उन्होंने सूरदास की इस प्रकार सराहना की है—'वह साधु न था; महात्मा न था, देवता न था, एक क्षुद्र शक्तिहीन प्राणी था, चिन्ताओं और बाधाओं से घिरा हुआ, जिसमें अवगुण भी थे और गुण भी।......किन्तु ये सभी दुर्गुण उस परगुण के सम्पर्क से देवगुणों का रूप धारण कर लेते थे—क्रोध-सत्क्रोध हो जाता था, लोभ सदनुराग, मोह सदुत्साह के रूप में प्रकट होता था और अहंकार आत्माभिमान के वेश में। और वह गुण क्या था? न्याय-प्रेम, सत्य-भक्ति, परोपकार, दर्द या उसका जो नाम चाहे रख लीजिये। अन्याय देखकर उससे न रहा जाता था, अनीति उसके लिए असह्य थी।'[3]

प्रेमचन्द की उपदेशात्मक मनोवृत्ति के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसा कि पहले कहा गया है, उपन्यास के उपयोगितावादी-पक्ष को स्वीकार करने के कारण उन्होंने सोद्देश्य साहित्य-रचना को अपना लक्ष्य बनाया, और फलस्वरूप, उन्होंने परोक्ष एवं प्रत्यक्ष रीति से उपदेश देने की दोनों प्रणालियां अपनायी। इसी उपदेशात्मक मनोवृत्ति के कारण उनकी रचनाओं में नीति-वाक्यों की भरमार दिखायी देती है।

कथावस्तु

प्रेमचन्द के आदर्शमूलक जीवन-दर्शन का प्रभाव जहां उनके उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष पर पड़ा है, वहां कथानक का गठन भी उस प्रभाव से अछूता नहीं बचा है। कथानक का गठन, घटनावली का निर्माण और कथा का उपसंहार करते समय वे आदर्श का सदैव ध्यान रखते हैं। उन्होंने निरी कहानी सुनाने के लिए

१. प्रेमचन्द, 'सेवासदन' पृष्ठ, ५८।   २. प्रेमचन्द, 'निर्मला'
३. प्रेमचन्द, रंगभूमि'

उपन्यासों की रचना कभी नहीं की, बल्कि कहानी कहते-कहते वे अपने नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा भी करते जाते हैं।

समस्यामूलक कथानक—प्रेमचन्द के उपन्यासों के कथानक पर आदर्श का रंग चढ़ने का मुख्य कारण यह है कि उनके उपन्यास समस्या-मूलक हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में सामाजिक अथवा राष्ट्रीय समस्याओं को उठाया है, और कथानक के सहारे इन समस्याओं के विविध रूपों का उद्‌घाटन करने के साथ-साथ इन्हें हल करने के उपाय भी सुझाये हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द के उपन्यासों में कथानक का गठन, घटनावली का निर्माण और उपसंहार उनके चिन्तन का अनुगामी बन गया है। उदाहरण के लिए, उनके सामाजिक समस्यामूलक उपन्यासों को ही लें। सामाजिक समस्याओं के अन्तर्गत प्रेमचन्द ने सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं को लिया है। इन कुप्रथाओं को पुष्ट करने वाले कारणों एवं इनसे होने वाले दुष्परिणामों का वर्णन करते-करते वे परोक्षरीति से इनके सुधार के उपाय भी बताते जाते हैं। इस दृष्टि से सामाजिक-समस्याओं का निरूपण और हल प्रस्तुत करते समय प्रेमचन्द सुधारवादी के रूप में हमारे सामने आते हैं। सुधारवादी मूलतः आदर्शवादी होता है, क्योंकि किसी आदर्श विशेष को सामने रखे बिना वह प्रचलित व्यवस्था में सुधार की कल्पना नहीं कर सकता। सामाजिक कुप्रथाएँ समाज की नैतिकता को मानो चुनौती देती हैं और इस चुनौती को स्वीकार कर जो व्यक्ति इन कुप्रथाओं के सुधार के लिये प्रवृत्त होता है वह, अन्ततोगत्वा उच्च सामाजिक आदर्शों से ही प्रेरित होता है। अतः, सामाजिक समस्या-मूलक उपन्यासों के कथानक की रचना करते समय प्रेमचन्द का सुधारवादी, और फलस्वरूप, आदर्शवादी रूप उभर आया है।

उनके 'प्रतिज्ञा' 'सेवासदन' 'निर्मला' और 'गबन' नामक उपन्यासों के कथानक उपर्युक्त कथन के स्पष्ट प्रमाण हैं। 'प्रतिज्ञा' में उन्होंने समाज में विधवा की दयनीय स्थिति और उसकी पतनोन्मुख प्रवृत्ति की ओर संकेत करते हुए इस कुप्रथा के सुधार के लिए विधवा-विवाह का उपाय सुझाया है। तत्कालीन रूढ़िगत समाज में जहां कि विधवा-विवाह को सर्वथा अनैतिक माना जाता था, उपन्यास का नायक, अमृतराय, नैतिकता की प्रचलित कसौटी से सहमत नहीं और स्वयं विधुर होने के कारण वह प्रेमा जैसी कुंवारी लड़की से विवाह न कर, किसी विधवा से विवाह करने का संकल्प कर बैठता है। 'प्रतिज्ञा' का कथानक अमृतराय के इसी आदर्शपूर्ण संकल्प पर आधारित है और इसी संकल्प से प्रभावित होकर वह अपने परम मित्र दाननाथ से प्रेमा का विवाह करा देता है। इतना ही नहीं, विधवा आश्रम के लिए वह अपनी समस्त सम्पत्ति दे डालता है और लोक-निन्दा की रत्ती भर परवाह नहीं

करता। अमृतराय के संकल्प की पूर्ति में दाननाथ और कमलाप्रसाद द्वारा बाधा डालने की प्रसंगिक घटनाओं को भी प्रेमचन्द ने लिया है, किन्तु इन घटनाओं से कथानक का समुचित विकास हुआ है।

इसी प्रकार 'सेवासदन' के कथानक द्वारा प्रेमचन्द ने सुमन के पतन की कहानी कहते-कहते उसके उद्धार की कहानी भी कही है। दहेज-प्रथा, अनमेल-विवाह और नारी के अनादर को वे सुमन के पतन का कारण बताते हैं और इस पतितावस्था से ऊपर उठाने का एकमेव उपाय उन्होंने सेवावृत्ति में ढूँढ़ा है। सुमन द्वारा सेवा-भाव के अपनाते ही 'सेवासदन' के कथानक में एक जबरदस्त परिवर्तन आ जाता है और सुमन के उत्कर्ष की कहानी शुरू हो जाती है। इसके बाद का कथानक तो, वस्तुतः, प्रेमचन्द के प्रिय आदर्श की प्रतिष्ठा के अनुरूप है। गजाधर पाण्डे और पद्मसिंह शर्मा भी सेवा-मार्ग अपनाते हैं और वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के लिए रचनात्मक प्रयास करते हैं।

प्रेमचंद ने 'निर्मला' और 'गबन' उपन्यासों के कथानकों की सहायता से सामाजिक कुप्रथा, मध्यवित्त परिवारों की आभूषण-लालसा और झूठी प्रतिष्ठा की कहानी कही है। दहेज और दोहाजू विवाह की कुप्रथा के दुष्परिणामों को लेकर उन्होंने 'निर्मला' का कथानक रचा है। दहेज के प्रश्न के कारण उपन्यास के आरम्भ में निर्मला के माता-पिता में कहा-सुनी और तत्पश्चात् पिता की मृत्यू हो जाती है। अच्छा-खासा दहेज न दे सकने के कारण निर्मला की पहली सगाई टूट जाती है और मुंशी तोताराम के साथ उसका अनमेल विवाह होता है। दहेज-प्रथा के दुष्परिणाम बता कर प्रेमचंद दोहाजू-विवाह के दुष्परिणामों की कहानी शुरू कर देते हैं। युवती निर्मला के प्रति वृद्ध मुंशी तोताराम का संदेह और इस संदेह से उत्पन्न पारिवारिक कटुता के कारण उसके बड़े पुत्र मंसाराम की मृत्यु हो जाती है, मंझला पुत्र जियाराम विष खाकर प्राण दे देता है और सबसे छोटा पुत्र सियाराम किसी साधु के चक्कर में फँस कर घर से भाग जाता है। इसी पारिवारिक क्लेश के कारण मुंशी तोताराम की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है, घर नीलाम हो जाता है और अंत में अपने पुत्र सियाराम की तलाश में वह भी घर से निकल पड़ते हैं। 'निर्मला' में प्रेमचंद ने शुरू से अंत तक दहेज और दोहाजू विवाह की कुप्रथा के दुष्परिणामों को व्यक्त करने की दृष्टि से कथानक का विकास किया है।

मध्यवित्त परिवार की झूठी प्रतिष्ठा की लालसा व आभूषण-प्रेम, उसके नैतिक पतन का किस हद तक उत्तरदायी है, इसी बात को लेकर प्रेमचंद ने 'गबन' का कथानक गढ़ा है। विवाह में झूठी प्रतिष्ठा और ऊपरी टीम-टाम की लालसा में पड़ कर रमानाथ के पिता दयानाथ, अपनी हैसियत से अधिक खर्च कर बैठते हैं और फिर कर्ज उतारने के लिये जालपा से गहने वापस मांगने का रमानाथ से अनुरोध करते हैं। उधर रमानाथ ने जालपा के सम्मुख अपने परिवार के वैभव की लम्बी

झांकी थी, इसलिये गहने वापस मांगने का साहस उसे नहीं हुआ। इसी झूठी प्रतिष्ठा के चक्कर में वह जालपा के गहने चुरा कर अपने पिता के पास लाता है। जिस दयानाथ ने जीवन भर रिश्वत की एक कौड़ी न ली थी, वही अपनी बहू के गहनों को चुपके से अपने सन्दूक में छिपा लेता है और बाद में इन्हें बेच कर कर्ज चुकाता है।

झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने का फल सबसे अधिक यदि किसी को भोगना पड़ता है तो वह रमानाथ को। इसी प्रतिष्ठा के लिये वह रिश्वत लेता है, ऋण उठाता है और अंत में सरकारी रकम में गबन कर कलकत्ता भाग जाता है। लेकिन उसके नैतिक पतन की यहीं समाप्ति नहीं हो जाती। आगे चल कर वह मुखबिर बनने और निरपराधों के विरुद्ध गवाही देकर अपनी जान बचाने से भी नहीं चूकता। उसे पतन की चरम-सीमा तक पहुंचाकर प्रेमचंद, जालपा की सहायता से, उसका उद्धार कराते हैं। यहां आकर प्रेमचंद ने कथानक को जो मोड़ दिया है वह उनके आदर्श के अनुरूप ही है। झूठी प्रतिष्ठा बनाये रखने की लालसा के शिकार रमानाथ का नैतिक-पतन और तदुपरान्त जालपा के सच्चे एवं सरल जीवन के आदर्श से उसके उद्धार की कहानी कहकर प्रेमचंद ने अपने चिन्तन के अनुरूप जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा की है।

राष्ट्रीय समस्या-मूलक उपन्यासों में प्रेमचंद ने अपने देश की राजनैतिक, आर्थिक एवं साम्प्रदायिक समस्याओं के निराकरण के लिये किये जाने वाले जन-आंदोलनों को कथानक का आधार बनाया है। प्रेमचंद का चिन्तन गांधीवाद का अनुगामी होने के कारण, इन जन-आंदोलनों का जो स्वरूप उन्होंने खींचा है वह पूर्णतः गांधीवादी है। अन्याय, असत्य, अत्याचार और अनाचार के विरुद्ध लड़ाई में गांधीवाद के दो प्रमुख अस्त्र हैं—सत्याग्रह और अहिंसा। इन्हीं दो अस्त्रों के सहारे वे विपक्षी के हृदय परिवर्तन तथा पशुबल पर आत्मिक बल की विजय की ओर संकेत करते हुए कथानक का विकास करते हैं। इस दृष्टि से देखा जाये, तो उनके राष्ट्रीय समस्या-मूलक उपन्यासों के कथानकों में बहुत साम्य है।

उदाहरण के लिए, 'रंगभूमि', 'कायाकल्प' और 'कर्मभूमि' में उन्होंने अहिंसात्मक और सत्याग्रहमूलक जन-आन्दोलन को कथानक का आधार बनाया है। 'रंगभूमि' में जहां एक ओर निपट अकेला और अंधा सूरदास है वहां उसके मुकाबले में दूसरी ओर जान सेवक, कुँवर महेन्द्रसिंह और मिस्टर क्लार्क के रूप में धन, सत्ता और शासन की शक्तियां जुटी हुई हैं। 'रंगभूमि' का कथानक, वस्तुतः, इन दो पक्षों की टक्कर की कहानी है जिसमें निर्बल और निस्सहाय सूरदास केवल सत्य और अहिंसा के बल पर पाशविक शक्तियों को पछाड़ देता है। अन्त में वह धराशायी अवश्य हो जाता है, पर उसकी हार ऐसी है जो कि विजेता की जीत की निःसारता ही सिद्ध करती है। सूरदास की हार में भी उसकी नैतिक

विजय है और जानसेवक, कुँवर महेन्द्र सिंह और मि० क्लार्क की विजय में भी उनकी नैतिक पराजय है।

'रंगभूमि' के समान 'कायाकल्प' के कथानक की घटनाओं द्वारा प्रेमचन्द ने अहिंसा और सत्याग्रह की सफलता सिद्ध की है। चक्रधर के सत्याग्रह से प्रभावित होकर आगरा के मुसलमान गोहत्या न करने का निश्चय करते हैं और चक्रधर के प्रयास से हिन्दू-मुस्लिम दगा शान्त हो जाता है। उसके अहिंसा के व्रत का ही यह प्रभाव होता है कि जेल में कैदियों का विद्रोह तथा राजा विशाल सिंह के तिलकोत्सव के अवसर पर क्रुद्ध जनता का उपद्रव शान्त हो जाता है। उनका 'कर्मभूमि' उपन्यास तो, वस्तुतः, सत्याग्रह आन्दोलन की कहानी ही है। किसानों के लगानबन्दी आन्दोलन को लेकर गांव में तथा अछूतोद्धार आन्दोलन को लेकर शहर में सत्याग्रह होता है और जेलें भरी जाती हैं। प्रेमचन्द ने सत्याग्रह की सफलता के लिए उपन्यास के अन्त में किसानों और अछूतों की समस्याओं को सुलझती हुई दिखाया है।

प्रेमचन्द जब आर्थिक समस्याओं को अपने उपन्यासों के कथानक का आधार बनाते हैं तब किसानों की आर्थिक दुरवस्था का चित्रण प्रधान हो उठता है। किसानों के आर्थिक संकट का मूल कारण वे जमींदारों और साहूकारों के शोषण में देखते हैं, इसलिये, 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' में उन्होंने जमींदारी प्रथा और साहूकारों के शोषण के आधार पर कथानक रचे हैं। 'प्रेमाश्रम' में जमींदारी प्रथा के कारण लखनपुर गांव की तबाही और इस प्रथा के उन्मूलन से गांव की खुशहाली को लेकर कथानक का सृजन किया गया है। जमींदार के अत्याचारों को प्रकाश में लाने के लिए उन्होंने निरीह ग्रामीणों को सताने, चरागाह बन्द करने, बेदखली के मुकद्दमे दायर करने की घटनायें ली हैं।

यदि 'प्रेमाश्रम' जमींदारों द्वारा किसानों के शोषण की कहानी है, तो 'गोदान' का कथानक साहूकारों के शोषण को लेकर रचा गया है। जी-तोड़ मेहनत करने के बाद भी होरी को पेट को लाले पड़े रहते हैं। वह जो कुछ कमाता है सब साहूकारों का ऋण चुकाने में चुक जाता है। उसकी आर्थिक विपन्नता का यह हाल है कि किसान होते हुये भी गऊ पालने की उसकी इच्छा अधूरी रह जाती है। गऊ पालने की इच्छा का अन्त सवा रुपये के गोदान में दिखाकर उन्होंने कृषक-वर्ग की आर्थिक विपन्नता की कहानी कही है।

उपसंहार—वांछित उपसंहार : प्रेमचन्द ने कथानक के गठन और विकास में अपने जीवन-दर्शन और नैतिक आदर्शों की छटा दिखलाने के अतिरिक्त कथानक के उपसंहार पर भी अपने चिन्तन की छाप छोड़ दी है। उद्देश्यवादिता से उपजी सतर्कता की-भावना से उन्होंने न केवल कथानक का यथेष्ट विकास किया है, बल्कि

कथानक के उपसंहार तक आते-आते वे और भी सतर्क हो जाते हैं और मनचाहे उपसंहार के लिए कथानक के अन्दर मनचाहा मोड़ लाने से भी नहीं चूकते। उपन्यास-रचना में उद्देश्यवादिता पर अत्यधिक जोर देने का यह परिणाम हुआ है कि कहीं-कहीं कथानक का उपसंहार आरोपित-सा प्रतीत होता है, इसी कारण कहीं-कहीं कथानक का स्वाभाविक अन्त न होकर अस्वाभाविक एवं अप्रत्याशित प्रतीत होता है।

नाटकीय प्रसंग—उदाहरण के लिये 'सेवासदन' में भामा और शान्ता के मुँह से अपनी निन्दा सुनने के बाद मानवती सुमन के लिए गंगा में डूबकर आत्महत्या करना ही एकमेव मार्ग रह जाता था। कथानक के इस स्वाभाविक उपसंहार के बजाय, प्रेमचन्द ने इस अवसर पर सुमन और गजानन्द की भेंट का नाटकीय प्रसंग लाकर कथानक में यथेष्ट मोड़ ला दिया है। गजानन्द से भेंट के उपरान्त सुमन आत्महत्या का विचार त्याग देती है और सेवा-व्रत ग्रहण कर सेवासदन की स्थापना में योग देती है। कथानक के उपर्युक्त उपसंहार से प्रेमचन्द सेवा-व्रत की महिमा का गुणगान कर सकते थे, इसलिए कथानक के अन्त में उन्होंने वैसा ही मोड़ दिया है।

'प्रेमाश्रम', 'गबन' और 'कायाकल्प' के कथानकों में भी हमें प्रेमचन्द की लक्ष्यवादी मनोवृत्ति के दर्शन होते हैं। 'प्रेमाश्रम' में तिलकोत्सव के अवसर पर जमींदारी सम्बन्धी अधिकारों के अधिग्रहण के स्थान पर मायाशंकर द्वारा उनके त्याग की नाटकीय घोषणा करवाकर वे अपने अभीष्ट को सिद्ध कर लेते हैं।[1] ऐसा जान पड़ता है कि जमींदारी प्रथा के उन्मूलन के लिए ही मानों उन्होंने तिलकोत्सव की घटना को कथानक में स्थान दिया है। मायाशंकर की इस अप्रत्याशित घोषणा के उपरान्त ज्ञानशंकर डूबकर आत्महत्या कर लेता है, प्रेमाश्रम की स्थापना होती है, लखनपुर के ग्रामीण सुख की सांस लेते हैं और तबाही के स्थान पर गांव में खुशहाली दिखायी देने लगती है।

'गबन' में ऐसा नाटकीय प्रसंग है—रमानाथ को ढूँढ़ने के लिए जालपा द्वारा शतरंज के नकशे का विज्ञापन देना। इस घटना के बाद समूचा कथानक जालपा के चारों ओर घूमने लगता है। वह कथानक की सूत्रधार बन जाती है और अपने व्रती जीवन के प्रभाव से रमानाथ को पतन के गढ़े से बचाने के साथ-साथ जोहरा को भी उबार लेती है। 'गबन' के कथानक के अन्त में जो सहसा उत्कर्ष का अनुभव होता है, उसके मूल में उपर्युक्त विज्ञापन देने की नाटकीय घटना है। इसकी सहायता से वे उपन्यास के कथानक में मनचाहा परिवर्तन ले आये हैं।

---

१. प्रेमचन्द, 'प्रेमाश्रम', पृष्ठ, ४४१।

कथानक में यथेष्ट परिवर्तन लाने की प्रवृत्ति का सबसे अधिक प्रभाव 'कायाकल्प' में दीखता है। पुनर्जन्म, कायाकल्प और योग-सिद्धि की अनेक चमत्कार-पूर्ण घटनाओं का सहारा लेकर वे पाठक को वासना-रहित, निर्मल प्रेम की झलक दिखाना चाहते हैं। 'कायाकल्प' के कथानक में उन्होंने अपने आदर्श को खुली छूट दे रखी है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आदर्श का अनुचर बनने पर 'कायाकल्प' के कथानक को भी अनेक कायाकल्पों में से गुजरना पड़ता है।

सुखान्त व दुखान्त कथानक—कथानक के उपसंहार में अपने आदर्शानुसार वांछित हेरफेर करने के अतिरिक्त प्रेमचन्द ने कथानक के सुख अथवा दुखपूर्ण उप-संहार का निर्धारण भी अपने चिन्तन के अनुरूप किया है। उनके 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'गबन' और 'कर्मभूमि' उपन्यास सुखान्त हैं, जबकि 'रंग-भूमि 'निर्मला', 'कायाकल्प' और 'गोदान' दुखान्त हैं। सुखान्त उपन्यासों की रचना द्वारा प्रेमचन्द ने अपने मन्तव्यों एवं आदर्शों का समर्थन किया है, जबकि दुखान्त उपन्यासों द्वारा उन्होंने सामाजिक कुरीतियों की विभीषिका दिखायी है अथवा आदर्श-पथ से भ्रष्ट होने के दुष्परिणाम दिखाए हैं।

सुखान्त कथानक का लक्ष्य—सर्वप्रथम, उनके सुखान्त उपन्यासों को लें। 'प्रतिज्ञा', 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'गबन', और 'कर्मभूमि' के सुखपूर्वक अन्त में यद्यपि प्रेमचन्द की पक्षपाती मनोवृत्ति स्पष्ट झलकती है तो भी यह पक्षपात है, सत् के प्रति, नैतिकता के प्रति। सत् का पक्षपात करने वाला साहित्यकार आदर्श-वादी होता है। इस कारण उपन्यासों का सुखपूर्वक अन्त करने में प्रेमचन्द की आदर्शवादिता उभर आयी है। 'प्रतिज्ञा' के उपसंहार में वे पूर्णा को वनिताश्रम में सुखपूर्वक रहते हुए दिखाते हैं; दाननाथ और अमृतराय में पुनः मैत्री स्थापित हो जाती है और कमलाप्रसाद सुधर जाता है। 'प्रतिज्ञा' के सुखान्त उपसंसहार द्वारा प्रेमचन्द ने अमृतराय के आदर्श संकल्प की जीत दिखायी है। इसी प्रकार 'सेवासदन' के अन्त में विट्ठलदास, पं० पद्मसिंह शर्मा, गजाधर पाण्डे और सुमन, सेवाधर्म को अपनाते हुए अपना जीवन सफल बनाते हैं। 'सेव सदन' का सुखपूर्वक अन्त कर प्रेमचन्द ने सेवा धर्म की महिमा का गुणगान किया है, जिससे न केवल दूसरों का, अपितु, अपना भी कल्याण होता है।

प्रेमचंद ने सेवापरायण जीवन की वन्दना करते हुए 'प्रेमाश्रम' उपन्यास के सुखपूर्ण अंत में प्रेमाश्रम की स्थापना द्वारा सेवा और त्यागमय जीवन के उच्चादर्श की स्थापना की है। मायाशंकर, प्रेमशंकर, डा० प्राणनाथ, इर्फानअली और ठाकुर ज्वालासिंह द्वारा सेवा एवं त्यागमय जीवन अपनाने से लखनपुर समृद्ध हो जाता है और पीड़ित एवं दलित ग्रामीण समाज के दिन फिर जाते हैं। इसी प्रकार 'गबन' में झूठी प्रतिष्ठा की लालसा और विलासप्रियता के दुष्परिणाम दिखा कर वह उप-न्यास के सुखपूर्ण अंत में सरल एवं निष्कपट जीवन में शांति-लाभ दिखाते हैं।

'कर्मभूमि' के सुखपूर्ण अंत द्वारा प्रेमचंद ने अहिंसा और सत्याग्रह पर आधारित राजनैतिक आंदोलन की सफलता सिद्ध की है। किसानों के सत्याग्रह एवं असहयोग-आंदोलन के फलस्वरूप सरकार समझौते के लिए तैयार हो जाती है और आंदोलनकर्ताओं को छोड़ दिया जाता है। किसानों के राजनैतिक संघर्ष के सफल अंत द्वारा वास्तव में प्रेमचंद गांधी जी के अहिंसा और सत्याग्रह-मूलक आंदोलन की सफलता दिखाना चाहते हैं।

दुखान्त कथानक का लक्ष्य—किन्तु दुखान्त उपन्यासों में प्रेमचंद ने आदर्श की प्रतिष्ठा का वैसा आग्रह नहीं किया जैसा कि उनके अन्य सुखान्त उपन्यासों में हमें दिखाई देता है। वलिक, दुखान्त उपन्यासों में आदर्शात्मक धरातल के वजाय यथार्थवादी धरातल अपनाने की प्रवृत्ति अधिक दिखाई पड़ती है। दुखान्त उपन्यासों में प्रेमचंद ने सामाजिक कुप्रथाओं की वीभत्सता के उद्घाटन के लिए इनके दुष्परिणाम दिखाए हैं। उदाहरणार्थ, 'निर्मला' के दुखपूर्ण अंत द्वारा प्रेमचंद ने दहेज प्रथा, अनमेल और दोहाजू विवाह जैसी सामाजिक कुप्रथाओं के दुष्परिणाम दिखाने की चेष्टा की है। मुंशी तोताराम अपना घर बसाने के लिए दूसरा विवाह करते हैं, निर्मला का मन जीतने के लिए तरह-तरह के ढोंग रचते हैं, लेकिन अनमेल विवाह का अभिशाप उनके घर को पनपने नहीं देता। वह कभी निर्मला पर और कभी अपने पुत्र पर संदेह करते हैं, और इसका परिणाम यह होता है कि उपन्यास के अंत में मुंशी तोताराम का घर उजड़ जाता है। इसी प्रकार 'गोदान' के होरी का करुणापूर्ण अंत दिखा कर उन्होंने समस्त कृषक वर्ग की विवशता चित्रित कर दी है। अंध-विश्वास, अज्ञान और शोषण से लड़ते-लड़ते होरी जैसा सच्चा, आत्म-विश्वासी और दृढ़-प्रतिज्ञ किसान भी परास्त हो जाता है। होरी की पराजय किसी आदर्श की पराजय न होकर सामाजिक कुरीतियों और बाह्य परिस्थितियों के अभिशाप का ही परिणाम सिद्ध होती है।

किन्तु, 'रंगभूमि' और 'कायाकल्प' को दुखान्त बनाने में प्रेमचंद द्वारा पुनः आदर्श की प्रस्थापना का प्रयत्न दिखाई देता है। वासना-रहित विशुद्ध प्रेम के उच्चादर्श में प्रेमचंद को किसी प्रकार की मिलावट पसंद नहीं, इसलिए 'रंगभूमि' के विनय और सोफी तथा 'कायाकल्प' के महेन्द्र और देवप्रिया का मिलन वे मानसिक और वासना-रहित स्तर तक ही सीमित रखना चाहते हैं, शारीरिक मिलन उनकी दृष्टि में हेय है। अतः, प्रेम के इस निम्न स्तर तक पहुंचने के पूर्व ही वे अपने पात्रों की इहलीला समाप्त कर देते हैं। विशुद्ध प्रेम की तुलना में धन-वैभव और विलास-प्रियता को महत्व देने का दुष्परिणाम वे अहल्या की मृत्यु और मनोरमा के क्षोभमय जीवन में दिखाते हैं। मान और प्रतिष्ठा के पीछे भागने वाले कुंवर महेन्द्रसिंह के दिखावटीपन का पर्दाफाश कर, तथा सूरदास जैसे विनम्र किन्तु सत्य और न्याय के लिए जान देने वाले अंधे भिखारी को यशस्वी बना कर प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' में

सेवा, त्याग और सत्यता के उच्चादर्शों की महिमा गाई है। दुखान्त होने पर भी इन उपन्यासों से आदर्श के गुणगान का ही स्वर निकलता है।

चरित्र-चित्रण

प्रेमचंद के उपन्यासों में चरित्र-चित्रण को बहुत महत्व दिया गया है। अपने उपन्यासों में वे जिन सामाजिक, आर्थिक अथवा राष्ट्रीय समस्याओं को उठाते हैं उनका सजीव एवं विशद् निरूपण वे अपने पात्रों के क्रिया-कलापों और उनके सुख-दुख के चित्रण द्वारा करते हैं। इसी प्रकार किसी आदर्श को साकार करने अथवा किसी कुप्रथा का दुष्परिणाम दिखाने के लिए वे तदनुरूप पात्रों का सृजन करते हैं। यहां यह कहना अत्युक्ति न होगी कि उन्होंने अपने विशिष्ट जीवनादर्शों एवं नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए विविध पात्रों की सृष्टि की है। उपन्यास-रचना में कथानक के विकास और उपसंहार में उन्होंने आदर्श का ध्यान रखा है—यह सही है, किन्तु पात्रों का सृजन करते समय तो उन्होंने अपने पात्रों और आदर्शों को मानों एकरूप कर दिया है। इसलिए उपन्यास-रचना के अन्य तत्वों की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर उनके आदर्शवाद का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए इसके आगे हमें प्रेमचद द्वारा पात्रों के चयन, प्रवृत्ति-निर्देश और चरित्र-चित्रण का अध्ययन करना होगा।

पात्रों का चयन—व्यापक चयन : प्रेमचंद ने सामाजिक जीवन का व्यापक चित्र खींचने का प्रयास किया है, इसलिए उनके उपन्यासों का कन्वास बहुत विस्तृत है। इस विस्तृत कन्वास पर समाज के विविध वर्गों के सुख-दुख, हर्ष-उल्लास तथा कठिनाइयों और समस्याओं के सफल चित्रण के प्रयास में उन्होंने समाज के सभी वर्गों से अपने पात्र चुने हैं। समाज के व्यापक जीवन के चित्रण का ही यह परिणाम है कि नागरिक अथवा ग्रामीण समाज का ऐसा कोई वर्ग नहीं बचा है जिससे कि उन्होंने अपने पात्र न लिए हों। नागरिक जीवन के अंतर्गत उन्होंने हुक्काम, मिल मालिक, रईस, व्यापारी, अध्यापक, डाक्टर, वकील, सम्पादक, नेता, सुधारक, सभा-सोसाइटियों के प्रधान, नगरपालिका के अध्यक्ष, विद्यार्थी, मजदूर, वेश्या, भिखारी, अछूत इत्यादि विविध वर्गों के पात्रों को लिया है। इसी प्रकार ग्रामीण-जीवन का चित्रण करते समय प्रेमचंद ने किसान, जमींदार, पटवारी, साहूकार, गद्दीधारी महंत आदि वर्गों से अपने पात्र चुने हैं। पात्रों के चयन में उन्होंने अपने लिए कोई शर्त नहीं रखी और न ही कोई सीमा बांधी है। वस्तुतः, यह उनकी व्यापक सहानुभूति का ही अनिवार्य परिणाम है कि प्रेमचंद ने किसी वर्ग-विशेष से पात्र न चुन कर समाज के सभी वर्गों से पात्र चुने हैं।

पात्र-बाहुल्य—व्यापक चयन के साथ-साथ प्रेमचंद के उपन्यासों में पात्रों की संख्या भी बहुत है। तीस-तीस और चालीस-चालीस पात्रों को लेकर उन्होंने अपने उपन्यासों की रचना की है। पात्र-बाहुल्य का एक कारण यह है कि उनके उपन्यासों

के कथानक परिवार-निष्ठ हैं। इसलिए, परिवार के एक सदस्य को उपन्यास में स्थान देने के साथ-साथ परिवार के अन्य सदस्य भी बिना बुलाये चले आये हैं। उदाहरण के लिए 'सेवासदन' में पं० पद्मसिंह शर्मा को लेने पर सदन सिंह, मदन-सिंह, सुभद्रा और भामा को लेना पड़ा है। 'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर और ज्ञानशंकर के साथ-साथ प्रभाशंकर, जटाशंकर, तेजशंकर, पद्मशंकर, मायाशंकर आदि परिवार के सभी पुरुष पात्र आ गये हैं। इसके अतिरिक्त उनके कथानकों में चार-चार और पांच-परिवारों की कहानी गुथी होने के कारण भी पात्रों की संख्या बहुत बढ़ गयी है। व्यापक सहानुभूति और विस्तृत कन्वास भरने की चेष्टा में प्रेमचन्द ने अपने पात्रों की संख्या को बढ़ने से रोका नहीं है।

आदर्शानुराग की प्रवृत्ति—प्रेमचन्द के पात्र किसी न किसी आदर्श को सम्मुख रखकर चलते हैं और अनेक कठिनाइयों के बावजूद उस आदर्श का पालन करते हैं। आदर्श के प्रति आकर्षण और उस आदर्श के अनुरूप अपना समस्त चिन्तन एवं आचरण ढालने की उनके प्रमुख पात्रों की जो आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति हमें दिखायी देती है उसकी ओर वे उपन्यास के आरम्भ में ही निर्देश कर देते हैं। शेष उपन्यास तो, एक प्रकार से, उस आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति के विकास के लिये ही वे लिखते हैं। आदर्श-पात्र के चित्रण के आरम्भ में प्रवृत्ति-निर्देश की सहायता से उस पात्र के भावी विकास की कुछ मोटी-मोटी रेखायें वे खींच देते हैं। तदुपरान्त उन रेखाओं को धीरे-धीरे गहरा करते और फैलाते हुए वे अपने पात्र का सम्पूर्ण चित्र खींच देते हैं।

प्रेमचन्द ने पात्रों की आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति की ओर निर्देश करने के दो तरीके अपनाये हैं—पात्र के आचरण द्वारा, तथा पात्र के शाब्दिक चित्रण द्वारा। 'प्रतिज्ञा' में अमृतराय की आदर्शवादिता की ओर संकेत करते हुए जहां उसे पं० अमरनाथ के भाषण से प्रभावित होकर विधवा से विवाह करने की प्रतिज्ञा लेते दिखाया है वहां अपनी ओर से भी उन्होंने जोड़ दिया है—'अमृतराय सिद्धान्त-वादी आदमी थे—बड़े ही संयमशील। कोई काम नियम-विरुद्ध न करते। जीवन का सद्व्यय कैसे हो, इसका उन्हें सदैव ध्यान रहता था। धुन के पक्के आदमी थे। एक बार कोई निश्चय करके उसे पूरा किए बिना न छोड़ते थे।'[1]

'प्रेमाश्रम' में प्रेमशंकर के सरल एवं सेवापरायण जीवन व्यतीत करने के आदर्श की ओर संकेत करते हुए प्रेमचन्द ने उसे अमेरिका से लौटने पर शहर से बाहर हाजीगंज गांव में डेरा डालते हुए दिखाया है। उसकी निर्लोभी मनोवृत्ति का परिचय वे उसके इन उद्‌गारों से देते हैं—'रहा लखनपुर के सम्बन्ध में मेरा इरादा। मैं यह सुनना ही नहीं चाहता कि मैं उस गाव का जमींदार हूं। ······

१. प्रेमचन्द, 'प्रतिज्ञा', पृष्ठ, ६।

मैं अपने श्रम की रोटी खाना चाहता हूं। बीच का दलाल नहीं बनना चाहता। अगर सरकारी पत्रों में मेरा नाम दर्ज हो गया तो मैं इस्तीफा देने को तैयार हूं'''।'[1]

इसी प्रकार, 'रंगभूमि' के सूरदास की परोपकारी मनोवृत्ति की ओर उन्होंने उपन्यास के आरम्भ में इशारा किया है—'भारतवर्ष में अन्धे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है न काम की। सूरदास उनका बना-बनाया नाम और भीख मांगना बना-बनाया काम। उनके गुण और स्वभाव भी जगत-प्रसिद्ध हैं—गाने-बजाने में विशेष रुचि, हृदय में विशेषानुराग, अध्यात्म और भक्ति में विशेष-प्रेम उनके स्वाभाविक लक्षण हैं। बाह्य दृष्टि बन्द और अन्तर्दृष्टि खुली हुई।'[2] जानसेवक, सूरदास को अपनी जमीन बेचने को कहता है और उसे धन का लालच भी देता है। पर परोपकारी सूरदास को लोभ छू न गया था। वह कहता—'साहिब' इस जमीन से मुहल्ले वालों का बड़ा उपकार होता है। कहीं एक अंगुल भर चरी नहीं है। आसपास के सब ढोर यहीं चरने आते हैं। बेच दूंगा तो ढोरों का कोई ठिकाना न रह जायेगा।'[3]

'कायाकल्प' मे चक्रधर के त्याग एवं सेवामय जीवन के आदर्श की ओर उन्होंने संकेत करते हुए कहा है—'उन्हें (चक्रधर को) यह हास्यास्पद मालूम होता था कि आदमी केवल पेट पालने के लिए आधी उम्र पढ़ने में लगा दे।''''''विद्या के साथ जीवन का आदर्श कुछ ऊँचा न हुआ तो पढ़ना व्यर्थ है। विद्या को जीविका का साधन बनाते उन्हें लज्जा आती थी। वह भूखों मर जाते; लेकिन नौकरी के लिये आवेदन-पत्र लेकर कहीं न जाते''''''दीनों की सेवा और सहायता में जो आनन्द और आत्मगौरव था, वह दफ्तर में बैठकर कलम घिसने में कहां।'[4]

इसी प्रकार अमरकान्त के आदर्शानुराग की चर्चा करते हुये उन्होंने कहा है—'अमरकान्त की अवस्था १६ साल से कम न थी। देह का दुर्बल, बुद्धि का मन्द। स्कूल से लौटकर अमरकान्त नियमानुसार अपनी छोटी कोठरी में जाकर चरखे पर बैठ जाता।' उन्होंने चरखा कातने के संकल्प के माध्यम से भी उसकी आदर्शवादी मनोवृत्ति की ओर निर्देश किया है और उसके मुख से कहलवाया है—'चरखा रुपये के लिए नहीं चलाया जाता। वह आत्मशुद्धि का एक साधन है।[5]

प्रेमचन्द ने 'गोदान' में मि० मेहता, श्रीमती गोविन्दी खन्ना, 'कायाकल्प' में मनोरमा, लौंगी, राजकुमार महेन्द्र, 'रंगभूमि' में विनय सिंह, रानी जान्हवी, सोफिया सेवक, 'निर्मला' में सियाराम, 'सेवासदन' में पद्मसिंह और विट्ठलदास आदि आदर्श पात्रों का चित्रण करने के पूर्व उनके आदर्शानुराग की प्रवृत्ति की ओर

---

१. 'प्रेमाश्रम', २. 'रंगभूमि', ३. वही।
४. 'कायाकल्प'। ५. 'कर्मभूमि'।

पात्रों के आचरण अथवा अपने कथन द्वारा निर्देश कर दिया है। इस निर्देश-मात्र से वे अपने पात्रों को आदर्श के उच्च-धरातल पर सहज ही अवस्थित कर देते हैं और इस कारण उनका आदर्श आचरण अस्वाभाविक नहीं लगता।

पात्रों का चरित्र विकास—पात्रों की आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति की ओर उपन्यास के आरम्भ में निर्देश करने के उपरान्त प्रेमचन्द ने उनकी आदर्शवादिता का पूरी तरह निर्वाह किया है। आदर्श पात्रों का उत्तरोत्तर विकास दिखाते हुए अन्त में उन्हें चरम उत्कर्ष एवं सफलता प्राप्त करते दिखाया है। किन्तु, प्रेमचन्द के आदर्श पात्र दो प्रकार के हैं—एक तो वे जो प्रारम्भ से ही आदर्श-रूप में चित्रित किये गये हैं और अन्त तक आदर्श में रमे रहते हैं, दूसरे वे जो प्रारम्भ में तो सामान्य से हैं किन्तु जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष करते रहने के कारण अन्त में आदर्श के उच्च-धरातल पर पहुंच जाते हैं। कहना न होगा कि उनके प्रथम श्रेणी के पात्रों का चरित्र-विकास उतना गतिशील नहीं जितना कि दूसरी श्रेणी के पात्रों का है। एक वे हैं जो कि बँधी-बँधायी लीक पर आरम्भ से अन्त तक चलते रहते हैं और उनके जीवन में कोई विशेष उतार-चढ़ाव दिखायी नहीं देता। विपरीत इसके, दूसरी श्रेणी के पात्रों का चरित्र-विकास इतना बँधा-बँधाया नहीं है। वे अपेक्षाकृत सामान्य धरातल से ऊपर उठते हैं, इसलिये उनमें अधिक गति है और उनका चरित्र भी अधिक सशक्त एवं सप्राण बन पाया है।

आदर्श-पात्रों का चरित्र-विकास—सर्वप्रथम, उनके आदर्श पात्रों को लें। ऐसे आदर्श पात्र आरम्भ से ही आदर्शवादिता में पगे रहते हैं और अन्त तक उसी आदर्श को निभाते चले जाते हैं, फिर चाहे कैसा भी संकट और कैसी भी आपत्ति क्यों न आये। 'प्रतिज्ञा' के अमृतराय की सुपुप्त आदर्शवादिता पं० अमरनाथ के भाषण से जागृत हो जाती है और वह विधवा-विवाह का संकल्प कर लेता है। इस संकल्प से न तो प्रेमा का अनुराग, न ही दाननाथ की मित्रता और न ही लोक-निन्दा उसे डिगा सकती है। इतना ही नहीं, विधवाओं के लिए वनिताश्रम की स्थापना के हेतु वह अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति दे डालता है। आदर्श के लिए सब कुछ उत्सर्ग करने का मानों अमृतराय का जन्मजात गुण है। उसी के पालन में वह प्रेमा का अनुराग, लोक-प्रतिष्ठा का ध्यान, दाननाथ की मैत्री एवं अपनी सम्पत्ति का मोह भूल जाता है और आदर्श की वेदी पर सब को होम कर देता है।

'प्रेमाश्रम' के प्रेमशंकर का चरित्र-विकास भी सेवा और त्यागमय जीवन के आदर्श के अनुरूप किया गया है। ग्रामवासियों की सेवा का आदर्श लेकर वह अमेरिका से लौटता है। इस आदर्श के सम्मुख श्रद्धा का अनुराग, सम्पत्ति की अभिलाषा और मान-प्रतिष्ठा की कामना फीकी पड़ जाती है। इतना ही नहीं, आदर्श-पालन के हेतु वह जेल जाने को तैयार है और सब प्रकार के कष्ट सहने को

तत्पर है। ये मुसीबतें उसे विचलित करने में असमर्थ हैं और वह इसी मार्ग पर बढ़ते हुए अन्त में अपने उद्देश्य की सिद्धि कर लेता है।

प्रेमचन्द के आदर्श पात्रों में सूरदास का स्थान अद्वितीय है। साधनहीन और अपंग सूरदास अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ने-लड़ते अपने जीवन का बलिदान भले ही कर लेता है, किन्तु आदर्श-पथ से जोभर भी विचलित नहीं होता। क्या शासन की सत्ता और क्या धन और ऐश्वर्य की सम्मिलित शक्ति, दोनों ही उसके आत्मिक तेज के सम्मुख निस्तेज हो जाती हैं। कोई साथ दे या न दे, उसकी निन्दा हो या स्तुति, सूरदास को तनिक भी परवाह नहीं। वह अकेला ही सबसे लड़ने को तैयार है। इस लड़ाई में यद्यपि सूरदास का अंत हो जाता है परन्तु उसके आदर्श का अंत नहीं होता। अपने आदर्श के लिए वह आजीवन जूझता रहता है। टूट जाना उसे स्वीकार है, पर झुकना कदापि नहीं।

इसी प्रकार प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' के चक्रधर, 'कर्मभूमि' के अमरकान्त और 'गोदान' के डा० मेहता का चरित्र-विकास एक निश्चित आदर्श के अनुरूप किया है। निर्लोभी और सेवा-परायण चक्रधर, सम्पत्ति और ऐश्वर्य पाने पर भी निर्लिप्त रहता है। सेवा के आदर्श-पालन में बाधक मनोरमा के प्रेम और राज-प्रासाद के ऐश्वर्य को ठोकर मार देता है। भौतिक ऐश्वर्य और विलासिता से पराङ्मुख 'कर्मभूमि' का अमरकान्त भी सब कुछ त्यागकर किसानों की सेवा में दत्तचित्त हो जाता है; अपने पिता, समरकान्त का मोह और सुखदा का प्रेम उसे आदर्श से विचलित नहीं कर सका। 'गोदान' के डा० मेहता भी, मिस मालती से प्रेरणा पाकर अपने आपको विवाह के बन्धन में नहीं बांधते और जीवन भर अविवाहित रह कर परसेवा और परोपकार के आदर्श-पथ पर चलने को तैयार हो जाते हैं।

चरित्र विकास में समानता—उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द के आदर्श पात्रों का चरित्र-विकास प्रायः एक-जैसा ही हुआ है। उनके आदर्श-पात्र अपने आदर्श के सामने भौतिक सुख-ऐश्वर्य और भौतिक बन्धनों को कुछ नहीं समझते। जब कभी भी ऐश्वर्य तथा आदर्श में टक्कर होती है तो वे सदैव आदर्श का पक्ष ग्रहण कर ऐश्वर्य को ठोकर मार देते हैं। प्रेमचन्द के आदर्श-पात्रों का चिन्तन सेवा, परोपकार, त्याग और प्रेम के उच्चादर्शों से अनुप्राणित है; इसलिये वे अपना सम्पूर्ण जीवन और समस्त आचरण इन्हीं आदर्शों के अनुसार ढाल लेते हैं।

प्रेमचन्द ने अपने आदर्श पात्रों को सब बाधाएं पार करते हुए अंत में सफलता प्राप्त करते दिखाया है। इसका मुख्य कारण यही है कि प्रेमचन्द को नैतिक आदर्शों की विजय अभीष्ट थी, इसलिए उन्होंने कहीं भी इनकी पराजय नहीं दिखायी। 'प्रतिज्ञा' के अमृतराय, 'सेवासदन' के विट्ठल दास, 'प्रेमाश्रम' के प्रेम-

शंकर, 'रंगभूमि' के सूरदास और 'कर्मभूमि' के अमरकान्त को उन्होंने सब संकटों से पार कराकर अन्त में सफलता प्राप्त करते दिखाया है। प्रेमचंद की नैतिकता को आदर्श की हार सह्य नहीं है, इसलिये वे आदर्श-पात्रों की सदैव जीत दिखाते हैं।

सामान्य पात्रों का चरित्र-विकास—आदर्श-पात्रों का चरित्र विकास करते समय जहां प्रेमचद ने उनके जीवन में उत्कर्ष और सफलता दिखायी है, वहां सामान्य पात्रों के जीवन में भी उन्होंने उत्तरोत्तर उत्कर्ष दिखाया है। जैसा कि पहले कहा गया है, प्रेमचंद के दूसरी श्रेणी के पात्र सामान्य स्तर से ऊपर उठते-उठते अन्त में आदर्श-रूप हो जाते हैं। सामान्य पात्रों के चरित्र-विकास में उत्तरोत्तर उत्कर्ष उत्कर्ष दिखाने की प्रेमचंद की प्रवृत्ति वस्तुत: मानव की सद्वृत्तियों के प्रति उनके अटल विश्वास का ही परिणाम है। प्रेमचंद ने अपने किसी भी पात्र के जीवन में अपकर्ष नहीं दिखाया; यहां तक कि उन्होंने उपन्यासों के खलनायकों के जीवन में भी अंत में परिवर्तन लाकर उनका उत्कर्ष दिखाया है; उनकी दुष्ट प्रवृत्ति का लोहा भी अंत में आदर्श के पारस के सम्पर्क में आकर सोना बन जाता है।

चरित्र-विकास की अवस्थात्रयी—प्रेमचंद के सामान्य पात्रों का चरित्र-विकास एक निश्चित क्रम के अनुसार हुआ है। अपनी त्रुटि का ज्ञान होने पर उनके सामान्य पात्रों के हृदय में ग्लानि उत्पन्न होती है। आत्मग्लानि के फलस्वरूप वे अपने दोष के परिमार्जन की ओर प्रवृत्त होते हैं और तदनन्तर उनके जीवन में उत्कर्ष का सचार होता है। इस प्रकार आत्मग्लानि, परिमार्जन और उत्कर्ष—ये हैं प्रेमचन्द के सामान्य पात्रों के चरित्र-विकास की प्रमुख अवस्थायें। इन अवस्थात्रयी को पार करने पर उनके सामान्य पात्र आदर्श के उच्चस्तर पर जा पहुंचते हैं।

उदाहरण के लिये 'सेवासदन' के पात्रों को ही पहले लें। बिट्ठलदास से बातचीत करने के बाद सुमन को अपने पतनोन्मुख जीवन से ग्लानि हो जाती है और अपने पापमय जीवन के परिमार्जन के लिए वह दालमन्डी की चमक-दमक छोड़कर, विधवाश्रम का कठिन एवं त्यागमय जीवन सहर्ष अपना लेती है। गजानन्द से प्रेरणा पाकर उसका जीवन और भी ऊंचा उठ जाता है। वह सेवा का व्रत लेती है और अपने जैसी पतिताओं के उद्धार के लिये 'सेवासदन' के संचालन में अपना समस्त जीवन लगा देती है।

सुमन के अतिरिक्त, गजाधर के सामान्य जीवन में भी उत्कर्ष आता है। सुमन को घर से निकालने पर उसे तीव्र आत्मग्लानि होती है और वह अपने दुष्कृत्य के परिमार्जन के लिये साधु बनकर असहाय बालिकाओं का जीवन सुधारने का संकल्प कर लेता है। उसके परोपकारी एवं आदर्शमय जीवन से प्रेरणा पाकर सुमन भी उसके पथ की अनुगामिनी बन जाती है।

'सेवासदन' के पद्मसिंह शर्मा के जीवन में प्रेमचन्द ने, इसी क्रम का पालन करते हुए, आदर्शवादिता का संचार किया है। होली के दिन भोली का नाच करवाने पर पद्मसिंह को बहुत ग्लानि होती है। सुमन के पतन के लिये अपने-आपको दोषी समझकर वह इस दोष के परिमार्जन-हेतु सुमन की आर्थिक सहायता का वचन देते हैं और उसके उद्धार का बीड़ा उठा लेते हैं। इस संकल्प से उनमें अद्भुत साहस का संचार हो जाता है और वे न केवल सुमन का उद्धार करते हैं, बल्कि उनकी बहन शान्ता का जीवन भी नष्ट होने से बचा लेते हैं। यह संकल्प उनके जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही नहीं लाता, अपितु, उनका सेवा का कार्य-क्षेत्र विस्तृत हो जाता है और वे सुमन जैसी अनेक पतिताओं का जीवन सुधारने का निमित्त बन जाते हैं।

'प्रेमाश्रम' में ज्वालासिंह, इर्फान अली, डा० प्रियनाथ और सैयद ईजाद हुसैन के चरित्र का विकास उसी क्रम से किया गया है। सरकारी नौकरी में आत्म-हनन अनिवार्य समझकर ज्वालासिंह को आत्म-ग्लानि होती है और इससे मुक्ति पाने के लिये वे नौकरी का जंजाल छोड़कर प्रेमशंकर के साथ 'प्रेमाश्रम' में रहने लगते हैं। वहां सरल जीवन व्यतीत करते हुए वे नए प्रकार के करघों पर कपड़ा बुनने और हाजीपुर के कई युवकों को कपड़ा बुनना सिखाने के काम में लग जाते हैं। धन के लोभ में अपनी आत्मा का पतन अनुभव कर इर्फान अली और डा० प्रियनाथ दोनों, ही अपने जीवन को सत्कार्य में लगाने का संकल्प करते हैं और प्रेमाश्रम में आकर रहने लगते हैं। अब इर्फान अली मुवक्किलों से उतना ही परिश्रमिक लेते है, जितना उनके गुजारे के लिए पर्याप्त हो और वे ही मुकद्दमे लेते है जो सच्चे हों। डा० प्रियनाथ भी सरकारी नौकरी छोड़कर गरीबों की सेवा में दत्तचित्त हो जाते हैं।

प्रेमचंद ने 'कायाकल्प' में उपर्युक्त क्रमानुसार रानी देवप्रिया के चरित्र का विकास किया है। भोग-विलास में लिप्त रानी देवप्रिया को अपने जीवन से घृणा हो जाती है और भौतिक ऐश्वर्य को तिलांजलि दे वह राजकुमार महेन्द्र के साथ तपश्चर्या करने चली जाती है। वासना-रहित प्रेम के आदर्श को प्राप्त करने के लिए वह तपः पूत जीवन बिताती है। आदर्श-प्राप्ति के मार्ग में उसकी काम-लिप्सा के कारण यद्यपि बाधा उत्पन्न हो जाती है, तो भी जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष लाने के लिये वह सतत् प्रयत्नशील है।

'गबन' में रमानाथ और जालपा जैसे सामान्य पात्रों में चरित्र का विकास उन्होंने इसी रीति से किया है। आभूषण-प्रेम और विलास-प्रियता से विरक्त होकर जालपा अपने पति रमानाथ की खोज में कलकत्ता जाती है और उसे कुमार्ग से बचाने के लिए अदालत में बयान बदलने को मजबूर कर देती है। कहां तो गहने

के लिए रूठना कहां रमानाथ द्वारा गहने भेंट करने पर उसे डांट बताना—जालपा के स्वभाव में यह अमूल परिवर्तन दिखाकर प्रेमचन्द ने उसके जीवन में उत्कर्ष का संचार बहुत खूबी से किया है। रमानाथ के मन में भी अपने पतन से ग्लानि उत्पन्न होती है और वह अदालत में जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। इतना ही नहीं, प्रेमचन्द ने जोहरा नामक वेश्या के जीवन में परिवर्तन दिखाया है। वह अपने घृणित जीवन को तिलांजलि देकर रमानाथ और जालपा के साथ सरल एवं त्यागमय जीवन व्यतीत करने के लिये शहर से गांव चली जाती है और बाढ़ में बहते हुए व्यक्ति की जान बचाने के लिए स्वयं अपनी जान गंवा देती है।

प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में समरकान्त, सुखदा, सलीम, मुन्नी, गूदड़ और कालेखां आदि लगभग आधे दर्जन पात्रों के चरित्र में उत्तरोत्तर उत्कर्ष लाते हुए उन्हें भी आदश जीवन की ओर बढ़ते हुए दिखाया है। अमरकान्त के त्यागमय आदर्श जीवन से प्रभावित होकर इन सभी पात्रों में अपना जीवन अधिकाधिक उन्नत करने की इच्छा पैदा होती है। इस इच्छा से अभिभूत होकर समरकान्त अपनी सम्पत्ति और सम्मान के मोह को, सुखदा विलासप्रियता को, सलीम अफसरी की मौज और हुकूमत के नशे को, चौ० गूदड़ शराब को और कालेखां चोरी की लत को छोड़कर अमरकान्त के समान आदर्शमार्ग ग्रहण करते हुये अपने जीवन को अधिकाधिक उन्नत बनाने की ओर प्रवृत्त होते हैं।

प्रेमचन्द ने सामान्य पात्रों के चरित्र-विकास की इसी पद्धति का परिचय 'गोदान' में मिस मालती और मि० खन्ना के चरित्र-चित्रण में दिया है। मि० मेहता के आदर्शमय जीवन से प्रेरणा पाकर मिस मालती, तितली का रूप छोड़कर सेविका का रूप धारण कर लेती है। जीवन की वाह्य चमक-दमक और दिखावटीपन की केंचुली उतारकर वह भी पर-सेवापरायण बन जाती है; यहां तक कि वह डा० मेहता के जीवन को निश्चित दिशा में मोड़ने में समर्थ हो जाती है। 'गोदान' के मिस्टर खन्ना भी जीवन के अनेक उतार-चढ़ावों से गुजरते हुये अंत में सुधर जाते हैं।

खल-पात्रों का चरित्र-विकास—यह तो हो गयी सामान्य पात्रों के चरित्र-विकास की पद्धति, प्रेमचन्द ने खल-पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए उनके जीवन के अंत में उत्कर्ष दिखाया है। 'प्रतिज्ञा' का कमला प्रसाद अपनी दुष्टता से वाज नहीं आता। पूर्णा को पतन की ओर ले जाने और अमृतराय के मार्ग में बाधाएं उपस्थित करने के लिये सदैव प्रयत्नशील है। किन्तु अन्त में पूर्णा उसे ऐसा पाठ पढ़ाती है कि वह सुधर जाता है और सुमित्रा को लेकर शान्त जीवन बिताने के लिये गांव चला जाता है।

'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर और बिसेसर साह जैसे दुष्ट पात्रों के जीवन में भी

प्रेमचन्द ने अन्त में उत्कर्ष दिखाया है। ज्ञानशंकर के स्वभाव के बारे में प्रेमचंद के शब्द हैं—'सौभाग्य से उनका प्रासाद निर्मित हो चुका था, अब वह दूसरों को आश्रय देने पर तैयार थे, उनकी धान्यशाला परिपूर्ण हो चुकी थी, अब उन्हें भिक्षुओं से घृणा न थी। सम्पत्तिशाली होकर वह उदार, दयालु और कर्त्तव्यपरायण हो गये थे।'[1] बिसेसर साह ने अपने स्वार्थ के लिये झूठी शहादत देकर गांव के लोगों को कालेपानी की सजा दिलवायी थी, पर वह स्वार्थ-पूर्ति उसे मँहगी पड़ी। पश्चाताप की आग में निरन्तर झुलसते रहना उसके लिए असह्य हो गया, इसलिए अभियुक्तों के मुकद्दमे के लिए उसने अपनी ओर से रुपये दिए और अदालत में जाकर सच्चा बयान भी दे दिया।

'गोदान' में हीरा के जीवन के अन्त में भी प्रेमचंद ने ऐसा ही उत्कर्ष दिखाया है। होरी की गाय को वह जहर देकर मार डालता है और सजा से बचने के लिए भटकता रहता है। अन्त में वह होरी के पास आकर अपने अपराधों की क्षमा-याचना करते हुये कहता हैं—'तुमसे जीते-जी उरिन न हूंगा, दादा।'[2]

आदर्शोन्मुखी चरित्र-विकास—उपर्युक्त उदाहरणों से प्रेमचन्द के पात्रों के चरित्र-विकास की आदर्शोन्मुखी प्रवृत्ति का सहज ही बोध हो जाता है। उनके आदर्श पात्रों के अतिरिक्त सामान्य और दुष्ट पात्र भी आत्मग्लानि, परिमार्जन और उत्कर्ष की अवस्थात्रयी को पार करते हुए अन्त में आदर्शाचरण करने लगते हैं। कहना न होगा कि पात्रों के आदर्शोन्मुख चरित्र-विकास में प्रेमचन्द की लक्ष्यवादिता का बहुत बड़ा हाथ है। उन्हें मानव की सद्वृत्तियों में अटल विश्वास है, इसलिये दुष्ट पात्रों के कलुषित जीवन का सुधार किये बिना उन्हें चैन नहीं। और जब वे सुधार पर उतर आते हैं तो उनकी नैतिकता को खुलकर खेलने का मौका मिल जाता है। यही कारण है कि पात्रों का उत्कर्ष दिखाने के लिए वे धीरे-धीरे उनके जीवन को सेवा, प्रेम, त्याग और परोपकार जैसे नैतिक आदर्शों के अनुरूप ढालते जाते हैं।

भाषा

कथानक और चरित्र-चित्रण पर प्रेमचन्द की उद्देश्यवादिता का जो प्रभाव पड़ा है, उसका ऊपर विवेचन किया जा चुका है। किन्तु जब हम प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा पर विचार करते हैं तो पता चलता है, कि यह भी उनकी उद्देश्यवादिता, और फलस्वरूप आदर्शवादिता, के प्रभाव से अछूती नहीं रही है। भाषा तो उपन्यासकार के भावों और विचारों अर्थात् उसके निजत्व की अभिव्यक्ति का माध्यम है, इसलिये इस पर उपन्यासकार के व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ना अनि-

---

१. प्रेमचन्द, 'गोदान', पृष्ठ-३६१ २. वही।

वार्य है । इसे दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि उपन्यासकार के भाव-जगत और विचारजगत को शब्दबद्ध करने के प्रयास में भाषा स्वयं एक निश्चित सांचे में ढल जाती है ।

सोद्देश्य भाषा--किन्तु जब भाषा के प्रयोग के बारे में उपन्यासकार की कुछ निश्चित धारणाएं हों, तब उसकी भाषा सोद्देश्य हो जाती है और उस पर उपन्यासकार के चिन्तन का भरपूर प्रभाव पड़ना अनिवार्य हो जाता है । प्रेमचन्द के उपन्यासों की भाषा के बारे में यही बात है । उन्होंने भाषा से अपने भावों और विचारों का काम लेने के अतिरिक्त इसे ऐसा रूप देना चाहा है जो राष्ट्रभाषा के रूप में सारे देश को स्वीकार्य हो । श्रीमती शिवरानी देवी ने प्रेमचन्द के भाषा सम्बन्धी विचारों को प्रकट करते हुये उन्हीं के शब्द लिये है—'मैं महात्मा गांधी को बिना देखे ही उनका चेला हो चुका था।.... महात्मा गांधी हिन्दू-मुसलमानों की एकता चाहते हैं, तो भी मैं हिन्दी और उर्दू को मिलाकर हिन्दुस्तानी बनाना चाहता हूं। मैं जो कुछ लिखता हूं वह हिन्दुस्तानी में लिखता हू, जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनों मानें, जिसको आम जनता समझे वह है हिन्दुस्तानी, और मेरा ख्याल है कि राष्ट्र-भाषा जब कभी बनेगी, तो वह हिन्दी-उर्दू को मिलाकर ।'[1]

अत: प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जिस भाषा का व्यवहार किया है, वह उनके विचारों के साथ पूरी तरह मेल खाती है । उन्होंने हिंदी और उर्दू, दोनों की भाषागत समृद्धि को लेकर अपने उपन्यासों की भाषा का निर्माण किया है । इसमें हिन्दी और उर्दू भाषा के शब्दों और मुहावरो का खुलकर प्रयोग किया गया है । भाव और विचार की मुक्त अभिव्यंजना में उन्होंने भाषा की शुद्धता का आग्रह नहीं किया इसलिये भी उन्होंने अपने उपन्यासों में जिस भाषा को प्रोत्साहन दिया है वह उर्दू और हिंदी, दोनों के शब्द-भण्डार को लेकर पनपी है ।

इसके अतिरिक्त, सोद्देश्य साहित्य-रचना के समर्थक, प्रेमचन्द चाहते थे कि वे अपने उपन्यासों के माध्यम से अधिकाधिक लोगों तक पहुंच सकें और उन्हें अपना संदेश सुना सकें । इसलिए भी उन्होंने उपन्यास-रचना में जिस भाषा का प्रयोग किया वह साधारण बोल-चाल की भाषा हैं जो कि थोड़ा-बहुत पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी अच्छी तरह समझ सकता है । अपने उपन्यासों में निहित संदेश को व्यापक रूप देने के लिये उन्होंने हिंदी और उर्दू को मिलाकर जिस हिन्दुस्तानी भाषा का प्रचलन किया, वह उनकी सोद्देश्य साधना में पूरी तरह सफल हुई है ।

नीति-वाक्यों की भरमार—भाषा के इस सामान्य स्वरूप-निर्धारण के अतिरिक्त, प्रेमचन्द की उपदेशात्मक वृत्ति को भी भाषा के क्षेत्र में खुलकर खेलने का अवसर मिला है। वस्तुत:, उनके उपन्यासों में नीति-वाक्यों और उपदेशों की

---

१. श्रीमती शिवरानी देवी, 'प्रेमचन्द : घर में' पृष्ठ १२८-१२९ ।

बहुलता के मूल में यही मनोवृत्ति काम कर रही है। प्रेमचंद के आचरण सम्बन्धी अनेक नीति-वाक्य अन्ततः जीवन के गहन अध्ययन एवं उनकी उपदेशात्मकता के संयोग का ही परिणाम हैं। तभी तो उनके नीति-वाक्यों में मौलिकता का आभास मिलता है। इन नीति वाक्यों का यदि विशद् उल्लेख किया जाये तो पूरा ग्रन्थ ही तैयार हो सकता है, अतः विस्तारभय से प्रेमचंद के कुछ-एक नीति-वाक्यों का ही यहां उल्लेख किया जायेगा।

'सेवासदन' में पातिव्रत्य की महिमा का वर्णन करते हुये उन्होंने कहा है—'स्त्रियों का सौन्दर्य उनका पति-प्रेम है। इसके बिना उनकी सुन्दरता इन्द्रायण का फल है, विषमय और दग्ध करने वाला।'[1] दुराचरण के बारे में उनका कहना है—'विषय-वासना, नीति ज्ञान और संकोच किसी के रोके नहीं रुकती। नशे में हम सब बेसुध हो जाते हैं।'[2] 'प्रेमाश्रम' में सद्जीवन की व्याख्या करते हुये वे कहते हैं—'इच्छाओं को जीवन का आधार बनाना बालू की दीवार बनाना है।'[3] और केवल सदिच्छा रखने से काम नहीं चलता, इसलिये, उन्होंने कहा है—जिस भांति प्रकाश की रश्मियां पानी में वक्रगामी हो जाती हैं, इसी भांति सदिच्छा भी बहुधा मानवी दुर्बलताओं के सम्पर्क से विषम हो जाती है। सत्य और न्याय पैरों के नीचे आ जाता है, लोभ और स्वार्थ की विजय हो जाती है।'[4] 'रंगभूमि' में लोक प्रसिद्धि के बारे में उनका कथन है—'प्रसिद्धि श्वेत-वस्त्र के सदृश है, जिस पर एक धब्बा भी नहीं छिप सकता।'[5] अथवा 'कृतज्ञता' हमसे वह सब कुछ करा लेती है जो नियम की दृष्टि में त्याज्य है, यह वही चक्की है जो हमारे सिद्धांतों और नियमों को पीस डालती है। आदमी जितना ही निस्पृह होता है, उपकार का बोझ उसे उतना ही असह्य होता है।'[6]

'कायाकल्प' में उन्होंने कठिनाइयों की परोक्ष कृपा का गुणगान किया है—'आत्मोन्नति के लिये कठिनाइयों से बढ़ कर कोई विद्यालय नहीं, कठिनाइयों में ही ईश्वर के दर्शन होते हैं और हमारी उच्चतम शक्तियां विकास पाती हैं।' अथवा 'धन में धर्म है, दया है, उदारता है, लेकिन इसके साथ गर्व भी है जो इन गुणों को मटियामेट कर देता है।' नारी के लिये पुरुष-सेवा से बढ़ कर और कोई शृंगार, कोई विलास, कोई भोग नहीं है।' 'गबन' में उन्होंने चित्त-वृत्तियों के बारे में कहा है—'द्वेष तर्क और प्रमाण नहीं सुनता।' 'विजय बहिर्मुखी होती है, पराजय अंतर्मुखी।' 'कर्मभूमि' में 'आदमी वह है जो जीवन का एक लक्ष्य बना ले और जिंदगी भर उसके पीछे पड़ा रहे। कभी कर्तव्य से मुंह न मोड़े।'

---

१. 'सेवासदन' २. वही,
३. 'प्रेमाश्रम' ४. वही,
५. 'रंगभूमि' ६. वही,

प्रेमचंद के उपन्यासों में नीति-वाक्यों के प्रयोग के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक बात इनमें प्रमुख रूप से देखने में आयेगी कि उनके नीति-वाक्य जीवन के गहन अध्ययन पर आधारित हैं। उपन्यास को वे जीवन की आलोचना मान कर चले हैं, इसलिये उनके नीति-वाक्य मूलतः उपदेशवृत्ति की उपज हैं।

व्यंग्यपूर्ण भाषा—सामाजिक कुरीति और अन्याय के प्रति प्रेमचंद के हृदय में संचित क्रोध जहां उनकी व्यंग्य-पूर्ण शैली में फूट पड़ा है. वहाँ सुधारवादी प्रवृत्ति का सहारा पाकर तो उनकी व्यंग्यात्मक शैली कहीं २ बहुत ही पैनी हो गई है। कहीं धार्मिकता और कुलीनता के ढोंग पर और कहीं राष्ट्रीय और सामाजिक आंदोलन की पोल पर उन्होंने स्थान-स्थान पर जो आघात किये हैं, उनकी मार्मिकता बस देखते ही बनती है। 'सेवासदन' में धार्मिकता के ढोंग पर प्रहार करते हुये गजाधर पांडे के शब्द हैं—'लम्बी-लम्बी जटायें, लम्बे-लम्बे तिलक छापे और लम्बी-लम्बी दाढ़ियां देख कर लोग धोखे में आ जाते हैं, पर वह सबके सब महापाखण्डी, धर्म के उज्ज्वल नाम को कलंकित करने वाले, धर्म के नाम पर टका कमाने वाले, भोग-विलास करने वाले पापी हैं। भोली का आदर-सम्मान उनके यहां न होगा तो किसके यहां होगा ?' वेश्यावृत्ति को प्रोत्साहन देने वाले समाज पर व्यंग्य कसते हुये वे कहते हैं—'प्राचीन ऋषियों ने इन्द्रियों का दमन करने के दो साधन बताये हैं—एक राग दूसरा वैराग्य। पहला साधन अत्यन्त कठिन और दुस्साध्य है। लेकिन हमारे नागरिक समाज ने अपने मुख्य स्थानों पर मीनाबाजार सजा कर इसी कठिन मार्ग को ग्रहण किया है; उसने गृहस्थी को कीचड़ का कमल बनाना चाहा है। 'रंग-भूमि' में जानसेवक के मुख से झूठ बोलने का समर्थन कराते हुये उन्होंने व्यंग्य कसा है, – 'आप सोच ही रहे होंगे, मैंने बातों में इतना रंग क्यों भरा, केवल घटना का यथार्थ वृत्तान्त क्यों न कह सुनाया, किन्तु सोचिये। बिना रंगभरे मुझे यह फल प्राप्त हो सकता ? संसार में किसी काम का अच्छा या बुरा होना उसकी सफलता पर निर्भर है।' प्रेमचंद की भाषा की धार सान पर चढ़ते-चढ़ते 'गोदान' में आकर इतनी पैनी हो गई है कि झूठे आडम्बर के टुकड़े-टुकड़े होने के बाद ही पता चलता है कि प्रेमचंद ने प्रहार किया है। खन्ना के बारे में लिखते हुये उनकी व्यंग्यपूर्ण शैली का उदाहरण है—'दो बार जेल हो आये थे। किसी से दबना न जानते थे। खद्दर पहनते थे और फ्रांस की शराब पीते थे।'

संयमपूर्ण भाषा—नैतिक मर्यादाओं का आदर करने के कारण प्रेमचंद की भाषा में संयम का जो पुट दिखाई देता है उसका उल्लेख करके यह प्रकरण समाप्त कर दिया जायेगा। प्रेमचद ने रोमांटिक प्रसंगों को अपने उपन्यासों में स्थान दिया जरूर है लेकिन इनका चित्रण उन्होंने अत्यन्त संयम से किया है। प्रेमचंद की सफ-लता का कारण यही है कि उन्होंने इन प्रसगों को अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है और इनमें अन्य लेखकों की तरह रस नहीं लिया। यही कारण है कि ऐसे

प्रसंगों का वर्णन करते समय वे भावधारा में बहे नहीं और न ही अपनी भाषा में किसी प्रकार की अश्लीलता आने दी। 'प्रतिज्ञा' में पूर्णा और कमलाप्रसाद के आलिंगन का वर्णन करते हुए उन्होंने पूर्णा के मनोभावों का आभास देकर इस प्रसंग को कामुक नहीं होने दिया—'कमला ने पूर्णा का हाथ पकड़ कर अपनी गर्दन में डाल लिया और दोनों प्रेमालिंगन में मग्न हो गए। पूर्णा जरा भी न झिझकी, अपने को छुड़ाने की जरा भी चेष्टा न की; किन्तु उसके मुख पर प्रफुल्लता का कोई चिन्ह न था, न अधरों पर मुस्कान की रेखा थी, न कपोलों पर गुलाब की झलक, न नथुनों में अनुराग की लालिमा। उसका मुख-कमल मुरझाया हुआ था, नीचे झुकी हुई आंखें आंसुओं से भरी हुई, सारी देह शिथिल-सी जान पड़ती थी।।'[1]

'सेवासदन' में वेश्याओं के कोठों और संकेत चितवनों के वर्णन में भी उन्होंने अद्भुत संयम से काम लिया है। 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर की कामचेष्टा और गायत्री के आत्मसमर्पण का प्रसग भी इसी प्रकार का है किन्तु विद्यावती के आकस्मिक आगमन से उन्होंने इस प्रसंग में अश्लीलता नहीं आने दी। 'रगभूमि' में विनय सिह द्वारा अपनी शारीरिक भूख का वर्णन उन्होंने बड़े ही नपे-तुले शब्दों में कराया है—'अगर मैं देवता होता, तो तुम्हारी प्रेमोपासना से सन्तुष्ट हो जाता; लेकिन मैं भी तो इच्छाओं का दास हूं, क्षुद्र मनुष्य हूं। मैंने जो कुछ पाया है, उससे सन्तुष्ट नहीं हूं। मैं और चाहता हूं, सब चाहता हूं। क्या अब भी तुम मेरा आशय नहीं समझीं? मैं पक्षी को अपनी मुंडेर पर बैठे देखकर सन्तुष्ट नहीं, उसे अपने पिंजड़े में जाते देखना चाहता हूं। क्या और भी स्पष्टता से कहूं? मैं सर्वभोगी हूं, केवल सुगन्ध से मेरी तृप्ति नहीं होती।'

प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में अमरकान्त और सकीना के प्रणय का भी उसी संयमित भाषा में वर्णन किया है। इस संयम का निर्वाह मि० मेहता और मालती के प्रेम-सम्बन्ध में भी दिखाया गया है, उनके शारीरिक मिलन को सर्वथा गौण स्थान देकर प्रेमचन्द ने उनके आत्मिक मिलन को ही प्रमुखता दी है और दो प्राणियों के परस्पर अनुराग को वासना के बाजारूपन से उठाकर आदर्श के उच्च-धरातल पर ला खड़ा किया है। मिस मालती के शब्द हैं—'मैंने यह तय किया है कि मित्र बनकर रहना स्त्री-पुरुष बनकर रहने से कहीं सुखकर है। तुम मुझे प्रेम करते हो, मुझ पर विश्वास करते हो, और मुझे भरोसा है कि आज अवसर पड़े, तो तुम मेरी प्राणों से रक्षा करोगे। तुम में मैंने अपना पथ-प्रदर्शक ही नहीं, अपना रक्षक भी पाया है। मैं भी तुम से प्रेम करती हूं, तुम पर विश्वास करती हूं और तुम्हारे लिये कोई ऐसा त्याग नहीं है, जो मैं न कर सकूं और परमात्मा से मेरी यही विनय है कि वह जीवनपर्यन्त मुझे इसी मार्ग पर दृढ़ रखें।'

---

१. प्रेमचद, 'प्रतिज्ञा', पृ०-११७

यद्यपि दाम्पत्य जीवन के तथा दो प्रेमियों के ऐसे कितने ही प्रणय-प्रसंगों का प्रेमचन्द ने वर्णन किया है, पर ये वर्णन बहुत ही सांकेतिक और संयमपूर्ण भाषा में हुये हैं। यही कारण है कि ऐसे स्थलों पर उनकी भाषा में उच्छृंखलता के बजाय गाम्भीर्य की मात्रा अधिक है। बल्कि, कहीं-कहीं आदर्श का पुट देकर तो उन्होंने इन प्रसंगों का वर्णन जिस मार्मिकता से कर दिखाया है उसके समक्ष सामान्य बाजारू वर्णन बहुत ही ओछे लगते हैं। इस प्रकार, प्रेमचन्द ने भाषा के प्रयोग में नैतिक मर्यादाओं का सदैव ध्यान रखा है और सर्वत्र परिष्कृत रुचि का परिचय दिया है।

जयशंकर प्रसाद

यथार्थवादी उपन्यास-रचना की परम्परा—हिन्दी उपन्यास के विकास का अध्ययन करने में जयशंकर प्रसाद के उपन्यासों का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा का विशेष ध्यान रखा, इसलिए, उन्होंने हिन्दी साहित्य में उपन्यास-रचना की एक नयी परम्परा का सूत्रपात किया। प्रेमचन्द के समाज की नैतिक विषमताओं में सुधार की चेपियां लगाने अथवा नैतिक आदर्शों के आलोक में समाज के भावी उत्कर्ष के मनोहारी चित्र खींचने के बजाय प्रसाद ने समाज के अंदर विद्यमान अनैतिक वीभत्सता, पाखंड और पापाचार का पर्दाफाश करना परमावश्यक समझा। उन्होंने समाज जीवन के सुहावने आवरण के नीचे छिपी गन्दगी के चित्रण को अधिक महत्व दिया क्योंकि इसके उद्घाटन से ही वे आदर्श और व्यवहार अथवा स्वप्न और यथार्थ के बीच विद्यमान गहरी खाई की ओर जनसाधारण का ध्यान सफलता पूर्वक खींच सकते थे। फलस्वरूप, जयशंकर प्रसाद ने अपने उपन्यासों में नैतिक आदर्शों की प्रष्ठिा के बजाय नैतिक ढोंग के उद्घाटन को, तथा समाज द्वारा पुनीत समझे जाने वाले आदर्शों की महिमागान के बजाय इनकी चीर-फाड़ को प्रमुखता देकर हिन्दी उपन्यास-रचना की नयी परम्परा की नींव डाली। यह नयी परम्परा यथार्थवादी उपन्यास-रचना की है।

हिन्दी उपन्यास रचना की नयी परम्परा की दागबेल डालने और समाज के नैतिक जीवन की नये दृष्टिकोण से व्याख्या करने के कारण प्रसाद के 'कंकाल' और 'तितली' का, हिन्दी उपन्यास के विकास का अध्ययन करने में, बहुत महत्व है। 'इरावती' उनका अपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है और इसमें भी उन्होंने भारतीय जीवन के अतीतकाल को लेकर तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों की रूपरेखा प्रस्तुत करनी चाही है। इन उपन्यासों में प्रसाद द्वारा प्रस्तुत मानव'जीवन की व्याख्या का यदि हम तनिक विश्लेषण करें तो हमें प्रसाद के जीवनादर्शों और नैतिक मान्यताओं का सहज ही पता चल जायेगा। काव्य और

नाट्य-रचना में प्रसाद ने अपने जीवनादर्शों और नैतिक चिन्तन को प्रकट अवश्य किया है, किन्तु अपने उपन्यासों में वे इनके बारे में अपेक्षाकृत अधिक खुलकर कह सके हैं। इसका कारण यह भी है कि काव्य और नाट्य-रचना में अपने नैतिक आदर्शों को प्रस्तुत करते समय उन्हें इतिहास की आड़ लेनी पड़ी। किन्तु 'कंकाल' और 'तितली' का आधार आधुनिक जीवन होने के कारण उन्हें इस आड़ की कोई जरूरत न थी। साथ ही आधुनिक जीवन से उदाहरण लेकर वे अपने नैतिक मान्यताओं एवं धारणाओं को इन उपन्यासों में अधिक स्पष्ट रूप से रख सके हैं।

जीवन दर्शन—प्रसाद ने काव्य, नाटक, निवन्ध, कहानी और उपन्यास जैसे विविध साहित्यिक क्षेत्रों में अपनी प्रतिभा का आभास दिया है। उनका साहित्य-सृजन व्यापक तो है ही, साथ ही, साहित्य जगत में नयी-नयी लहरें और नये-नये आन्दोलन उठने के बाद भी उनके द्वारा रचित साहित्य आज एक ठोस आधारशिला पर टिका हुआ है, उसका महत्व कम नहीं हुआ है। उनके साहित्य के इस स्थैर्य-गुण का यदि विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि प्रसाद के साहित्य-सृजन की नींव बहुत गहरी है। उन्होंने समाज-जीवन के सतही विश्लेषण के बजाय इसके बुनियादी विश्लेषण की ओर ध्यान दिया है। उनकी पैनी दृष्टि का ही परिणाम है कि वे किसी समस्या की जड़ तक तुरन्त पहुंच जाते हैं, इसकी टहनियों और पत्तियों में ही उलझे नहीं रह जाते। उन्होंने अपने साहित्य में मानव-जीवन की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है, इसी कारण उनके साहित्य में गहराई है, स्थैर्य है, और ठोसपन है।

साहित्य और दर्शन का संयोग—प्रसाद के साहित्य सम्बन्धी उपर्युक्त गुण के कारण यह स्वीकार करना पड़ता है कि वे कोरे साहित्यिक न थे, तत्त्व-चिन्तक भी थे। बल्कि, उनकी रचनाओं की साहित्यिक गहराई को देखकर यह कहना पड़ता है कि प्रसाद की साहित्यिक प्रतिभा के पीछे उनका तत्व-चिन्तक अथवा दार्शनिक रूप ही प्रधान है। अतएव, यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है कि प्रसाद दार्शनिक पहले थे, साहित्यिक बाद में; उनका दार्शनिक पक्ष, साहित्यिक पक्ष पर पूरी तरह छाया हुआ है। प्रसाद के साहित्य में दर्शन और साहित्य का अनुपम संयोग है, इसलिये दार्शनिक चिन्तन की गहनता और साहित्यिक लालित्य के असाधारण संयोग से क्या काव्य और क्या नाटक, क्या निवन्ध और क्या उपन्यास, सभी में स्थायी सौन्दर्य का संचार हो गया है।

प्रसाद के उपन्यासों के दार्शनिक पक्ष पर जब हम विचार करते है तो पता चलता है कि उनका दार्शनिक चिन्तन, भारत के पुरातन दार्शनिक चिन्तन को आत्मसात किये हुए है। उनका चिन्तन भारत के परम्परागत चिन्तन से पुष्ट हुआ है, इसलिए प्रसाद के जीवन-दर्शन में भारतीय आदर्शों और मान्यताओं को शीर्ष-स्थान प्राप्त है, प्रसाद भारतीय संस्कृति के पुजारी थे, इसलिए उनका इस संस्कृति के

आदर्शों के प्रति नतमस्तक होना स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम अतीत क प्रति उनके हृदय में तीव्र आकर्षण था। इस आकर्षण के कारण उन्होंने इस भव्य संस्कृति के विकास का चित्रण करते हुए जहां एक ओर गुप्त, मौर्य, बौद्धकाल के सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक आंदोलनों के आधार पर ऐतिहासिक नाटकों की रचना की, वहां वे इस संस्कृति के उद्गम का चित्र खींचने के लिए 'कामायनी' की रचना करते समय वैदिक तथा प्रागैतिहासिक काल तक पहुंच गये। भारतीय संस्कृति के प्रति उनके तीव्र आकर्षण का ही यह परिणाम था कि वर्तमान भारतीय जीवन को 'कंकाल' और 'तितली' में प्रस्तुत करने के बाद 'इरावती' में वे पुन. इस संस्कृति के स्वर्णयुग की ओर लौट गये।

अध्यात्मवाद—भारतीय संस्कृति के प्रति इस अपार श्रद्धा एवं प्रगाढ़ प्रेम के कारण प्रसाद के जीवनदर्शन ने भारतीय जीवनादर्शों को सहज ही अपना लिया है। इस पुरातन संस्कृति में भौतिकता की अपेक्षा अध्यात्मिकता का स्वर प्रधान है, इसलिए प्रसाद के जीवन-दर्शन मे भी आध्यात्मिकता का प्राधान्य है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह संसार से विरक्त थे और भौतिक उन्नति के प्रति उदासीन थे। उन्होंने तो, वल्कि, निवृत्ति-प्रधान जीवन को अव्यवहार्य मानकर कर्मरत जीवन की महिमा गायी है। जीवन की कठिनाइयों से भागना और निवृत्ति-प्रधान जीवन में सुख मानना, उन्होंने कदापि श्रेष्ठ नहीं समझा। जीवन में निवृत्ति और प्रवृत्ति के सामंजस्य की स्थापना का ही गुणागान उन्होने किया है, अतः, उनके जीवन-दर्शन में किसी प्रकार की एकान्तिकता को स्थान नहीं है।

आनन्दवाद—जीवन में आध्यात्मिकता को प्रमुखता देने के साथ-साथ प्रसाद ने जीवन के प्रति शुष्क अथवा नीरस दृष्टिकोण न रख कर उल्लासमय दृष्टिकोण अपनाया। भारतीय संस्कृति ने जीवन को ईश्वर की अनुपम देन समझकर इसे सदैव आशा एवं उल्लासपूर्ण दृष्टि से देखा है। इसी दृष्टिकोण के अनुरूप प्रसाद ने भी जीवन में आनन्द को लक्ष्य माना है। किन्तु उनके आनन्द की कल्पना सांसारिक भोग-विलास से उत्पन्न निम्नतर के भौतिक आनन्द तक सीमित नहीं। उन्होंने तो सांसारिक सुखोपभोग से ऊपर उठकर आत्मिक आनन्द की कल्पना की, जो कि मनुष्य के मन और बुद्धि की समरसता से उत्पन्न होता है। उन्होंने मानव-मन की आनन्ददायिनी, सहज प्रवृत्तियों को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देखा, वल्कि इन्हें जीवन की स्वाभाविक क्रीड़ा मानकर, इन पर बुद्धि का यथोचित अंकुश स्वीकार किया है।

मानववाद—प्रसाद के चिन्तन की नींव भारतीय आत्मवाद पर रखी हुई है, इसलिए एक ओर जहां उन्होंने सांसारिक भोग-विलास के बजाय आत्मिक आनन्द को श्रेष्ठता दी, वहां दूसरी ओर उन्होने मानव-मात्र में एक ही आत्मा की झलक

देखी है। भारतीय संस्कृति ने मानव-मात्र में ही नहीं, अपितु, जीव मात्र में आत्मिक समता स्वीकार करते हुए सबको समान माना है। इस आत्मिक समता को आज की दार्शनिक परिभाषा में मानववाद की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार, आत्मिक समता के आदर्श को अपनाने के कारण प्रसाद के चिन्तन में मानववाद को सहज ही अपना लिया गया है।

प्रसाद के जीवन-दर्शन पर संक्षिप्त विचार करने के उपरान्त यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति के आदर्शों के अनुरूप प्रसाद ने भी अपने चिन्तन में आध्यात्मिक पक्ष की श्रेष्ठता, मानव की सहज प्रवृत्तियों के विकास और मानव की समता के आदर्शों को शीर्षस्थान दिया है। इन आदर्शों के आलोक में उन्होंने आधुनिक भारतीय जीवन की व्याख्या करते हुये अपने उपन्यासों की रचना की है, इसलिए, उनके उपन्यासों पर इन आदर्शों की अमिट छाप पड़ी हुई है। उनकी रचनाओं पर उपर्युक्त आदर्शों के प्रभाव को समझने के लिए, इसके आगे, उनके उपन्यासों के विविध तत्वों का क्रमिक विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

उद्देश्य-पक्ष

दुख और अभाव का चित्रण—नाट्यरचना के क्षेत्र में प्रसाद के लिए मुख्य आकर्षण था भारतीय संस्कृति के स्वर्णिम अतीत का उद्घाटन, किन्तु उपन्यास-रचना के क्षेत्र में आने पर उन्होने अतीत की अपेक्षा वर्तमान के उद्घाटन पर ही अधिक बल दिया। वर्तमान के उद्घाटन के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था की जर्जर स्थिति, प्रचलित नैतिक मर्यादाओं के खोखलेपन और जनसाधारण के दुख एवं सन्ताप का यथार्थ चित्रण करते-करते प्रसाद, यथार्थवादी उपन्यासों का सृजन कर बैठे। उनके नाटकों में भारतीय संस्कृति के प्रति गर्व तथा समाज के नैतिक आदर्शों के प्रति श्रद्धा की जो भावना निहित है, उसका आभास उनके उपन्यासों में न मिलने का मुख्य कारण यही है कि उपन्यास के माध्यम से वे जनसाधारण के अभाव, वेदना तथा उसकी वास्तविक स्थिति का चित्रण करना चाहते थे। साहित्य-रचना के क्षेत्र में इस प्रवृत्ति-विशेष को यथार्थवाद की संज्ञा दी गई है। प्रसाद ने साहित्य की यथार्थवादी प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए कहा भी है—'यथार्थवाद की विशेषताओं में प्रधान है—लघुता की ओर साहित्यिक दृष्टिपात। उसमें स्वभावतः दुःख की प्रधानता और वेदना की अनुभूति आवश्यक है। लघुता से मेरा तात्पर्य है साहित्य के माने हुए सिद्धान्त के अनुसार महत्ता के काल्पनिक चित्रण के अतिरिक्त व्यक्तिगत जीवन के दुःख और अभावों का वास्तविक उल्लेख।'[1] समाज-जीवन के यथार्थवादी चित्रण के लिये प्रसाद ने नाटक की अपेक्षा उपन्यास को अपना माध्यम बनाया। इस कारण उनके 'कंकाल' और 'तितली' इन दोनों सामाजिक उपन्यासों

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ-१८।

का कलेवर इस यथार्थवादी दृष्टिकोण के अनुरूप ही गढ़ा गया है। जनसाधारण के दुःख और क्लेश, अभाव और पतन के चित्रण को प्राधान्य देने के कारण उन्होंने अपने उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष की ओर विशेष ध्यान दिया है। अतः प्रसाद की रचनाओं के उद्देश्य-पक्ष के विश्लेषण के लिये यहां पर इनके नामकरण, विषय-चयन एवं निष्कर्ष निर्धारण की दृष्टि से क्रमानुसार विवेचन किया गया है।

उद्देश्य के अनुरूप नामकरण—प्रसाद ने अपने उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष के अनुरूप इनके नामकरण का प्रयास किया है। 'इरावती' नामक ऐतिहासिक उपन्यास को छोड़कर, जिसका नामकरण उपन्यास की नायिका के नाम पर ही किया गया है, उनके शेष दो उपन्यासों में से 'कंकाल' का नामकरण विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। 'कंकाल' अर्थात् 'हड्डियों के ढांचे' से जर्जरावस्था अथवा ध्वंसावशेष की ध्वनि निकलती है, और इस उपन्यास में प्रसाद ने मुख्यतः सामाजिक व्यवस्था एवं प्रचलित नैतिकता के खोखलेपन का चित्रण कर 'कंकाल' नाम चरितार्थ कर दिया है। उपन्यास में कुलीनता और धार्मिकता के खोखले आदर्शों की ओट में छिपे अनाचार और पाखण्ड का चित्रण ही उनका साध्य है, अतः इन आदर्शों को मानने वाले समाज के निर्जीव ढांचे का भाव अभिव्यक्त करने के लिये उन्होंने इसका नामकरण ठीक ही किया है। 'तितली' में भी नामकरण द्वारा उपन्यास के उद्देश्य को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति का हम कुछ-कुछ आभास पा सकते हैं। 'तितली' शब्द से एक सहज उल्लासमय एवं उत्साहपूर्ण जीवन की ध्वनि निकलती है। निपट, निस्सहाय बंजो जब निराशा एवं बाधाओं में से हँसते-हँसते अपना मार्ग निकालती रहती है और तनिक भी हतोत्साह नहीं होती, तब प्रसाद द्वारा इस उपन्यास का नामकरण सार्थक प्रतीत होने लगता है। सामाजिक उपन्यासों के नामकरण द्वारा उपन्यास-विशेष के उद्देश्य का बोध कराने की प्रवृत्ति स्वाभाविक-सी है, क्योंकि उपन्यासकार जहां उपन्यास के कलेवर का गढ़न उपन्यास के उद्देश्य-पक्ष के अनुरूप करता है वहां वह नामकरण द्वारा उपन्यास के उद्देश्य की घोषणा का लोभ-संवरण नहीं कर पाता।

विषय चयन—यथार्थवादी साहित्य की रूपरेखा का विवेचन करते हुये प्रसाद ने कहा है—'वेदना से प्रेरित होकर जनसाधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुंचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है।'[1] प्रसाद के मतानुसार जनसाधारण की वास्तविक स्थिति तो समाज द्वारा उसके विकास के समस्त मार्ग अवरुद्ध करने की है। समाज के नैतिक नियम एवं बन्धन व्यक्ति के जीवन का रस सोखने का काम कर रहे हैं, इसलिए इन नियमों और बन्धनों से उत्पन्न व्यक्ति की विवशता के चित्रण को प्रसाद ने 'कंकाल' और 'तितली' का विषय बनाया है।

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृष्ठ-१४१।

सामाजिक विकृतियों और उसकी ह्रासशील परम्पराओं के चित्रण के लक्ष्य को सामने रखने के कारण प्रसाद ने व्यक्ति के अभाव, पतन और वेदना को इन उपन्यासों के विषय के रूप में चुना है।

उदाहरण के लिये, 'कंकाल' में उन्होंने समाज के प्रचलित विश्वास, उसकी कार्यप्रणाली, उसके अनर्थकारी बन्धन एवं उसकी सारहीन नैतिकता की पोल खोलकर व्यक्ति की विवशता के चित्रण को प्रमुखता दी है। निरंजनदेव और मि० बाथम के झूठे धार्मिक आवरण के पीछे छिपी कामुकता और साम्प्रदायिकता की निकृष्ट-भावना, पाप एवं पुण्य सम्बन्धी प्रचलित नैतिक विश्वासों की निस्सारता, तथा श्रीचन्द्र, किशोरी और मंगलदेव की कुलीनता के झूठे गर्व की पोल दिखाने के लिए प्रसाद ने समाज के उच्च एवं निम्न वर्गों के जीवन को 'कंकाल' का विषय बनाया है। समाज के नियमों एवं बन्धनों के आगे व्यक्ति की विवशता दिखाते हुए प्रसाद ने जर्जर एवं पतनोन्मुख सामाजिक व्यवस्था के चित्रण को ही इस उपन्यास में प्रमुख स्थान दिया है।

इसी प्रकार, 'तितली' में भी प्रसाद ने रूढ़िगत समाज की जर्जर स्थिति, धार्मिक पाखण्ड, सामन्तीय समाज-व्यवस्था के ह्रास और पारिवारिक विषमता को लेकर इस उपन्यास की रचना की है। किन्तु, इस साम्य के बावजूद दोनों उपन्यासों के क्षेत्र भिन्न हैं। 'कंकाल' में प्रसाद ने शहरी जीवन को लिया है जबकि 'तितली' में उन्होंने ग्रामीण जीवन के चित्रण पर ही अधिक ध्यान दिया है। ग्रामीण जीवन की कठिनाइयों की कहानी कहते-कहते प्रसाद ने जहां एक ओर सामन्तीय व्यवस्था के दोषों और सम्मिलित कुटुम्ब के अन्दर होने वाले झगड़ों को अपने उपन्यास का विषय बनाया है, वहां दूसरी ओर, ग्रामीण जीवन में जागरण और सुधार लाने के लिए किए जाने वाले प्रयासों को भी उन्होंने इस उपन्यास के विषय के अन्तर्गत समेट लिया है। शहर की गलियों और कोठरियों की बन्द हवा से निकल कर 'तितली' में प्रसाद ने गंगा के कछारों और हरे-भरे खेतों की स्वच्छ वायु में सांस ली है। 'कंकाल' में उन्होंने सामाजिक विकृतियों को ही अपने उपन्यास का विषय बनाया है, लेकिन 'तितली' में विकृतियों के साथ-साथ उन्होंने समाज के उज्ज्वल पक्ष के दर्शन भी कराये हैं।

निष्कर्ष-निर्धारण—उद्देश्य-पक्ष को प्रधानता देने के कारण प्रसाद के उपन्यासों में से किसी न किसी निष्कर्ष की स्पष्ट ध्वनि निकलती है। सामाजिक नियमों-बंधनों की जड़ता के विरुद्ध विजय और घण्टी का असफल विद्रोह दिखा कर प्रसाद ने सामाजिक व्यवस्था की कठोरता एवं निर्जीवता की ओर ध्यान खींचा है। व्यक्ति के जीवन के सर्वतोमुखी विकास को कुंठित करने वाली सामाजिक संस्थाओं का अस्तित्व प्रसाद को अमान्य है, इसलिए 'कंकाल' में उन्होंने व्यक्ति के पूरे अधि-

कारों की मांग की है। समाज में जिसे पाप कह कर धिक्कारा जाता है उसका मूल कारण समाज ही है; अतः, इस विडम्बना के प्रतिकार का उपाय यही है कि व्यक्ति अपनी प्रकृति को पहचान कर, अन्तरात्मा की प्रेरणा से कार्य करे। सामाजिक कुंठा को दूर करने का एकमेव उपाय है—समाजव्यापी विद्रोह, अतः, इस विद्रोह को सम्भव बनाने के लिए प्रसाद ने लोक-जागरण एवं लोक-शिक्षा के उपायों की ओर भी संकेत किया है। 'तितली' में प्रसाद ने ग्रामीण जीवन के उत्थान का चित्र खींचते हुए सामन्तीय व्यवस्था के अनिवार्य अन्त की ओर संकेत किया है। ग्रामीण जीवन को उन्नत करने की योजनाओं के अन्तर्गत सहकारी बैंक और औषधालय खोलने, चकबन्दी तथा शिक्षा के प्रसार का उल्लेख कर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उपयुक्त वातावरण मिलने पर पिछड़ी हुई ग्रामीण जनता अपने पांव पर स्वयं खड़ी होकर उन्नति कर सकती है। मिस अनवरी और श्यामलाल के अनैतिक संबंधों और इन्द्रदेव के प्रति माधुरी के विद्वेष के उल्लेख से सामन्तीय व्यवस्था का खोखलापन तथा मुकुन्दलाल के वैभव का अस्त दिखा कर, वस्तुतः, प्रसाद ने सामन्तीय व्यवस्था के अन्तकाल की ओर ही इशारा किया।

स्वाभाविक निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रसाद ने अपने विशिष्ट चिन्तन के अनुरूप उपन्यास का निष्कर्ष निकालने के पूर्व इस निष्कर्ष के लिए सर्वथा उचित भूमि तैयार कर दी है। इस कारण, उनके उपन्यासों के निष्कर्ष अनिवार्य एवं स्वाभाविक प्रतीत होते हैं, बलात् थोपे हुए या अस्वाभाविक नहीं। 'कंकाल' में उन्होंने समाज की रूढ़िबद्धता में पिसते हुए व्यक्ति की वेदना का करुणापूर्ण चित्र खींच कर समाज की कठोर नैतिक मान्यताओं को ढीला करने का निष्कर्ष निकाला है, जिससे विजय जैसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति का विकास कुंठित न हो। साथ ही, उन्होंने धार्मिक पाखण्ड और धार्मिक कट्टरता के प्रति जनसाधारण में चेतना पैदा करने के लिए भारत-संघ की स्थापना द्वारा लोक-जागरण और लोक-शिक्षा जैसे रचनात्मक उपायों की ओर संकेत किया है। इस प्रकार समाज की जर्जरावस्था का चित्र खींचने के बाद प्रसाद ने उपन्यास के अन्त में समाज-व्यवस्था को सुधारने के जो निष्कर्ष निकाले हैं वे नाटकीय न होकर स्वाभाविक एवं तर्कसम्मत हैं।

यही बात 'तितली' के निष्कर्ष-निर्धारण के बारे में भी है। प्रसाद ने भारत के ग्राम्य जीवन की दुरवस्था और पीड़न का करुणाजनक चित्र प्रस्तुत करने के बाद, बंजो और शैला के प्रयासों की सफलता दिखा कर ग्रामोत्थान के लिए किए जाने वाले विविध उपायों को अपनाने का निष्कर्ष निकाला है। इस प्रकार, प्रसाद ने अपने दोनों उपन्यासों में समाज की दुरावस्था के मूल कारणों का निदान करने के उपरांत इन कारणों को दूर करने के जो उपाय सुझाए हैं वे स्वाभाविक एवं तर्कसम्मत होने के साथ-साथ उनके चिन्तन के सर्वथा अनुरूप हैं।

कथानक

कथानक का गठन—समाज की भीतरी कुरूपता एवं विकृति के चित्रण में यथार्थता लाने के लिए प्रसाद ने कथानक का बहुत सहारा लिया है। 'कंकाल' और 'तितली' दोनों ही उपन्यास समाज की रीति-नीति एवं मान्यता-विश्वास पर एक कठोर व्यंग्य हैं, और कथानक के गठन के द्वारा तो प्रसाद ने इस व्यंग्य की धार और भी पैनी कर दी है। इस दृष्टि से देखा जाए तो प्रसाद ने कथानक के गठन तथा विकास एव कथानक के उपसहार का उपयोग, वस्तुतः, व्यंग्य की मार्मिकता को अधिक तीखे रूप में प्रकट करने के लिए ही किया है। कथानक का गठन उनके लिए साध्य न होकर साधन-मात्र है; साध्य तो समाज की नैतिक विकृति का चित्रण है। इसलिए, साध्य के अनुरूप ही उन्होंने कथानक का गठन किया है। उदाहरणार्थ, 'कंकाल' के कथानक मे प्रसाद ने ऐसी घटनायें ली हैं जिनसे उन्होंने समाज पर किए गए व्यंग्य को अधिकाधिक तीखा बना दिया है। देव-निरंजन द्वारा किशोरी की पुत्र-कामना पूरी करने की घटना से प्रसाद ने धार्मिक पाखण्ड पर करारी चोट की है। किशोरी द्वारा काशी में सत्संग करने, अन्नकूट के उत्सव पर देवनिरजन द्वारा यमुना के देवगृह में प्रविष्ट होने पर डांटने, वृन्दावन की परिक्रमा करने के साथ-साथ देवनिरजन द्वारा किशोरी के साथ अवैध सम्बन्ध बनाए रखने की घटनाओं से उन्होंने धार्मिक पवित्रता के ढोंग पर जबरदस्त कटाक्ष किया है। एक ओर ईसाइयत और पवित्रता का उपदेश देने और दूसरी ओर घण्टी को अपने कब्जे में करने के लिए मि० बाथम द्वारा कुचक्र रचने की घटनाओं से उन्होंने, हिन्दू-धर्म के अतिरिक्त, ईसाइयत के धार्मिक आडम्बर का भी भण्डाफोड़ कर दिया है।

इसी प्रकार, कुलीनता के अभिमान का मजाक उड़ाते हुए प्रसाद ने एक ओर किशोरी और देवनिरजन, तथा दूसरी ओर श्रीचन्द्र और चन्दा के अवैध सम्बन्धों की घटनायें ली हैं। अमृतसर को जलवायु अनुकूल न होने के बहाने श्रीचन्द्र, किशोरी को काशी भेज देता है, और इस प्रकार किशोरी को देवनिरजन के साथ निर्विघ्न रूप से अवैध सम्बन्ध बनाये रखने की मानों अनुमति दे देता है। दूसरी ओर वह भी अमृतसर में चन्दा नामक धनवान विधवा से अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और जब वह उससे विवाह का अनुरोध करती है तो इसे विजय और लाली के वैवाहिक सम्बन्ध में अड़चन बताकर, वह चन्दा को इस बात के लिये राजी कर लेता है कि वह रखैल के रूप में रहे। इस प्रकार श्रीचन्द कुल की प्रतिष्ठा पर किसी प्रकार का आघात नहीं होने देता, और अनाचार को पालते-पोसते हुए ऊपरी नेकनामी बनाये रखता है।

समाज की जर्जर नैतिक अवस्था तथा कुलीनता के अभिमान का नग्न चित्र खींचने के लिए प्रसाद ने मंगल द्वारा तारा को वेश्या के चंगुल से बचाने की घटना

ली है। लेकिन धर्म और कुल की प्रतिष्ठा के नाम पर तारा का पिता उसे स्वीकार करने के बदले धिक्कारता है, और तब मंगल उससे विवाह करने को तैयार हो जाता है तो नन्दो चाची से तारा की माता के बारे में उल्टी-सीधी बातें सुन कर वह भी उसें छोड़ देता है। भावी सन्तान की कुलीनता की चिन्ता उसे यह दुष्कृत्य करने की प्रेरणा देती है। कुलीनता के अभिमान पर एक और आघात करते हुए प्रसाद ने तारा और मंगल के अवैध पुत्र, मोहन को, कथानक के अन्त में श्रीचन्द और किशोरी द्वारा दत्तक पुत्र के रूप में गोद लेते हुए दिखाया है जबकि किशोरी का अपना पुत्र, विजय, दर-दर ठोकरें खाता घूमता है।

'तितली' में प्रसाद ने कथानक की सहायता से पारिवारिक एवं सामाजिक विषमता को बहुत अच्छी तरह प्रकट किया है। इंगलैण्ड से लौटने पर इन्द्रदेव अपनी महती आकांक्षाओं के अनुसार बहुत कुछ करना चाहता है, किन्तु उसकी बहन, माधुरी, उसके मार्ग में बाधक है। अपने पति, श्यामलाल, द्वारा तिरस्कृत माधुरी को अपनी माता श्यामदुलारी के अतिरिक्त और कोई सहारा दिखायी नहीं देता। इसलिए, वह अपनी माता को बस में करने तथा सारी सम्पत्ति पर कब्जा करने के लिए कुचक्र रचती है। अपने क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर वह अपने भाई इन्द्रदेव और उसकी सखा एवं भावी पत्नी, शैला के विरुद्ध श्यामदुलारी के कान भरती है। माधुरी के कुचक्रों से विवश होकर इन्द्रदेव धामपुर छोड़ देते हैं और शहर जाकर वकालत शुरू कर देते हैं। इस प्रकार कथानक की सहायता से सम्मिलित कुटुम्ब का ह्रास दिखाकर प्रसाद ने पारिवारिक विषमता का स्पष्ट चित्र अंकित कर दिया है।

सामाजिक विषमता को कथानक के माध्यम से चित्रित करने के लिए प्रसाद ने जमींदार द्वारा कृषकों को उजाड़ते और गद्दीधारी महन्तों द्वारा साधारण जनता को भ्रष्ट करते दिखाया है। जी-तोड़ मेहनत करने पर भी रामजस के पास अपनी मां और अपने भाई का इलाज करने के लिए पैसे नहीं हैं, और अन्त में उसका खेत भी छिन जाता है। जिन महन्तों का कर्त्तव्य था जनता में आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न करना, वे उल्टे समाज में अनाचार फैलाने लगते हैं। बिहारी जी के पाखण्डी महन्त द्वारा राजकुमारी के साथ बलात्कार करने की चेष्टा, ऐसी ही घटना है।

नियति—प्रसाद ने 'कंकाल' और 'तितली' में कथानक के गठन में नियति की सत्ता स्वीकार कर जहां एक ओर घटना-चक्र में अनिवार्यता का पुट ला दिया है, वहां दूसरी ओर, उन्होंने कथानक में चमत्कारपूर्ण घटनाओं का समावेश भी कर दिया है। नियति का चक्कर ही ऐसा है कि मंगल यद्यपि तारा की सहायता करना चाहता है, तथापि, परिणाम उल्टा होता है। हताश हो वह कहता है—

'क्या मेरी नियति इतनी कठोर है कि कभी चैन न लेने देगी। ······उस अबला की भलाई करने के लिए जब-जब मैंने पैर बढ़ाया, धक्के खाकर पीछे हटा, और उसे भी ठोकरें लगायीं, यह किसकी अज्ञात प्रेरणा है ? मेरे दुर्भाग्य की ?'[1]

विजय को पाने के लिए घण्टी पूरा यत्न करके भी हार जाती है और कहती है, 'मैंने संचित शक्ति से विजय को छाती से दबा लिया था और यमुना······वह तो स्वयं राह छोड़कर हट गयी थी पर मैं बनकर भी न बन सकी—नियति चारों ओर से दबा रही थी।'[2] इस नियति के चक्कर में आकर किशोरी भी सोचती है—'जिस घण्टी के कारण विजय अपने सुखमय संसार को खो बैठा और किशोरी अपने विजय को; उसी घण्टी का भाई आज उसके सर्वस्व का मालिक है, उत्तराधिकारी है। दुर्दैव का यह कैसा परिहास है।'[3]

'तितली' के कथानक में यही नियति अपने तरह-तरह के खेल दिखाती है। लन्दन में इन्द्रदेव और शैला का मिलन और शैला का धामपुर अकर नीलकोठी में रहना उसी नियति का चक्कर है। शैला सोचती है—'नियति दुस्तर समुद्र को पार कराती है, चिरकाल के अतीत को वर्तमान से क्षण भर में जोड़ देती है, और अपरिचित मानवता सिन्धु में से उसी एक से परिचय कर देती है, जिससे जीवन की अग्रगामिनी धारा अपना पथ निर्दिष्ट करती है। कहां भारत, कहां इन्द्रदेव।'[4] बाबा रामनाथ के बताये मार्ग पर चलने का भरसक प्रयत्न करने वाला मधुबन, नियति के आगे बेबस है। बिहारी जी के मन्दिर के महन्त की हत्या के प्रयास से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणाभों से डर कर वह भाग खड़ा होता है। कलकत्ता जाकर कोयला ढोता है, रिक्सा खींचता है और अन्त में कैद भोगता है।

चमत्कार पूर्ण घटनायें—कथानक के गठन में नियति का प्रमुख हाथ होने से प्रसाद के उपन्यासों में चमत्कारपूर्ण घटनाओं की मानों रेल-पेल है। 'कंकाल' में मंगल का तारा को वेश्या के पजे से छुड़ाना, तारा को आत्महत्या करने से रोकने के लिए सन्यासी का अकस्मात् पहुच जाना, मंगल द्वारा विजय को घोड़े से गिरने से बचाना, नवाब की हत्या का अपराध अपने सिर लेकर यमुना द्वारा विजय को भगा देना आदि घटनायें सिनेमा जैसी लगती हैं। इसमें नाटकीयता का प्राधान्य है।

इस प्रकार की घटनायें 'तितली' में भी पर्याप्त मात्रा में हैं। मधुबन द्वारा मैना को मस्त हाथी के आक्रमण से और राजकुमारी को महन्त के बलात्कार से बचाना, मधुबन द्वारा रेलवे गार्ड को नाटकीय ढंग से बचाना, कलकत्ता में रामदीन द्वारा नोटों का बण्डल झटका लेना—ये घटनायें इसी श्रेणी की हैं। इनमें संयोग

---

१. जयशंकर प्रसाद 'कंकाल'
२. वही। ३. वही। ४. जयशंकरप्रसाद, 'तितली'।

तत्व और नाटकीयता अधिक है, स्वाभाविकता कम। तो भी, नियति की अनिवार्यता स्वीकार कर लेने के बाद, कथानक में प्रसाद द्वारा ऐसी घटनाओं का समावेश अधिक नहीं खलता।

उपसंहार—कथानक के उपसंहार में प्रसाद ने उपन्यास की उद्देश्य-सिद्धि का पूरा ध्यान रखा है। उनका 'कंकाल' उपन्यास दुखान्त है जबकि 'तितली' सुखान्त। 'कंकाल' में प्रसाद को सामाजिक जड़ता के नीचे पिसने वाले व्यक्ति की दयनीय स्थिति दिखाना अभीष्ट था, इसलिए समाज के शासन के प्रति विजय के विद्रोह की घटनायें दिखाकर अन्त में उन्होंने उसकी मृत्यु दिखायी है। 'कंकाल' के दुःखपूर्ण अन्त द्वारा उन्होंने समाज की हृदयहीन व्यवस्था की ओर संकेत किया है, जो कि स्वयं तो ह्रासोन्मुख है ही, अपने साथ सब को मरण के पथ पर घसीटती रहती है। एक दृष्टि से देखा जाये तो 'कंकाल' का दुःखपूर्ण अन्त दिखाकर प्रसाद, समाज की वीभत्स नैतिक कठोरता का मार्मिक चित्र उपस्थित कर सके हैं।

'तितली' में समाज के कृष्ण-पक्ष की तुलना में उसके उज्ज्वल पक्ष की ओर प्रसाद की दृष्टि अधिक है, इसलिए उन्होंने मधुबन और तितली, इन्द्रदेव और शैला के मिलन, तितली और शैला द्वारा ग्राम-सेवा एवं शिक्षा के सफल प्रयोगों का संकेत देकर, समाज के अन्दर नवचेतना एवं नवनिर्माण की प्रवृत्तियों की ओर इशारा किया है। उन्होंने 'तितली' के सुखपूर्ण अन्त में मानों नारी के एकनिष्ठ परिश्रम की सराहना की है। प्रसाद को नारी-जाति के जागरण एवं ग्रामोत्थान के आन्दोलनों में समाजव्यापी अन्धकार का निराकरण करने वाली आशा-किरणों के दर्शन होते हैं; अतः, इसी आशावाद से प्रेरित होकर उन्होंने 'तितली' का सुखपूर्ण अन्त किया है।

चरित्र-चित्रण

समाज के वास्तविक स्वरूप के चित्रण को कथानक के विकास एवं उपसंहार द्वारा प्रस्तुत करने के अतिरिक्त, प्रसाद ने, उपन्यास के विविध पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा भी सामाजिक जीवन की असली तस्वीर खींच दी है। व्यक्ति में अच्छाइयां भी होती हैं और बुराइयां भी, इसलिए प्रसाद ने पूर्णतः अच्छे अथवा पूर्णतः बुरे पात्र प्रस्तुत करने की अपेक्षा साधारण श्रेणी के पात्र लिये हैं। प्रसाद के पात्रों की विशेषता यही है कि वे आदर्शवादी, जीवन की यथार्थता से निर्लिप्त अथवा वीतराग न होकर साधारण मानव की तरह आचरण करते हैं। ऐसे पात्रों के मानसिक द्वन्द्व को चित्रित कर प्रसाद ने समाज-व्यवस्था की कठोरता से उत्पन्न तनावों, पेचीदगियों और उलझनों को ही व्यक्त नहीं किया, अपितु इन पात्रों की आशा-आकांक्षा, सुख-दुख, और हार-जीत के चित्रण से उन्होंने समाज के यथार्थ जीवन को एक झलक दिखा दी है। समाज के सच्चे रूप को प्रस्तुत करने के लिये जिस पक्षपात रहित एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण की जरूरत होती है उसका

कुछ-कुछ आभास प्रसाद द्वारा पात्रों के चरित्र-चित्रण में हमें मिल जाता है। अतः, पात्रों के चरित्र-चित्रण पर प्रसाद की यथार्थवादी मनोवृत्ति के प्रभाव का विश्लेषण करने के लिये यहां पात्रों के चयन, प्रवृत्ति-निर्देश और चरित्र विकास का अध्ययन करना होगा।

पात्रों का व्यापक चयन—प्रसाद ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण की सहायता से समाज के विराट् रूप का चित्र खींचना चाहा है। समाज के विराट् रूप के अन्तर्गत समाज के अनेक पहलू और अनेक समस्यायें, अनेक वर्ग और अनेक प्रश्न आ जाते हैं, अतः, इन सबके सम्यक् चित्रण के लिए प्रसाद ने पात्रों का चयन व्यापक दृष्टिकोण से किया है। इस व्यापक दृष्टिकोण का ही यह फल है कि प्रसाद के उपन्यासों में उच्च, मध्यम और निम्न जाति के पात्रों के अतिरिक्त मजदूर, महन्त, किसान, वकील, पढ़े-लिखे और अनपढ़ आदि विभिन्न वर्गों और श्रेणियों के अनेक पात्रों की सृष्टि हुई है।

उदाहरण के लिये, 'कंकाल' में उन्होंने जहां श्रीचन्द, किशोरी और विजय जैसे उच्चवर्ग के पात्र लिये हैं, वहां बदन गूजर जैसे डाकू, गुलेनार (तारा) से पेशा करने वाली बुढ़िया और नन्दो चाची जैसे निम्न श्रेणी के पात्र भी लिये हैं। एक ओर देवनिरंजन और स्वामी कृष्णशरण जैसे महन्त एवं धार्मिक नेता हैं तो दूसरी ओर, मि० बाथम जैसे कपटी धर्म-प्रचारक और नवाब जैसे गुण्डे भी हैं। चन्दा जैसी स्वेच्छाचारी विधवा और यमुना जैसी असहाय परित्यक्ता युवती के अतिरिक्त उन्होंने स्वच्छन्द प्रकृति की घण्टी, गम्भीर और विचारशील स्वभाव की सरला तथा लतिका को भी उपन्यास में स्थान दिया है। समाज-जीवन की उज्ज्वलता एवं कालिमा दिखाने के लिये उन्होंने समाज द्वारा मनोनीत पात्रों से लेकर दूर-दूर भटकने वाले भिखारियों तक विविध श्रेणियों के पात्र लेकर समाज-जीवन के प्रत्येक पहलू को यथावत् चित्रित करने का प्रयास किया है।

'तितली' में ग्रामीण और शहरी जीवन का चित्र प्रस्तुत करने के साथ-साथ प्रसाद ने लन्दन जैसे दूरस्थ नगर के जीवन की झांकी भी प्रस्तुत करनी चाही है। इसलिये, 'कंकाल' के समान, 'तितली' के पात्रों का चयन भी उन्होंने काफी व्यापक क्षेत्र से किया है। इसमें मिस्टर वाट्सन और शैला जैसे अंग्रेज पात्र; इन्द्रदेव, मुकन्दलाल, श्यामलाल, महन्त आदि जमींदार वर्ग के पात्र; रामनाथ, मधुबन, रामजस, महंगू महतो जैसे किसान पात्र; सुखदेव चौबे और तहसीलदार जैसे अहलकार; और रामदीन, बीरू बाबू, ननी गोपाल जैसे साधारण श्रेणी के पात्रों को भी उन्होंने लिया है। नारी पात्रों में जमींदार वर्ग की श्यामदुलारी, माधुरी, और नन्दरानी, किसान-वर्ग की बंजो, राजकुमारी और मलिया के अतिरिक्त, मैना नामक वेश्या और मिस अनवरी जैसी सोसाइटी-गर्ल को भी लिया है।

समाज के जीवन का व्यापक चित्र प्रस्तुत करने के प्रयास में, प्रेमचन्द के समान, प्रसाद के उपन्यासों में भी पात्रों का बाहुल्य है। मुख्य और गौण पात्रों को मिलाकर इनकी संख्या पच्चीस-तीस तक जा पहुंचती है। इतने पात्रों का यथोचित् निर्वाह होना सम्भव नहीं है, इसलिये कथानक को आगे बढ़ाने का काम करने के साथ ही इनमें से अधिकांश पात्र धीरे-धीरे रंगमंच से ओलल होते जाते हैं।

पात्रों का सृजन एवं चरित्र विकास—पात्रों के व्यापक चुनाव द्वारा सामाजिक जीवन का विराट् चित्र उपस्थित करने के साथ साथ प्रसाद ने पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा समाज के यथार्थ रूप का चित्र भी खींचना चाहा है। इसलिए, पात्रों के सृजन के पीछे प्रसाद की सामाजिक तथा नैतिक धारणायें काम कर रही हैं। प्रसाद के मतानुसार समाज के अन्दर व्याप्त गन्दगी और कालिमा, विकृति और ढोंग के कारण समाज-जीवन में एक तनाव उत्पन्न हो गया है। जिसने कि व्यक्ति के जीवन का विकास कुण्ठित करने के अतिरिक्त, सामाजिक जीवन में असन्तोष उत्पन्न कर दिया है।

पात्रों के माध्यम से सामाजिक विषमता का चित्रण—उदाहरण के लिये, 'कंकाल' में विजय के चरित्र-चित्रण द्वारा प्रसाद ने समाज-शासन की कठोरता एवं निर्जीवता के कारण व्यक्ति के जीवन के स्वाभाविक विकास को कुंठित होते दिखाया है। स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण को पाप बताकर समाज का नैतिक शासन, विजय को इस बात के लिये मजबूर कर देता है कि वह ईसाई हो जाये और इसके कठोर शासन से छूटे। घण्टी और विजय के सम्बन्ध को समाज तिरस्कार की दृष्टि से देखता है, इसलिये विजय के मन की आकांक्षायें अपूर्ण ही रहती हैं। कलाकार विजय की कला विलसित नहीं हो पाती और उसका दुःखपूर्ण अन्त दिखाकर प्रसाद ने समाज-जीवन की कठोरता एवं ह्रासशीलता का बड़ी कुशलता से उद्घाटन किया है।

इसी प्रकार उन्होंने समाज की खोखली नैतिकता और झूठी धार्मिकता को श्रीचन्द्र, किशोरी तथा देवनिरंजन के चरित्रों द्वारा प्रस्तुत किया है। समाज द्वारा मनोनीत व्यक्तियों की महानता का आधार कितना कच्चा है और उसके नैतिक एवं धार्मिक आवरणों के नीचे कितना पाप और गन्दगी छिपी हुई है—इस तथ्य का उद्घाटन करने के लिये प्रसाद ने उपर्युक्त पात्र लिये हैं। ब्रह्मचारी देवनिरंजन का संयम, किशोरी के सामने हवा हो जाता है और गद्दीधारी महन्त के रूप में वह धार्मिकता के उच्चासन पर बैठने के साथ-साथ किशोरी और विजय को लेकर गृहस्थी का स्वांग भी रचाये हुये है। उधर श्रीचन्द्र ने किशोरी को काशी में निर्वासित कर अमृतसर में चन्दा को रखैल के रूप में रखा हुआ है।

नैतिक श्रेष्ठता एवं धार्मिक पवित्रता पर करारा व्यंग्य करने के साथ-साथ

प्रसाद ने विजय, घण्टी, तारा और मोहन जैसे जारज पात्रों का सृजन कर समाज की कुलीनता सम्बन्धी धारणाओं पर कठोर आधात किया है। एक दृष्टि से देखा जाय तो जिस प्रकार कथानक की सहायता से प्रसाद ने नैतिकता, कुलीनता और रक्त-शुद्धि सम्बन्धी समाज की मान्यताओं पर करारा व्यंग्य कसा है, उसी प्रकार जारज पात्रों की सृष्टि एवं सम्मानित पात्रों के अनैतिक आचरण द्वारा भी समाज की उपर्युक्त मान्यताओं पर मार्मिक व्यंग्य किया है।

'तितली' में प्रसाद ने इन्द्रदेव, माधुरी और श्यामदुलारी आदि पात्रों की सहायता से पारिवारिक जीवन की विषमता को चित्रित करने का प्रयास किया है। वर्तमान परिस्थिति में सम्मिलित कुटुम्ब-व्यवस्था की निरर्थकता दिखाने के लिये उन्होंने इन तीनों पात्रों की चरित्रगत भिन्नता को लिया है। इन्द्रदेव जैसा प्रगतिशील, उदार एवं आदर्शप्रेमी युवक अपनी बहिन माधुरी के छल-कपट और अपनी माता श्यामदुलारी के पक्षपात से क्षुब्ध होकर जमींदारी को लात मार देता है और अपने पैरों पर खड़ा होने का उद्योग करता है। सम्मिलित कुटुम्ब का अर्थ है—व्यस्त हितों की रक्षा के लिये हाथा-पाई और स्वार्थपरता। कम से कम इन्द्रदेव इस छीना-झपटी और स्वार्थपरता के खेल में शामिल होने को तैयार नहीं है, इसलिये वह अपनी आत्मा की रक्षा के लिये सम्मिलित कुटुम्ब की शासन-परिधि से दूर चला जाता है।

क्षुद्र समझे जाने वाले व्यक्तियों में कितनी महानता है, इस तथ्य का उद्घाटन प्रसाद ने उपन्यास की नायिका, तितली, के चरित्र-चित्रण से किया है। अकेली होने पर भी वह निःसहाय नहीं है और अपने कर्तव्यनिष्ठ जीवन द्वारा वह राजकुमारी, मलिया, रामजस, रामदीन के अतिरिक्त बहुतों को सहायता देती है। साधनहीन तितली अपने व्रती एवं संयमी जीवन से पिछड़े हुये ग्रामीण समाज में जागरण का मन्त्र फूंकने में सफल होती है।

भारत की जागृत नारी की आकांक्षाओं का चित्रण करते हुये प्रसाद ने घंटी, यमुना, गाला, शैला और तितली जैसे सशक्त नारी-पात्रों का सृजन किया है। समस्त नारी जाति की सेवा का दृढ़ संकल्प लेते हुये घण्टी कहती है—'घरों के भीतर अंधकार है, धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है, और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। बहनें आचार के परदे में छिपाई गई हैं, उनकी सेवा करूंगी। धात्री, उपदेशिका, धर्म-प्रचारिका, सहचारिणी बन कर उनकी सेवा करूंगी।'[1] यमुना के त्यागमय जीवन की सराहना करते हुये देवनिरंजन को कहना पड़ता है—'मैंने जिसको सबसे बड़ा अपराधी समझा था वही सबसे अधिक पवित्र है। वही यमुना तुम्हारी दासी। तुम जानती होगी कि तुम्हारे अन्न से पलने के कारण, विजय के लिये वह

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'कंकाल', पृ०-२७९।

फांसी पर चढ़ने जा रही थी, और मैं—जिसे विजय पर ममत्व था—दूर-दूर खड़ा धन से सहायता करना चाहता था।'[1] 'कंकाल' की गाला और 'तितली' की शैला एवं बंजो के चरित्रों में सेवापरायणता एवं आत्मविश्वास की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। डाकू बदन गूजर की बेटी, गाला, में शिक्षा-प्रसार में जुटने की प्रवृत्ति है। शैला में आत्मविश्वास और पर-सेवा की भावना इतनी प्रबल है कि वह धामपुर जैसे पिछड़े हुये इलाके को अपना कार्य-क्षेत्र बना लेती है। शिक्षा-प्रसार के लक्ष्य को सामने रख कर साधनहीन बंजो भी अपनी कर्मनिष्ठा से अपने लक्ष्य की पूर्ति कर लेती है।

भाषा

उपन्यासों में भाषा के प्रयोग के बारे में जयशंकर प्रसाद ने लोकरुचि के बजाय भाषा की प्रौढ़ता एवं समृद्धता की ओर अधिक ध्यान दिया है। हिन्दी-उर्दू मिश्रित हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग न कर उन्होंने शुद्ध हिन्दी के प्रयोग पर ही जोर दिया; और शुद्ध हिन्दी का झुकाव संस्कृत की ओर होने के कारण उन्होंने उपन्यासों में जिस भाषा का प्रयोग किया है वह चालू उतनी नहीं जितनी कि परिमार्जित एवं प्रौढ़। इसे क्लिष्ट भी नहीं कहा जा सकता और साथ ही यह इतनी सरल भी नहीं है कि साधारण पढ़े-लिखे लोग इसका आनन्द उठा सकें।

काव्य-तत्व का प्राधान्य—प्रसाद द्वारा उपन्यासों में प्रौढ़ एवं परिमार्जित भाषा के प्रयोग के पीछे मुख्य कारण यह है कि वह मूलतः कवि हैं। इसलिये, उनके गद्य में पद्यात्मक अभिव्यंजना का पुट अधिक है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो उनके गद्य में काव्य-तत्व का प्राधान्य है। काव्य-तत्व के अन्तर्गत भावुकता, कल्पना और उक्ति-वैचित्र्य आते हैं और यदि हम प्रसाद के उपन्यासों की भाषा का किंचित् विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसमें उपर्युक्त तीनों तत्वों की प्रचुरता है।

उदाहरण के लिये, सर्वप्रथम भावुकता एवं कल्पना को ही लें। इन दोनों के प्रयोग से गद्य में एक स्वाभाविक प्रवाह एवं सौन्दर्य का संचार हो जाता है और तब गद्य, गद्य कम और काव्य अधिक बन जाता है। प्रसाद के दोनों उपन्यासों में ऐसी काव्यमयी भाषा के अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। विजय के यौवन काल का वर्णन करते हुये वे कहते हैं—'विजय के दिन वे थे जिसे लोग जीवन का बसन्त कहते हैं, जब अधूरी और अशुद्ध पत्रिकाओं के टूटे-फूटे शब्दों के लिये हृदय में शब्द-कोष प्रस्तुत रहता है। जो अपने साथ बाढ़ में बहुत-सी अच्छी वस्तु ले आता है और जो संसार को प्यारा देखने का चश्मा लगा देता है। शैशव से अभ्यस्त सौन्दर्य को खिलौना समझ कर तोड़ना ही नहीं वरन् उसमें हृदय देखने की चाह उत्पन्न करता

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'कंकाल', पृ०-२९०।

है। जिसे यौवन कहते हैं—शीतकाल के छोटे दिनों में घनी अमराई पर बिछलती हुई हरियाली से तर धूप के समान स्निग्ध यौवन।'[1] यमुना के पुष्प-चयन का वर्णन है—'रजनी के बालों में बिखरे हुये मोती बटोरने के लिये प्राची के प्रांगण में उषा आई और इधर यमुना उपवन में फूल चुनने के लिये पहुंची। प्रभात की फीकी चांदनी में बचे हुये एक-दो नक्षत्र अपने को दक्षिण पवन के झोंकों में विलीन कर देना चाहते हैं। कुन्द के फूल, थाले के श्यामल आंचल पर कसीदा बनाने लगे थे।'[2] भावुकता से ओत-प्रोत भाषा का नमूना है—'वे गोपियां, वे भोली-भाली सरल हृदय अकपट स्नेह वाली गोपियां, रक्त-मांस के हृदयवाली गोपियां—जिनके हृदय में दया थी, माया-ममता थी, आशा थी, विश्वास था, प्रेम का आदान-प्रदान था, इसी यमुना के कछारों में, वृक्षों के नीचे, वसन्त की चांदनी में, जेठ की धूप में, छांह लेती हुई, गोरस बेच कर लौटती हुई, गोपाल की कहानियां कहतीं। निर्वासित गोपाल की सहानुभूति से, उस क्रीड़ा के रमण से, उन प्रकाशपूर्ण आंखों की ज्योति से, गोपियों की स्मृति इन्द्रधनुष-सी रंग जाती।'[3]

भावुकता एवं कल्पनायुक्त काव्यमयी भाषा के उदाहरण 'तितली' में भी अनेक हैं। तितली के रूप का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—'उसकी काली रजनी-सी उनींदी आंखें जैसे सदैव कोई गम्भीर स्वप्न देखती रहती हैं। लम्बा छरहरा अंग, गोरी-पतली अंगुलियां, सहज उन्नत ललाट, कुछ खिची हुई भौंहें और छोटा-सा पतले-पतले अधरों वाला मुख साधारण कृषक-बालिका से कुछ अलग अपनी सत्ता बता रहे थे। कानों के ऊपर से ही घूंघट था, जिससे लटें निकली पड़ती थीं। उसकी छोटी किनारी की धोती का चम्पई रंग उसके शरीर में घुला जा रहा था। वह संध्या के निरभ्र गगन में विकसित होने वाली अपने ही आलोक से सन्तुष्ट एक छोटी-सी तारिका थी।'[4] विवाह के अवसर पर तितली की मानसिक दशा का वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है—'तितली की दशा, ठीक गांव के समीप रेलवे लाइन के तार को पकड़े हुये उस बालक की-सी थी, जिसके सामने से डाक-गाड़ी भक्-भक् करती हुई निकल जाती है, सैकड़ों सिर खिड़कियों से निकले रहते हैं पर पहचान में एक भी नहीं आते, न तो उनकी आकृति या वर्ण-रेखाओं का ही कुछ पता चलता है।'[5]

सायंकाल की छटा का वर्णन करते हुए वे कहते हैं—'सायंकाल था, खेतों की हरियाली पर कहीं-कहीं डूबती हुई किरणों की छाया अभी पड़ रही थी। प्रकाश डूब रहा था। प्रशान्त गंगा का कछार शून्य हृदय खोले पड़ा था। करारे पर

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'कंकाल', पृ०-७६-७७। २. वही, पृ० ८५।
३. वही, पृ०-१४८-१४९ ४. वही, पृष्ठ ८६।
५. वही, पृष्ठ १२१।

सरसों के खेतों में वसन्ती चादर बिछी थी। नीचे शीतल बालू में कराकुल चिड़ियों का एक झुण्ड मौन होकर बैठा था।'[1]

सूक्तियां—काव्यमयी भाषा के अतिरिक्त प्रसाद ने अपने उपन्यासों की भाषा में स्थान-स्थान पर सूक्तियों का भी प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण हैं—'त्यागपूर्ण थोथी दार्शनिकता जब किसी ज्ञानाभास को स्वीकार कर लेती है, तब उसका धक्का सम्हालना मनुष्य का काम नहीं।'[2] 'संसार में पाप से उतना डर नहीं, जितना जन-रव से।'[3] 'स्त्री वय के हिसाब से सदैव शिशु, कर्म में वयस्क और अपनी असहायता में निरीह है।'[4] 'संसार अपराध करके इतना अपराध नहीं करता जितना वह दूसरों को उपदेश देकर करता है।'[5]

व्यंग्यपूर्ण भाषा—गद्य में पद्यात्मक अभिव्यंजना द्वारा प्रसाद ने जहां उपन्यासों की भाषा काव्यमयी बना दी हैं, वहां सामाजिक व्यवस्था की क्रूरता एवं इसके खोखलेपन पर प्रहार करते समय उन्होंने इसे ओजस्वी बना दिया है। सामाजिक विषमता एवं धार्मिक पाखण्ड पर व्यंग्य कसते हुये उन्होंने जिस ओजस्वी भाषा का प्रयोग किया है वह इन विकृतियों और पाखण्ड की कालिमा का उद्‌घाटन करने में पूर्ण सफल हुई हैं। गंगा-स्नान के प्रति जन-साधारण के धार्मिक अन्ध-विश्वास पर व्यंग्य कसते समय वे कहते हैं—'माघ की अमावस्या की गोधूलि में प्रयाग के बांध पर प्रभात का-सा जनरव और कोलाहल तथा धर्म लूटने की धूम कम हो गयी है, परन्तु बहुत-से घायल और कुचले हुये अर्ध-मृतकों की आर्तध्वनि उस पावन प्रदेश को आशीर्वाद दे रही है।'[6] धर्म-संचय पर व्यंग्य कसते हुये वे कहते हैं—'भीतर जो पुण्य के नाम पर धर्म के नाम पर, गुलछर्रे उड़ रहे हैं, उनमें वास्तविक भूखों का कितना भाग है, यह पत्तलों के लूटने का दृश्य बतला रहा है।'[7] देवनिरंजन द्वारा यमुना के तिरस्कार पर क्रुद्ध हो कर विजय कहता है—जिनके भगवान सोने चांदी से घिरे रहते हैं। उनको रखवाली की आवश्यकता होती है।'[8] धार्मिक आडम्बर का पर्दाफाश करते हुये वे कहते हैं—'पुण्य का सैकड़ों मन का धातु-निर्मित घंटा बजा कर जो लोग अपनी ओर संसार का ध्यान आकर्षित करते हैं, वे यह नहीं जानते कि बहुत समीप अपने हृदय तक वह भीषण शब्द नहीं पहुंचता।'[9] हिन्दू समाज में नारी की परतन्त्र स्थिति का उल्लेख करते हुए किशोरी कहती हैं—'स्त्री कुछ नहीं, केवल पुरुषों की पूंछ है। विलक्षणता यही है कि यह पूंछ कभी-कभी अलग भी रख दी जा सकती है।'[10]

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'तितली' पृष्ठ १२७। २. जयशंकर प्रसाद, 'कंकाल' पृष्ठ १८। ३. वही, पृष्ठ १६७। ४. वही, पृष्ठ २४२। ५. वही, पृष्ठ २७७। ६. वही, 'कंकाल' पृष्ठ ६। ७. वही, पृष्ठ ६९। ८. वही, पृष्ठ ७७। ९. वही, पृष्ठ २८९। १०. वही, पृष्ठ १७०।

'तितली' में भी प्रसाद ने यद्यपि व्यंग्यात्मक शैली का प्रचुर प्रयोग किया है, तो भी 'तितली' में उनके व्यंग्य की धार इतनी तीखी नहीं है जितनी कि 'कंकाल' में। हिन्दू गृहस्थ की अवस्था के बारे में रामनाथ कहते हैं—'अन्य जाति के लोग मिट्टी या चीनी के बर्तन में उत्तम स्निग्ध भोजन करते हैं। हिन्दू चांदी की थाली में भी सत्तू घोलकर पीता है।'[1] सुधारवाद पर इन्द्रदेव के कटाक्ष का उदाहरण है—'जहां हम एक सुधार करते हुए उठने का प्रयत्न करते हैं, वहीं कहीं अनजान में रो-रुलाकर आंसुओं से फिसलन बनाते जाते हैं। जब हम लोग मन्दिर के सुवर्ण-कलश का निर्माण करते हैं, तभी उसके साथ कितने पीड़ितों का हृदय-रक्त उसकी चमक बढ़ाने में सहायक होता है।'[2] सामाजिक व्यवस्था की कृत्रिमता का उल्लेख करते हुये इन्द्रदेव कहता है—'मेरा सामाजिक बन्धन इतना विशृंखल है कि उसमें मनुष्य केवल ढोंगी बन सकता है। दरिद्र किसानों में से अधिक-से-अधिक रस चूसकर एक धनी थोड़ा-सा दान कहीं-कही दया और कभी-कभी छोटा-मोटा उपकार करके, सहज ही में आप जैसे निरीह लोगों का विश्वासपात्र बन सकता है।'[3]

उपर्युक्त उदाहरणों से प्रसाद के उपन्यासों की भाषा के दो प्रमुख गुणों—काव्यात्मकता एवं ओजस्विता का सहज ही आभास मिल जाता है। प्रेमचन्द ने भाषा के उपयोगितावादी पक्ष पर अधिक बल दिया, लेकिन प्रसाद ने उपयोगितावादी पक्ष के अतिरिक्त भाषा के निखार पर भी ध्यान दिया। इसका फल यह हुआ है कि प्रेमचन्द की तुलना में प्रसाद की भाषा अधिक आकर्षक रूप धारण कर प्रकट हुई है। काव्यत्व के संयोग से तो इसके माधुर्य एवं सौन्दर्य में और भी वृद्धि हो गयी है।

वृन्दावन लाल वर्मा

हिन्दी उपन्यास के विकास-क्रम में प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद के उपरांत वृन्दावन लाल वर्मा का योगदान महत्वपूर्ण है। वृन्दावन लाल ने ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासों की रचना कर हिन्दी के उपन्यास साहित्य को परिपुष्ट किया है, इसलिए हिन्दी उपन्यास के विकास में उनके इस द्विविध योग का बहुत महत्व है। एक दृष्टि से देखा जाये तो उन्होंने सामाजिक उपन्यासों की रचना करके जहां एक ओर प्रेमचन्द की सामाजिक उपन्यासों की परम्परा को पुष्ट किया है तो दूसरी ओर, ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर प्रसाद द्वारा शुरू की गयी ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा को विकसित किया है। इस रूप में, वृन्दावनलाल वर्मा में प्रेमचन्द और प्रसाद की प्रतिभा का समन्वय है। हिन्दी के इन प्रसिद्ध उपन्यासकारों का अनुसरण

---

१. जयशंकर प्रसाद, 'तितली', पृष्ठ ६०।
२. वही, 'तितली', पृष्ठ ११३। ३. वही, पृष्ठ १३१।

करते हुए वृन्दावनलाल ने, उपन्यास-रचना के लिए अतीत और वर्तमान, दोनों से सामग्री जुटायी है।

ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा—किन्तु हिन्दी उपन्यास के विकास में वृन्दावन लाल वर्मा के इस द्विविध योग पर तनिक विचार करते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक की अपेक्षा उनका ऐतिहासिक उपन्यासकार का स्वरूप अधिक निखरा है। सामाजिक उपन्यास-रचना में उन्होंने एक बँधी-बँधायी लीक का अनुसरण करते हुए आधुनिक सामाजिक जीवन का चित्र खींचना चाहा है, किन्तु, ऐतिहासिक उपन्यास-रचना में हमें उपर्युक्त गतानुगतिकता दिखायी नहीं देती। इतना ही नहीं, उन्होंने बुन्देलखण्ड के सर्वथा अछूते अतीत में प्रवेश कर ऐतिहासिक उपन्यास-रचना की क्षीण परम्परा को पुष्ट कर, अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। वृन्दावन लाल के साहित्य-सृजन के पूर्व हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यासों के नाम पर बंगला, अंग्रेजी और मराठी से अनूदित उपन्यासों के अतिरिक्त, इन्हीं की नकल पर किशोरी लाल गोस्वामी की रचनायें अवश्य थीं; किन्तु हमें इनमें हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की मौलिक परम्परा के दर्शन नहीं होते। हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास रचना की मौलिक परम्परा का सूत्रपात करने का श्रेय, वस्तुतः जयशंकर प्रसाद को ही दिया जायेगा। उनका 'इरावती' उपन्यास, अधूरा होने पर भी, इस दिशा में मौलिक उपन्यास है—मौलिक इसलिए, क्योंकि प्रसाद ने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना में कोरी कल्पना पर निर्भर रहने के बजाय इतिहास का शोध करके ऐतिहासिक तथ्यों को 'इरावती' की रचना का आधार बनाया है। इसलिए, 'इरावती' मौलिक उपन्यास है। देखा जाये तो वृन्दावन लाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यास-रचना की इस मौलिक किन्तु क्षीण परम्परा को अपनी प्रतिभा से पुष्ट किया और इसके उत्तरोत्तर विकास के लिये योग्य वातावरण तैयार करने के अतिरिक्त इसके विकास की नयी-नयी सम्भावनायें प्रस्तुत कीं। सामाजिक की अपेक्षा ऐतिहासिक उपन्यास-रचना के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने के कारण यह कहना पड़ता है कि सामाजिक उपन्यासकार की तुलना में वृन्दावन लाल का ऐतिहासिक उपन्यासकार का स्वरूप अधिक निखरा है। अतः, इसके आगे, उनके इस विशिष्ट रूप को ध्यान में रखते हुए, हिन्दी में ऐतिहासिक उपन्यास-रचना के विकास में उनके योगदान पर विचार किया जायेगा।

साहित्य-सृजन और ऐतिहासिक शोध का समन्वय—वृन्दावनलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों की विशेषता इसी में है कि उन्होंने इन उपन्यासों में बुन्देलखण्डी इतिहास के अतीत का चित्र खींचना चाहा है, और ऐतिहासिक उपन्यासों के सृजन हेतु, उन्होंने भूले-बिसरे इतिहास का शोध भी किया है। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि उन्होंने अपनी रचनाओं में साहित्य-सृजन और ऐतिहासिक शोध जैसे दो भिन्न तत्वों का समन्वय प्रस्तुत किया है। साहित्य-सृजन का सम्बन्ध

कला से है और ऐतिहासिक शोध का विज्ञान से, इसीलिए यहां पर समन्वय की बात कही गयी है। इस दृष्टि से देखा जाये तो वृन्दावन लाल वर्मा ने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना द्वारा साहित्यकार और इतिहासकार, अथवा कलाकार और वैज्ञानिक, दोनों के दोहरे कर्त्तव्यों का पालन किया है। इसका एक कारण तो यह है कि इतिहास में कला और विज्ञान का समन्वय अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य भी है। इतिहास के सत्य के उद्घाटन के लिए इतिहासकार को वैज्ञानिक उपायों का सहारा लेना पड़ता है, ताकि विविध घटनाओं और तत्वों को वह सही रूप में और उचित परिमाण में अभिव्यक्त कर सके। और जब अभिव्यक्ति का अवसर आता है तो इतिहासकार को विवश होकर कला की शरण लेनी पड़ती है, क्योंकि सत्य की जीवन्त अभिव्यक्ति कला के द्वारा ही सम्भव है।'[1] इतिहास के सत्य को एकस्वरता केवल कला ही ला सकती है। इस प्रकार उपन्यास-सृजन के माध्यम से इतिहास के अतीत काल का चित्र खींचने के प्रयास में वृन्दावनलाल वर्मा ने साहित्यकार, तथा इतिहासकार दोनों के कर्त्तव्यों का पालन किया है और अपनी अद्‌भुत प्रतिभा का परिचय दिया है।

बुन्देलखण्ड के इतिहास के प्रति श्रद्धा—ऐतिहासिक उपन्यासकार के नाते वृन्दावनलाल की उपर्युक्त विशेषता के अतिरिक्त यह बात और ध्यान देने की है कि उन्होंने बुन्देलखण्ड के गत इतिहास से ही अपने उपन्यासों की सामग्री चुनी है। बुन्देलखण्ड के अतीत-काल के प्रति वृन्दावन लाल के हृदय में अपार श्रद्धा एवं ममत्व की भावना है। अतः, अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में विगत गौरवपूर्ण घटनाओं के इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों की चारित्रिक श्रेष्ठता का वर्णन करते समय वे निरपेक्ष नहीं रह सके। बुन्देलखण्ड के गत इतिहास का वर्णन करने में उनकी श्रद्धा उमड़ पड़ती है, इसलिये उनके उपन्यासों में, निर्वैयक्तिकता के स्थान पर उनकी धारणाओं, विश्वासों और आदर्शों के सर्वत्र दर्शन होते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो वृन्दावन लाल वर्मा अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ अपनी रचनाओं में उपस्थित हैं; निर्वैयक्तिक अथवा निरपेक्ष होने का प्रयास नहीं किया है।

व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति—यहाँ प्रश्न उठता है कि साहित्यकार तथा इतिहासकार के द्विविध कर्त्तव्यों का पालन करने में वृन्दावन लाल वर्मा अपनी रचनाओं में जान-बूझकर अपने व्यक्तित्व सहित प्रकट हुए हैं अथवा वे निर्वैयक्तिक होने में असमर्थ रहे हैं? तनिक विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि उन्होंने बुन्देलखण्ड के विगत इतिहास को कोरे अनुसंधित्सु की निरपेक्ष दृष्टि से नहीं देखा, एक भक्त के समान श्रद्धापूर्ण नेत्रों से भी देखा है। इसलिये इतिहासकार की निरपेक्षता का लक्ष्य उन्होंने अपने सम्मुख कदापि नहीं रखा। साथ ही, यह सोचना

---

1. Viscount Haldane, 'The Meaning of Truth in History'.

भी गलत है कि इतिहासकार निर्वैयक्तिक हो सकता है। सत्य बात तो यह है कि इतिहास लिखते समय इतिहासकार का व्यक्तित्व मुखर हो उठता है। इतिहासकार का काम विगत घटनाओं को समझना और दोहराना है और इन घटनाओं का सम्बन्ध उसके समान व्यक्तियों से निर्मित समाज से है अथवा उसके अपने राष्ट्र के समान अन्य राष्ट्रों से है। अतः, चाहे जितना प्रयास क्यों न करे वह निरपेक्ष नहीं हो सकता।[1] वृन्दावन लाल वर्मा भी इतिहास के पुरातन काल का चित्रण करते समय, निर्वैयक्तिक नहीं हो पाये हैं, इसलिए उनकी रचनाओं पर उनके भाव और विचार, विश्वास तथा चिन्तन और व्यक्तित्व की गहरी छाप पड़ी हुई है। उनकी रचनाओं के सामान्य स्वरूप निर्धारण पर उसके चिन्तन एवं व्यक्तित्व के प्रभाव को समझने के लिए उनके व्यक्तित्व के मूलाधार—अर्थात्, उनके जीवन-दर्शन का सामान्य विवेचन करना उचित रहेगा। अतः, इसके आगे सर्वप्रथम उनके चिन्तन एवं जीवनादर्शों पर विचार किया गया है।

जीवनदर्शन—वृन्दावन लाल के ऐतिहासिक उपन्यासों पर एक विहंगम् दृष्टि डालते ही यह विदित हो जाता है कि उनके मन में अतीत के प्रति अपार श्रद्धा का भाव निहित है। उन्होंने साहित्य-सृजन के क्षेत्र में प्रविष्ट होने की प्रेरणा अतीत के प्रति श्रद्धा की भावना से पायी है, इसलिए उनकी रचनाओं में इसी श्रद्धा-भाव का स्वर गूंजता है। किन्तु, अतीत के प्रति श्रद्धा-भाव का तात्पर्य अतीत की कुछ महत्वपूर्ण घटनाओं, पुरातन काल के महापुरुषों अथवा विगत काल के स्वर्णिम युगों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने-मात्र से नहीं है। वस्तुतः, अतीत के प्रति श्रद्धा का अर्थ है उन जीवनादर्शों के प्रति श्रद्धा-भाव रखना जिनसे प्रेरणा लेकर विगत काल में सामान्य मानव महापुरुष बना और समाज-जीवन का विकास हुआ। अतः, जब वृन्दावनलाल वर्मा अतीत के प्रति श्रद्धा-भाव से नतमस्तक हो जाते हैं तो इससे यही समझना चाहिए कि वे युग-विशेष को परिचालित करने वाले जीवनादर्शों और इन जीवनादर्शों को मूर्त्त स्वरूप देने वाले महापुरुषों के प्रति नतमस्तक हैं। इतना ही नहीं, यदि किंचित् गहरे जाकर विचार करें तो पता चलेगा कि स्वयं वृन्दावनलाल का चिन्तन भी अतीत के इन्हीं जीवनादर्शों पर आधारित हैं और इन्हीं से उनका व्यक्तित्व निर्मित हुआ है।

आत्मत्याग का आदर्श—ये जीवनादर्श कौन से हैं ? उत्तर सरल है। वर्मा जी परम्परागत भारतीय जीवन के नैतिक-मूल्यों एवं आदर्शों के प्रति श्रद्धा रखते हैं इसलिए उनके चिन्तन में आत्मत्याग के भारतीय आदर्श को जीवन के चरम आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है। आत्मत्याग का अर्थ है पर-हित के लिए अपने निजी हित का त्याग, जन-कल्याण के लिए अपनी सुख-सुविधा का बलिदान।

---

1. G. J. Renier, 'History : Its purpose and Method'.

मानव-समाज के उत्तरोत्तर विकास के मूल में आत्मत्याग की भावना निहित रही है, और इसी से प्रेरणा लेकर व्यक्ति, अपनी चिन्ता छोड़कर समाज की चिन्ता करता आया है। वर्मा जी भी समाज के पूर्ण विकास के लिए आत्मत्याग को परमावश्यक मानते हैं, इसलिये उन्होंने अपनी सभी रचनाओं में आत्मत्याग की महिमा गायी है। उनके प्रायः सभी प्रमुख पात्र अपने जीवन में आत्मत्याग के आदर्श का पालन करते हैं, और अपने क्षुद्र व्यक्तिगत स्वार्थों को पर-हित पर न्योछावर करने के लिए तत्पर रहते हैं। आत्मत्याग का आदर्श, आत्मवलिदान में पूर्णता प्राप्त करता है, अतः, वृन्दावन लाल वर्मा ने आत्मत्याग की भावना से उत्पन्न होनेवाले आत्मवलिदान के आदर्श को जीवन के परमादर्श के रूप में देखा है। वस्तुतः, आत्म-त्याग के आदर्श ने वर्मा जी के चिन्तन को एक विशिष्ट दिशा प्रदान की है, जिसके कारण वे स्वहित के वजाय पर–हित को, व्यक्ति के वजाय समाज को और भौतिक सुख की अपेक्षा आत्मिक सुख को प्राधान्य देते हैं।

प्रेम का सात्विक रूप—वर्मा जी के चिन्तन में, आत्मत्याग के अतिरिक्त विशुद्ध-प्रेम के आदर्श का भी वहुत आदर है। उन्होंने वासना-रहित, विशुद्ध-प्रेम के सात्विक रूप की सराहना की है, और ऐन्द्रिक अथवा वासनाजनित प्रेम के विकृत रूप का तिरस्कार किया है। विशुद्ध प्रेम को वे एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में देखते हैं, जिससे स्फूर्ति लेकर मानव अपने जीवन को अधिकाधिक परिस्कृत वनाता है। उनके आदर्श प्रेम का स्वरूप साधनामय है, भोगमय नहीं, इसलिये, उनके आदर्श पात्रों में वासनापूर्ण छिछले प्रेम को स्थान नहीं है; अपितु, विशुद्ध प्रेम के आदर्श से आत्मवलिदान की प्रेरणा पाकर, उनके पात्रों के जीवन में गम्भीरता एवं सामर्थ्य का संचार हो जाता है। विशुद्ध प्रेम के आदर्श के पालन में वे जीवन की सिद्धि देखते हैं, इस कारण उनके प्रमुख पात्र इसी प्रेम-पथ का अनुसरण करते हुए अपने जीवन को सफल वनाते हैं।

तेजस्विता और शौर्य का आदर्श—त्याग एवं प्रेम पर आधारित जीवन में तेजस्विता के गुण का स्वतः समावेश हो जाता है, इसलिये वृन्दावन लाल ने उपर्युक्त दोनों गुणों के साथ-साथ शूरता और तेजस्विता को भी जीवन के आदर्श के रूप में स्वीकार किया है। वुन्देलखण्ड का विगत इतिहास तेजस्वी एवं शूरवीर व्यक्तियों के कारनामों से भरा हुआ है, अतः, उनके जीवन के इस उत्कृष्ट पहलू के उद्घाटन में वृन्दावन लाल की स्वाभाविक प्रवृत्ति को मनचाहा काम मिल गया है। वृन्दावन लाल पलायनवादी मनोवृत्ति के नहीं, वरन् जीवन के संघर्षों के साथ जूझते रहने और उन पर विजय पाने में ही मानव-जीवन का सार देखते हैं। और संघर्षों से जूझने के लिए जिस चारित्रिक दृढ़ता तथा प्रवल इच्छा-शक्ति की आवश्यकता होती है, वह तेजस्वी एवं शौर्यपूर्ण जीवन ही दे सकता है।

उद्देश्यपक्ष

जैसा कि पहले कहा गया है, बुन्देलखण्ड के अतीत काल के प्रति वृन्दावन लाल वर्मा के मन में श्रद्धा का भाव है और वे बुन्देलखण्ड के गौरवमय अतीत के सम्मुख नतमस्तक हैं। मध्ययुग में बुन्देलखण्ड राजनैतिक उथल-पुथल का केन्द्र था। इस युग में अनेक राजवंशों के सौभाग्य का सूर्य चमका और कई-एक राजवंशों ने अपने वैभव का अस्त भी देखा। आपसी संघर्षों और परकीय आक्रमणों का मानों यह अखाड़ा था, इसलिए इस युग में जहां एक ओर शूरवीर, आत्म-त्यागी और तेजस्वी महापुरुषों का जन्म हुआ, वहां दूसरी ओर, स्वार्थी, आत्मकेन्द्रित और दुष्ट प्रकृति वाले क्रूर व्यक्तियों की भी कमी नहीं थी। तो भी, बुन्देलखण्ड प्रदेश ने इस युग में कई-एक आदर्शप्राण तेजस्वी विभूतियां उत्पन्न कीं जिन्होंने युद्ध तथा मार-काट के वातावरण में भी कला के विकास के लिए यथोचित अवसर प्रदान करके तत्कालीन सभ्यता की श्रीवृद्धि की। अतः, जब वृन्दावन लाल वर्मा की दृष्टि बुन्देलखण्ड के इस गौरवमय अतीत की ओर जाती है तो उनका हृदय सहसा गद्गद् हो उठता है और इस युग की गौरव-गाथा का वर्णन करने में उनकी श्रद्धा सवाक् हो उठती है।

स्वर्णिम अतीत का उद्घाटन—वृन्दावन लाल वर्मा ने इस गौरवपूर्ण अतीत से प्रेरणा लेकर अपने ऐतिहासिक उपन्यासों का सृजन किया है, इसलिए उनकी रचनाओं का एकमेव उद्देश्य इस स्वर्णिम अतीत का उद्घाटन करना और इसका गुणगान करना है। उनके उपन्यास मानों अतीत के झरोखे हैं, जिनकी सहायता से वे बुन्देलखण्ड के गत वैभव को देखना और दिखाना चाहते हैं। इतना ही नहीं, इन ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से उन्होंने तत्कालीन जीवनादर्शों की झांकी प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उन पुरातन आदर्शों की नूतन सृष्टि करनी चाही है। इस कारण, वर्मा जी के उपन्यासों का उद्देश्य-पक्ष सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित रूप धारण किये हुए है। यह बात अलग है कि उन्होंने पुरातन आदर्शों के आलोक में आधुनिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिये उचित संकेत भी ढूंढ़ने का प्रयास किया है, तो भी, यह निर्विवाद है कि उन्होंने बुन्देलखण्ड के वैभवपूर्ण काल का मुख उज्ज्वल करने वाले उच्चादर्शों के उद्घाटन को ही अपनी रचनाओं के प्रधान लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया है। यहां यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि पुरातन आदर्शों की नूतन सृष्टि के लक्ष्य ने उनके उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष को बहुत प्रभावित किया है। इस प्रभाव के आकलन के लिये हमें उनकी रचनाओं के उद्देश्य-पक्ष के दो पहलुओं—अर्थात्, विषय-चयन एवं निष्कर्ष-निर्धारण—पर क्रमानुसार विचार करना होगा। इन दो में से विषय-चयन को ही पहले लें।

विषय चयन—वृन्दावन लाल ने बुन्देलखण्ड के अतीत के उद्घाटन को ही

अपने उपन्यासों का लक्ष्य बनाया है, इसलिए उनके अधिकांश उपन्यासों के विषयों का सम्बन्ध मध्ययुगीन बुन्देलखण्ड की गौरव-गाथाओं से है। उदाहरण के लिए उन्होंने खंगार वंश के सूर्यास्त और चन्देलों के उत्कर्ष को अपने प्रथम उपन्यास 'गढ़-कुण्डार' का विषय बनाया है। चन्देल वंशज सोहनपाल के पराक्रम एवं शौर्य के गुणगान के लिए उन्होंने चन्देलों द्वारा खंगारों की पराजय और कुण्डारगढ़ पर चन्देलों के आधिपत्य की ऐतिहासिक घटना के आधार पर इस उपन्यास की रचना की है। इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' का विषय भी ऐतिहासिक है। वृन्दावन-लाल वर्मा ने राजनैतिक षड्यन्त्र और युद्ध-जनित मारकाट की पृष्ठभूमि में कुमुद और कुंजरसिंह के विशुद्ध-प्रेम को इस उपन्यास का विषय बनाया है। दोनों के विशुद्ध-प्रेम की उत्कृष्टता दिखाने के लिए उन्होंने अलीमर्दन और राजा नायकसिंह जैसे वासनासक्त व्यक्तियों के चरित्र की झलक भी दिखा दी है।

वृन्दावन लाल ने बुन्देलखण्ड के मध्ययुगीन इतिहास के चित्रण के अतिरिक्त पिछली शताब्दी में झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के देशानुराग एवं आत्मबलिदान को 'झांसी की रानी' नामक उपन्यास का विषय बनाया है। रानी लक्ष्मीबाई की जीवनी पर यह उपन्यास आधारित है और भारत की इस महान् नारी के आत्मोत्सर्ग की महिमा का वर्णन करने के लिए वृन्दावन लाल वर्मा ने इस उपन्यास की रचना की है। उनके 'कचनार' और 'मृगनयनी' नामक इतर उपन्यासों में भी भारतीय नारी की आदर्शवादिता, उसके निश्छल प्रेम एवं उसके आत्मत्याग को उपन्यास का आधार बनाया गया है। इन उपन्यासों में शक्ति-रूपा नारी की अभिवन्दना की गयी है, और उसके अद्भुत सामर्थ्य एवं त्याग का यशोगान किया गया है।

निष्कर्ष निर्धारण—आदर्श की प्रतिष्ठा : वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए बुन्देलखण्ड के स्वर्णिम अतीत के विषयों का चयन करने के अतिरिक्त इन उपन्यासों के निष्कर्ष-निर्धारण से भारतीय जीवन के पुरातन आदर्शों की प्रतिष्ठा करनी चाही है। ये पुरातन आदर्श, आत्मत्याग, शौर्यपूर्ण एवं तेजस्वी जीवन से सम्बन्ध रखते हैं और वृन्दावन लाल के प्रत्येक उपन्यास के निष्कर्ष से उपर्युक्त किसी न किसी जीवनादर्श की प्रतिष्ठा होती है। उदाहरणार्थ, 'गढ़कुण्डार' उपन्यास के अन्त में उन्होंने पराक्रमी एवं सच्चरित्र चन्देल सरदार सोहनपाल की विजय तथा शराब के नशे में मदहोश खंगार नरेश हुरमत सिंह और उसके पुत्र नागदेव की मृत्यु दिखायी है। इस प्रकार वृन्दावन लाल ने सच्चरित्रता पराक्रम और शौर्य जैसे सद्गुणों की विलासिता, प्रमाद और घमण्ड जैसे दुर्गुणों के ऊपर विजय दिखाते हुए मानव जीवन में सदाचार की सराहना की है।

उनके 'विराटा की पद्मिनी' नामक उपन्यास के अन्त में कुमुद और कुंजरसिंह के परस्पर स्वच्छ-प्रेम तथा उनके आत्मत्यागी एवं तेजस्वी जीवन की

झांकी दी गई है। वृन्दावन लाल ने दो हृदयों के परस्पर मिलन में उच्चादर्श का सचार कर, इस मिलन की भव्यता पर ही अधिक जोर दिया है। यह मिलन भोगमय नहीं त्यागमय है, इसलिये, उपन्यास के अत में कुमुद और कुंजरसिंह, आदर्श प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं।

वृन्दावन लाल ने आत्मोत्सर्ग और आत्मबलिदान के जीवनादर्श को अपने चिन्तन में शीषस्थान दिया है, इस कारण उनके अधिकाश उपन्यासों के निष्कर्ष से इसी उच्चादर्श की ध्वनि निकलती है। उदाहरण के लिये, 'झांसी की रानी' में उन्होंने रानी लक्ष्मीबाई के आत्मोत्सर्ग द्वारा उनके शौर्य और देश-प्रेम की ज्वलन्त भावना का दिग्दर्शन कराया है। भारतीय नारी अबला न होकर सबला है, समय आने पर वह अपना सर्वस्व भी सहर्ष होम कर सकती है। भारतीय नारी की इस तेजस्वी मूर्ति की प्रतिष्ठा करते हुए वृन्दावन लाल वर्मा ने इस उपन्यास के अन्त में स्वातन्त्र्य-यज्ञ में लक्ष्मीबाई को अपने जीवन की आहुति देते हुए दिखाया है।

भारतीय नारी के उपर्युक्त तेजस्वी रूप की प्रतिष्ठा एवं विशुद्ध-प्रेम तथा आत्मोत्सर्ग जैसे उदात्त जीवनादर्शों की स्थापना के हेतु वृन्दावन लाल वर्मा ने 'कचनार' और 'मृगनयनी' का निष्कर्ष निर्धारित किया है। 'कचनार' की नायिका, वासना-रहित विशुद्ध प्रेम का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए अपनी तपश्चर्या तथा एकनिष्ठा द्वारा राव साहिब दिलीप सिंह को पुनः राज्य-सिहासन पर आसीन करा देती है। इसी प्रकार 'मृगनयनी' की नायिका, निन्नी, भी ग्वालियर के राजा मानसिंह के प्रति अपने सच्चे प्रेम का परिचय देते हुए आमोद-प्रमोद में न पड़कर राज्य के विकास की चिन्ता करती है और अपने पुत्रों के लिए राज्य-सिंहासन का अधिकार सुरक्षित कराने के लोभ में न पड़कर आत्म-त्याग का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार वृन्दावन लाल ने प्रायः सभी उपन्यासों के ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं जिनसे कि भारतीय नारी के तेजोमय एवं तपःपूत स्वरूप की प्रतिष्ठा के साथ-साथ आत्म-त्याग और निष्कपटता जैसे उदात्त जीवनादर्शों की भी प्रतिष्ठा हो जाती है।

कथानक

वृन्दावन लाल वर्मा ने मध्ययुगीन बुन्देलखण्ड के राजनैतिक और सामाजिक जीवन का उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत करने के लिए अपने उपन्यासों के कथानकों की रचना बहुत ध्यान से की है। उन्होंने अपने मानस-चक्षुओं के समक्ष बुन्देलखण्ड के उज्ज्वल अतीत का चित्र सदैव रखा है और उस चित्र के अनुसार ही कथानक के गठन, घटनावली के निर्माण तथा कथानक के उपसंहार का आयोजन किया है। इस प्रकार बुन्देलखण्ड के गौरवमय अतीत की झांकी प्रस्तुत करने के एकमेव लक्ष्य

का उनके कथानक-पक्ष पर जो प्रभाव पड़ा है उस पर क्रमानुसार विचार किया जायेगा।

कथानक का गठन—ऐतिहासिक घटनाओं का आधार : जैसा कि उनकी रचनाओं के नामकरण से प्रकट है, वृन्दावन लाल वर्मा ने इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं अथवा इतिहास की उज्ज्वल विभूतियों के जीवन के आधार पर अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के कथानकों की रचना की है। बुन्देलखण्ड के इतिहास में ऐसी प्रसिद्ध घटनाओं की भरमार है। यहां के प्रत्येक किले, गढ़ी, पर्वत और कन्दरा पर किसी न किसी प्रसिद्ध विभूति के नाम की छाप लगी हुई है। इस वीर-प्रसू भूमि ने अपने गौरवमय अतीत में अनेक पराक्रमी, शूरवीर और आत्मत्यागी सन्तानों को जन्म दिया है, इसलिए, इस भूमि के चप्पे-चप्पे पर इसकी सन्तति की गौरव-गाथा लिखी हुई है। वृन्दावन लाल की कुशलता इसी में है कि वे इस प्रदेश की सरसराती वायु, बहते नदी-नालों और शान से मस्तक उठाये पर्वतों की आत्मा में झांककर इस प्रदेश की गौरव-गाथा से अवगत हो सके हैं। वस्तुतः, इस गौरव-गाथा की प्रतीक—रूपा अनेक इतिहास-प्रसिद्ध घटनाओं एवं महान् विभूतियों से प्रेरणा पाकर ही उन्होंने अपने कथानकों का गठन किया है।

उदाहरण के लिए 'गढ़कुण्डार' नामक उपन्यास का कथानक १४वीं शती में चन्देलों और खंगारों के संघर्ष को आधार बनाकर रचा गया है। वृन्दावन लाल ने गढ़-कुण्डार पर चन्देलों के आधिपत्य और विलास-प्रिय खंगारों के पराजय की कथा कहकर उस काल में चलने वाली राजनैतिक पैंतरेबाजी का अच्छा चित्रण किया है। साथ ही राजपूती शान और शौर्यपूर्ण कृत्यों की कहानी कहकर उन्होंने उस काल की सामान्य प्रवृत्ति की ओर भी संकेत किया है।

वृन्दावन लाल का दूसरा उपन्यास 'विराटा की पद्मिनी' तत्कालीन गौरवमय इतिहास का मानों एक और उज्ज्वल पृष्ठ है। इसका कथानक विराटा के दांगी राजपूतों के आत्मबलिदान की गाथा पर आधारित है, जो कि नारी के सतीत्व की रक्षा के लिये मर मिटे। जिस प्रदेश का पुरुषवर्ग अपनी आन के लिये जान सदव हथेली पर लिये रहता है, उस प्रदेश की नारियां भला पीछे कैसे रह सकती हैं? अतः, वृन्दावन लाल ने 'झांसी की रानी', 'कचनार' और 'मृगनयनी' में बुन्देलखण्ड की पराक्रमी, दृढ़व्रती और तेजस्वी नारियों की जीवन-गाथाओं के आधार पर गठन करते समय उन्होंने ग्वालियर नरेश, मानसिंह की रानी मृगनयनी के जीवन को आधार बनाया है। एक अपढ़, गंवार गूजरी होने पर भी वह अपने जन्मजात बड़प्पन के कारण न केवल मानसिंह के राजकार्य में सहयोग देती है, अपितु विविध कलाओं के प्रसार में भी उसका प्रमुख हाथ है। इस प्रकार वृन्दावन लाल ने अपने उपन्यासों के कथानकों के लिए रणबांकुरे बुन्देलों के पराक्रम एवं शौर्य के अतिरिक्त इस प्रदेश की वीर और तेजस्वी नारियों के जीवन से भी प्रेरणा ली है

और इस प्रदेश की आत्मत्यागी एवं उज्ज्वल विभूतियों के कारनामों के आधार पर कथानकों का गठन किया है।

कथानक का विकास—यह सत्य है कि वृन्दावन लाल ने अपने सभी उपन्यासों के कथानकों के गठन के लिए इतिहास की सच्ची घटनाओं का आधार लिया है, किन्तु, जब कथानक के विकास के लिए वह घटनावली के निर्माण की ओर प्रवृत्त होते हैं तब उन्हें इतिहास की सच्ची घटनाओं के अतिरिक्त परम्परा, जनश्रुति और अपनी कल्पना-शक्ति का काफी सहारा लेना पड़ा है। उपन्यासों के कथानकों के विकास में परम्परा एवं जनश्रुति की सहायता को स्वयं स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा भी है, 'परदेसियों के तोड़ मोड़ कर लिखे हुए इतिहास पटकें खाये हुए उस चमकते हुए टीन के कनस्टर के समान हैं जिसमें सुन्दर से सुन्दर चेहरा अपने को कुरूप और विकृत पाता है। परन्तु परम्परा अतिशयता की गोद में खेलती हुई भी सत्य की ओर संकेत करती है, इसलिये मुझको परम्परा, इतिहास से भी अधिक आकर्षक जान पड़ती है।'[1]

युद्ध की घटनायें—यहां उल्लेखनीय है कि वृन्दावन लाल ने जनश्रुति अथवा परम्परा की सहायता से कथानक का विकास करते समय अधिकतर उन्हीं घटनाओं को लिया है जिनसे कि पात्रों के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया जा सके। इनमें से अधिकांश घटनायें युद्ध और प्रेम की हैं क्योंकि इन घटनाओं की सहायता से किसी भी पात्र के चरित्र की कठोरता अथवा कोमलता, बहुत सरलता से चित्रित की जा सकती है। फलस्वरूप, वृन्दावन लाल वर्मा ने कथानकों का विकास करते समय जन-श्रुति पर आधारित युद्ध और प्रेम की घटनाओं का भरपूर उपयोग किया है; यहां तक कि प्रेम-प्रसंगों के अत्यधिक उपयोग के कारण उनके उपन्यासों को 'ऐतिहासिक रोमान्स' की संज्ञा देते हुए कहा गया है—'वर्मा जी के उपन्यासों की सबसे बड़ी विशे-षता उनके ऐतिहासिक रोमान्स हैं। इतिहास के आधार से सुगठित प्रेम-कहानी की सजीव और मर्मस्पर्शी उद्भावना में वे अकेले हैं।'[1]

वृन्दावन लाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों में युद्ध और प्रेम की घटनाओं के सहारे कथानक का विकास करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उनके 'गढ़-कुण्डार' नामक उपन्यास के प्रारम्भ में भरतपुरा गढ़ी पर मुसलमानी सेना के आक्र-मण की घटना है जिसमें चन्देल सरदार सोहनपाल, और खंगार राजकुमार अग्नि-देव के शौर्य का सहज ही पता चल जाता है। तदुपरांत चन्देल सरदार, पुण्यपाल और हुरमत सिंह के एक पडिहार सरदार के बीच द्वन्द्वयुद्ध के समय मुसलमानी सेना के आक्रमण करने और परास्त होकर लौटने की घटना है। अंतिम घटना, शराब में

---

१. वृन्दावन लाल वर्मा, 'कचनार'।

२. गंगाप्रसाद पाण्डय, 'आधुनिक कथा साहित्य'

मस्त खंगार सरदारों पर चन्देलों के आक्रमण की है जिसमें खंगारों को मौत के घाट उतार कर चन्देल सरदार, सोहनपाल, कुण्डार-गढ़ पर कब्जा कर लेता है।

इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' में कथानक का आरम्भ दिलीप नगर के वृद्ध राजा नायकसिंह और कालपी की मुसलमानी सेना की मुठभेड़ से होता है। कथानक के मध्य में देवीसिंह और कुंजर सिंह के युद्ध के उपरान्त कथानक की परिसमाप्ति देवीसिंह और अलीमर्दन के बीच भीषण युद्ध के वातावरण में होती है। युद्ध की उपर्युक्त घटनाओं द्वारा वृन्दावन लाल ने नायक सिंह, देवीसिंह, लोचन सिंह और कुंजर सिंह के शौर्य का वर्णन बहुत कुशलतापूर्वक किया है।

वृन्दावन लाल वर्मा के 'झांसी की रानी' नामक उपन्यास के कथानक का मूलाधार ही भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम है, अतः, इसमें अंग्रेजी सेना तथा रानी लक्ष्मीबाई के बीच होने वाले युद्ध का विशद् वर्णन है। रानी लक्ष्मीबाई द्वारा झांसी की वीरतापूर्वक रक्षा, कालपी का युद्ध, ग्वालियर पर आक्रमण और अंत में अंग्रेजी सेना के साथ लड़ते-लड़ते रानी के स्वर्गवास होने की युद्धमूलक घटनाओं से कथानक का विकास किया गया है। इसी प्रकार 'कचनार' के कथानक का विकास भी आक्रमण और प्रत्याक्रमण की घटनाओं की सहायता से किया गया है। धामौनी दुर्ग पर बारी-बारी से सागर की सेना, अचलपुरी के गुसांई सैनिकों और तदुपरान्त डोरीसिंह की सेना के आक्रमण की घटनाओं से कथानक विकसित हुआ है।

अन्त में, 'मृगनयनी' का कथानक भी युद्ध की घटनाओं से आगे बढ़ाया गया है। 'मृगनयनी' के कथानक का आरम्भ सिकन्दर लोदी के ग्वालियर पर विफल आक्रमण के संकेत से होता है और ज्यों-ज्यों कथानक आगे बढ़ता जाता है, युद्ध की मारकाट भी बढ़ती जाती है। गयासुद्दीन द्वारा नरवर पर आक्रमण और राजा मानसिंह का ससैन्य नरवर पहुंच कर आक्रमणकारी को भगा देना, सिकन्दर लोदी का ग्वालियर पर बार-बार आक्रमण और राई की गढ़ी और नरवर के किले को ध्वस्त करने की युद्धात्मक घटनाओं से इस उपन्यास के कथानक का विकास तो होता ही है, साथ ही, कथानक में ओज एवं रोचकता का भी संचार हो जाता है।

प्रणय प्रसंग—जिस प्रकार वृन्दावन लाल ने कथानक का विकास करते समय युद्धात्मक घटनाओं की सहायता से अपने प्रमुख पात्रों के शौर्य का चित्रण किया है, उसी प्रकार उन्होंने प्रेम-प्रसंगों की सहायता से इन पात्रों की चरित्रगत उदात्तता एवं कोमलता का भी उद्घाटन किया है। यही कारण है कि युद्ध और प्रेम के ताने-बाने से उनके कथानकों की रचना हुई है। उनके प्रत्येक उपन्यास में आदर्श प्रेम का उदाहरण रखने वाला एक-न-एक जोड़ा अवश्य है। अतः कथानक में युद्धात्मक घटनाओं के साथ-साथ आदर्श-प्रणय की घटनाओं का संयोग कर वृन्दावन लाल ने उपन्यास में क्रूरता और कोमलता, शौर्य और भव्यता का अपूर्व समन्वय कर दिया है।

प्रणय और शौर्य—उदाहरण के लिए, 'गढ़-कुण्डार' में तारा और दिवाकर, 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद और कुंजर सिंह, 'झांसी की रानी' में जुही और तांत्या टोपे, काशीबाई और खुदाबख्श, 'कचनार' में कचनार और दिलीप सिंह तथा 'मृगनयनी' में निन्नी और राजा मानसिंह तथा लाखी और अटल के आदर्श-प्रणय की घटनाओं को लेकर कथानक का विकास किया गया है। इन प्रणय-व्यापारों की घटनाओं की प्रमुख विशेषता यही है कि इनमें वासना-मूलक अथवा काम-प्रधान प्रेम के स्थान पर प्रेम के उदात्त एवं भव्य रूप की प्रतिष्ठा की गई है। इन पात्रों के प्रणय में ठुसक-ठुसक कर रोने, आंसू बहाने अथवा उपालम्भ देने के करुण पक्ष के बजाय उन्होंने प्रणय के शौर्य पूर्ण एवं कठोर पक्ष को प्राधान्य दिया है। यही कारण है कि प्रेम-व्यापार में रत वृन्दावन लाल के पात्र, अवसर आने पर दूने उत्साह और उमग के साथ रणक्षेत्र में भी कूद पड़ते हैं। प्रणय और शौर्य के इस अनुपम संयोग को देखते हुए वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों के कथानकों के बारे में यह कहना पड़ता है कि उन्होंने युद्ध की घटनाओं और प्रणय-प्रसंगों के ताने-बाने से कथानक का विकास करते हुए अपने पात्रों के चरित्र के कोमल और कठोर, दोनों, पक्षों का उद्घाटन भी किया है।

कथानक का उपसंहार—उपसंहार में आदर्श की प्रतिष्ठा : वृन्दावन लाल ने कथानक के गठन एव विकास द्वारा जिस भव्य जीवन-आदर्श की झांकी दी है, उसकी प्रतिष्ठा उन्होंने कथानक के उपसहार में की है। किन्तु उपसहार में आदर्श की प्रतिष्ठा का यह अर्थ नहीं कि उनके कथानकों का उपसहार सुखपूर्ण ही हुआ है। विपरीत इसके, कथानक के दुखपूर्ण अन्त द्वारा भी वे उपन्यास के भव्य आदर्श को अधिक उज्ज्वल बनाने में सफल हुए हैं।

दुखान्त कथानक : उदाहरण के लिए, उनका 'विराटा की पद्मिनी' नामक उपन्यास दुखान्त है। उपन्यास के अंत में कुमुद जल-समाधि ले लेती है, कुंजर सिंह देवीसिंह के हाथों मारा जाता है और विराटा के दांगी वीर साका करके वीरगति को प्राप्त होते हैं। किन्तु इस दुखान्त उपसंहार द्वारा आत्मबलिदान और विशुद्ध प्रेम के आदर्श की उज्ज्वलता, घटने के बजाय, अधिक बढ़ी ही है। इसी प्रकार, उनके 'झांसी की रानी' नामक उपन्यास का अन्त दुःखपूर्ण वातावरण में हुआ है। स्वातन्त्र्य-संग्राम में अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ते-लड़ते यद्यपि रानी लक्ष्मीबाई का प्राणान्त हो जाता है, तो भी उनके आत्मोत्सर्ग के उदाहरण से स्वातन्त्र्य की लड़ाई जारी रखने की सहज प्रेरणा मिलती है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए वृन्दावन लाल ने इस उपन्यास के उपसंहार को, 'अस्त' की संज्ञा देने के उपरान्त, इस नामकरण पर 'क्या सचमुच' का प्रश्न चिन्ह लगा दिया है। उनका आशय यही है, कि स्वातन्त्र्य-संग्राम में रानी लक्ष्मीबाई की आत्माहुति अकारथ नहीं जाएगी, अपितु इस आत्म-बलिदान से प्रेरणा लेकर भारत की भावी सन्तान इसका भाग्य-सूर्य पुनः चमकाएगी।

सुखान्त कथानक : वृन्दावन लाल के शेष उ ।
'गढ़-कुण्डार' में चन्देल सरदार सोहनपाल द्वारा कुण्डार
चन्देलों द्वारा विलासी एवं क्रूर खंगार नरेश, हुरमत
को मौत के घाट उतारने की घटना का उल्लेख कर, उ
और शौर्य का ही गुणगान किया है। इसी प्रकार, '
संहार में उन्होंने धामोनी पर राव दिलीप सिंह के पुनः
के साथ विवाह करने की घटना का उल्लेख कर, उपन्यास
है। 'मृगनयनी' के कथानक के अन्त में ग्वालियर पर
सिकन्दर लोदी की असफलता दिखाकर उन्होंने ग्वालियर
प्रचण्ड शौर्य की, और मृगनयनी द्वारा अपने पुत्रों को र
करने की घटना से उसकी त्यागपूर्ण मनोवृत्ति की
जाये तो वृन्दावन लाल ने जिस आदर्श के आधार पर
किया है, उसी आदर्श का चरमोत्कर्ष उन्होंने कथानक के
आदर्श की परोक्ष रूप से प्रतिष्ठा की है।

चरित्र-चित्रण

वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों के कथानकों के
रान्त यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि बुन्देलखण्ड
पुरातन आदर्शों के प्रति उनके प्रगाढ़ प्रेम का प्रभाव
पक्ष पर बहुत गहरा पड़ा है। कथानक-पक्ष के अतिरिक्त
द्वारा पात्रों के चयन तथा उनके चरित्र-विकास पर वि
चलेगा कि इस उपन्यास-रचना के इस पहलू पर भी उनके
प्रेम का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। पहली बात तो यही है कि
खण्ड के विगत इतिहास के उद्घाटन के लिए प्रायः
उनके प्रमुख पात्र उधार लिये हुये अथवा कल्पना-प्रसूत
पराक्रम तथा आत्मबलिदान से इन्होंने इतिहास में अपना
इतना ही नहीं, आज की पीढ़ी जिन विभूतियों को प्रायः
उन्हें भी अपनी रचनाओं में स्थान देकर अमर बना
इतिहास-प्रेम का ही परिणाम है कि वर्मा जी के प्रायः
के प्राचीन इतिहास से लिये गये हैं।

पात्रों का चयन—उदाहरण के लिए, 'गढ़-कुण्डार'
मत सिंह, 'विराटा की पद्मिनी' के नायक सिंह, कुन्जर
रानी' के प्रायः सभी पात्र, 'कचनार' के अचलपुरी,
तथा 'मृगनयनी' के राजा मानसिंह, अटलसिंह, सिकन्दर

मृगनयनी और लाखी आदि सभी पात्रों के नामों का इतिहास में वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे पात्रों की अवतारणा भी उनके उपन्यासों में की गयी है, जिनमें से अधिकांश पात्र जनश्रुति में अभी भी जीवित हैं।

इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों को अपनी रचनाओं में स्थान देने के साथ-साथ वृन्दावन लाल के उपन्यासों में पात्रों की संख्या काफी है। उनके किसी भी उपन्यास में बीस-पच्चीस से कम पात्र नहीं मिलते। इसका प्रमुख कारण तो यह है कि युग-विशेष के जीवन के प्रत्येक पहलू को उपन्यास में चित्रित करने के प्रयास में उन्हें विविध क्षेत्रों से पात्र चुनने पड़े हैं। इसलिये राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले अनेक पात्र उनकी रचनाओं में मिलते हैं। उदाहरण के लिए, 'गढ़-कुण्डार' और 'विराटा की पद्मिनी' में प्रायः बीस-बीस, 'झांसी की रानी' में पच्चीस, 'कचनार' में बीस और 'मृगनयनी में पुनः लगभग पच्चीस पात्र लिए गये हैं। इनमें से प्रत्येक उपन्यास में तीन-चार प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त शेष गौण पात्र हैं जो रंगमंच पर क्षण भर के लिये आते हैं और अपना काम पूरा करके जवनिका के पीछे चले जाते हैं।

पात्रों का चरित्र-विकास—वृन्दावन लाल वर्मा ने इतिहास के प्रति श्रद्धा का भाव रखते हुये जहां एक ओर इतिहास-प्रसिद्ध पात्रों को चुना है, वहां इन पात्रों का चरित्र-विकास भी इस ढंग से किया है कि पाठक के मन में इन पात्रों के प्रति श्रद्धा का भाव बरबस उमड़ पड़ता है। उन्होंने अपने प्रमुख पात्रों को किसी-न-किसी आदर्श का पालन करते हुये दिखाया है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि उनके पात्र शुद्ध आदर्शवादी धरातल पर ही प्रकट हुये हैं। वृन्दावन लाल वर्मा ने इन्हें उच्चादर्श का प्रतिनिधित्व करते हुये दिखाया है, फिर चाहे वह आदर्श जातीय स्वाभिमान का हो या विशुद्ध प्रेम का हो, अथवा प्रचण्ड शौर्य का ही क्यों न हो। वस्तुतः, वृन्दावन लाल के सभी प्रमुख पात्रों का चरित्र-विकास आदर्शवादी धरातल पर होने के कारण ये मात्र पाठक की श्रद्धा एवं सहानुभूति को अपनी ओर सहज ही खींच लेते हैं।

स्वाभिमान की भावना—वृन्दावन लाल के प्रमुख पात्रों का चरित्र-विकास आदर्शवादी धरातल पर होने के कारण उनके पात्रों की चरित्रगत विशेषतायें प्रायः समान हैं। इनमें से एक विशेषता है—स्वाभिमान की भावना की। वृन्दावन लाल के सभी प्रमुख पात्रों में स्वाभिमान की भावना इतनी कूट-कूट कर भरी हुई है कि वे अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपने प्राण तक दे डालने को सदैव तत्पर रहते हैं। उदाहरण के लिये, 'गढ़-कुण्डार' के चन्देल सरदार सोहनपाल तथा पुण्यपाल और कुण्डार का अग्निदत्त अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हैं। खंगार राजकुमार नागदेव द्वारा हेमवती के अपहरण

के असफल प्रयास की सूचना पाकर, सोहनपाल का रक्त उबल पड़ता है और वह खंगारों को मटियामेट करने की योजना बनाता है। खगार राजकुमार नागदेव से अपमानित होने पर अग्निदत्त में भी प्रतिशोध की ज्वाला धधक उठती है और वह अपने पिता को पत्र में लिखता है—'अभी-अभी उस नीच खंगार ने ब्राह्मण का अपमान किया है। ब्राह्मण ने भगवान् को लात मारी थी, तब उन्होंने उस लात को चूम लिया था। आज खगार ने ब्राह्मण को लात मारी है।...मैं अब कुण्डार न आऊंगा। मेरे विषय में दो-चार दिन में एक घोषणा की जाएगी। उससे आप भयभीत मत होना। खगारों का नाश निकट है। मैंने प्रण किया है कि खगारों का नाश करूंगा या मर जाऊंगा।'[1]

यह स्वाभिमान की भावना उनके प्रत्येक पात्र में है, चाहे यह जातीय स्वाभिमान के रूप में हो अथवा व्यक्तिगत स्वाभिमान के रूप में। 'विराटा की पद्मिनी' का कुन्जरसिंह स्वाभिमानपूर्वक कहता है—'मैंने अपनी नीति निश्चित कर ली है...मैं इस गढ़ को अलीमर्दन के अधिकार में न जाने दूंगा। वह हमारी सहायता सेंत-मेत करने नहीं आया है; सिंहगढ़ का परगना और किला सदा के लिये हथियाना चाहता है, क्योंकि कालपी की भूमि उसके पास पड़ती है। मैं इस बपौती को प्राण रहते न जाने दूंगा।'[2] इस स्वाभिमान की भावना के कारण ही लोचनसिंह युद्ध जीतने पर सेनापति का पद त्याग कर अन्यत्र चला जाता है, किन्तु देवीसिंह की चाकरी उसे स्वीकार्य नहीं।

वृन्दावन लाल ने झांसी की रानी लक्ष्मीबाई की स्वाभिमानी मनोवृत्ति का स्थान-स्थान पर परिचय दिया है। झांसी-नरेश, गंगाधरराव द्वारा कैप्टन गार्डन को खरी-खरी सुनाने पर वह अपने पति की प्रशंसा करते हुये कहती हैं—'आज मैं जितनी सुखी हुई उतनी कदाचित् ही कभी हुई होऊं। मुझको शिवराव भाऊ की बहू होने का घमण्ड है, बहुत घमण्ड है। मुझको अपने राजा का, अपनी झांसी का अभिमान है। मन को केवल एक कसर खटक रही है—मुझसे और उस गार्डन से बात हुई होती तो मैं ऐसी करकरी सुनाती कि उसको अपने पुरखे याद आ जाते।'[3]

'कचनार' और 'मृगनयनी' नामक उपन्यासों में भी वृन्दावन लाल ने अपने प्रमुख पात्रों को स्वाभिमान एवं आत्मगौरव की भावना से ओत-प्रोत दिखाया है। उदाहरण के लिए, कचनार में नारीत्व का अभिमान इतना कूट-कूट कर भरा हुआ है कि वह दासी होने पर भी राव दिलीपसिंह की रखैल बनने को तैयार नहीं। उसके आत्मसमर्पण की शर्त है—'मेरे साथ भांवर डालिये। मुझको अपनी पत्नी की प्रतिष्ठा दीजिये। अपनी जीवन सहचरी बनाइये। वचन दीजिए। मैं आपके चरणों

१. 'गढ़-कुण्डार', २. 'विराटा की पद्मिनी', ३. 'झांसी की रानी',

में अपना मस्तक रख दूंगी।...मैं ऐसा अंगरखा नहीं बन सकती जो जब चाहा उतार फेंक दिया। यदि जबरदस्ती की तो आप मुझको तुरन्त मरा हुआ पायेंगे।'[1] इसी प्रकार मृगनयनी में स्वाभिमान एवं आत्म-सम्मान की भावना इतनी उग्र है कि वह राजा मानसिंह का यह प्रस्ताव ठुकरा देती है कि सिकन्दर लोदी को कुछ धन देकर आक्रमण करने से रोक दिया जाये विपरीत इसके, वह उसे क्षत्रिय-धर्म का पालन करने और सिकन्दर लोदी से समरांगण में लोहा लेने की प्रेरणा देती है। उसका कथन है—'मैं कविता नहीं जानती परन्तु पूछती हूं कि क्या यही ऊषा, दोपहर की प्रचंड किरण नहीं बन जाती? बड़ी रानियों ने एक समाचार भेजा था कि यदि बुरी से बुरी घड़ी आ गयी तो हम सब जौहर करेंगी। क्या ऊषा प्रचंड किरण न बनकर, गगन में ऊपर न उठ कर, फिर नीचे धँस जायेगी?'[2]

आत्मबलिदान—वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यासों में आदर्श पात्रों के सृजन के लिये उनमें स्वाभिमानी मनोवृत्ति के साथ-साथ दृढ़-प्रतिज्ञा, शौर्य एवं आत्मबलिदान की उत्कट भावना भी दिखाई है। 'गढ़-कुण्डार' का अग्निदत्त अपने अपमान का बदला लेने की दृढ़-प्रतिज्ञा करता है—'दिवाकर, मैं ब्राह्मण हूं। खंगारों ने मेरा जो अपमान किया है उसको अमावस्या की काली रात ही जानती है, और किसकी उपस्थिति में? रणचण्डी के खप्पर में यदि खंगारों का रक्त न भरा गया, तो मेरा जन्म अकारथ गया। इसी खप्पर में अग्निदत्त का ब्राह्मण रक्त भी जा मिलेगा। वह होगा सच्चा ब्राह्मण-खंगार सम्मेलन।'[3] अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करते हुये अन्त में अग्निदत्त, मानवती की रक्षा के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देता है। इसी प्रकार 'विराटा की पद्मिनी' का कुंजर सिंह, कुमुद की रक्षा करने की प्रतिज्ञा करता है और अलीमर्दन तथा देवीसिंह के सैनिकों से लड़ते हुये वीरगति को प्राप्त होता है। उसके निष्कपट प्रेम और शौर्य का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'कुंजर मन्दिर की दीवार के पास, एक टोर की आड़ में, जहां से नदी की धार रामनगर की ओर से आई है, कन्धे से बन्दूक लगाये अकेला बैठा था। उत्साह था; हृदय में अपूर्व बल प्रतीत होता—मन्दिर की रक्षा के लिये मन्दिर की विभूति के लिये। दिन को गोलियां पास से निकल जाती थीं, गोले धम्म से आकर धूल और कंकड़ों को बिखेर देते थे। एक छोटी-सी जगह सबदल सिंह ने दे रखी थी, उसी को उस राजकुमार ने बहुत समझा। मुस्तैदी से अपने स्थान पर डटा रहता था। केवल प्रातःकाल मन्दिर में दर्शन के लिये आता था, और एकाध बार दिन में भी नरपति की कुशल-क्षेम पूछने को गुफा पर पहुंच जाता था। वह टोर, जहां एक कम्बल और लोटा लेकर कुंजर सशस्त्र डटा रहता था, उसके लिये तीर्थ-स्थान-सा हो उठी थी।'[4]

१. 'कचनार' २. 'मृगनयनी'
३. 'गढ़-कुण्डार' ४. 'विराटा की पद्मिनी'

आत्मोत्सर्ग की यह उदात्त भावना कुमुद के मन में भी व्याप्त है, अतः विराटा पर आक्रमण होने पर वह गढ़ी छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाना चाहती। उसके उद्‌गार हैं—'यह असम्भव है। सब लोग यहीं हैं, मैं भी यहीं रहूंगी। पार्थ, सारथी और तोपों के चलाने वाले जब यहां हैं, तो मेरा बाल बांका नहीं हो सकता। और, जब कुछ भी न रहेगा, तो मां बेतवा तो सदा साथ हैं। आप अपनी रक्षा की चिन्ता अवश्य करें। मैंने जिस गोद में जन्म लिया है, उसे नष्ट होता हुआ नहीं देखना चाहती...'[1] अन्त में वह भी बेतवा की धार में जल-समाधि लेकर अपनी इहलीला समाप्त कर देती है।

वृन्दावन लाल वर्मा ने झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के दृढ़निश्चयी एवं आत्मत्यागी स्वभाव का चित्रण किया है। अपनी प्रतिज्ञा के पालन में वह सर्वस्व न्योछावर कर देती है। और, भारत को स्वतन्त्र कराने की प्रतिज्ञा करते हुए वह कहती है -'यदि हिन्दुस्तान में कोई भी स्वराज्य-प्राप्ति के पवित्र काम को हाथ में न ले, तो भी मैंने अपने कृष्ण के सामने, अपनी आत्मा के भीतर उसका बीड़ा उठाया है। करूंगी और फिर करूंगी। चाहे मेरे पास खड़ी होने के लिए हाथ भर भूमि ही क्यों न रह जाये।'[2] यही दृढ़व्रती स्वभाव और आत्मोत्सर्ग की भावना कचनार और मृगनयनी में भी है। धामौनी के नये नरेश, मानसिंह, की कामलिप्सा से बचने के लिए कचनार अपने प्राणों की बाजी लगा देती है और दासी से कहती है—'मैं महन्त महाराज की सेवा में सन्यास के लिए जा रही हूं। यदि मिल गयी तो मेरे लिए मरने तक सुख ही सुख है, यदि महाराज ने दीक्षा न दी तो किसी तीर्थ में चली जाऊंगी। यदि तुम्हारे महाराज ने मेरा पीछा किया, तो यह छुरी मुझको बचा लेगी।'[3]

अपने आदर्श पात्रों में स्वाभिमान, शौर्य और आत्मोत्सर्ग की भावनाएं भरने के अतिरिक्त वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने उपन्यासों के अन्य पात्रों को भी उपर्युक्त उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत दिखाया है। उदाहरण के लिए, 'गढ़-कुण्डार' के सहजेन्द्र, दिवाकर और तारा, 'विराटा की पद्‌मिनी' के सबदल सिंह, देवीसिंह और छोटी रानी, 'झांसी की रानी' के तांत्या टोपे, गौसखां, गुलमुहम्मद, काशीबाई, मोती बाई और जुही, और 'मृगनयनी' के अटल तथा लाखी जैसे अन्यान्य पात्रों को भी उन्होंने आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है। प्रमुख पात्रों का अनुसरण करते हुये ये पात्र भी अपने जीवन की आहुति देने को तत्पर हैं और अवसर आने पर अपना कदम पीछे नहीं हटाते।

भाषा

वृन्दावन लाल वर्मा ने आदर्शवादी, पराक्रमी और तेजस्वी पात्रों के चरित्र

---

१. 'विराटा की पद्‌मिनी' २. 'झांसी की रानी' ३. 'कचनार'

ं के कथोपकथनों का भी यथेष्ट सहारा लिया है। पात्रों
जीवनादर्शों को उनके कथोपकथनों के माध्यम से अभि-
हुआ है कि वृन्दावन लाल के उपन्यासों की भाषा भी
ता के रंग में रंग गयी है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने
ण्ड के ऐसे युग का चित्र खींचा है जिसमें पराक्रम और
न के चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया था।
करने वाले पात्रों के चरित्र-चित्रण तथा उस युग की
की अभिव्यक्ति को अपनी रचनाओं में शीर्षस्थान देने के
ी भाषा भी पात्रानुकूल एवं युगानुकूल गुणों से मण्डित

वन लाल के उपन्यासों की उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान
देगा कि तेजस्वी पात्रों का अनुकरण करते हुए उनके
ओजस्वी बन गयी है। जब वह युद्धों, आक्रमणों और
ने लगते हैं, तो उनकी भाषा की सजीवता देखने लायक
नझनाहट, तोपों के गर्जन, और युद्ध के नशे में मस्त
सजीव वर्णन शायद ही कहीं मिलेंगे। ऐसे अवसरों पर
जस्विता आ जाती है। इस पर, जब उनके पात्र आत्मो-
तो उनकी ओजस्वी भाषा देखने लायक हो जाती है।
कुंजरसिंह अपने जीवन की पूंजीभूत कसक को ललकार
हता है—'जोहर ही के लिये आया हूं। आज जीवन भर
मने मेरे स्वत्व का अपहरण किया। तुम्हें मारे बिना
तुम्हारा सिर काटने से बढ़कर मेरे लिये कुछ भी

आक्रमण को अपने पराक्रम से विफल करने का संकल्प
नायिका के उद्‌गार हैं—'वीणा को बजाते-बजाते काम
वार न उठ पायी, कोमल सेज पर सोते-सोते संकट आने
कर कमर न कसी, ध्रुपद को गाते-गाते शत्रु के सामने
रन्त गरज कर चुनोती न दे पायी, जिन कानों में मीठे
हकर जा रही थी, उन्हीं कानों में यदि रणवाद्यों और
ायी तो ऐसी वीणा और ध्रुवपद की तानों का काम

ंजरसिंह, लोचनसिंह, पुण्यपाल, सहजेन्द्र और अग्निदत्त

।' । २.

जैसे अनेक तेजस्वी पात्रों की वीरदर्पोक्तियों से वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यास भरे पड़े हैं। झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई स्वातन्त्र्य-यज्ञ को आरम्भ करते हुए कहती है—'कदापि नहीं। मैं लड़ूंगी। उन गरीबों के गीतों की रक्षा के लिए। इन पुस्तकों के लिए, और जो कुछ इनके भीतर लिखा है उसके लिए। ऋषियों का रक्त ऐसा हीन और क्षीण नहीं हो गया है कि उनकी सन्तान तपस्या न कर सके। कीड़ों-मकोड़ों की तरह यों ही विलीन हो जाये। ......नहीं, कृष्ण अमर हैं। गीता अक्षय है। हम लोग अमिट हैं। भगवान् की दया से, शंकर के प्रताप से, मैं बतलाऊँगी कि अभी भारत में कितनी लौ शेष है।...'[1]

पात्रों की वीरदर्पोक्तियां और ओजस्वी सम्भाषणों से वृन्दावन लाल वर्मा की भाषा में जो तेजस्विता आ गयी है, उसके दो-तीन उदाहरण ऊपर दिये गये हैं प्रणय-संयम के उदाहरण के लिये 'गढ़-कुण्डार' में तारा और दिवाकर, तथा अग्नि-दत्त और मानवती के मिलन में वर्मा जी ने प्रेम के उज्ज्वल पक्ष का ही उद्घाटन किया है। इसी प्रकार, 'विराटा की पद्मिनी' में कुमुद और कुंजरसिंह के पवित्र प्रणय की एक झलक है—

उसने (कुमुद ने) अपने आंचल के छोर से जंगली फूलों की गूंथी हुई एक माला निकाली, और कुंजर के गले में डाल दी। उस माला के फूल अधखिले और सूखे थे।

कुंजरसिंह ने कुमुद को छाती से लगा लिया। कुमुद तुरन्त उससे अलग होकर बोली—'यह मेरा अक्षय भांडार लेते जाओ। अब मेरे पास और कुछ नहीं है।' कुमुद के आंसू आ गये। उसने उन्हें निष्ठुरता के साथ पोंछ डाला। थोड़ी दूर पर लोगों की आहट सुनकर कुमुद ने आदेश के स्वर में कहा—'जाओ, खड़े मत रहो। मुझे मार्ग मालूम है।' फिर जाते-जाते मुड़कर बोली—'मेरा मार्ग निःशंक है; तुम अपना असन्दिग्ध करो।'[2]

संयत भाषा—वृन्दावन लाल वर्मा ने 'झांसी की रानी' में तांत्या टोपे और जुही, खुदाबख्श और काशीबाई; 'कचनार' में दिलीपसिंह और कचनार; 'मृगनयनी' में राजा मानसिंह तोमर और मृगनयनी, तथा अटल और लाखी के अनेक प्रणय-प्रसंगों का वर्णन किया है, किन्तु, उज्ज्वल प्रेम के आदर्श का सदा निर्वाह करने के कारण उन्होंने असंयमित अथवा मर्यादा विहीन भाषा का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने प्रेम का अंत भोग के बजाय त्याग में देखा है, इसलिये भी उनके अधिकांश प्रणय-प्रसंगों का अन्त आत्मोत्सर्ग में होता है। अतएव, जिस उपन्यासकार के सम्मुख प्रेम के ऐसे भव्य आदर्श की प्रतिमा प्रतिष्ठित हो, उसके उपन्यासों की

---

१. 'झांसी की रानी'।
२. 'विराटा की पद्मिनी'।

भाषा न तो भटक सकती है और न ही कुरूप हो सकती है। यही कारण है कि वृन्दावन लाल के उपन्यासों की भाषा उनके उदात्त चिन्तन एवं उच्चादर्शों की अनुगामिनी बन गयी है और हमारे सम्मुख ओजस्विता, सजीवता तथा संयम का मनोरम परिधान धारण करके उपस्थित हुई है।

जैनेन्द्र कुमार

सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना के बाद हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना का सूत्रपात हुआ और इस नई दिशा में कदम बढ़ाने वालों में जैनेन्द्र कुमार सर्वप्रथम हैं। उन्होंने हिन्दी उपन्यास-रचना को नया मोड़ देकर इसके उत्तरोत्तर विकास की नानाविध सम्भावनायें उत्पन्न कर दीं। क्या तो उपन्यास का विषय और कथानक, और क्या चरित्र-चित्रण की शैली एवं भाषा, सभी में एक आश्चर्यजनक परिवर्तन लाकर उन्होंने उपन्यास-रचना के एक नये अध्याय का श्रीगणेश किया। परम्परागत रचना-शैली से सर्वथा असम्पृक्त एवं उसके प्रभाव से एकदम अछूती जिस उपन्यास-रचना की परम्परा को उन्होंने जन्म दिया, वह उपन्यास-जगत् में मनोवैज्ञानिक परम्परा के नाम से विख्यात है। अतः, परम्परागत बन्धनों से जकड़े हुए उपन्यास-साहित्य को मुक्त करने वाले एवं नयी परम्परा के प्रणेता के रूप में हिन्दी-जगत् जैनेन्द्र कुमार को सदैव स्मरण करेगा।

जीवन-दर्शन

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास में उपर्युक्त योगदान के महत्व को समझने के लिये जैनेन्द्र कुमार के दार्शनिक चिन्तन को थोड़ा बहुत समझ लेना परमावश्यक है। इसका मुख्य कारण यही है कि उनकी रचनाओं में उनके चिन्तन को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है, अतएव उनकी प्रत्येक कृति उनके चिन्तन से ओत-प्रोत है। क्या उपन्यास के पात्र और क्या उनके भाव और विचार, सब में जैनेन्द्र का दार्शनिक व्यक्तित्व रमा हुआ है। वस्तुतः, चिन्तन का आधिक्य एक ऐसा तत्व है जो जैनेन्द्र कुमार को उपन्यास-रचना की पुरानी परम्परा से पृथक् करके, उन्हें एक नयी परम्परा के प्रणेता के रूप में हमारे सामने लाता है। और, सोचने की बात भी है कि नयी परम्परा का प्रणेता यदि दार्शनिक न होता तो और क्या होता? वस्तुतः, जैनेन्द्र की विपुल सामर्थ्य का रहस्य भी यही है कि वे दार्शनिक पहले हैं, साहित्यिक बाद में। उनकी साहित्यिक प्रतिभा ने उनकी दार्शनिकता से ही प्रेरणा पायी है, इसलिए जैनेन्द्रकुमार के उपन्यास उनके दार्शनिक चिन्तन की उँगली पकड़ कर आगे बढ़े हैं।

दार्शनिकता—दार्शनिक के रूप में, जैनेन्द्र कुमार ने, मानव-जीवन के अनेक पहलुओं और प्रश्नों पर विचार करते हुए जीवन के सत्यों को खोजने का प्रयास

किया है। उनकी दार्शनिकता का सम्बन्ध लौकिक जीवन से है, पारलौकिक से नहीं, इसलिए आत्मा-परमात्मा, जीव-ब्रह्म जैसे गहन दार्शनिक विषयों पर विचार न करके उन्होंने मानव जीवन की प्रतिदिन की समस्याओं एवं जटिलताओं पर ही प्रमुख रूप से विचार किया है। फलस्वरूप, मानव जीवन के नैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक क्षेत्र के विविध प्रश्नों पर चिन्तन करते हुये वे जीवन की नवीन दिशा के अन्वेषक एवं तत्व-जिज्ञासु के रूप में प्रकट हुये हैं। युग की मूल भावनाओं को ग्रहण कर उन्होंने मानव जीवन की प्रवृत्तियों एवं आदर्शों के बारे में अपने अन्तर्मन में स्थित दार्शनिक की स्वाभाविक जिज्ञासा को उन्मुक्त होकर विचरने दिया है।

बुद्धिवादिता—दार्शनिक के साथ-साथ जैनेन्द्र कुमार प्रखर बुद्धिवादी भी हैं, इसलिए उनकी दार्शनिकता ने तर्कमूल पद्धति का सहारा लिया है। वे मानों तर्क की एक-एक सीढ़ी पर पांव रखते हुए सत्य को पकड़ने के लिए लपकते हैं। उन्होंने मानव जीवन के बारे में प्रचलित धारणाओं को, चाहे वे नैतिक हों, चाहे सामाजिक और चाहे धार्मिक, बौद्धिक कसौटी पर कसा है और तर्क के पैने ओजारों से इनकी चीर-फाड़ की है। इस चीर-फाड़ में अनेक प्रचलित नैतिक धारणाओं की उन्होंने जहां पोल खोल दी है, वहाँ अनेक छिपे हुये सत्यों का उद्घाटन भी किया है। इस प्रकार, प्रखर बुद्धिवादी जैनेन्द्रकुमार, खण्डन और मण्डन करते हुए, जीवन के शाश्वत् प्रश्नों के बारे में अपने विशिष्ट जीवन दर्शन के अनुरूप अपना अभिमत व्यक्त करने से चूके नहीं।

अहिंसा भाव—जैनेन्द्र कुमार के जीवन दर्शन को समझने के लिए उनकी जीवन सम्बन्धी मान्यताओं को समझना आवश्यक है। जीवन की एकमेव साधना वह अहिंसा भाव में मानते हैं। अहिंसा भाव की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—'हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, उसका रूप-भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त शक्ति क्या है ? फिर भी अहिंसागत और लौकिक प्रेम में अंतर बांधना कठिन हो जाता है, और प्रेम शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती है; इसी से प्रेम न कह कर कहा गया, अहिंसा।' इस रूप में अहिंसा को सक्रिय एवं जीवंत शक्ति मानते हुए वे इसे समूची सृष्टि की मूल प्रेरणा मानते हैं। मानव के समस्त कार्य-व्यापारों की जड़ में वे इसी प्रेम भाव, अर्थात् अहिंसा का अस्तित्व देखते हैं।

जैनेन्द्र कुमार ने इसी प्रेम-भाव को, अभेद-अनुभूति के रूप में, मानव की मूल प्रवृत्ति माना है। उनका तर्क है—'मानव अपनी सभी चेष्टाओं, सब प्रयत्नों और सब प्रपन्चों द्वारा जाने-अनजाने एक ही सिद्धि की ओर बढ़ रहा है। और वह सिद्धि है—अपने को विश्व के साथ एकाकार कर देना और विश्व को अपने भीतर प्रतिफलित देख लेना। बुद्धि के उपयोग द्वारा भी वह अभेद-अनुभूति तक पहुंचना चाहता है।' अभेद-अनुभूति, अर्थात्, अहिंसा को मानव जीवन का साध्य

मानने के कारण प्राणिमात्र के साथ एकात्मता स्थापित करना उन्हें इष्ट है। समष्टि के साथ एकरूप होने की इस सहज मानवीय प्रवृत्ति की वन्दना करते हुए उन्होंने कहा है—'मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ, राष्ट्र के और विश्व के साथ और इस तरह स्वयं अपने साथ जो एक सुन्दर समंजसता, समरसता, समस्वरता, स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है, वही मनुष्य जाति की समस्त संगृहीत निधि की मूल है।' इस प्रकार, अहिंसा, अर्थात्, अभेदानुभूति को, जैनेन्द्र कुमार ने पूर्णतः सक्रिय एवं विधायक प्रवृत्ति मानकर, इसे मानव जीवन के परमादर्श के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

अहं का दमन—किन्तु अहिंसा एवं अभेदानुभूति की प्राप्ति के मार्ग में जहां और बहुत-सी कठिनाइयां हैं, वहाँ व्यक्ति की अहम्मन्यता भी तो है। अहं भाव के कारण व्यक्ति अपनी क्षुद्रता में ही बँध कर रह जाता है और चारों ओर फैली विराटता के साथ एकरूप होने में असमर्थ हो जाता है। अतः, अहिंसा भाव की साधना में जैनेन्द्र कुमार ने अहम्मन्यता के दमन को पहली सीढ़ी माना है। 'स्व' को 'पर' में विलीन किये बिना अभेद-अनुभूति की प्रतीति सम्भव नहीं, इसलिये अहंभाव का मूलोच्छेदन ही उनके लिये, मानव जीवन की प्रमुख साधना है।

ब्रह्माण्ड और पिण्ड में एक ही सत्ता का निवास मानते हुये जीवन में अखण्डता के दर्शनाभिलाषी जैनेन्द्रकुमार जहां एक ओर चराचर के प्रति प्रेम अथवा अहिंसा भाव को आवश्यक मानते हैं, वहाँ दूसरी ओर, अहिंसा की साधना के लिए यातना में तपने के सुअवसर का भी वे स्वागत करते हैं। आत्मव्यथा और आत्मपीड़न को वे जीवनादर्श की प्राप्ति के लिए आवश्यक मानते हैं, क्योंकि आत्मपीड़न में अहंभाव ऐसे गल जाता है, जैसे कि भट्टी में धातु। और, जिस प्रकार गलाने के बाद ही धातु की मूर्ति बनायी जा सकती है, उसी प्रकार आत्मपीड़न की भट्टी में अहंभाव को गलाकर व्यक्ति अपने जीवन में अखण्डता की प्राप्ति कर सकता है।

हिंसा का तिरस्कार—जैनेन्द्र कुमार के लिए अहिंसा ही जीवन का श्रेय होने के कारण, वे हिंसा को सर्वथा तिरस्करणीय मानते हैं। हिंसा का सूक्ष्म रूप है अहम्मन्यता, और स्थूल रूप है हिंसामूलक क्रान्ति। हिंसा के सूक्ष्म-रूप अर्थात् अहम्मन्यता को उन्होंने आत्मपीड़ा में घुला देने का उपाय सुझाया है। साथ ही, सशस्त्र क्रान्ति को भी निष्फल मानते हुए उन्होंने प्रेम-भाव के विस्तार एवं आत्मपरिष्कार को ही श्रेष्ठ माना है। सशस्त्र क्रान्ति से जीवन की समस्यायें सुलझने के बजाय उलझती हैं। इसलिए यदि इन समस्याओं को सुलझाना ही इष्ट है तो परिवर्तन ऊपरी न होकर मानव-मन के भीतर से होना चाहिये। परिवर्तन अथवा क्रान्ति उन्हें मानव-मन की चाहिये; बाहरी व्यवस्था की क्रान्ति तो है सर्वथा अनिष्टकर—और, इसलिए निष्फल एवं अनुचित।

जैनेन्द्र कुमार और गांधीवाद—जैनेन्द्र कुमार के चिन्तन में अहिंसा को जो शीर्षस्थान प्राप्त है, उसके कारण उनके और गांधीजी के चिन्तन में बहुत साम्य दिखायी देता है। गांधी जी के समान जैनेन्द्र भी चराचर के प्रति प्रेम की भावना को मानव-मात्र का कर्त्तव्य मानते हैं और सृष्टि के समस्त प्रसार में ईश्वरीय शक्ति के दर्शन करते हैं। फलस्वरूप, गांधीजी की तरह जैनेन्द्र के चिन्तन में भी आस्तिकता और आध्यात्मिकता को मान्यता मिली है।

किन्तु, नैतिकता के क्षेत्र में आते ही यह समानता लुप्त हो जाती है। यहां आकर गांधी और जैनेन्द्र कुमार के विचारों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। पहली बात तो यह है कि नैतिक प्रश्नों पर विचार करने का जैनेन्द्र कुमार का ढंग, गांधी जी से सर्वथा भिन्न है। जैनेन्द्र कुमार का दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। सामाजिक जीवन के व्यापार स्वरूपों और समस्याओं से उनका बहुत कम सम्बन्ध है। सामाजिक प्रश्नों एवं समस्याओं पर विचार करने के बजाय उन्होंने व्यक्ति की मानसिक उथल-पुथल और परिस्थिति-जन्य समस्याओं पर ही प्रमुख ध्यान दिया है। इसलिए उनका चिन्तन अपने अन्दर समाज के नैतिक प्रश्नों को नहीं समेट पाता, केवल व्यक्ति से सम्बद्ध नैतिक प्रश्नों से ही उलझ कर रह जाता है।

इसका परिणाम यह हुआ है कि जैनेन्द्र कुमार ने समाज की नैतिक समस्याओं का कोई हल नहीं सुझाया। उनकी रचनाओं में व्यक्ति के नैतिक प्रश्नों का सूक्ष्म विश्लेषण अवश्य मिलेगा, किन्तु समाज के सम्मुख उपस्थित नैतिक प्रश्नों का उन्होंने समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। इसी बात को लेकर डा० देवराज ने कहा है—'जैनेन्द्र को जीवन के प्रश्नों में दिलचस्पी है, युग-विशेष की समस्याओं में नहीं।'[1]

दूसरा अन्तर है कि व्यक्ति के नैतिक प्रश्नों पर विचार करते समय जैनेन्द्र के नैतिक आदर्श, सामाजिक धरातल को छोड़ देते हैं। उन्होंने व्यक्ति के सम्मुख जो नैतिक आदर्श रखे हैं उनका समाज के प्रचलित आदर्शों से मेल नहीं बैठता। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो दोनों आदर्शों में टक्कर हो जाती है, और ऐसी स्थिति में जैनेन्द्रकुमार व्यक्ति के जिन नैतिक आदर्शों की सराहना करने लगते हैं, वे बौद्धिक गहनता की दृष्टि से भले ही ठोस दिखायी दें, लेकिन प्रत्यक्ष व्यवहार में उनका अस्तित्व नहीं है। इस कारण, जैनेन्द्र द्वारा प्रतिपादित नैतिक मूल्यों एवं आदर्शों का आधुनिक समाज में समर्थन तो क्या, विरोध ही अधिक दिखायी देगा। इस प्रकार गांधी जी का नैतिक चिन्तन जहां समाज को आधार मानकर चला है वहां जैनेन्द्र कुमार ने जिन नैतिक आदर्शों एवं मूल्यों का प्रतिपादन किया है, वे सामाजिक आधार-रहित हैं, और इसलिए काल्पनिक अधिक हैं।

इतना होने पर भी जैनेन्द्र कुमार ने नैतिक प्रश्नों पर जितनी गम्भीरता

---

१. 'साहित्य चिन्तन'।

अब प्रेरक भी है। वह झलकाता ही नहीं, अब वह चलाता भी है। हमारी बीती ही उसमें नहीं, हमारे संकल्प और हमारे मनोरथ भी आज उसमें भरे हैं।'[1] इस प्रकार साहित्य को प्रेरणा का स्रोत मानते ही, जैनेन्द्र कुमार ने उसे सामान्य स्तर से उठा कर आदर्श की उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित कर दिया है। साहित्य के ऊपर एक जिम्मेदारी उन्होंने डाल दी है कि वह सामाजिक जीवन में गति उत्पन्न करे; इसकी निष्क्रियता दूर कर इसमें सक्रियता भरे।

जैनेन्द्र कुमार द्वारा साहित्य के सम्मुख ऐसी सजीवता एवं सप्राणता का लक्ष्य रखने के पीछे एक कारण यह भी है कि वे साहित्य को उन्नायक के रूप में देखते हैं उसे प्रतिनिधित्व के कर्त्तव्य से ही नहीं बांधते। इसलिए यथार्थ अभिव्यक्ति के धरातल से उठाकर, उन्होंने साहित्य को आदर्शप्राण रूप में ही देखा है। उनका तर्क है कि—'साहित्य उसके प्रतिनिधित्व के लिए नहीं है जो यथार्थ है, वह है इसलिए कि सम्प्रति के यथार्थ से आदमी को बँधने न दे, बल्कि आगे बढ़ाये, ऊँचा उठाये। वह आदर्श की झांकी देने के लिए है, भविष्य की अवतारणा के लिए है। वर्तमान की व्यवस्था उसके ऊपर नहीं है, क्योंकि वर्तमान के उन्नयन का दायित्व उस पर है।'[2] इस युक्ति के कारण जैनेन्द्र को वही साहित्य मान्य है जो आदर्श का सृजन कर समाज की जड़ता दूर करे, और उसमें गति पैदा करे।

उपन्यास का लक्ष्य—जैनेन्द्र कुमार ने साहित्य को जहां इतने भारी दायित्व से मण्डित किया है, वहां उपन्यास का तो फिर कहना ही क्या ? उन्होंने, साहित्य के समान, उपन्यास के सम्मुख भी ऐसा ही उदात्त लक्ष्य रखते हुए कहा है—'उपन्यास के बारे में मेरी अपनी धारणा यह है कि यह जीवन में गति देने के लिए है। गति यानी चैतन्य।'[3] उसका काम है जीवन की चारों ओर की परिस्थितियों में से आगे का मार्ग सुझाना। उपन्यास को वे जीवन के विकास का साधन मानते हैं, और यह विकास भी एक निश्चित आदर्श की साधना में सम्भव है। इसलिए, उपन्यास-रचना द्वारा वे जीवन के उन आदर्शों की खोज करना चाहते हैं जिनके सहारे मानव जीवन का उत्तरोत्तर विकास होता चला जाए। इन आदर्शों की खोज को ही उनकी भाषा में 'सत्य की शोध'[4] कहा गया है। इसलिए उपन्यास की सफलता आंकने के लिए उनके पास एक ही कसौटी है कि उसमें सत्य के शोध का प्रयास किया गया है या नहीं। सत्य को वे वास्तविकता से परे की चीज मानते हैं। इसलिए वास्तविक के चित्रण तक ही सीमित न रह कर, जो उपन्यासकार, वास्तविक से परे स्थित सत्य को पाने का प्रयास करता है, उसमें निश्चय ही सत्यानुसंधान की वृत्ति रहती है।

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'। २. वही।
३. वही। ४. वही

उद्देश्य-पक्ष

जैनेन्द्र कुमार के जीवन-दर्शन एवं साहित्यादर्श के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त उनके उपन्यासों को समझना अब सरल हो जाएगा, क्योंकि जीवन एवं साहित्य सम्बन्धी उनकी मान्यताओं के अनुरूप ही उनके उपन्यासों का स्वरूप निर्धारित हुआ है। साहित्य के बारे में अपने विचार व्यक्त करते समय जैनेन्द्र ने इसके उद्देश्य-पक्ष पर बहुत जोर दिया है। वस्तुतः, प्रेमचन्द के समान, जैनेन्द्र भी साहित्य की उपयोगिता को स्वीकार करते हुए इसके उन्नायक रूप और, फलस्वरूप, इसके दायित्व की ओर ध्यान दिलाते हैं। तभी तो उपन्यास की उपयोगिता के बारे में उनका कहना है—'उपन्यास का काम है कुछ आगे की, भविष्य की सम्भावनाओं की जरा झांकी दिखाना और जो कुछ अब है उसकी तह हमारे सामने खोल कर रख देना।'[1] अतः उनके मतानुसार जीवन की वतमान पेचीदगियों को सुलझाते हुए इसके भावी विकास का मार्ग प्रशस्त करना उपन्यास का काम है। इस तरह वह उपन्यास में स्वप्न और सत्य, वास्तव और कल्पना, तथा आदर्श और व्यवहार का सामंजस्य देखना चाहते हैं।

नामकरण—अपने उपन्यासों का नामकरण करते समय जैनेन्द्र कुमार ने उपन्यास विशेष के उद्देश्य को यथासम्भव ध्यान में रखा है, इसलिए, उनके उपन्यासों के नामकरण से उनके उद्देश्य की ध्वनि सहज ही निकलती है। उद्देश्य और नामकरण के परस्पर सम्बन्ध की दृष्टि से हम उनके उपन्यासों को दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—एक तो वे जिनमें नामकरण द्वारा उपन्यास विशेष के उद्देश्य का यथेष्ट संकेत मिल जाता है और दूसरे वे जिनमें उपन्यास के प्रमुख पात्र के नाम पर ही उपन्यास का नामकरण किया गया है। प्रथम वर्ग में 'परख', 'त्यागपत्र', 'विवर्त', और 'व्यतीत', उपन्यास हैं, और दूसरे में हैं 'सुनीता', 'कल्याणी', 'सुखदा' और 'जयवर्धन'।

नामकरण द्वारा उद्देश्य का संकेत—जैनेन्द्र कुमार के प्रथम-वर्ग के उपन्यासों के नामकरण से उनके उद्देश्य विशेष की स्पष्ट ध्वनि निकलती है। (परख) शब्द से किसी कसौटी अथवा प्रतिमान के अनुरूप किसी को परखने का संकेत मिलता है। उपन्यास के आदर्श-प्रेमी सत्यधन और साधारण-सी विधवा बालिका, कट्टो के चरित्रों को आदर्शवाद की कसौटी पर परखने के बाद पता चलता है कि पढ़े-लिखे सत्यधन का आदर्श-प्रेम दिखावटी है, उसकी ऊँची-ऊँची बातों में सार कम है और पोल अधिक। विपरीत इसके, अल्हड़ और अपढ़ कट्टो में आदर्श के पालन की दृढ़ता इतनी अधिक है कि उसकी तेजस्विता के सम्मुख सत्यधन का तेज फीका पड़ जाता है। त्याग और निःस्वार्थ प्रेम की कसौटी पर परखने से दोनों की चरित्रगत

---

१. 'परख' (प्रस्तावना)

दुर्बलता एवं सबलता को दिखाना ही उद्दिष्ट होने के कारण, उपन्यास का नामकरण सार्थक हुआ है।

यही बात (त्यागपत्र), (विवर्त), और (व्यतीत) उपन्यासों के नामकरण के बारे में भी है। (त्यागपत्र) के अंत में प्रमोद द्वारा जजी से त्यागपत्र देने की घटना है और इसी घटना को लेकर उपन्यास का नामकरण किया गया है। स्वयं समर्थ होते हुए भी प्रमोद अपनी बुआ की सहायता करने की ओर प्रवृत्त न हुआ, और इस कारण पश्चाताप की ऐसी मानसिक वेदना उसे भुगतनी पड़ी कि उससे बचने का एकमेव उपाय उसे यही सूझा कि वह अपने समस्त भौतिक वैभव एवं प्रतिष्ठा से विमुख हो जाए, और जजी से त्यागपत्र दे दे। (विवर्त) उपन्यास में जितेन की मानसिक ग्रन्थि, अर्थात्—विवर्त की व्याख्या की गई है जिसके कारण वह अपने स्वाभाविक आचरण को छोड़ कर अपराधी बन जाता है। जितेन की मानसिक ग्रन्थि को लेकर ही इस उपन्यास का नामकरण किया गया है, और इसलिए यह नाम पूर्णतः सार्थक है। इसी प्रकार, (व्यतीत) में जयन्त अपने बीते हुए जीवन पर दृष्टिपात करते हुए इसमें सार खोजने का प्रयास करता है। अपने बीते हुए जीवन में उसे निःसारता एवं निरर्थकता ही दिखाई देती है, ऊँची-ऊँची कल्पनाओं एवं आकांक्षाओं के ध्वंसावशेष ही दिखाई पड़ते हैं। उसे लगता है कि उसकी सदाशयता और आदर्शवादिता चूक गई है, बीत गई है। जयन्त के बीते जीवन की निःसारता को प्रकाश में लाने के कारण (व्यतीत) का नामकरण उपन्यास के उद्देश्य के अनुरूप ही हुआ है।

जैनेन्द्र कुमार के दूसरी श्रेणी के उपन्यासों का नामकरण, जैसा कि पहले कहा गया है, उपन्यास के प्रमुख पात्र के नाम पर हुआ है। एक प्रकार से ये उपन्यास, पात्र-विशेष की जीवनी के रूप में लिखे गये हैं। उपन्यास के प्रारम्भ और अन्त की शैली भी कुछ इस प्रकार की है कि मानों कोई जानकार व्यक्ति पात्र-विशेष की जीवनी कह रहा है। 'सुखदा', 'कल्याणी' और 'जयवर्द्धन' उपन्यासों की शैली इसी ढंग की हैं। तो भी उपन्यास में जिन समस्याओं और प्रश्नों की ओर संकेत किया गया है उनका प्रत्यक्ष आभास उपन्यास के नामकरण से नहीं मिलता। उपन्यास के नामकरण से केवल इसी बात का पता चलता है कि यह किसी व्यक्ति-विशेष के जीवन की गाथा है, उसकी सफलता अथवा असफलता की कहानी है। इस प्रकार 'सुनीता', 'सुखदा', 'कल्याणी' और 'जयवर्द्धन' में उन्होंने प्रमुख पात्रों को ही केन्द्र मानकर उनके जीवन की कहानी कही है और उनके नाम पर ही उपन्यास का नामकरण किया है।

विषय-चयन—जैनेन्द्र कुमार ने समाज के बहिरंग जीवन के चित्रण के बजाय व्यक्ति के अन्तरंग जीवन का चित्र खींचने का प्रयास किया है, इसलिए समाज के बाह्य जीवन की आर्थिक, राजनैतिक व धार्मिक समस्याओं को लेने के बजाय उन्होंने

व्यक्ति के मन में उठने वाले संघर्ष और उसके मनोभावों के ज्वारभाटे के चित्रण की ओर ही ध्यान दिया है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक जीवन के विस्तार की अपेक्षा उन्होंने व्यक्ति के मन की गुत्थियों और गहराइयों के मनोवैज्ञानिक चित्रण को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। इसी कारण जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की कोटि में आते हैं। एक दृष्टि से देखा जाये तो उन्होंने व्यक्ति के मन में उठने वाले नाना संकल्प-विकल्पों और घात-प्रतिघातों को अपने उपन्यासों का विषय इसीलिए बनाया है कि वे इन विविध मनोभावों एवं जटिल-ताओं के मूल में स्थित नैतिक प्रश्नों और सामाजिक व्यवस्था के अन्दर विद्यमान नैतिक विषमताओं पर अधिक प्रकाश डाल सकें। इस प्रकार, व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक चित्रण के माध्यम से वे समाज की नैतिक स्थिति के चित्रण तक पहुंचना चाहते हैं। उनके पात्रों की मानसिक हलचलें, अन्ततोगत्वा, आदर्श एवं प्रवृत्ति में होने वाले विरोधों से ही उत्पन्न हुई हैं, इसलिये, व्यक्ति की मानसिक व्याधि का निदान खोजते समय उनका मूल उद्देश्य सामाजिक जीवन की व्यधि का निदान ढूंढ़ना है। एक प्रकार से कहा जाये तो व्यक्ति के माध्यम से वह सामाजिक जीवन का मूल्यांकन करना चाहते हैं।

नैतिक और मनोवैज्ञानिक जटिलताओं का चित्रण—तो भी, जैसा कि पहले कहा गया है, उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज की विविध समस्याओं को न लेकर, अधिकतर नैतिक समस्याओं और तज्जनित मनोवैज्ञानिक जटिलताओं को ही लिया है। समाज की नैतिक मान्यताओं एवं मर्यादाओं के औचित्य के विश्लेषण के साथ-साथ अहिंसा एवं प्रेम पर आधारित जीवनादर्शों की प्रस्थापना ही लक्ष्य होने के कारण उन्होंने अपने उपन्यासों में व्यक्ति के मन में उत्पन्न होने वाले आदर्श एवं प्रवृत्ति के संघर्ष को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। उदाहरण के लिये, 'परख' में ऊपर से दिखायी देने वाले आदर्शप्रेमी सत्यधन के चारित्रिक खोखलेपन, और सरल एव नासमझ प्रतीत होने वाली कट्टो की चारित्रिक दृढ़ता के चित्रण को उन्होंने इस उपन्यास का विषय बनाया है। इस प्रकार समाज में मनोनीत एवं श्रद्धास्पद व्यक्तियों की स्वाभाविक कमजोरी की ओर संकेत करते हुए वे उन असंख्य अज्ञातनाम नर-नारियों की ओर भी संकेत कर देते हैं जो सामान्य होते हुए भी महान् हैं। जैनेन्द्रकुमार ने व्यक्ति के परखने की जो कसौटी प्रस्तुत की है उसका आधार बाह्य सामाजिक स्थिति नहीं, व्यक्ति की प्रवृत्ति है।

इसी प्रकार 'त्यागपत्र' में उन्होंने सामाजिक मर्यादा और नैतिक व्यवस्था के प्रश्न को इस रचना का आधार बनाया है। उपन्यास के प्रारम्भ में यह प्रश्न उठाया गया है कि मृणाल पापिष्ठा थी या नहीं ? पति द्वारा परित्यक्ता मृणाल, कोयले बेचने वाले की रखैल के रूप में रहती है और फिर भटकते-भटकते अन्त में वेश्याओं, चोरों और अपराधियों की संगति में जा पहुंचती है। वहीं उसकी मृत्यु

हो जाती है। ज्यों-ज्यों प्रमोद अपनी बुआ मृणाल के बारे में सोचता है, त्यों-त्यों उसे महसूस होने लगता है कि पतिता होने पर भी वह महान् थी, क्योंकि उसने सच्चाई को अन्त तक नहीं छोड़ा। इस प्रकार 'त्यागपत्र' में उन्होंने पाप-पुण्य की नैतिक मान्यताओं के मूल्यांकन को अपनी रचना का आधार बनाया है।

जैनेन्द्र कुमार ने 'सुनीता', 'सुखदा', और 'विवर्त'—इन तीन उपन्यासों में हिंसा के स्थूल रूप, अर्थात्, क्रान्ति को ही मुख्य विषय के रूप में लिया है। 'सुनीता' में हरिप्रसन्न, 'सुखदा' में हरिदा और लाल, तथा 'विवर्त' में जितेन जैसे क्रान्ति-कारियों के जीवन की हिंसात्मक हलचलों की कहानी कहते-कहते वे उनके विशिष्ट स्वभाव का कारण ढूंढ़ने लगते हैं। इन उपन्यासों में क्रान्तिकारियों की मानसिक उलझन, उनकी प्रचण्ड कर्म-साधना और तीव्र लगन तथा सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध उनके आचरण के अलक्ष्य कारणों का चित्रण करने की ओर उन्होंने ध्यान दिया है।

शेष तीन उपन्यासों—'कल्याणी', 'व्यतीत' और 'जयवर्द्धन' में जैनेन्द्रकुमार ने मानव-स्वभाव एवं मानव-आचरण की जटिलता के चित्रण को अपनी रचना का आधार बनाया है। 'कल्याणी' की नायिका में आदर्श और प्रवृत्ति का द्वन्द्व है। कल्याणी चाहती है कि वह पति को अपने हृदय-आसन पर देवता के रूप में ही प्रतिष्ठित देखे, किन्तु पति की लोभी वृत्ति और स्वार्थपरता इसमें भारी बाधा है। न चाहते हुए भी कल्याणी मे अपने पति के प्रति अभक्ति का भाव उत्पन्न हो जाता है, और इस प्रकार, आदर्श एवं आचरण में विरोध उत्पन्न होने के कारण वह अन्त तक मानसिक क्लेश भोगती है।

अहम्मन्यता का उद्घाटन—'व्यतीत' में व्यक्ति की अहम्मन्यता और आत्म-रति के विविध स्वरूपों के उद्घाटन को उपन्यास का विषय बनाया गया है। यद्यपि जयन्त का चन्द्री से विवाह हो जाता है, किन्तु, वह अपने स्वत्व को दूसरे के स्वत्व में विलीन करने को तैयार नहीं। परिणाम यह होता है कि पूर्णता आने के बजाय, जयन्त के जीवन में अपूर्णता, असन्तोष और अशान्ति ही बनी रहती है। इसी प्रकार 'जयवर्द्धन' में जैनेन्द्र कुमार ने निःस्पृह एवं अनासक्त जीवन के आदर्श को इस उपन्यास के विषय के रूप में ग्रहण किया है। साथ ही, राजनैतिक दलबन्दियों के चक्कर में जनहित को जिस प्रकार क्षति पहुंचती है, इसका संकेत देकर जैनेन्द्र कुमार ने जयवर्द्धन के रूप में ऐसे निःसंग एवं निर्लोभी व्यक्ति का आदर्श प्रस्तुत किया है जिसके लिए राजसत्ता एवं राजवैभव निःसार है। भौतिक वैभव का आकर्षण उसे बांध नहीं पाता और अवसर आने पर वह राजपद और राजसुख को तिलांजलि देने से चूकता नहीं।

व्यक्ति के माध्यम से समाज का चित्रण—जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों के विषयों पर किंचित् विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने व्यक्ति के माध्यम से

समाज को दर्शाना चाहा है। इसलिए, सामाजिक जीवन के विविध प्रश्नों को प्रत्यक्ष रूप से अपने उपन्यासों का विषय बनाने के बजाय उन्होंने व्यक्ति के अन्तर्मन की जटिलताओं एवं द्वन्द्वों का चित्रण कर, एक प्रकार से परोक्ष रूप से इन प्रश्नों पर विचार किया है। 'जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है'—इस सूत्र का अनुसरण करते हुए उन्होंने व्यक्ति के जीवन में ही समाज के विस्तार को समेटने का प्रयास किया है। इसलिए, व्यक्तिगत समस्याओं एवं प्रश्नों तक सीमित रख कर भी वे समाज के विस्तृत एवं विविध प्रश्नों तक जा पहुंचते हैं। इस प्रयास में उनकी उपन्यास-कला पिंड से ब्रह्माण्ड, सूक्ष्म से विराट्, तथा एक से अनेक की ओर बढ़ती जाती है।

निष्कर्ष-निर्धारण

जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा—जैनेन्द्र कुमार के साहित्यिक आदर्शों में उद्देश्य-तत्व की प्रधानता के कारण, उपन्यासों के निष्कर्ष-निर्धारण पर भी इसका यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। अपनी साहित्यिक रचनाओं के लक्ष्य के बारे में उनका अभिमत है—'मेरे साहित्य का परम श्रेय तो हो रहता है अखण्ड और अद्वैत सत्य। उसका व्यावहारिक रूप है समस्त चराचर जगत् के प्रति प्रेम, अनुकम्पा यानी अहिंसा।'[1] अतः, अहिंसा और प्रेम की साधना उनका चरम लक्ष्य होने के कारण उन्होंने अपने उपन्यासों के निष्कर्ष-निर्धारण में अहम्मन्यता, स्वार्थपरता, आत्मरति आदि अहं के विविध रूपों के दमन को परम साध्य बताते हुए, उन सभी उपायों की ओर संकेत किया है, जिनसे कि अहं के उन्मूलन में सहायता मिले। इस कारण आत्म-व्यथा, आत्म-पीड़न और परहितार्थ अपने स्वत्व के विलय की उन्होंने अपने उपन्यासों में सराहना की है। और, इतना ही नहीं, मानव-जीवन की विविध समस्याओं एवं प्रश्नों का हल भी इन्हीं उपायों द्वारा सुझाया गया है। यहां आकर जैनेन्द्र कुमार का आदर्श प्रेम उनके साहित्य-सृजन पर पूरी तरह छा जाता है, और उपन्यासों के निष्कर्ष उन्होंने ऐसे निकाले हैं जिनसे कि अपने जीवनादर्शों की प्रतिष्ठा करने का उनका प्रयास स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है।

त्याग और प्रेम का आदर्श—उदाहरण के लिए, 'परख' में जैनेन्द्र कुमार ने त्याग और निश्छल प्रेम के आदर्श की महिमा गाई है। पढ़ा-लिखा सत्यधन आदर्श की महिमा बखान सकता है और दूसरों को आदर्शमार्ग पर बढ़ने के लिए उत्साहित कर सकता है, किन्तु जब आदर्श के अनुसार स्वयं आचरण करने की बात उठती है तो वह लाभ-हानि का हिसाब जोड़ने लगता है। आदर्श एवं व्यवहार के बीच विद्यमान इस खाई की ओर संकेत करते हुए जैनेन्द्र कुमार इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि चारित्रिक दृढ़ता और निष्कपटता, दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सरल और निष्कपट कट्टो के लिए त्याग एवं निश्छल प्रेम के आदर्श का पालन बहुत

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय',

स्वाभाविक है, जबकि हिसाब-किताबी सत्यधन, उस उच्च-आदर्श के पालन की बात सोचते ही घबरा उठता है।

अहिंसा का आदर्श—हिंसा मार्ग की व्यर्थता तथा करुणा एवं प्रेमभाव की हिंसावृत्ति पर अनिवार्य विजय को लेकर जैनेन्द्र कुमार ने 'सुनीता' और 'विवर्त' उपन्यासों के निष्कर्ष निर्धारित किये हैं। अतृप्त कामवासना से उपजी मनोग्रंथि के कारण 'सुनीता' का हरिप्रसन्न क्रांति का मार्ग अपनाकर भटकता फिरता है। श्रीकांत के सुझाव से सुनीता हरिप्रसन्न की मानसिक ग्रंथि को खोलने के अतिरिक्त उसकी हिंसात्मक एवं विनाशकारी प्रवृत्ति को रचनात्मक प्रवृत्ति में बदल देती है। यही बात, 'विवर्त' के जितेन के बारे में भी है। भुवन मोहिनी को प्राप्त करने में असफल होने पर जितेन हिंसात्मक क्रांति का मार्ग अपनाता है और डाका डालने, गाड़ी उलटने जैसे अपराध करने लगता है। उसके स्वभाव की इस गांठ को भुवन मोहिनी अपनी करुणा और प्रेम भाव के कारण खोलने में समर्थ हो जाती है। परिणाम यह होता है कि जितेन हिंसा और अपराध का मार्ग त्याग कर, पुलिस के आगे आत्म-समर्पण कर देता है।

आत्मरति के दुष्परिणाम—अहम्मन्यता एवं आत्मरति के गर्हणीय मनोभावों के दुष्परिणाम दिखाने के लिये ही जैनेन्द्र कुमार ने मानों 'सुखदा' और 'व्यतीत' की रचना की है। सुखदा और जयन्त की अहम्मन्यता एवं आत्मरति की भावना उन्हें अपने जीवन-संगियों के साथ एक रूप नहीं होने देती। सुखदा अपने पति, कान्त के व्यक्तित्व में अपना व्यक्तित्व मिला देने से कतराती है, तो जयंत भी चन्द्री के साथ आत्मीयता साधन से कतराता है। दोनों का जीवन, अपने संगियों के साथ सामंजस्य स्थापना के मार्ग से हट कर, अपनी अहम्मन्यता में ही घिरा रहता है और अंत में क्लेशमय हो जाता है। अस्पताल में पड़ी हुई सुखदा सोचती है—'कभी मेरे सोने की गिरस्ती थी, आज ठौर का भी ठिकाना नहीं है। सब उजड़ चुका है और अपने ही कर्मों से मैंने उजाड़ा है।'[1] इस प्रकार 'व्यतीत' का जयंत भी अपने बीते जीवन पर विचार करते हुये कहता है—'आज इसी ४५वें जन्म-दिन पर आकर सब हिल गया मालूम होता है। संतोष से अब संतोष नहीं है। लगता है, यह कहीं मेरा अपना गर्व तो न था? तब से अब तक की जिन्दगी की एक हठ की कर्कशता ही थामे नहीं रही है।...मेरी स्वावलम्बिता कहीं निरी स्वरति ही तो नहीं है।...अपने को बांटा नहीं है, पूरी तरह संयुक्त जो रखा है, सो यह निपट अहं का अवलम्ब तो नहीं है?'[2] तात्पर्य यह कि जैनेन्द्र कुमार के मतानुसार अहम्भाव के कारण जीवन में असंतोष और अशांति उपजती है, और इन दोनों उपन्यासों का उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला है।

१. 'सुखदा' २. 'व्यतीत'

आत्मपीड़न का महत्व—जैनेन्द्र कुमार ने 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में आत्मपीड़न द्वारा अहं के उन्मूलन की महिमा गायी है। 'त्यागपत्र' की मृणाल अपने ऊपर आने वाले संकटों और आरोपों को सहर्ष झेलती हुई, आत्मपीड़न द्वारा आत्म-शुद्धि के मार्ग की ओर प्रवृत्त होती है। पतित एवं पापमय जीवन भी उस के लिए आत्म-साधना का मार्ग है, अतः बिना कोई शिकायत किये वह इस मार्ग पर चलती रहती है। कम से कम वह अपने बारे में सच्ची है, और इस सत्य मार्ग पर चलने के कारण जो कष्ट आते हैं उन्हें अंगीकार करती हुई अन्त में मृत्यु का आलिंगन करती है। उसके जीवन में आत्मपीड़न की स्वीकृति और सच्चाई से उद्भूत तेजस्विता के कारण प्रमोद को अपने स्वार्थपूर्ण आचरण पर ऐसी ग्लानि होती है कि समस्त भौतिक वैभव उसे निःसार प्रतीत होने लगता है और अन्त में वह जजी से त्याग-पत्र दे देता है।

इसी प्रकार, 'कल्याणी' की नायिका भी आत्मपीड़न द्वारा आत्म शुद्धि का लक्ष्य अपने सम्मुख रखे हुए है। पति के प्रति अभक्ति के कारण वह अपने आपको दण्ड देती हुई पति के समस्त अत्याचारों को सहर्ष स्वीकार करती है। आदर्श और प्रवृत्ति के द्वन्द्व से वह ग्रसित है और इस द्वन्द्व से मुक्ति पाने के लिये वह अपने पति के लिए नीचे से नीचे गिरने को तैयार है। किन्तु उसका मानसिक द्वन्द्व उसकी आत्मपीड़ा से भी शान्त नहीं होता और वह इसी द्वन्द्व में प्राण दे देती है।

निःस्पृहा जीवन का आदर्श—जैनेन्द्र कुमार का 'जयवर्द्धन' उपन्यास, अहिंसा और प्रेमभाव के उच्चादर्शों के साथ-साथ त्याग एवं निःस्पृहता के आदर्श की स्थापना को लेकर लिखा गया है। कोरी राजनीति मानव के स्वार्थ को जगाती हुई जनहित को धक्का पहुंचाती है, इसलिये मानव-कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि इस राजनैतिक दलबन्दी से ऊपर उठकर जनहित का ही विचार किया जाये। इसी निष्कर्ष की स्थापना के हेतु जयवर्द्धन, उपन्यास के अन्त में, विभिन्न राजनैतिक दलों में सामंजस्य स्थापना का प्रयास करता हुआ राजसत्ता एवं राजवैभव को तिलांजलि देकर अन्तर्धान हो जाता है।

कथानक

अहिंसा एवं सचराचर के प्रति प्रेम के आदर्श ने जहां जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष को प्रभावित किया है, वहां इनका कथानक-पक्ष भी इस प्रभाव की स्पष्ट छाप लिए हुए है। उद्देश्य के अनुरूप ही उपन्यास के अन्य तत्वों का गठन होता है, अतः, इस कारण भी जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों की कथावस्तु पर उद्देश्य-पक्ष पूरी तरह छाया हुआ है। जिन आदर्शों की प्रस्थापना का लक्ष्य

लेकर जैनेन्द्र कुमार ने अपने उपन्यासों की रचना की है, उनका पूरा-पूरा समर्थन उन्होंने कथावस्तु के माध्यम से किया है। इस दृष्टि से कथावस्तु तो उनके उद्देश्य-सिद्धि की पूरक मात्र है, और, उद्देश्य-पक्ष की तुलना में इसे गौण स्थान प्राप्त है।

कथावस्तु की गौण स्थिति—जैनेन्द्र कुमार ने अपने उपन्यासों में कथावस्तु की गौणता स्वयं स्वीकार करते हुए कहा भी है—'कहानी सुनाना मेरा उद्देश्य ही नहीं है। अतः, तीन-चार व्यक्तियों से ही मेरा काम चल गया है। इस विश्व के छोटे से छोटे खण्ड को लेकर हम अपना चित्र बना सकते हैं, और उसमें सत्य के दर्शन पा सकते हैं।'[1] अतः, उनके उपन्यासों में कथावस्तु को गौण स्थान अनायास ही प्राप्त नहीं हो गया, बल्कि, कहा जाये तो इसे यह स्थान जान-बूझकर दिया गया है। वे पाठकों को कहानी में ही उलझाकर नहीं रखना चाहते; कहानी के माध्यम से मानव-मन की पेचीदगियों और गहराइयों में उसे उतारना चाहते हैं और मानव की मूल प्रवृत्तियों का परिष्कार करना चाहते हैं। इस कारण कहानी कहने का तो उनका बहाना-मात्र है। उनका आग्रह कथानक पर न होकर, कथानक के साध्य पर ही अधिक है।

कथावस्तु की गौण स्थिति का परिणाम यह हुआ है कि जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों के कथानक अधूरे-से प्रतीत होते हैं। इनमें गठन की शिथिलता सर्वत्र दिखायी देती है। कथानक की स्वाभाविक रोचकता के स्थान पर एक विचित्र-सी क्लिष्टता, रहस्यात्मकता एवं दुर्बोधता से उनके उपन्यास ओतप्रोत हैं। जैनेन्द्र कुमार की दार्शनिकता का पूरा-पूरा चमत्कार यदि कहीं देखना हो तो उनके कथानकों को ही लीजिये। दार्शनिकता के दुर्वह भार के नीचे उनके कथानकों में चपलता, विचित्रता और रोचकता, बस दब कर रह गयी है। दार्शनिक चिन्तन को प्रमुखता देने के कारण उनके कथानकों का स्वाभाविक विकास अवरुद्ध हो गया है और वे निरी खींचा-तानी से लगते हैं। कहानी कहने के बजाय उनके उपन्यासों में जीवन-सूत्रों की व्याख्या ही प्रमुख हो गयी है, इसलिए उनके कथानक स्वयं अपनी चाल से चलते प्रतीत नहीं होते, बल्कि जबरदस्ती चलाये जाते-से लगते हैं।

जैनेन्द्र कुमार के दार्शनिक चिन्तन का उनके उपन्यासों के कथानकों पर जो प्रभाव पड़ा है उस पर विचार करने के लिये कथानक के गठन, घटनावली के निर्माण और कथानक के उपसंहार—इन तीन पहलुओं पर विचार करना होगा। सबसे पहले कथानक के गठन को ही लें।

कथानक का गठन

नैतिक अन्तर्द्वन्द्व पर आधारित—जैनेन्द्र कुमार ने उपन्यासों के कथानक के

---

1. 'सुनीता'

माध्यम से मानव के अन्तर्मन में उठने वाले नानाविध संकल्प-विकल्पों और द्वन्द्वों की कहानी कहने को प्रमुखता दी है, इसलिये, परम्परागत कथानकों को देखते हुये उनके कथानकों का आधार सर्वथा भिन्न है। अब तक के कथानक बाह्य जगत् की किसी घटना-विशेष पर आधारित रहते थे, लेकिन जैनेन्द्र कुमार ने तो अन्तर्जगत् की घटनाओं को ही कथानक का आधार बनाया है। जागतिक घटनाओं पर आधारित कथानक तो राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक अथवा सामाजिक समस्याओं को छूता हुआ आगे बढ़ता है। किन्तु, अन्तर्मन के संकल्प-विकल्पों को आधार बनाकर जिस कथानक की रचना की जाती है, उसके लिये ऐसी कोई पाबंदी नहीं है। तभी तो, जैनेन्द्र कुमार के कथानक विविध जागतिक समस्याओं को छूते और हल करते हुये आगे नहीं बढ़ते। उन्होंने सत् एवं असत् प्रवृत्ति एवं आदर्श, तथा पाप एवं पुण्य के प्रश्न को अपने कथानकों का आधार बनाया है जो कि मूलतः नैतिक प्रश्न हैं। कहीं-कहीं उन्होंने सामाजिक एवं राजनैतिक समस्याओं को भी, जैसे कि 'त्यागपत्र', 'विवर्त', 'सुनीता' और 'जयवर्धन' में, छुआ है, परन्तु इनमें भी उनका आग्रह इन समस्याओं के नैतिक पक्ष पर अधिक रहा है।

नैतिक प्रश्नों के आधार पर कथानक का गठन करने के उदाहरण ढूँढने के लिये जैनेन्द्र कुमार की प्रायः सभी औपन्यासिक कृतियों को एक विहंगम दृष्टि से देखना आवश्यक है। उपन्यासों के प्रायः सभी कथानक अन्तर्मन में उठने वाले संघर्ष पर आधारित हैं, और जैसा कि पहले कहा गया है कि व्यक्ति के अन्तर्मन में उठने वाला द्वन्द्व, अन्ततोगत्वा, परस्पर विरोधी नैतिक मान्यताओं एव आदर्शों में होने वाले सघर्ष का ही प्रकट रूप है। उदाहरण के लिये, 'परख' का कथानक, सत्यधन और कट्टो के मन में उठने वाले संकल्प-विकल्पों पर आधारित है। एक ओर आदर्श एवं प्रवृत्ति तथा त्याग एवं लोभ की हिलोरों पर झूलता हुआ सत्यधन है, तो दूसरी ओर त्याग, निष्कपटता एवं नैतिक आदर्श पर निष्ठा रखने वाली कट्टो है, जिसमें किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। सत्यधन की डावाँ-डोल मनः स्थिति और कट्टो तथा बिहारी की निष्कपट निष्ठा के चित्रण को आधार बनाकर ही 'परख' का कथानक रचा गया है।

इसी प्रकार, 'सुनीता', 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' के कथानकों के आधार भी मुख्यतः नैतिक हैं। निराधार और आवारा हरिप्रसन्न की कल्पना करते ही 'सुनीता' के श्रीकान्त को अपनी बसी-बसायी गृहस्थी से ग्लानि उत्पन्न हो जाती है। अतः, अपने अभिन्न मित्र, हरिप्रसन्न को जीवन में एक ठोस आधार प्राप्त कराने तथा उसके अन्तर्गमन में व्याप्त मानसिक ग्रन्थि को निकालने में उसे अपना नैतिक कर्त्तव्य दिखायी पड़ता है। इस कर्त्तव्य-पूर्त्ति में वह अपनी पत्नी, सुनीता, की सहायता लेता है, और वह भी अपने पति के नैतिक कर्त्तव्य को समझते हुये उसके आदेशों का आंख मूँद कर पालन करती है। यह सही है कि श्रीकान्त के आदेश से

उसके मन में नैतिक संघर्ष उपजता है, किन्तु पति के प्रति उसकी भक्ति इतनी अटल है कि वह अपने अन्तर्द्वन्द्व पर विजय पा लेती है।

जैनेन्द्र कुमार के 'त्यागपत्र' का कथानक तो पाप-पुण्य की गहन समीक्षा पर ही आधारित है। उपन्यास के प्रारम्भ में यह प्रश्न उठाया गया है कि समाज की नैतिक मान्यताओं के हिसाब से मृणाल को पापिष्ठा कहा जायेगा या नहीं? मृणाल के तथाकथित नैतिक पतन के विविध स्वरूपों और कारणों की विवेचना पर 'त्यागपत्र' का कथानक रचा गया है। यही बात 'कल्याणी' के कथानक के बारे में भी है। पतिभक्ति के उच्चादर्श के पालन की उत्सुक तथा पति की लोभी एवं घोर स्वार्थी प्रवृत्ति से त्रस्त कल्याणी के नैतिक अन्तर्द्वन्द्व पर 'कल्याणी' का कथानक आधारित है। पति की निश्छल भक्ति का संकल्प करने वाली कल्याणी अपने पति, डा० असरानी की स्वार्थपरता के कारण अपने संकल्प पर दृढ़ रहने में असमर्थ है। कल्याणी की इस मानसिक उधेड़बुन को लेकर, जो कि वस्तुतः नैतिक ही है, उपन्यास के कथानक की रचना की गई है।

जैनेन्द्र कुमार के 'सुखदा', 'विवर्त', 'व्यतीत' और 'जयवर्द्धन' उपन्यासों के कथानक भी किसी न किसी नैतिक प्रश्न को लेकर रचे गये हैं। 'सुखदा' की नायिका, सुखदा और 'व्यतीत' का नायक, जयन्त आत्मरति एवं अहम्मन्यता में इतने अधिक डूबे हुए हैं कि अपने जीवन-संगियों से निश्छल प्रेम करने तथा उनके साथ एकरूप होने के नैतिक कर्त्तव्यों को निबाहने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। अन्त तक उनके हृदय में अपने कर्त्तव्य-पथ से च्युत होने का कांटा चुभता रहता है। और 'विवर्त' का नायक जितेन तो असफल प्रेम की चोट से तिलमिला कर हिंसा मार्ग का अवलम्बन कर बैठता है। उसके पुनः सही मार्ग पर आने, अर्थात् नैतिक आचरण की ओर प्रवृत्त होने को लेकर, 'विवर्त' के कथानक की रचना की गयी है।

जैनेन्द्र कुमार के इतर उपन्यासों के समान उनके अन्तिम उपन्यास, 'जयवर्द्धन' के कथानक का गठन भी नैतिक आदर्शों के आधार पर हुआ है। ये आदर्श हैं—व्यक्ति में सत्ता के प्रति निःसंगता की भावना तथा व्यक्ति की अपेक्षा समाज को श्रेष्ठ मानते हुए सामाजिक मान्यता प्राप्त करने की कामना। पार्टीबन्दी की राजनैतिक दलदल से ऊपर उठकर सबके सहयोग से शासन-तन्त्र चलाने की जयवर्द्धन की कामना के पीछे, शासन की सत्ता के प्रति उसका निर्लिप्त भाव काम कर रहा है। साथ ही, इला के साथ अपने सम्बन्ध को सामाजिक स्वीकृति प्राप्त कराने की उसकी चाहना के पीछे भी नैतिक चिन्ता ही व्याप्त है। सब प्रकार से समर्थ एवं सम्पन्न जयवर्द्धन जब परस्पर सहयोग एवं सामाजिक स्वीकृति की नैतिक चिन्ता से प्रेरित होकर शासन-सत्ता के प्रति उदासीन हो जाता है, तब उपन्यास के कथानक को सहज ही नैतिक आधार प्राप्त हो जाता है।

कथानक का विकास

व्यक्तिनिष्ठ कथानक—व्यक्ति के अन्तर्मन में उठने वाले संकल्प-विकल्पों एवं घात-प्रतिघातों के सहारे खड़े किये गये कथानकों में एक बात तो सहज ही उत्पन्न हो जाती है, वह है उनका व्यक्तिनिष्ठ रूप। प्रेमचन्द के समान जैनेन्द्रकुमार के कथानक परिवार-निष्ठ नहीं, अर्थात् एक व्यक्ति की कहानी कहते-कहते उसके पूरे परिवार की कहानी नहीं कहने लगते। उन्होंने तो एक ही व्यक्ति के अन्तर्मन तक अपने आपको सीमित रखा है, इस कारण, कथानक में विस्तार की अपेक्षा गहरे पैठने की प्रवृत्ति अधिक है; और उनकी दार्शनिक मनोवृत्ति ने भी कथानक में गहरे पैठने के रुझान को प्रोत्साहन ही दिया है।

संकेत प्रधान कथानक—कथानक के विकास की उपर्युक्त प्रवृत्ति के अतिरिक्त, जैनेन्द्र कुमार ने कथानक के विकास के लिए जिन घटनाओं का सहारा लिया है, वे अपने साधारण अर्थ में, नहीं के बराबर हैं। उनका आग्रह, व्यक्ति के मन में घटना के फलस्वरूप होने वाली प्रतिक्रिया पर अधिक होने के कारण यह कहा जा सकता है कि जागतिक घटनाओं का उनके लिए कोई खास महत्व नहीं है। इतना ही नहीं, वे घटना-विशेष का सहारा लेने के बजाय घटना के घटित होने का संकेत देकर अपना काम चला लेते हैं। इसलिए उनके कथानकों का विकास घटनाओं से नहीं हुआ है, बीती घटनाओं के संकेतों से हुआ है। घटना के वर्णन से उन्हें प्रयोजन नहीं, क्योंकि इसकी ओर एक इंगित मात्र से ही उनका काम चल जाता है। इसलिये उनके कथानकों का संकेत-प्रधान होना एक विशेषता बन गयी है।

कुछ उदाहरण लें। 'त्यागपत्र' में उन्होंने मृणाल के तथाकथित चारित्रिक पतन की घटना का विवरण देने की कोई आवश्यकता नहीं समझी, बल्कि, इस ओर इशारा कर देना ही पर्याप्त समझा है। पति द्वारा परित्यक्त होने, कोयले वाले की रखैल बनने की ओर संकेत-मात्र करके वह आगे बढ़ गये हैं। फिर वेश्याओं और चोरों की कुसंगति में पड़ने तथा अन्त में देहावसान होने के बारे में वह संकेत देकर ही रह जाते हैं। इसी प्रकार, 'कल्याणी' में डा० असरानी द्वारा अपनी पत्नी कल्याणी को मारने-पीटने और कल्याणी के बदनाम होने की सूचना भी अन्य व्यक्ति से दिलाकर वे घटना के वर्णन से बच जाते हैं। संकेत मात्र से ही वे 'सुखदा' में सुखदा द्वारा अपने पति को छोड़ने, और फिर रुग्ण होकर अस्पताल में शरण लेने; 'विवर्त' में निष्फल प्रेम की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप जितेन द्वारा चन्द्रा को छोड़ने, चन्द्रा के पुनर्विवाह तथा जयन्त द्वारा संसार से विरक्त होकर गैरिक वस्त्र धारण करने की ओर संकेत करके वे अपने पाठक को इन घटनाओं के मूल कारण खोजने तथा इनके परिणामों का अनुमान लगाने के लिए खुला छोड़ देते हैं। यही बात 'जयवर्द्धन' में भी है। जयवर्द्धन के प्रधान मन्त्री के पद पर आसीन होने का संकेत

देकर वे इस बात के स्पष्टीकरण के झंझट में नहीं पड़ना चाहते कि जयवर्द्धन इतने उच्च पद पर कैसे पहुंच गया। वर्तमान स्थिति की ओर संकेत करके वे भूत और भविष्य के बारे में पाठक को अनुमान लगाने की खुली छूट दे देते हैं।

असाधारण घटनाओं का अभाव—घटनावली की एक सुनिश्चित श्रृंखला में कथानक को बांधने की अपेक्षा, जैनेन्द्र कुमार ने जीवन की साधारण गतियों और संकेतों का आश्रय लेकर ही कथानक का विकास किया है। बड़ी-बड़ी घटनाओं अथवा असाधारण परिस्थितियों का, इसी कारण, उनके उपन्यासों में अभाव-सा ही मिलेगा। उनके कथानकों की घटनायें, वस्तुतः, साधारण जीवन से उत्पन्न होती हैं और कथानक के सूत्र थामे रहती है। इन्होंने इन अत्यन्त सामान्य परिस्थितियों से उत्पन्न मानसिक प्रतिक्रियाओं, बौद्धिक तर्कों एवं विचार-वितर्कों से कथा का मंथर विकास किया है। कथा, अपने स्वाभाविक रूप में, धीरे-धीरे आगे बढ़ती है और दार्शनिक चिन्तन का सूत्र पकड़ कर एक विचित्र रहस्यात्मकता और मोहकता का आवरण ओढ़े रहती है।

उदाहरण के लिये, उनके 'परख', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'जयवर्द्धन' आदि उपन्यासों में असाधारण घटनाओं अथवा असामान्य परिस्थितियों का पूर्णतः अभाव है। 'परख' में सत्यधन का कट्टो को पढ़ाने, उसके प्रति आकर्षित होने और फिर विवाह के प्रश्न पर असमंजस में पड़ने आदि की अत्यन्त साधारण घटनाओं को लेकर कथानक का विकास किया गया है। इसी प्रकार, 'त्यागपत्र' में मृणाल का विवाह और पति द्वारा परित्यक्त होने पर कोयले वाले का सहारा लेना, निराधार होकर संसार की दृष्टि में अधिकाधिक गिरते जाना आदि सामान्य घटनायें हैं। 'कल्याणी' में एक निष्ठावान और अपने प्रति ईमानदार रमणी के जीवन का वर्णन है और उसके जीवन की दैनंदिन घटनाओं को लेकर उसके अंतर्मन में उठने वाले तूफानों और संघर्षों को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। कम से कम 'जयवर्द्धन' का कथानक ऐसी सम्भावनायें लिये हुये हैं जिसमें राष्ट्रीय अथवा अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर घटित होने वाली कुछ आश्चर्यजनक घटनाओं का उल्लेख किया जा सकता था, परन्तु उसमें भी जयवर्द्धन और इला के जीवन की नैतिक समस्याओं, बौद्धिक तर्कों और विचार-वितर्कों की सहायता से कथा का विकास किया गया है।

कथानक में औत्सुक्य का संचार—असाधारण घटनाओं के अभाव के कारण जैनेन्द्र कुमार के कथानकों में, जैसा कि पहले कहा गया है, विविध तोड़-मोड़ नहीं है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि इनमें औत्सुक्य की कमी है; बल्कि, असाधारण घटनाओं के अभाव में भी कथानक में औत्सुक्य बनाये रखना जैनेन्द्र कुमार की अपनी विशेषता है। कहीं-कहीं कहानी के तार की कड़ियां तोड़ कर और कहीं घटनाओं के क्रम में उलट-फेर कर उन्होंने कथानक में औत्सुक्य बनाये रखा है। इसके अतिरिक्त, कथानक में नाटकीय आकस्मिकता की सहायता से भी उन्होंने कौतूहल

जीवित रखा है। 'सुनीता' में क्रांतिकारियों के अड्डे पर पुलिस के आकस्मिक धावे की सूचना देने के लिये लाल बत्ती का जलना, 'त्यागपत्र' में मृणाल द्वारा एक परिवार में पढ़ाने का काम करना और प्रमोद का उसी परिवार में लड़की देखने पहुंचना, 'विवर्त' में जितेन द्वारा ड्राइवर के वेष में भुवन मोहिनी को ले भागना और पुलिस अधिकारी को चकमा देकर बच निकलना, 'जयवर्द्धन' में मि० हूस्टन के डिब्बे में वेष बदल कर इन्द्र मोहन का अचानक प्रवेश करना आदि घटनायें ऐसी हैं जिनमें नाटकीय आकस्मिकता की सहायता से उन्होंने कथानक का कौतूहल बनाये रखा है।

साथ ही, पूरी घटना का वर्णन करने के बजाय केवल इसकी ओर संकेत मात्र कर देने से ही जैनेन्द्र कुमार पाठक का औत्सुक्य जगा पाने में सफल हुये हैं। विस्तृत विवरण की अपेक्षा घटना की ओर संकेत कर देने से उन्होंने मानों कथानक का सूत्र पाठक के हाथ में थमा दिया है, और कथाकार की जिम्मेदारी से स्वयं छुट्टी पा गये हैं। तदुपरांत, कथा में कहीं-कहीं घटनाओं की ओर संकेत भर कर देना ही उनके लिये पर्याप्त है और पाठक, उन संकेतों से कथा की दिशा का अनुमान लगा कर, बड़ी उत्सुकता से कथानक को स्वयं आगे बढ़ाता रहता है।

अश्लील घटनायें—जीवन को सर्वथा स्वाभाविक रूप में ग्रहण करने के कारण जैनेन्द्र कुमार ने अपने कथानकों में उन प्रसगों एवं घटनाओं को भी लिया है, जिन्हें अश्लील कहा जाता है। इनमें अनावरण के प्रसंग तथा नारी की प्रगल्भ-धृष्टता की घटनायें आती हैं। जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में ऐसे प्रसंगों की कमी नहीं, और न ही उन्हें प्रच्छन्न रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। उदाहरण के लिये, 'सुनीता' में सुनीता के अनावरण प्रसंग को लुका-छिपी से प्रस्तुत न करके, इसे निम्नलिखित रीति से प्रस्तुत किया गया है—

'मुझे चाहते हो ? मैं यह हूं···

और कह कर सुनीता ने अपना जम्पर उतार कर रख दिया।

हरिप्रसन्न अचकचाया-सा बोला—'भाभी ?'

सुनीता की वाणी में न व्यंग्य मालूम हुआ, न झल्लाहट। उसने कहा, 'मुझे ही चाहते हो न ? मुझे लो', और उसने अपने चारों ओर से साड़ी हटाना शुरू कर दिया।

···हरिप्रसन्न को कुछ सूझे न सूझता था। उसने शरीर पर अब शेष बची बाडी को खोलने की चेष्टा में लगे हुये सुनीता के हाथों को जोर से पकड़ कर, मानों चीख कर कहा, 'भाभी ! भाभी !!'

किन्तु सुनीता तनिक स्मिति के साथ बोली—'यह तो बाधा है, हरी। उसके

रहते मुझे कैसे पाओगे ? उसे उतर जाने दो तब मुझे लेना। खुली मुझको ही लेना। मुझको ही नहीं चाहते ?'

और अपने हाथ छुड़ा कर अपने शरीर से चिपकी हुई बाडी को उसने फाड़ दिया। वह अन्तिम वस्त्र भी चीर होकर नीचे सरक गिरा।'[1]

'व्यतीत' में भी चन्द्री द्वारा विवस्त्र होने का ऐसा एक प्रसंग है—

'सुनकर दो-क्षण मुझे देखा। कैसी निगाह थी। फिर एकाएक लिहाफ़-कम्बल एक ओर फेंककर वह खड़ी हो आयी। रात की इकहरी यथावश्यक पोशाक में उसकी ऊँचाई कुछ और ऊँची हो गयी। आँखों में तड़पती बिजली, बदन तना जैसे कमान। चित्त को जाने कैसा आह्लाद हुआ। घबराकर कहा—क्या करती हो, सर्दी खा जाओगी।'

नहीं समझ सका, क्या हुआ। सब कुछ हो सकता था। उस नारी मूर्ति में सब सम्भावनायें लहक आयीं। शायद वे ही आपस में गुथ बैठीं। वह मूर्ति अपनी जगह से न हिली न डुली। जैसे निष्कम्प ज्वाला हो। धीमे से कहा—'चन्द्री, सर्दी लग जायेगी।'

दांत मिसमिसाकर झटके से तन के तनिक से अन्तिम वस्त्र को उतार कर मेरे मुंह पर जोर से फेंकते हुए कहा, 'लो, अब तो नहीं लगेगी सर्दी।'[2]

जैनेन्द्र कुमार ने कथा के विकास के लिये अनावरण प्रसंग के अतिरिक्त नारी द्वारा पुरुष को निमन्त्रण देने के प्रसंग भी लिये हैं। 'सुखदा' में नारी की प्रगल्भता का एक प्रसंग है जिसका वर्णन करते हुए कहा गया है—'कहने के साथ वह खड़े हो गये। हाथों के पंजे फैले। उंगलियां उनकी तन के कस आयीं। उन दोनों पंजों से कन्धों पर मुझको झंझोड़ते हुए, मेरी आंखों में आंखें डाल कर उन्होंने कहा, 'कह तू, क्या चाहती है ?'

वह क्षण मुझे भूलता नहीं—जीवन और मृत्यु के बीच का वह क्षण। दोनों मानो एक होकर इस क्षण में पिघल आये थे। इस तरह बाघ के से अपने सख्त पंजों में मेरे कंधे को कसे, मेरी आंखों को वह ऐसे देख रहे थे जैसे नहीं बूझ पाते हों कि मैं हूं, कि क्या हूं...वह क्षण अनन्त होता चला गया। समय तब न था, और वह पल त्रिकाल जितना अनन्त था कि देखते-देखते सहसा हिंसा से उन्होंने मुझे अपने आप में जकड़कर दबोच लिया। उस समय मैंने शारीरिक और आत्मिक दोनों किनारों से अनुभव किया कि मैं नहीं हुई जा रही हूं। मरी जा रही हूं, निश्चय जीने से अधिक हुई जा रही हूं। कब मुझे अलग किया और छिटका कर दूर फेंक

---

१. 'सुनीता'   २. 'व्यतीत'

दिया, मैं नहीं जानती । मैं सोफे में आ गिरी । वह कोच में ही बैठे, कहा—'जाओ, बच गयी तुम' ।[1]

स्त्री की प्रगल्भता के दो-एक प्रसंग 'व्यतीत' में भी हैं। सुमिता की धृष्टता का एक प्रसंग—'मोटर में सुमिता दूसरी ही हो आयी । घर में वह सदा सभ्य थी लेकिन मोटर का एकान्त जैसे घर न हो । वहाँ उसकी प्रगल्भ धृष्ठता पर मुझे असमंजस हुआ । मैं एक ओर अलग हटा—पर हटने की कितनी जगह थी । मैंने निश्चयपूर्वक हाथ को अलग हटाया । यह अपमान ही था । सिसकारती-सी बोली, यू सिस्सी, यू डेयर ।'[2]

सुमिता के अतिरिक्त अनिता भी पुरुष के पुरुषत्व को निमंत्रण देने की ढिठाई से चूकती नहीं । जयन्त से कहती है—'स्त्री देह को शास्त्र ने अशुचि कहा है । पाप की खान बताया है । तुम यही मानते हो न जयन्त ? हम सब क्या वैसी ही हैं ? सब अशुचि हैं, अपावन हैं—नहीं तो तुम भागते क्यों हो जयन्त ?......

बोलो जयन्त । बस आज का दिन है और वह खुद दे गये हैं, फिर कुछ मेरे पास नहीं बचेगा···मैं तुमसे पूछती हूं स्त्री डायन है ? खा जायेगी ? लूट लेगी ? भ्रष्ट कर डालेगी ? आज तुम उत्तर देने से जयन्त बच नहीं सकोगे...।'[3]

'जयवर्द्धन' की इला भी मि० हूस्टन के समक्ष अपने गोप्य प्रेम-रहस्यों का वर्णन करते हुये कहती है—'फैले हाथ बढ़ते मेरी ओर आते ही गए और प्यार से बिगड़ा मेरा यह नाम 'इली' पछाड़ों पर पछाड़ खाता गूँज-गूँजकर मेरे कानों के पर्दों पर पड़ता मेरे समूचेपन में रमता गया...

उन हाथों ने मुझे न छुआ, आँचल के छोर को ही तनिक उठाया, और उसे अपने होठों और फिर आँखों से लगाया; मेरे सारे गात में कांटे सिहर आये, आँखें बन्द हो गयीं, कानों में फुसफुसी, मानों नीरव वाणी में सुनती गयी...इली...ी...?

ओह जाने कैसी पुकार थी । काल के किस छोर से वह चली आ रही थी । मेरे समूचेपन में से बोल उठा : लो, लो, लो, मुझे लो...तभी एक हलका-सा परस मेरी उँगलियों को छू गया, सारे गात में एक साथ बिजली दौड़ गयी और मैं वर्जन करती चिल्लायी नहीं, नहीं, नहीं......।

वर्जन करते ही मैं अपेक्षा में रही कि कोई होगा जो मेरी 'नहीं' नहीं सुनेगा और मुझे ले ही लेगा । इस अपेक्षा को ही मैं दोहराती चली गयी, हाथों के वर्जन से आने वाले को हटाती और बुलाती चली गयी...'[4]

अश्लीलता घटना-निर्भर नहीं—कामवासना से छलकते हुये उपर्युक्त प्रसंगों के चित्रण के कारण यद्यपि जैनेन्द्र कुमार पर अश्लीलता को प्रश्रय देने के आरोप

१. 'सुखदा' २. 'व्यतीत' ३. वही, ४. 'जयवर्द्धन'

लगाये गये हैं, तो भी उनकी विशिष्ट चिन्तन-पद्धति के अनुसार इन प्रसंगों के वर्णन में किसी प्रकार की अश्लीलता अथवा अनैतिकता नहीं है। उनका तर्क है कि 'अश्लीलता यदि है तो वस्तु में नहीं, व्यक्ति में है।[1] बुराई या भलाई, अश्लीलता या शालिन्य, और अनैतिकता अथवा नैतिकता को वह व्यक्ति 'एक निर्भर मानते हैं, वस्तु अथवा घटना निर्भर नहीं। एक उदाहरण देते हुये कहते हैं—युवक चिड़ियों और कबूतरों के जोड़ों को आसक्त भाव से देखता रह जाता है। अब हम क्या कहें? यह कहें कि चिड़िया या कबूतर अश्लील है, इसलिये उन पर आँख बन्द रखो, या कपड़े पहनाकर उन्हें सभ्य बनाना शुरू करो? या यह कहें कि युवक अभी कच्चे हैं, खुली प्रकृति की अपेक्षा अभी पुस्तक में उन्हें अधिक ध्यान रखना चाहिये।[2]

अश्लीलता और कामोत्तेजक वर्णन—इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुये वे कहते हैं कि 'नग्नता और आवरण से भी अश्लीलता के प्रश्न का सम्बन्ध नहीं। मैं कह सकता हूं कि संभ्रान्त श्रेणी में पहनी जाने वाली चटकीली साड़ियां और निमन्त्रण देने वाले जम्पर, ब्लाऊज अश्लील हैं और जंगल में लकड़ी बीनती या घास छीलती नग्नप्रत्य: एक भील युवती की मूर्ति में अश्लीलता नहीं।'[3] इसलिए शरीर-वर्णन अथवा कामोपभोग के प्रसंगों के वर्णन मात्र को अश्लील न मानकर, इसके पीछे मनोवृत्ति के आधार पर ही अश्लीलता अथवा अनैतिकता का निर्णय करते हैं। जहां ऐसे प्रसंगों का वर्णन रस लेकर किया जाता है, अथवा, चाहे चोरी-छिपे भी क्यों न हो, इन प्रसंगों से भोग-पक्ष की ओर ध्यान खींचा जाता है वहीं पर वे अश्लीलता का आभास पाते हैं; किन्तु जहाँ इन प्रसंगों की सहायता से मानव चरित्र को समझने का प्रयास किया जाता है, वहाँ अश्लीलता नहीं है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है, 'जहाँ शरीर व्यापार द्वारा मनोवृत्ति को समझने समझाने अथवा उससे भी आगे बढ़कर उसके भीतर से आत्म-धर्म की शोध या प्रतिष्ठा का प्रयास है—वहाँ अश्लीलता नहीं है।'[4]

जैनेन्द्र कुमार का साध्य—उपर्युक्त कसौटी पर कसने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि जिन तथाकथित अश्लील प्रसंगों पर आपत्ति उठायी गयी है, वे प्रसंग तो जैनेंद्र कुमार के मतानुसार अश्लील अथवा अनैतिक नहीं कहे जा सकते। इन प्रसंगों द्वारा उन्होंने अपने पात्रों की मनोवृत्ति के उद्घाटन का प्रयास किया है, और साथ ही एक ऐसे आदर्श की स्थापना का यत्न किया है जो अपने-आप में महान् ही नहीं, अपितु, समस्त मानवता के लिये परम साध्य भी है। उदाहरण के लिये सुनीता के अनावरण प्रसंग को ही लें। अपने पति श्रीकान्त में अटल भक्ति रखने वाली सुनीता अपने पति के आदेश का अनुसरण करती हुई हरिप्रसन्न के मन के

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', २. वही, ३. वही, ४. वही,

ग्रन्थि को खोलने का प्रयास करती है। अनावरण के प्रसंग में उनके मन में कोई दूषित भावना नहीं, बल्कि कर्त्तव्य भावना है और पति में अटल भक्ति है। हरिप्रसन्न के साथ जाने के पूर्व वह अपने पति के चित्र को प्रणाम करती है और वापस लौटने पर श्रीकान्त से स्वयं ही निर्भयतापूर्वक स्वीकार करती है और वापस लौटने पर श्रीकान्त से स्वयं ही निर्भयतापूर्वक स्वीकार करती है, 'मैं तुमसे सच कहती हूं कि मैंने उससे यही कहा हैं कि वह जावें नहीं, रुकें। सच कहती हूं, मैंने अपने को नहीं बचाया। जाने वह कहां गये हैं। मुझे डर लगता है—'[1] सुनीता के मन में किसी प्रकार का कपट या छल नहीं है, अपितु, हरिप्रसन्न के जीवन को प्रयोजनपूर्ण बनाने के हेतु वह अपने पति के आदेशों का आंख मूँद कर पालन करती है।

'सुखदा', 'व्यतीत' और 'जयवर्द्धन' में स्त्री की प्रगल्भ धृष्टता के प्रसंगों द्वारा जैनेन्द्र ने मानव मन के उद्घाटन का ही प्रयास किया है। इनमें रस लेने अथवा पाठकों की कामोत्तेजना को भड़काने का उनका प्रयोजन न होकर, उन्होंने काम के विविध रूपों की पृष्ठभूमि में मानव-मन की गहराइयों पर ही प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इसलिए, इन्हें अश्लील अथवा अनैतिक प्रसंगों की श्रेणी में रखना अनुचित है।

कथानक का उपसंहार

नैतिक आदर्श की प्रतिष्ठा—कथानक के गठन तथा कथानक के विकास पर जैनेन्द्र कुमार के दार्शनिक चिन्तन का जो प्रभाव पड़ा है, उसके उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त अब कथानक के उपसंहार पर उनकी नैतिक मान्यताओं के प्रभाव का अवलोकन अवशिष्ट है। कथानक के गठन और विकास में जैनेन्द्र कुमार ने जिस सोद्देश्यता का परिचय दिया है, उसका आभास कथानक के उपसंहार में सर्वत्र मिलता है। उन्होंने जिन नैतिक प्रश्नों एवं समस्याओं को कथानक के प्रारम्भ में उठाया है, उनके बारे में कथानक के उपसंहार में यथोचित् उत्तर एवं हल भी सुझाये हैं। किन्तु, इन समस्याओं का हल प्रस्तुत करने की उनकी पद्धति बिल्कुल निराली है। उपन्यास के अन्त में वे जिस आदर्श की प्रतिष्ठा करते हैं, उसमें से ही, अप्रत्यक्ष रीति से, नैतिक समस्या का हल ध्वनित होता है। इसलिए, उनके उपन्यासों के उपसंहार में किसी समस्या के नपे-तुले हल की यदि अपेक्षा की जाये, तो निराश होना पड़ेगा। अपनी नैतिक मान्यताओं एवं धारणाओं को कथानक के उपसंहार पर थोपने और इसे यथेष्ट मोड़ देने के चक्कर में न पड़कर, जैनेन्द्रकुमार ने बड़ी ही कुशलता से कथानक के उपसंहार में, अप्रत्यक्ष रीति से, अपने नैतिक आदर्शों की झलक प्रस्तुत की है। इस झलक को देखने के लिए उनके उपन्यासों के उपसंहार को एक-एक करके देखना होगा।

---

१. 'सुनीता'।

त्याग की महिमा—उनके प्रथम उपन्यास 'परख' को ही पहले लें। धन-सम्पत्ति एवं यश-समृद्धि की कामना मानव का स्वाभाविक धर्म है, किन्तु इससे ऊपर उठकर भी एक आदर्श है जिसमें धन सम्पत्ति निःसार है, पर-सेवा और प्रेमभाव ही सर्वोपरि है। अतः, 'परख' के उपसंहार द्वारा जैनेन्द्र कुमार ने पर-सेवा के सम्मुख भौतिक समृद्धि और त्याग के सम्मुख भोग की हीनता ही दिखायी है। उपन्यास के अन्त में कट्टो और बिहारी के आत्मिक विवाह, तथा कट्टो द्वारा समस्त सम्पत्ति सत्यधन को देने की घटना द्वारा जैनेन्द्र कुमार कथानक का उपसंहार ऐसा आदर्शपूर्ण बना देते हैं जिसमें कि भोग के प्रति अनासक्ति एवं परसेवा में अनुरक्ति ही जीवन का चरम-साध्य बन जाता है।

नैतिक कर्त्तव्य—'सुनीता' के प्रारम्भ में हरिप्रसन्न के बारे में श्रीकान्त की नैतिक उलझन और कर्त्तव्य का संकेत देकर, जैनेन्द्र कुमार ने, उस कर्त्तव्य की पूर्ति में उपन्यास का अन्त किया है। श्रीकान्त में हरिप्रसन्न के जीवन को प्रयोजनपूर्ण बनाने की नैतिक जिम्मेदारी की भावना इतनी प्रबल है कि उस जिम्मेदारी को पूरा करने में वह अपनी पत्नी से सर्वस्वदान की अपेक्षा करता है। सुनीता भी पति के आदेश का पालन करने में दत्तचित्त हो जाती है और किसी प्रकार के नैतिक असमंजस में न पड़कर हरिप्रसन्न के जीवन को रचनात्मक एवं उपयुक्त दिशा में मोड़ने में सफल होती है। गृहस्थ का निराश्रय के प्रति, मित्र का मित्र के प्रति और पत्नी का पति के प्रति जो नैतिक कर्त्तव्य होना चाहिए उसकी ओर संकेत करके जैनेन्द्र कुमार ने 'सुनीता' के कथानक का उपसंहार किया है।

अहंभाव का दमन—इसी प्रकार पाप और पुण्य के प्रश्न की समीक्षा से जैनेन्द्रकुमार ने 'त्यागपत्र' का आरम्भ किया है और इसी प्रश्न का उत्तर देकर इस उपन्यास का अन्त किया है। जैनेन्द्र कुमार के मतानुसार आत्म-पीड़ा का बहुत महत्व है, क्योंकि अहंभाव को धीरे-धीरे गलाकर यह आत्मा को शुद्ध बनाता है। आत्मपीड़ा में आत्म-शुद्धि के उपाय को ढूँढ़ने की क्रिया भले ही तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखी जाये, किन्तु जैनेन्द्र कुमार की नैतिक मान्यताओं के हिसाब से इसे बहुत महत्व प्राप्त है। मृणाल के पतन में चारित्रिक श्रेष्ठता का संकेत देने के लिये ही उपन्यास के अन्त में प्रमोद द्वारा जजी से त्यागपत्र देने के प्रसंग का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार जैनेन्द्रकुमार ने मानों नैतिक-अनैतिक एवं पाप-पुण्य की सांसारिक कसौटियों से ऊपर उठकर, आत्म-पीड़न द्वारा आत्म-परिष्कार की कसौटियों से ही मानवाचरण की श्रेष्ठता आंकी है।

'कल्याणी' की समस्या भी मूलतः नैतिक समस्या ही है। आदर्श एवं प्रवृत्ति, भोग एवं त्याग के संघर्ष की कहानी को उपन्यास की नायिका कल्याणी, के माध्यम से कहकर उन्होंने उसकी आत्मिक छटपटाहट को व्यक्त किया है। पति की स्वार्थपरता के कारण पति में भक्ति रखने में असमर्थ कल्याणी अपने दोष का

परिमार्जन करने के लिए आत्म-पीड़न की ओर प्रवृत्त होती है और मृत्यु का आह्वान करती है। कल्याणी के जीवन में घोर मानसिक क्लेश और और अन्त में उसकी मृत्यु दिखाकर जैनेन्द्र कुमार ने पातिव्रत्य के नैतिक आदर्श तथा इसके व्यावहारिक रूप के बीच उत्पन्न होने वाली आधुनिक काल की विषमता का चित्रण कर दिया है।

'सुखदा' और 'व्यतीत' के उपसंहार में जैनेन्द्र कुमार, अहंभाव के दमन सम्बन्धी अपने प्रिय आदर्श की ओर पुनः मुड़ते हैं। व्यक्ति में आत्मरति की भावना उसमें आत्मकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को जन्म देती है जिसका परिणाम यह होता है कि वह जीवन भर दुःखी, असन्तुष्ट एवं अशान्त बना रहता है। आत्म-केन्द्रीकरण की चरम अवस्था का दिग्दर्शन कराने के लिए जैनेन्द्र कुमार ने सुखदा और जयन्त का अभिशप्त जीवन दिखाया है। अपने पति, कान्त, से विमुख और अपने रूप एवं बुद्धि पर गर्व करने वाली सुखदा, अपना जीवन कान्त के साथ बांटना नहीं चाहती। जयन्त भी चन्द्री के साथ, आत्मरति की भावना के कारण, एकात्मकता स्थापित करने में असमर्थ रहता है। परिणाम यह होता है कि रुग्ण सुखदा अस्पताल में अपने जीवन के खण्डहरों पर दृष्टिपात करती हुई पाश्चाताप की अग्नि में जलती है, और जयन्त गैरिक वस्त्र धारण करने पर भी अपने मन में निष्फल जीवन से उत्पन्न अवसाद की भावना को ही पालता घूमता है।

हिंसा की व्यर्थता—'विवर्त' में जितेन के चरित्र में असफल प्रेम से उत्पन्न हिंसा की प्रतिक्रिया और, फलस्वरूप, क्रान्ति के मार्ग के अवलम्बन का दिग्दर्शन कराकर जैनेन्द्र कुमार ने हिंसा एवं क्रान्ति की निःसारता सिद्ध की है और अहिंसा के मार्ग को ही उचित मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास के अन्त में जितेन, पुलिस अधिकारी के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देता है। इस प्रकार, जैनेन्द्रकुमार ने दिखाया है कि क्रान्ति अथवा हिंसा तो मानव का स्वभाव नहीं, विभाव है, और इस विभाव का, जितना शीघ्र ही परित्याग हो, अच्छा है।

निःसंगजीवन का आदर्श—अपने अन्तिम उपन्यास 'जयवर्द्धन' में जैनेन्द्र कुमार ने सांसारिक ऐश्वर्य एवं सुखोपभोग के प्रति अनासक्ति एवं निःसंगता के आदर्शों की प्रतिष्ठा की है। प्रधान मन्त्री के पद पर आसीन जयवर्द्धन के लिए उच्चपद एवं वैभव निःसार-सा है; मानों कर्त्तव्य समझकर ही वह इस पद पर आसीन है, नहीं तो कभी का इसे त्याग दिया होता। ऐसे मनस्वी जयवर्द्धन के लिए यदि ऐश्वर्य-वैभव मिट्टी के समान है तो कामोपभोग भी निःसार-सा ही है। इला के साथ बारह वर्ष तक इकट्ठा रहने के बावजूद वह काम-विजय का ही परिचय देता है। जैनेन्द्र कुमार ने उपन्यास के अन्त में जयवर्द्धन द्वारा राजसत्ता के ऐश्वर्य के साथ-साथ विवाहिता इला के त्याग का भी संकेत करके वस्तुतः त्याग, निःस्पृहता निःसंगता और अनासक्ति के चरम आदर्श की महिमा गायी है।

दुखान्त-कथानकों का बाहुल्य—जैनेन्द्र कुमार ने कथानकों के उपसंसाहार में अपने जीवनादर्शों की जो झलक उपस्थित की है, उसका विवेचन करने के उपरांत एक बात और ध्यान देने की है कि उनके प्रायः सभी कथानक दुःखान्त हैं। कुछ तो उनकी अत्यधिक दार्शनिक मनोवृत्ति के कारण, जिसके फलस्वरूप यह समस्त सृष्टि ही उन्हें निःसार प्रतीत होती है, और कुछ उनके दुखवादी चिन्तन के प्रति रुझान के कारण, उनके प्रायः सभी कथानकों का अवसाद में अन्त होता है। और जहां उनके कथानक का उपसंहार दुखपूर्ण नहीं, वहाँ प्रश्नपूर्ण है। ऐसे प्रश्नान्त कथानक में वे समस्या का कोई निराकरण सुझाने की अपेक्षा, उल्टे उस पर एक प्रश्न-चिन्ह लगा देते हैं।

कुछ उदाहरण लें। उनके 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा' और 'व्यतीत' उपन्यास दुखान्त हैं। उच्चकुल की मृणाल निराधार एवं निराश्रय होकर जब तिल-तिल कर मरती है तो उसकी मृत्यु की सूचना-मात्र से प्रमोद के मन में इतना गहरा पश्चात्ताप होता है कि वह जजी से त्यागपत्र देकर मृणाल के प्रति अपने उपेक्षापूर्ण आचरण का प्रायश्चित करता है। 'त्यागपत्र' उपन्यास के अन्त में प्रमोद आत्म-विश्लेषण द्वारा अपनी स्वार्थपरता का उद्घाटन करके, अवसाद की छाया को मानों और अधिक गहन बना देता है।

इसी प्रकार 'कल्याणी' की नायिका संघर्षपूर्ण जीवन बिताने के बाद अन्त में *मर कर ही संघर्ष से छुट्टी पाती है। यदि 'कल्याणी' में सच्चाई कम होती और* दुनियादारी का भाव अधिक होता तो इस संघर्ष की नौबत ही न उठती। पर उसको तो इसी बात का दुख है कि उसका लोभी पति, उसके विद्यार्थी जीवन के अभिन्न मित्र, प्रीमियर से ही लाभ उठाने से चूकता नहीं। अपने मित्र, प्रीमियर, की कर्त्तव्य-च्युति का स्मरण कर कल्याणी को जो मानसिक सन्ताप होता है, उसका परिणाम अन्त में कल्याणी की मृत्यु में ही होता है।

'सुखदा' और 'व्यतीत' का अन्त भी जैनेन्द्र कुमार ने दुखपूर्ण ही दिखाया है। 'सुखदा' की नायिका, सुखदा और 'व्यतीत' के नायक, जयन्त में आत्मरति की भावना इतनी कूट-कूट कर भरी हुई है कि वे जिस किसी के सम्पर्क में आते है उसीके जीवन को सन्तप्त एवं दुखी बना देते हैं। सुखदा की आत्यन्तिक आत्म-केन्द्रिता उसे अपने पति और पुत्र से अलग कर देती है। अन्त उसका होता है अस्पताल में, जहां कि अपने बीते जीवन की त्रुटियां, सिनेमा हाल में फिल्म की तरह एक-एक करके उसकी आंखों के सामने घूम जाती हैं। इसी प्रकार, 'व्यतीत' का जयन्त भी चन्द्री के साथ आत्मीयता स्थापित करने में असफल रहता है और गैरिक वस्त्र धारण करके अपने पाप का प्रायश्चित करने का प्रयास करता है, सुखदा और जयन्त की गृहस्थी के उजड़ने का संकेत देकर जैनेन्द्र कुमार ने दोनों ही उप-न्यासों के कथानकों का दुखान्त उपसंहार किया है।

प्रश्नान्त कथानक—जैनेन्द्र कुमार के शेष उपन्यास ... हैं। अपने जीवन दर्शन के अनुसार उन्होंने इन उपन्यासों का जैसा अन्त किया है उसमें समस्या विशेष के हल का कोई संकेत नहीं मिलता, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। उदाहरण के लिए, 'परख' के अन्त में कट्टो और बिहारी का 'वैधव्य यज्ञ'[1] की प्रतिज्ञा में बंधना, उनके द्वारा कोई निश्चित मार्ग अपनाने की सूचना नहीं देता, अपितु, इसमें अनिश्चितता ही अधिक है। 'सुनीता में हरिप्रसन्न की मानसिक ग्रन्थि खुलने के बाद उसके जीवन की धारा किस विधायक दिशा की ओर मुड़ी, अथवा उसकी मानसिक ग्रन्थि खुली भी या कि नहीं—इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिलता, केवल अनुमान से ही सन्तोष कर लेना पड़ता है।

इसी प्रकार, 'जयवर्द्धन' के नायक का उपन्यास के अन्त में एकाएक अन्तर्धान हो जाना, उपन्यास में राजनीति एवं जन-कल्याण सम्बन्धी उठाये गये प्रश्नों का कोई हल प्रस्तुत करने के बजाय, उल्टे इन पर प्रश्न-चिन्ह लगा देता है। ऐसा लगता है कि मानों राजसत्ता, वैभव एवं ऐश्वर्य से जयवर्द्धन का जी ऊब गया है और इस जंजाल से छुटकारा पाना ही उसका लक्ष्य है। उपन्यास के अन्त में कोई समाधान उपस्थित किये बिना ही जैनेन्द्र कुमार, राजनैनिक गुटबन्दी से उत्पन्न विविध समस्याओं को ज्यों का त्यों छोड़कर, अपने प्रमुख पात्र को रंगमंच से हटा देते हैं। इसका प्रभाव और चाहे कुछ हो, किन्तु इतना निश्चित है कि इससे 'जयवर्द्धन' का कथानक प्रश्नान्त ही अधिक बना है।

पात्र व चरित्र-चित्रण

उपन्यास के कथानक तत्व पर जैनेन्द्र कुमार के नैतिक चिन्तन एवं जीवनादर्शों के प्रभाव का विवेचन करने के उपरान्त, उपन्यास में पात्रों के चरित्र-चित्रण पर इस प्रभाव की छानबीन करना जरूरी है, क्योंकि जैनेन्द्र कुमार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं चिन्तन यदि किसी एक तत्व में सर्वाधिक मुखर हुआ है तो वह चरित्र-चित्रण में ही। उपन्यास में कहानी कहना उनका काम न भी हो, किन्तु जैनेन्द्र कुमार ने पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय जितनी जागरूकता एवं रुचि व्यक्ति की है, उसका अनुमान उनके इस कथन से लगाया जा सकता है कि—'किसी पात्र में मैं अनुपस्थित नहीं हूं...उनकी सब बातें मेरी बात है।'[2] जान पड़ता है कि कहानी कहने के बजाय अपने पात्रों के चरित्र का उद्घाटन करने की ओर जैनेन्द्र कुमार का ध्यान अधिक रहा है और अपने पात्रों के जीवन में जैनेन्द्र कुमार ने बहुत रुचि ली हैं। सच तो यह है कि पात्रों की वाणी में जैनेन्द्र कुमार का

---

१. 'परख' २. 'सुनीता,

जीवन-दर्शन सवाक् हो उठा है, और उनके चरित्र-चित्रण एवं क्रियाकलाप में उन्होंने मानों अपने समस्त जीवनादर्शों को मूर्त्त कर दिया है। जैनेन्द्र कुमार के चिन्तन का पात्रों के चरित्र-चित्रण पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे समझने के लिये हमें पात्रों के चयन, प्रवृत्ति-निर्देश एवं चरित्र-विकास—इस क्रम से चलना होगा। अतः, सर्व प्रथम पात्रों के चयन को ही लें।

पात्रों का चयन—जैनेन्द्र कुमार ने पात्रों का चयन अधिकतर समाज के मध्यम वर्ग से किया है। वे स्वयं भी इसी वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये इन पात्रों के बारे में उनकी जानकारी बहुत गहन और सूक्ष्म है। मध्यवर्गीय पात्रों के जीवन की लालसा, आकांक्षा, आशा-निराशा और सुख-दुख का जो गहन एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन अपने उपन्यासों में उन्होंने प्रस्तुत किया है, उसका एकमेव यही कारण है कि वे स्वयं भुक्त-भोगी हैं।

मध्यवर्गीय पात्र—जैनेन्द्र कुमार द्वारा मध्यवर्गीय पात्रों को लेने का एक कारण और भी है। वे अपने उपन्यासों में पात्रों के मानसिक संघर्ष का चित्रण प्रस्तुत करना चाहते हैं, और ऐसे पात्र उन्हें मध्यवर्ग में आसानी से मिल सकते हैं। उच्च अथवा निम्नवर्ग के पात्रों की तुलना में मध्यवर्गीय पात्र समाज की नैतिक मान्यताओं का उतनी आसानी से अतिक्रमण नहीं कर सकते, इसलिये नैतिक संघर्ष के लिये उनकी मनोभूमि जितना अच्छा अखाड़ा बन सकती है उतनी किसी अन्य वर्ग के पात्रों की नहीं। साथ ही, मध्यवर्गीय पात्रों में बौद्धिक जागरूकता और नैतिक चिन्तन का जो एक नैसर्गिक गुण विद्यमान रहता है, वह अपेक्षाकृत अन्य वर्गों में उतना नहीं मिलता। इसलिये, मध्यवर्ग से ही पात्रों का चयन कर जैनेन्द्र-कुमार ने आत्म-विश्लेषण में समर्थ, नैतिक द्वन्द्व की ओर प्रवृत्त तथा विचारशील पात्रों का सृजन किया है।

उदाहरण के लिये, उनके 'परख' की कट्टो, सत्यधन और बिहारी; 'सुनीता' के श्रीकान्त, सुनीता और हरिप्रसन्न; 'त्यागपत्र' की मृणाल और प्रमोद; 'कल्याणी' के डा० असराणी, कल्याणी और वकील साहिब; 'सुखदा' के कान्त, सुखदा, लाल और हरिदा; 'विवर्त' का जितेन और भुवन मोहिनी; 'व्यतीत' के जयन्त, चन्द्री और अनिता, और 'जयवर्द्धन' के जयवर्द्धन, इला, नाथ और लिजा आदि पात्र मध्यवर्ग से ही सम्बन्ध रखते हैं। यह ठीक है कि इनमें से कुछ पात्र उच्च-वर्ग के भी हैं, जैसे कि 'कल्याणी' की कल्याणी और डा० असराणी, 'जयवर्द्धन' का जय-वर्द्धन और इला, लिजा और डा० नाथ, लेकिन, वस्तुतः, उनका सम्बन्ध मध्यवर्ग से ही है और वे धीरे-धीरे बढ़ते हुये उच्चवर्ग में जा पहुंचे हैं। इन पात्रों में आत्म-विश्लेषण की प्रवृत्ति, बौद्धिक जागरूकता एवं नैतिक संघर्ष को जन्म देने की जो क्षमता दिखाई देती है, वह मध्यवर्ग के पात्रों का ही जन्मजात गुण है।

पात्रों की स्वल्पता—पात्रों के चयन में जैनेन्द्र कुमार की एक और प्रवृत्ति है—तीन-चार पात्रों से काम चला लेना। उपन्यास-रचना में पात्रों का जमघट उन्हें पसन्द नहीं, इसलिये उनकी रचनाओं में दो प्रमुख पात्र और दो-एक गौण पात्र ही मिलेंगे। उपन्यास के कन्वास को विस्तृत करने के बजाय उनका प्रयास इसे गहरा करने की ओर सदैव रहता है, इसलिये भी उन्होंने कम से कम पात्रों से काम चला लिया है।

पात्रों की स्वल्पता का एक कारण यह भी है कि कथाकार के परम्परागत कर्तव्य, अर्थात् कहानी कहने को निबाहने की अपेक्षा, जैनेन्द्र कुमार ने इस कर्तव्य के प्रति उपेक्षा व्यक्त की है। इसलिये, जागतिक घटनाओं पर आधारित कहानी कहने के बजाय, जैसा कि अब तक होता आया था, जैनेन्द्र कुमार ने व्यक्ति के मानसिक जगत् में उठने वाली प्रतिक्रियाओं और जटिलताओं की कहानी कहना अपना लक्ष्य बनाया है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के समूचे जीवन की अपेक्षा जैनेन्द्र कुमार ने उसके एक खण्ड को लेकर ही समूचे जीवन का चित्र उतारना चाहा है। इस कारण भी उन्होंने जीवन के विस्तृत अध्ययन की अपेक्षा जीवन के गहन अध्ययन की ओर ध्यान दिया है। देखा जाये तो पात्र के जीवन की गहन अध्ययन की यह प्रवृत्ति ही उनके उपन्यासों में पात्रों की स्वल्पता का मुख्य कारण है। यह बात अलग है कि अपने एकाध पात्र के जीवन में गहरे उतरने पर उन्हें वहीं पर इतनी अधिक सामग्री मिल गयी कि किसी अन्य पात्र के जीवन को छूने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई है।

जैनेन्द्र कुमार की औपन्यासिक कृतियों में पात्रों की स्वल्पता के उदाहरण के रूप में उनका प्रत्येक उपन्यास प्रस्तुत किया जा सकता—'परख' में कट्टो, सत्यधन और बिहारी—इन तीन पात्रों पर समूचा कथानक आधारित है। 'सुनीता' में भी तीन ही पात्र हैं—सुनीता, श्रीकान्त और हरिप्रसन्न। 'त्यागपत्र', 'कल्याणी' और 'विवर्त' में तो और भी कम पात्रों की जरूरत पड़ी है। 'त्यागपत्र' में मृणाल और प्रमोद; 'कल्याणी' में श्रीमती कल्याणी असराणी तथा डा० असराणी, और 'विवर्त' में जितेन और भुवन मोहिनी—अर्थात्, दो-दो पात्रों से ही उन्होंने काम चला लिया है। इसी प्रकार, 'सुखदा' में सुखदा, कान्त और लाल; 'व्यतीत' में जयन्त, चन्द्री और अनिता तथा 'जयवर्द्धन' में जयवर्द्धन, इला और हूस्टन—इन तीन-तीन पात्रों को उन्होंने पर्याप्त समझा है। पात्रों की अबहुलता का एक फल यह हुआ है कि आठ-दस पात्रों का छिछला चरित्र-चित्रण के करने के बजाय उन्होंने दो-तीन पात्रों का अपेक्षाकृत अधिक सम्पूर्ण एवं गहन चित्र अंकित कर दिया है।

प्रवृत्ति निर्देश—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में जिस बात पर बहुत अधिक आग्रह रहता है, वह है, पात्रों के मानसिक व्यापारों के विश्लेषण द्वारा उनके चरित्र की विशेषताओं एवं उनके व्यक्तित्व का उद्घाटन करना। जिस प्रकार शिक्षाप्रद उपन्यासों में नैतिक आदर्शों की प्रस्थापना और मनोरंजक उपन्यासों में कथानक

की रोचकता प्रधान रहती है, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में पात्र के चरित्र-चित्रण का बोलवाला रहता है। इस कारण, जैनेन्द्र कुमार ने अपने उपन्यासों में चरित्र-चित्रण को प्रमुखता ही नहीं दी, वरन्, इसी एक तत्व के आधार पर उन्होंने अपने उपन्यासों का गठन भी किया है। उनका हरेक उपन्यास किसी एक पात्र की जीवनी को लेकर लिखा गया है, और यदि उस पात्र को अलग कर दिया जाए तो उपन्यास का सम्पूर्ण ढांचा टिका नहीं रह सकता। यह बात सही है कि उन्होंने अन्य पात्रों का भी अपने उपन्यासों में समावेश किया है, किन्तु, इनका उपयोग उन्होंने प्रमुख पात्र पर भिन्न-भिन्न कोणों से प्रकाश डालने के लिये किया है, जिससे कि पात्र-विशेष का सम्पूर्ण चित्र चमक उठे।

उपन्यासों में चरित्र-चित्रण पर सर्वाधिक वल देने का एक कारण यह भी है कि जैनेन्द्र कुमार ने पात्रों द्वारा अपने व्यक्तित्व, चिन्तन एवं जीवनादर्शों को अभिव्यक्त किया है। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो जैनेन्द्र कुमार के विविध पात्र उनके जीवन-दर्शन के सजीव चित्र हैं, उनके जीवनादर्शों की जीती-जगती प्रतिमूर्तियां हैं। जहां तक सम्भव हुआ है, उन्होंने पात्रों के व्यक्तित्व में अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व उड़ेलने का प्रयास किया है, इसलिये पात्रों की बातें पात्रों की न रहकर जैनेन्द्र कुमार की अपनी बातें बन गयी हैं और उनके चिन्तन एवं आचरण की प्रतिच्छाया मात्र ही है। इसी बात को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा है—'सृष्टि सृष्टा को छिपाये है। मुझे भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा मानें।'[1]

आदर्शवादी और दार्शनिक पात्र—फलस्वरूप, जैनेन्द्रकुमार ने अपने पात्रों की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों का निर्धारण करते समय मानों अपनी ही प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है। जैनेन्द्र कुमार मूलतः दार्शनिक हैं। दार्शनिक के चिन्तन का धरातल जनसाधारण के धरातल से ऊपर उठा रहता है, इसलिये उनके पात्र भी जीवन के विविध पहलुओं पर जब विचार करते हैं तो उनके चिन्तन में असामान्यता एवं विलक्षणता झलकती है। दुनियादार लोगों की तुलना में उनके पात्र अपने जीवन में एक असाधारण आदर्शवादिता को प्रकट करते हैं जो कि दार्शनिकता का ही अनिवार्य परिणाम है। इस प्रकार अपने प्रधान पात्रों में दार्शनिकता और आदर्शवादिता जैसी असामान्य प्रवृत्तियों की ओर, जैनेन्द्र कुमार उपन्यासों के प्रारंभ में ही निर्देश करके आगे बढ़ते हैं।

उदाहरण के लिए, उनके 'परख' के सत्यधन को ही लें। 'सत्यधन' की दार्शनिकता और आदर्शवादिता की ओर संकेत करते हुए वे उपन्यास के प्रारम्भ में कहते हैं—'वकालत पास की, पर शुरू न की। इसके दो कारण हुये। बी० ए० पास करने के बाद टालस्टाय, रस्किन, गांधी या जाने किसका एक विचार स्फुलिंग

---

१. 'सुनीता'।

इनके जवानी के तेज खून में पड़ गया था। उस वक्त तो सामने एल-एल० बी० की पढ़ाई आ गयी। उसे पढ़ने और पास करने की फिक्र में लग जाना पड़ा। इससे कोई खास फल दिखायी न दिया। पर वकालत का इम्तहान देकर, शहर के कोलाहल और व्यस्तता से दूर, अपने गांव में जब आये और जीवन-क्षेत्र में कदम रखने की बातें सोचने लगे, तो वह स्फुल्लिंग भी चेता।'[1] सत्यधन की दार्शनिकता, आदर्शवादिता को जन्म देती है—'वकालत न करने की बात जब टकसाली बाजार में यों तो फैल गयी, तो अब क्या किया जाये? पढ़े-लिखे पेट के प्रश्न की ओर से थोड़े-बहुत निश्चिन्त इस युवक के लिये बस अब एक काम रह गया : आदर्श आराधन।'[2]

'सुनीता' में जैनेन्द्र कुमार ने सुनीता, श्रीकान्त और हरिप्रसन्न की दार्शनिकता और आदर्शवादिता की ओर उपन्यास के आरम्भ में संकेत किया है। सिनेमा हाल में मीरा का चित्र देखते समय सुनीता, परकीय प्रेम एवं पातिव्रत्य मे उत्पन्न होने वाले विरोध का विश्लेषण करने लगती है, वह मीराबाई को समझना चाहती है। मीरा के पति की ओर से वह मीरा को समझना चाहती है। मीरा पतिव्रता हुए बिना भी, अरे क्यों उसकी श्रद्धा-भाजन बनी है? वह अपने से पूछती है, 'अरे क्यो? अरे क्यों?' पति ही तो परम श्रेय है। उन्हें छोड़ उनसे विमुख और किसी और की ओर उन्मुख होने पर भी मीरा लांछिता क्यों नहीं है। वह अपने से झगड़ कर चाहती है, मीरा को खण्डिता और लांछिता ठहरा दे। किन्तु मीरा के प्रति उसके मन के भीतर का स्नेह और वेदना उमड़ी ही आती है, भरी ही आती है।'[3] मीरा के प्रेम का यह आदर्श है जिसे सुनीता अपने सामने रखते हुए और अपने पातिव्रत्य धर्म का पालन करते हुए भी हरिप्रसन्न के सम्मुख आत्म-समर्पण के लिये उद्यत हो जाती है।

जैनेन्द्र कुमार ने श्रीकान्त और हरिप्रसन्न के चरित्र में इन्हीं प्रवृत्तियों की ओर इशारा किया है। हरिप्रसन्न के निराश्रित जीवन का स्मरण कर श्रीकान्त का मन विचलित हो उठता है। वह सोचता है—'हरिप्रसन्न की याद घुण्डीदार प्रश्नवाचक-सी बनी मेरे इस जीवन के आगे खड़ी हो जाती है। मानों पूछती है—'तुम यह, श्रीकान्त? तुम यह? जब कि तुम्हीं देखो, मैं क्या हूं? मुझे अपने तमाम जीवन की ओर हरिप्रसन्न की याद सन्देह से संकेत करती दीख पड़ती है। मानों कुछ भीतर से अन्धेरा-सा उठकर तर्जनी की नोक मेरे सामने करके पूछता रहता है—'ओ श्रीकान्त, यही मार्ग है; यही जीवन है? इस सबसे मैं बच नहीं सकता। बचने के लिए ही, मैं कहता हू, हरिप्रसन्न को पाना होगा और पाकर इस विस्मय बोध को मिटाकर वहां जीवन के आगे निश्चय-वाचक विराम-चिह्न ले आना

---

१. 'परख'। २. वही। ३. 'सुनीता'।

होगा।'[1] हरिप्रसन्न में आत्मोत्सर्ग के आदर्श और दार्शनिकता के पुट का आभास देते हुए जैनेन्द्र कुमार ने उसके मुख से कहलवाया है- 'कुछ लोग करोड़पति बने, कुछ नयी उम्र में फांसी चढ़ कर चुक गये। उन्होंने जगत् को न किसी नवीन प्राणी का दान दिया, न पुस्तक का, न मैन्युफैक्चर्ड द्रव्य का। उन्हें याद करने की कोई बात नहीं। फिर भी क्या आगे बढ़कर ऐसे अपनायी गयी मौत व्यर्थ है ? बताओ, व्यर्थ है ?'[2]

इसी प्रकार जैनेन्द्र कुमार ने दार्शनिकता और आदर्शवाद का चोला पहना कर 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'कल्याणी' की नायिका, कल्याणी को प्रस्तुत किया है। मृणाल के चारित्रिक पतन में आदर्श के पालन का आभास देने के लिए जैनेन्द्र-कुमार ने उपन्यास के आरम्भ में प्रमोद के मन की दुविधा का वर्णन किया है—'नहीं भाई, पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे न होगी। जज हूं, कानून की तराजू की मर्यादा जानता हूं। पर उस पर तराजू की जरूरत को भी जानता हूं। इसलिए कहता हूं कि जिनके ऊपर राई-रत्ती नाप-जोखकर पापी कहकर व्यवस्था देने का दायित्व है, वे अपनी जानें। मेरे बस का वह काम नहीं है। मेरी बुआ पापिष्ठा नहीं थीं, यह भी कहने वाला मैं कौन हूं पर आज मेरा जो अकेले में उन्हीं के लिए चार आंसू बहाता है......उन बुआ की याद जैसे मेरे सब कुछ को खट्टा बना देती है। क्या वह याद मुझे अब चैन लेने देगी ?'[3] जज प्रमोद को अपनी बुआ की उपेक्षा करने के कारण जो सन्ताप हुआ, उसका वर्णन करके जैनेन्द्र कुमार ने बड़ी कुशलता से मृणाल के ऊपर से पतित दीखने वाले किन्तु भीतर से सच्चे जीवन का संकेत दिया है।

इसी प्रकार कल्याणी की दार्शनिक मनोवृत्ति का उपन्यास के आरम्भ में संकेत देते हुए वे कहते हैं, 'वह कुछ उद्विग्न हो आयीं। उन्होंने कहा—नहीं, नहीं, नहीं। कीमत की बात फिजूल है। अनगिनत दुविधा हैं। वहां कीमत क्या होती है ? सब फिजूल है। क्या उनमें अर्थ है ? सार कुछ समझ में नहीं आता।'[4] कल्याणी के जीवन सम्बन्धी कुछ निश्चित आदर्श हैं जिन्हें स्वप्न की संज्ञा दी गयी है। उनकी ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं, 'पर अपने सम्बन्ध में उन्हें समाधान नहीं था। जान पड़ा कि उनको ख्याल है कि उमर व्यर्थ बीतती जा रही है। रह-रह कर उन्हें अपने उन स्वप्नों की याद होती थी जो कालेज में पढ़ने के वक्त उनके मन में झूमा करते थे। उनकी बातों से आभास मिलता था कि उनके गिरस्ती न होती तो वह डाक्टरी से कमाई न करतीं।'[5]

आत्म विश्लेषण की प्रवृत्ति—दार्शनिकता का एक लक्षण है—आत्म-विश्लेषण

---

१. 'सुनीता'। २. वही। ३. 'त्यागपत्र'। ४. 'कल्याणी'। ५. 'कल्याणी'।

की प्रवृत्ति। अपने पात्रों को दार्शनिक चोले में प्रकट करने के लिए जैनेन्द्र कुमार ने इस प्रवृत्ति का काफी सहारा लिया है। 'सुखदा' की नायिका, सुखदा और 'व्यतीत' का नायक, जयन्त, आत्म-विश्लेषण द्वारा अपनी चरित्रगत विशेषताओं को प्रकट करते हैं। सुखदा अपने जीवन की विफलता पर विचार करते हुए कहती है—'अस्पताल मे हूं, अकेली हूं। बस नौकर एक साथ है। बच्चे हैं, स्वामी हैं, पर सब दूर हैं। उनकी याद करते डर होता है। किस मुंह से याद करूं ? उन्हें अपने ही हाथों मैंने हटाकर दूर कर दिया है, अपने ही हाथों मैंने अपना भाग्य बनाया है। कभी मेरी सोने की गिरस्ती थी, आज ठौर का भी ठिकाना नहीं है। सब उजड़ चुका है और अपने ही कर्मों मैंने उजाड़ा है।'[1] आत्म-विश्लेषण द्वारा सुखदा के दोष की ओर इंगित करके जैनेन्द्र कुमार बाद में उस दोष की व्याख्या भी कर देते हैं।

यही हालत 'व्यतीत' के जयन्त की भी है। उसकी आत्मकेन्द्रिता की ओर जनेन्द्र कुमार ने पात्र द्वारा आत्मविश्लेषण की विधि के सहारे, संकेत किया है—'आज इस ४५वें जन्मदिन पर आकर सब हिल गया मालूम होता है। सन्तोष से अब सन्तोष नहीं है। लगता है, यह कहीं मेरा अपना गर्व तो न था ? तब से अब तक की जिन्दगी की एक हठ की कर्कशता तो थामे नहीं रही है ? जिसको दृढ़ता समझा जाता है, वह कहीं भीतर की तिक्तता तो नहीं है ? मेरी स्वावलम्बता कहीं निरी स्वरति ही तो नहीं है।'[2]

'जयवर्द्धन' में आकर जैनेन्द्र कुमार के पात्रों की दार्शनिकता एवं आदर्शवादिता अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी है। जयवर्द्धन, इला और हूस्टन का जो रूप उन्होंने प्रस्तुत किया है, उसमें उनकी दार्शनिकता पूरी तरह छायी हुई है। जयवर्द्धन के जीवन की ऊपरी सरलता के नीचे कितनी गहराई है, इसका वर्णन उन्होंने हूस्टन के शब्दों में किया है, 'जयवर्द्धन को देखा, मिला—बात हुई। व्यक्ति नहीं वह घटना है, कह दो व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं। कहीं भीड़ में वह खो भी सकता है। साधारण, स्वल्प, पर छुआ कहीं तो बिजली का जीता तार जैसे छू गया। धक्के और अचम्भे से आदमी झनझना आता है। धक्का और भी प्रबल शायद इसलिये होता हो कि तुम उसकी तनिक भी आशा नहीं रखते। बढ़ते हो कि करुणा करोगे पर कुछ आता है, तुम स्तब्ध बंधे से रह जाते हो। तुच्छता समझकर जहां हाथ डाला वहां ज्वाला दमक आये, तो कैसा लगे—कुछ वैसा ही अनुभव हुआ।'[3] राजसत्ता एवं राजवैभव के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा हुआ जयवर्द्धन भी जैसा वीतराग बना हुआ है, उसका संकेत वे उपन्यास के आरम्भ में दे देते हैं। इसी प्रकार हूस्टन

---

१. जैनेन्द्र कुमार, 'सुखदा', पृष्ठ ३। २. जैनेन्द्र कुमार, 'व्यतीत' पृष्ठ ८।
३. जैनेन्द्र कुमार, 'जयवर्द्धन' पृष्ठ १७।

को, जो जयवर्द्धन के चरित्र एवं कार्य का अध्ययन करने आया है, दार्शनिक एवं तत्व-अन्वेषक के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। यही हाल इला का भी है। पिता की अप्रसन्नता के बावजूद वह जयवर्द्धन के साथ रह रही है—बिना विवाह किये हुए, किन्तु उसमें कामलिप्सा की भावना नहीं, केवल कर्त्तव्य-पूर्ति की कामना है। पिता ने विवाह की अनुमति नहीं दी, इसलिए दोनों को ही अविवाहित रहकर लांछित होना इष्ट है, किन्तु आचार्य की अनुमति के बिना विवाह करके विवाह-संस्था को दूषित करना इष्ट नहीं।

चरित्र-विकास—'परख' की कट्टो और सत्यघन को छोड़कर, जिनके चरित्र का विकास उपन्यास के आरम्भ में बतायी गयी प्रवृत्ति के विपरीत हुआ है, जैनेन्द्र कुमार के शेष पात्रों का चरित्र-विकास, पूर्व-निर्दिष्ट प्रवृत्तियों का अनुसरण करता हुआ आगे बढता है। ये प्रवृत्तियां प्रायः समान-सी हैं इसलिए इनके विविध पात्रों के चरित्र का विकास प्रायः समान रूप से ही हुआ है। यह समानता इतनी अधिक है कि उनके अधिकांश पुरुष पात्र और नारी पात्र, यदि नाम बदलकर किसी दूसरे उपन्यास में रख दिये जायें, तो उन्हें पहिचानना कठिन हो जाये। उदाहरण के लिए कट्टो, सुनीता, कल्याणी, सुखदा, भुवन मोहिनी, अनिता और इला के चरित्र की विशेषतायें एक-दूसरे से इतनी मिलती-जुलती हैं कि उनमें सहज ही अदल-बदल हो सकती है। इसी प्रकार, श्रीकान्त, कान्त, नरेश चन्द्र और जयवर्द्धन के समान पति-पात्रों तथा हरिप्रसन्न, लाल और जयन्त जैसे क्रान्तिकारी पुरुष पात्रों के चरित्र भी आपस में इतने मिलते-जुलते हैं कि उनमें हेरफेर कर देना कोई कठिन बात नहीं है।

पात्रों की प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन अधिक—पात्रों की चरित्रगत समानता का एक कारण यह है कि जैनेन्द्र कुमार ने उनकी प्रवृत्ति का उद्‌घाटन अधिक किया है, आकृति का कम। पात्रों का आकृति-वर्णन यदि मिलता है तो थोड़ा-बहुत ही—बस, काम चलाऊ। जैनेन्द्र कुमार का आग्रह पात्रों के मानसिक व्यापारों के चित्रण पर अधिक रहा है, इसलिये वे अपने पात्रों के आचरण के पीछे निहित प्रवृत्तियों का विश्लेषण जब करने लगते हैं तो अपने चिन्तन के प्रभाव के कारण प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुच जाते हैं। इसलिये, प्रायः समान प्रवृत्तियों एवं समान प्रेरणाओं की हल्की-हल्की रेखाओं से उभारे गये उनके विविध पात्रों के चित्र अन्त में जाकर इतने समान-से दीखते हैं कि उनमें भेद करना कठिन हो जाता है।

रहस्यात्मक आदर्शवाद—जैसा कि पहले कहा गया है, जैनेन्द्र कुमार के पात्रों के चरित्र में जो प्रवृत्तियाँ और विशेषताएँ समान-रूप से पायी जाती हैं वे दार्शनिकता, आदर्शवादिता और असामान्यता की हैं। उनके अधिकांश पात्र इन्हीं प्रवृत्तियों को लेकर सिरजे गये हैं। किन्तु जैनेन्द्र कुमार जब इन प्रवृत्तियों के आधार पर अपने पात्रों के चरित्र का विकास करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, तब दार्शनिकता,

आदर्शवादिता और असामान्यता के पुटपाक के कारण कभी-कभी उनके पात्रों में इतनी गूढता आ जाती है कि वे दुर्बोध और रहस्यपूर्ण प्रतीत होने लगते हैं। तब ऐसा जान पड़ता है कि ये पात्र किसी ऐसे रहस्यात्मक आदर्शवाद को जीवन में अपना कर चले हैं जो कि सामान्य जीवन के नैतिक मूल्यों और नैतिक मान्यताओं के सर्वथा विरुद्ध है। उनका आचरण लौकिक व्यवहार और लौकिक मान्यताओं से दूर हट कर एक निराले, स्वप्निल और रहस्यात्मक आदर्शवाद का अनुसरण करता प्रतीत होता है।

उदाहरण के लिए, उनके नारी पात्रों को ही लें। दार्शनिकता, भावुकता, आदर्शवादिता और रहस्यात्मकता की अस्पष्ट रेखाओं से जैनेन्द्र कुमार के सभी नारी पात्र सिरजे गये हैं। 'परख' की कट्टो के चरित्र का धीरे-धीरे विकास करते हुए जैनेन्द्र कुमार अन्त में उसे जिस रूप में प्रस्तुत करते हैं, वह रहस्यात्मक आदर्शवाद से प्राणवान हैं। सत्यधन के लिए निष्कपट प्रेम की भावना मन में रखते हुए, उसकी स्वार्थपरता एवं दुर्बलता को क्षमा करते हुये वह पर-सेवा का कठोर-व्रत धारण करती है। इस व्रत को उसने 'वैधव्य-यज्ञ' की संज्ञा दी है और इसमें बिहारी को अपना साथी बनाकर कहती है, 'आओ मेरे साथ बँधते हो। ··बिहारी बाबू, बड़ा कठिन यज्ञ सम्पन्न करने के लिए बंधते हैं हम। सोच लो तुम। बहुत लम्बा जीवन आगे पड़ा है···। उस यज्ञ के लिए सबसे सुन्दर शब्द है मेरे पास 'वैधव्य'। अर्थ है, 'आत्म-आहुति'। बंधते हो?'[1]

कट्टो द्वारा वैधव्य यज्ञ की प्रतिज्ञा लेना रहस्यात्मक आदर्शवाद की बात तो है ही, किन्तु जब पातिव्रत्य-धर्म और परकीय प्रेम के परस्पर विरोधी आचरण से उत्पन्न मानसिक सन्ताप भोगने के उपरान्त 'सुनीता' की नायिका, सुनीता, भी पति के आदेश का पालन करते हुए स्वत्व-दान के लिए हरिप्रसन्न के सम्मुख अपने-आपको निरावरण करती है, तब उसके कृत्य में रहस्यात्मक आदर्शवादिता का ही प्राधान्य दिखायी देता है। इस रहस्यात्मक आदर्शवादिता के आगे नैतिकता के सामान्य मान खण्डित हो जाते हैं। पत्नीत्व एवं नारीत्व के परस्पर विरोधी आदर्शों का रहस्यात्मक समन्वय प्रस्तुत करते हुए वह सोचती है—'और वह पत्नी है, फिर भी नारी है। कौन अपने-आप में पूर्ण है? कौन विमुखता में, नकार में पूर्ण होना चाहता है? और उसकी उमर अभी है भी कितनी? उसमें क्या जगत् के प्रति उत्सुकता सर्वथा शान्त हो गयी है? वह कब वैचित्र्य के प्रति जिज्ञासु और सामर्थ्य के प्रति उन्मुख नहीं रही है? क्या वह हाड़-मांस की नहीं है? वह पत्नी है, पर नारी है। वह पति में ही नहीं, स्वयं भी है।'[1]

इसी रहस्यात्मक आदर्शवाद का अनुसरण करते हुए 'त्यागपत्र' की मृणाल, कोयले वाले के साथ अनैतिक सम्बन्ध बनाये हुए हैं। अपने अनैतिक आचरण का

१. 'परख'।

समर्थन करते हुए वह कहती है—'जिनके सहारे बची, उन्हीं को छोड़ देने की मुझसे कहते हो ? मैं नहीं छोड़ सकती। पापिनी हो सकती हूं, पर उसके ऊपर अकृतज्ञ भी बनूं ?'[1] इतना ही नहीं, अनैतिक आचरण में वह सती के आदर्श का पालन करने की बात कहती है—'पर एक बात जानती हूं, वेश्यावृत्ति नहीं करने लगूंगी। इसका विश्वास रखो। ··जिसको तन दिया, उससे पैसा कैसे लिया जा सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। तन देने की जरूरत मैं समझ सकती हूं। तन दे सकूंगी। शायद वह अनिवार्य हो। पर लेना कैसा ? दान स्त्री का धर्म है। नहीं तो उसका क्या धर्म है ? उससे मन मांगा जायेगा, तन भी मांगा जायेगा। सती का आदर्श और क्या है पर उसकी बिक्री···न, न, यह न होगा।'[2] इस प्रकार रखैल होते हुए भी मृणाल सती के आदर्श के पालन की जब बात कहती है तो उसके कथन में ऐसे आदर्शवाद का संकेत मिलता है जो कि सामान्य रीति-नीति के धरातल से ऊपर उठा हुआ एवं रहस्यात्मक ही अधिक है।

वर्तमान जीवन से ऊबकर और पलायन-वृत्ति के वशीभूत होकर जब कल्याणी 'भारती तपोवन' की स्थापना के स्वप्न लेती है तो उन स्वप्नों में भी रहस्यात्मक आदर्शवाद का गहरा रंग घुला हुआ रहता है। बड़े दार्शनिक ढग से वह अपने आदर्शों और स्वप्नों को प्रस्तुत करते हुये कहती है, 'तपोवन मेरा सपना है, भारती तपोवन। सपना मुझे सपना रहेगा। पर आप हैं, तब मैं निराश क्यों होऊँ। क्या देखते हैं ? नहीं आज मैं पागल नहीं हूं। ठीक है कि मुझे दिल्ली में ही मरना और गड़ना है, पर आप क्यों यहां जमकर नहीं बैठ सकते ? 'भारती तपोवन' आप हो सकते हैं। कोई विधान नहीं, कोई पद-अधिकारी नहीं, विभाजन नहीं। सब आप।'[3] सरल एवं आडम्बररहित जीवन की चाहना करने वाली कल्याणी के जीवन में यही विडम्बना है कि उसे तड़क-भड़क एवं आडम्बर से परिपूर्ण जीवन बिताना पड़ता है। इसी कारण उसके मन में क्लेश है, द्वन्द्व है। आदर्श और व्यवहार, निवृत्ति एवं प्रवृत्ति के संघर्ष में पड़ कर वह अपने स्वप्नादर्शों के चिन्तन में कुछ सन्तोष पाती है और जब ये स्वप्न भी टूटने को होते हैं तो वह भी टूट जाती है।

इस प्रकार, सामान्य जीवन से ऊबकर संघर्ष का आह्वान करने वाली सुखदा, सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करती है। रूप और योग्यता का अभिमान उसे इस क्षेत्र में बढ़ने की अधिक प्रेरणा देता है। इसका परिणाम यह होता है कि ज्यों ज्यों वह सार्वजनिक जीवन मे यशलाभ करती है, त्यों-त्यों उसका गृहस्थ जीवन नीरस एवं निःसार बनता जाता है। क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता की आराधना का ऐसा नशा उस पर सवार होता है कि परिवार और पति का मोह तुच्छ जान पड़ता है। इस पर लाल जैसे समर्थ एवं मोहक व्यक्तित्वपूर्ण पुरुष का आकर्षण, और

१. 'त्यागपत्र'। २. वही। ३. 'कल्याणी'।

साथ ही उपेक्षा, उसे जिस आचरण के लिये प्रेरित करती है उसका स्वयं विश्लेषण करते हुये वह कहती है–'स्त्री का यह क्या हाल है ? क्या है जो उसको ऐसा अवश कर जाता है कि वह स्वयं नहीं रह जाती है। पुरुष उसे लेने उसकी ओर आता है, तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नहीं रहता, कुछ चुनौती नहीं रहती। पर जब वह नहीं आता उसमें, बल्कि या तो उसे लाँघकर या उससे लौटकर जाता वह कहीं किसी अनबूझ में है, वहाँ जहाँ उसे कुछ पकड़ने को मिलता ही नहीं, तब स्त्री को एक साथ क्या हो आता है ? जैसे इस असह्य अपमान की बराबरी करने का उसका सारा मान एक ही साथ आकर पलड़े में झुक जाता है। उस अनबूझ की तरफ बढ़ते हुये पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुँह अपनी ओर कर देखने की आन पर जैसे वह प्राणपण से तुल आती है। तब कहीं कुछ उसके लिए नहीं रह जाता। न कहीं वर्जन रहता है, न पाप रहता है, न समाज रहता है। मानों वह होती है और सामने चुनौती।'[1]

नारी पात्रों की स्वेच्छाचारिता—जैनेन्द्र कुमार ने अपने नारी पात्रों में स्त्री के अबला रूप के बजाय उसके शक्ति-रूप को ही अधिक दिखाया है। उनमें जन्मजात स्वातन्त्र्य-प्रेम की भावना प्रबल है, इसलिए उनमें अपना निजी व्यक्तित्व है। यही निजत्व एवं स्वतन्त्र-व्यक्तित्व की भावना बढ़कर, कहीं-कहीं स्वेच्छाचार बन गयी है। तब उनके नारी पात्रों के लिए सामाजिकता और नैतिकता के लौकिक बन्धन टूट-टूट जाते हैं। मृणाल, सुनीता, कल्याणी और सुखदा के अतिरिक्त भुवन मोहिनी, अनिता, चन्द्री, इला और लिजा जैसी नारी पात्रों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व और स्वेच्छाचारिता उनके प्रत्येक कृत्य से छलकती रहती है। लौकिक नैतिकता के प्रचलित मानों को ठुकराना ही मानों उनका व्यवसाय है, क्योंकि उनके हृदय की दुर्धर्षता उन्हें चैन नहीं लेने देती। 'विवर्त' की नायिका, भुवन मोहिनी न तो जितेन के सम्मुख अपने प्रेम-प्रदर्शन में सकुचाती है और न ही उसे अपने पति नरेशचन्द्र के सम्मुख जितेन के प्रति अपना प्रेम स्वीकार करने में कोई संकोच होता है। नारी की स्वाभाविक लज्जा एवं संकोच से कोसों दूर 'व्यतीत' की अनिता भी बड़ी बेत-कल्लुफी से जयन्त को दफ्तर के सब कर्मचारियों के सम्मुख अपनी बाँहों में ले लेती है। उसकी प्रगल्भता की चरम-सीमा तक आती है जब वह जयन्त के सम्मुख आत्म-समर्पण करते हुये कहती है—'जयन्त रात की बात भूल जाना। मैं सुध में न थी। अब सुध में हूं। कहती हूं मैं यह सामने हूं। मुझको तुम ले सकते हो। समूची को जिस विधि चाहो ले सकते तो। स्त्री सदा यह नहीं चाहती। बेहयाई की हद पर भी नहीं कहती। लेकिन मैं सुध रखकर कहती हूं—तुम किसी के सुभीते के लिए नहीं रहना चाहते। शायद अपने लिए रहना चाहते हो। वह रहना कैसा होता है

---

१. 'सुखदा'

मैं नहीं जानती। तुम को इतने दिनों से रहते देख रही हूं। यही क्या अपने लिये रहना है ?'[1]

किन्तु पुरुष के सम्मुख स्त्री का यह खुला समर्पण यहीं तक सीमित नहीं रहता। इस पर दार्शनिकता तथा रहस्यात्मक आदर्शवाद का आवरण डालते हुए अनिता कहती हैं—'तुम स्त्री नहीं हो इसीलिये न तुम्हें पुरुषत्व का मान है, पर अपने स्त्रीत्व पुरुषत्व को अखण्ड रखने के लिये हम सिरजे नहीं गये हैं। हमें एक-दूसरे में अपना विजय खोजना होगा। नहीं तो जयन्त सफलता नहीं, पर पूर्णता नहीं है। भगवान अर्व-नारीश्वर हैं तो क्यों ? इसीलिये कि कोई अपने आपको बचाने में बन्द न रहे।'[2]

व्यक्तित्वहीन पति पात्र—जैनेन्द्र कुमार के नारी पात्र जहां एक ओर इतने सशक्त, व्यक्तिपरक, स्वच्छन्द एवं नैतिक-अनैतिक के विचार से ऊपर उठे हुये हैं, वहाँ दूसरी ओर, उनके पुरुष पात्रों में पुरुषत्व के स्वाभाविक तेज एवं सामर्थ्य का पूर्ण लोप है। कहा जा सकता है कि नारी पात्रों की तुलना में उनके पुरुष पात्र अधिक स्त्रैण हैं। उनमें कोमलता, अवलता, अवशता, निरीहता जैसे स्त्री-सुलभ गुणों की भरमार है, जबकि उनके नारी पात्रों में दुर्धर्षता, उद्दण्डता, कठोरता और स्वच्छन्दता जैसे पुरुषोचित गुण ही अधिक पाये जाते हैं। पत्नियों की तुलना में पतिवर्ग अधिक निरीह और न्योछावर है। उनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं, और पत्नी की इच्छा को अपने आचरण में प्रतिबिम्बित करना ही मानों उसके जीवन की चरम साध है।

स्वेच्छाचार का समर्थन—पर बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जैनेन्द्र कुमार के पति-पात्र जहां एक ओर अपनी पत्नियों को स्वेच्छाचार की छूट देते हैं वहाँ दूसरी ओर, इस स्वेच्छाचारिता का रहस्यपूर्ण एवं दार्शनिक ढंग से समर्थन भी करते हैं। और, कहीं-कहीं तो कर्त्तव्य-पूर्ति के नैतिक आदर्श के पालन में वे उन्हें स्वेच्छाचरण का आदेश भी देते हैं। उदाहरण के लिए, 'सुनीता' का श्रीकांत अपनी पत्नी, सुनीता, से यह अपेक्षा करता है कि वह जैसे भी हो हरिप्रसन्न की काम-अभुक्ति की गांठ को खोल दे। उसका स्पष्ट आदेश है, 'सुनीते, मुझे उसकी भीतर की प्रकृति की बात नहीं मालूम। तो भी तुमसे कहता हूं कि तुम इन दिनों के लिए अपने को अपनी इच्छा के नीचे छोड़ देना। यह समझना कि मैं नहीं हूं, तुम हो और तुम्हारे लिए काम्य कर्म कोई नहीं है। इस भांति निषिद्ध कर्म भी कोई नहीं रहेगा। कर्म में से यों अपने को ह्रस्व, अनासक्त कर पाना ही तो इष्ट है। इसके लिए निस्सन्देह बड़ी साधना की आवश्यकता है।'[3] जैनेन्द्र कुमार ने श्रीकान्त के मुख से जिस साधना का उल्लेख करवाया है उसे एक विचित्र एवं रहस्य-

---

१. 'व्यतीत' २. वही, ३. सुनीता।

पूर्ण जीवन-दर्शन का ही परिणाम कहा जा सकता है। किन्तु जहां तक व्यवहार का सम्बन्ध है, पुरुष की ऐसी निःसंगता, मनोवैज्ञानिक असत्य ही सिद्ध होगी क्योंकि पुरुषोचित ईर्ष्या एवं व्यामोह से ऊपर उठे हुये संयत स्वभाव वाले ऐसे आदर्श पुरुष विरले ही दिखायी देंगे।

अपनी पत्नियों के दायित्वहीन एवं नैतिक स्वेच्छाचरण का समर्थन करते समय जैनेन्द्र कुमार की रचनाओं के पति-पात्र जिस आत्मपीड़न तथा त्याग का परिचय देते हैं उसका एक उदाहरण 'सुखदा' का कान्त भी है। उसे यह मालूम होने पर भी कि सुखदा लाल से प्रेम करती है, उसके मन में किसी प्रकार की ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होती। अपने प्रति सुखदा की उपेक्षा को वह हंस कर झेलता है और कोई उलाहना देने के बजाय क्षमा-याचना करते हुए कहता है—'रानी, एक कसूर माफ करोगी ? तुम्हारे पीछे लाल का पत्र मैंने पढ़ लिया था—लाल तुम्हें प्यार करता है और तुम सोचती होगी कि तुम प्यार नहीं कर सकती।...नहीं वह सच नहीं है। प्यार उसे कष्ट देता होता। तुम्हें भी वह कष्ट देगा। वह कष्ट ही देता है। शायद दे रहा है। बस यही बात है। ज्यादा और कुछ नहीं है।'[1]

कान्त के समान 'विवर्त' का बैरिस्टर नरेशचन्द्र भी भुवन मोहिनी के प्रथम प्रेमी, जितेन के प्रति ईर्ष्या का अनुभव नहीं करता; उलटे, भुवन मोहिनी की इस रोमानी प्रवृत्ति की सराहना करता है। जितेन से बदला लेने के बजाय वह भुवन मोहिनी के स्वेच्छाचरण का मानों औचित्य सिद्ध करते हुए कहता है—'मुझे उसमें क्या कहना है ? क्या मेरा आशीर्वाद है कि ऐसा हो ? हाँ, है मेरा आशीर्वाद, मेरी मोहिनी को सबका प्रेम मिले, क्या उसके मेरी होने की सार्थकता तभी नहीं है कि अभिन्नता इतनी हो कि मेरा आरोप उस पर न आये ? यही है मोहिनी, यही है, देखोगी कि मेरी ओर से तुम पर आरोप आने की आवश्यकता नहीं रह गयी है। हे ईश्वर ! तुम हो तो तुझ से मेरी यही प्रार्थना है।'[2]

श्रीकान्त और नरेश जैसे निःसंग तथा ईर्ष्या एवं व्यामोह से अछूते पतिपात्रों की श्रेणी में 'जयवर्द्धन' का नायक भी आता है। बीस वर्ष तक इला के साथ रहने के उपरांत भी जयवर्द्धन के मन में कामवासना का प्रवेश नहीं होता। ऐसे निर्लिप्त एवं काम पर विजय पाने वाले जयवर्द्धन से इला को यही शिकायत है कि 'बीस साल हो गये। शायद अधिक··· आंखें मेरी उठी हैं और सामने आंखों में मैंने चाह चीन्ही है, पर तभी वे आंखें मुंद गई हैं और मुंद रही हैं। उँगलियों के पोरों में लालसा लहकी दीखी है, कि वे अब बढ़ेंगी, लेकिन नहीं, नाम के जाप में उन्हें अपनी ही ओर-फेर लिया जाता गया है। मैं समक्ष हूं और सवेरे का तड़क अंधकार है, कोई पास नहीं, और कहते हैं, अब भजन, हर सवेरे हर शाम यही कि 'अब भजन···

---

१. 'सुखदा' २. 'विवर्त'

दिन में, देखती हूं, समय नहीं मिलता, पर इस समय न मिलने को देखती तो हूं ही, रात दूर रहते हैं, मैं दूर रहती हूं।'[1] ऐसा काम विजयी एवं सांसारिकता से निर्लिप्त जयवर्द्धन जैनेन्द्र कुमार के अन्य पति-पात्रों के समान, इला को इस बात की छूट देता है कि यदि वह चाहे तो स्वामी चिदानंद के पास जाकर रह सकती है। इतना ही नहीं, इस अनैतिक स्वेच्छाचरण का समर्थन वह बड़े अनोखे ढंग से करते हुये सोचता है कि इला के जाने से चिदानंद के मन में पड़ी हुई काम-अभुक्ति की गांठ खुल जायेगी और वह अपनी शक्ति को विघातक कार्यों में खर्च न करके, इसे विधायक कार्यों में लगायेगा।

जैनेन्द्र कुमार ने पति-पात्रों में दार्शनिकता के प्राधान्य का एक परिणाम यह हुआ है कि वे अपनी पत्नियों की उच्छृंखलता को सहर्ष स्वीकार ही नहीं करते, वरन्, पत्नियों के प्रेमियों के प्रति भी किसी प्रकार की ईर्ष्या अथवा द्वेष मन में नहीं लाते। यही कारण है कि जहां अनेक उपन्यासकार, नारी के प्रश्न को लेकर ही उपन्यास में संघर्ष को जन्म देते हैं और खलनायक की सृष्टि करते हैं, वहां जैनेन्द्र-कुमार ने संघर्ष उत्पन्न करने के इस सस्ते नुस्खे का उपयोग नहीं किया। और, यही कारण है कि उनके उपन्यासों में खलनायक का पूर्ण अभाव है, क्योंकि उनके नायकों के सोचने विचारने का ढंग इतना दार्शनिक एवं सहिष्णु है कि उनके मन में अपनी पत्नियों के प्रेमियों के प्रति किसी प्रकार की ईर्ष्या अथवा द्वेष का भाव उत्पन्न नहीं होता। उनमें प्रतिस्पर्धा और होड़ की भावना नहीं, क्रोध अथवा द्वेष को वह प्रश्रय नहीं देते, इसलिये पत्नियों के प्रेमियों के साथ पति-पात्रों के संघर्ष का अवसर ही नहीं उत्पन्न होता। 'सुनीता' के हरिप्रसन्न, 'सुखदा' के मि० लाल, और 'विवर्त' के जितेन के स्वभाव में उच्छृंखलता एवं स्वेच्छाचार का इतना बोलबाला है कि उन्हें नैतिक-अनैतिक की चिंता नहीं सताती। पराई-स्त्री से प्रेम ही मानों उनका व्यापार है और क्रांतिकारी के उच्चादर्श के गर्व में वह ऐसा आचरण कर बैठते हैं जो कि नैतिक प्रतिमानों के दृष्टिकोण से सर्वथा आपत्तिजनक ही कहा जायेगा। इस पर भी पति-पात्र संयत बने रहते हैं और पत्नियों के प्रेमियों को खलनायक न समझ कर उनके प्रति अपने हृदय की सहानुभूति ही उडेलते रहते हैं। जैनेन्द्र कुमार ने बुराई की जड़ को पकड़ने की सदा चेष्टा की है, इसलिये बुराई की निन्दा भले ही उन्होंने की हो, बुरे की कदापि नहीं की। उन्होंने बुराई पर ही आघात किया है, बुरे पर नहीं; इसलिये स्वेच्छाचारी प्रेमियों के रहते हुये भी उन्हें उपन्यास में खलनायकों के सृजन की आवश्यकता नहीं पड़ी।

पात्रों के सृजन एवं उनके चरित्र-चित्रण की उपर्युक्त विवेचना के उपरांत यह कहना पिष्टपेषण-मात्र हो जाता है कि जैनेन्द्र कुमार ने अपने जीवन-दर्शन के

---

१. 'जयवर्द्धन'

अनुरूप ही अपने पात्रों के चरित्र की रेखायें खींची हैं। उनके प्राय: सभी पात्रों के चरित्र में दार्शनिकता, रहस्यात्मकता, दुर्बोधता तथा आदर्श-प्रेम के जो रंग भरे गये हैं, वे तो उनके निजी चिन्तन एवं स्वभाव के ही प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जैसा कि उन्होंने कहा भी है कि 'इन पात्रों की बातें मेरी बात है 'इसलिये समस्त पात्रों में जैनेन्द्र कुमार का व्यक्तित्व झलकता दिखाई देता है और अपने प्रत्येक पात्र की ओट में वे मानों स्वयं छिपे खड़े हैं।

भाषा

पात्रों के सृजन और चरित्र विकास में जैनेन्द्र कुमार के जीवन-दर्शन का जो स्पष्ट प्रभाव हमें उपर्युक्त विवेचन में दिखाई दिया है, यदि इसी प्रभाव की दृष्टि से उनके उपन्यासों की भाषा पर भी विचार करें तो हमें पता चलेगा कि भाषा के माध्यम से अपनी बात कहते-कहते जैनेन्द्र कुमार ने भाषा को भी अपने मनोभावों एवं विचारों के अनुसार गढ़ा है। जैनेन्द्र कुमार की दार्शनिक प्रवृत्ति तो भाषा में ही मानों सवाक् हो उठी है, इसलिये शब्द-शब्द एवं वाक्य-वाक्य पर जैनेन्द्र कुमार ने अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी है। इसके अतिरिक्त, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की नई धारा के प्रणेता होने के कारण भी जैनेन्द्र कुमार को भाषा के क्षेत्र में नये-नये प्रयोग करने पड़े हैं। फलस्वरूप, सूक्ष्मतम भावों के चित्रण की क्षमता रखने वाली ऐसी समर्थ भाषा को उन्होंने जन्म दिया है जिसमें व्याकरण का बन्धन क्षीण होने पर भी एक विचित्र ओज है। भाषा सम्बन्धी इस ओजस्विता का यदि और विश्लेषण किया जाये, तो इस गुण विशेष के पीछे जैनेन्द्र कुमार के प्रभावशाली व्यक्तित्व का आभास मिलना कठिन नहीं।

सरल एवं प्रवाहमयी भाषा—उपन्यासों की भाषा पर जैनेन्द्र कुमार के चिंतन का जो प्रभाव पड़ा है उस पर विचार करते समय जो बात सहसा ध्यान में आ जाती है, वह है, भाषा की सरलता। उन्होंने छोटे-छोटे वाक्यों और बोलचाल के अत्यन्त सरल शब्दों का प्रयोग करके भाषा में ऐसा प्रवाह ला दिया है कि इसमें भाव-रम्यता तथा सरलता सर्वत्र छलकती दिखाई देती है। व्याकरण के बन्धन और अलंकार की सजावट को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनका कहना है—'सफलता के लिये हर गद्य को वाग्मिता से सरलता और बनावट से सहजता की ओर बढ़ना होता है।'[1] इस कारण सहजता एवं सरलता का गुण तो उनकी भाषा में कूट-कूट कर भरा हुआ है। मनोभाव का चित्रण हो अथवा पात्र की स्वभावगत विचित्रता का निरूपण, किसी के मानसिक द्वन्द्व का विश्लेषण हो अथवा पात्र के जटिल व्यक्तित्व का उद्घाटन, घटना का वर्णन हो अथवा अपने मत की स्थापना, इन सब में जैनेन्द्र कुमार ने अत्यन्त सरल एवं सीधी भाषा का प्रयोग किया है। इस सरलता का ही यह परिणाम है कि उनकी भाषा लहरीली और प्रवाहमयी बन गई है।

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय'

उनकी सरल एवं प्रवाहमयी भाषा के कुछ उदाहरण लें। हरिप्रसन्न के अकस्मात् कमरे में आ जाने पर काम में लगी सुनीता के संकोच का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'(हरिप्रसन्न ने) अतीव सौन्दर्यशालियों को देखा है। किन्तु सब को ठीक-ठीक अपेक्षणीय रूप में ही देखा है। 'हां मैं तैयार हूं' वेशभूषा की ओर से जब वे इस स्थिति में रही हैं, तभी हरिप्रसन्न उनके साथ मिला, बोला अथवा हँसा है 'अरे ठहरना, मैं तैयार नहीं हूं'—स्त्री की ऐसी हालत में तो उसके सामने वह कभी नहीं पड़ पाया है।'[1] अथवा हरिप्रसन्न के संकोच का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'हरिप्रसन्न एक बार सुनीता को देख लेकर नीची निगाह से कमरे में चलता चला आया और जब कुर्सी उसकी टांगों में लगी तब उस पर बैठ गया।'[2]

इसी प्रकार 'कल्याणी' में श्रीधर द्वारा कल्याणी के अपमान की बात सुनने पर वकील साहब की प्रतिक्रिया का वर्णन है—'इस सूचना पर अपने क्षोभ को खाली करते हुये मैंने कहा—झूठ कहते हो। भला इतनी भीड़ में से कोई आदमी मदद न करता।'[3] कल्याणी भी अपनी निराशा को व्यक्त करते हुए कहती है—'मैं अपने सर्वनाश से डरती हूं। ... मैं आप अपनी स्वामिनी हूं। मैं चाहूं तो कौन मेरा नरक रोक सकता है।'[4] इसी प्रकार, कल्याणी की झल्लाहट का वर्णन उसके शब्दों में इस प्रकार किया गया है—'झींक और झल्लाहट के स्वर में ताकीद के साथ तब उन्होंने वेहरा से कहा—'सुन नहीं लिया ? नहीं लेंगे, कुछ नहीं लेंगे, कुछ भी नहीं लेंगे। बस अब जाओ।'[5]

जैनेन्द्र कुमार की सरल एवं सहज भाषा के उदाहरणों की कमी नहीं। अपने पति के बारे में सुखदा कहती है—'मैं अपने इन स्वामी को देखती बैठी रही, जो खेल में मोहरे ही बन सकते हैं जिससे दूसरे खेलें।'[6] अपने प्रति जितेन में अविश्वास की भावना से त्रस्त होकर भुवन मोहिनी कहती है—'सोचती थी कि तुम हो, नयी दुनिया के तुम्हारे सपने हैं और मैं उनके साथ होऊँगी। वहां फर्क नहीं होगा, लेकिन काश, कि तुम्हारे मन में प्रेम हो सकता जो फार्क न रहने देता।'[7] अनिता के परिवार में अपने हेलमेल को व्यक्त करते हुये जयन्त कहता है—'मैं घर गया, इस परिवार से मेरा दूर का सम्बन्ध निकलता है। घर-भर ने मुझे लिया।'[8]

विचार प्रवर्तकता—किन्तु सरल होने के साथ-साथ जैनेन्द्र कुमार की भाषा

---

१. जैनेन्द्र कुमार, 'सुनीता', पृष्ठ ३८। २. वही। ३. जैनेन्द्र कुमार, 'कल्याणी', पृष्ठ ६४। ४. वही, पृष्ठ ११८। ५. वही, पृष्ठ ८३। ६. 'सुखदा', पृष्ठ १९५। ७. 'विवर्त' पृष्ठ १४-१५। ८. 'व्यतीत', पृष्ठ ३।

गम्भीर और समर्थ भी है। गम्भीरता का कारण तो यह है कि उनका दार्शनिक चिन्तन, उपन्यास की भाषा पर छाया हुआ है। सरल होने पर भी उनकी भाषा विचार प्रवर्तक है, और, प्रभाकर माचवे के शब्दों में—'उनकी लेखनी की क्षमता इसी में है कि वह विचारों को ठेलती, कुरेदती और आगे बढ़ाती है।'[1] यह विचार प्रवर्तकता उनकी दार्शनिक मनोवृत्ति का ही परिणाम है। इसके अतिरिक्त, उनके अधिकांश पात्र अपने-आपको दार्शनिक चोले में प्रकट करते हैं; इसलिये भी भाषा पर दार्शनिक चिन्तन का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। 'परख' की कट्टो, 'त्यागपत्र' की मृणाल तथा 'सुनीता', 'कल्याणी' और 'सुखदा' की नायिकाओं में दार्शनिक चिन्तन का पुट अधिक है। पति द्वारा परित्यक्त मृणाल अपने अनैतिक आचरण का समर्थन करते हुये कहती है—'पति को मैंने नहीं छोड़ा, उन्होंने ही मुझे छोड़ा है। मैं स्त्री-धर्म को पतिव्रत धर्म ही मानती हूं। उसका स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिये कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे ? वह मुझे नहीं देखना चाहते, यह जानकर मैंने उनकी आँखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा मैं तेरा पति नहीं हूं। तब मैं किस अधिकार से अपने को उन पर डाले रहती ? पतिव्रता का यह धर्म नहीं है।'[2]

कृष्ण के प्रति मीरा के आकर्षण का विवेचन करते हुए सुनीता भी ठेठ दार्शनिक भाषा का उपयोग करने लगती है—'अलौकिक ही कुछ हो सकता है, जो लौकिक का आधिपत्य अस्वीकार कर दे, बुद्धि अतीत जो हैं, उसे चलने के बुद्धि के पैर और तर्क के स्टेप्स नहीं काम देंगे। इससे मैं सहमत हूं कि लौकिक तो अलौकिक का बहिष्कार ही करे। पर अलौकिक इससे असत् न हो जायेगा।'[3] कल्याणी के चिंतन को उसके लेखों में इस प्रकार प्रकट किया गया है—'कहा गया था कि स्त्री स्वातंत्र्य और कुछ नही, मातृत्व से बचने की चाह है। लेकिन स्त्री भूलती है अगर वह अपने प्रेयसी रूप पर मुग्ध है। वह रूप छलना है। वह अनित्य है। क्षणिक है। और अगर इसमें मातृत्व का फल नहीं है तो वह निष्फल है, अनर्थकर है। स्त्री की सार्थकता मातृत्व है। मातृत्व दायित्व है।'[4] विचारों को ठेलने, कुरेदने एवं आगे बढ़ाने के ऐसे-ऐसे प्रसंग जहां आये हैं, वहाँ जैनेन्द्र कुमार की भाषा ठेठ दार्शनिक की भाषा बन गयी है, जो कि विचार की शृंखला को एक बार पकड़ने पर इसके अन्त तक जा पहुंचती है।

समर्थ एवं लालित्यपूर्ण भाषा—दार्शनिक पुट होने के कारण सामान्यतः भाषा में रूखापन आ जाता है। किन्तु जैनेन्द्र कुमार की भाषा दार्शनिक होते हुये

---

१. 'साहित्य का श्रेय और प्रेय' प्रस्तावना, पृष्ठ ५।
२. 'त्यागपत्र', पृष्ठ ६४। ३. 'सुनीता', पृष्ठ ७८।
४. 'कल्याणी', पृष्ठ ८१।

भी रूखी नहीं है, गम्भीर होते हुए भी इसका प्रवाह अवरुद्ध नहीं हुआ है। उनकी भाषा में लालित्य और प्रवाह प्रचुर मात्रा में है। साथ ही. वायु के समान प्रवाहमान सूक्ष्म एवं जटिल मनोभावों को भी शब्दबद्ध करने की क्षमता के कारण जैनेन्द्र कुमार की भाषा बहुत ही समर्थ बन गयी है। उपन्यास की भाषा में सूक्ष्मभाव के चित्रण को ही उन्होंने शीर्ष स्थान दिया है; केवल अर्थ का वहन करना ही उन्होंने गद्य का लक्ष्य नहीं माना। उनका कथन है—'कहानी-उपन्यास में भाषा सिर्फ अर्थ देकर सार्थक नहीं हो सकती। भाव को भी उसे युगपत चित्रित और जागृत करते जाना होगा।'[1] अतः उनके मतानुसार भाषा का स्वयं अपने लिये कोई अस्तित्व नहीं है; भाषा तो सिर्फ भाव की अभिव्यक्ति के लिये है। और, क्योंकि भाव तो सूक्ष्म हैं, इसलिये उनकी अभिव्यक्ति में भाषा को भी इतना समर्थ बनाना होगा कि वह अतीव सूक्ष्म एवं पकड़ में न आ सकने वाले भावों को भी चित्रित कर सके। इस सम्बन्ध में उन्होंने भाषा की कसौटी निर्धारित करते हुये कहा है—'आवश्यक है कि गद्य अपने उत्कर्ष में स्थूल से सूक्ष्म के आकलन की ओर बढ़े। कारण. जीवन की यही गति है। आलम्बन तो सदा ही स्थूल होगा, अन्यथा हो नहीं सकता। किन्तु आकलन उत्तरोत्तर सूक्ष्म का हो इसी में भाषा का विकास समाया है।'[2]

जैनेन्द्र कुमार द्वारा निर्धारित गद्य की उपर्युक्त कसौटी के अनुरूप यदि हम उनके उपन्यासों की भाषा की परीक्षा करें तो हमें ज्ञात होगा कि उनकी भाषा ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर विकास किया है। इतना ही नहीं, मन में उठने वाले अनेक मनोरम, कोमल तथा जटिल भावों को भाषा का रंग-विरंगा आवरण ओढ़ते-ओढ़ते जैनेन्द्र कुमार की भाषा भी लालित्यपूर्ण हो गयी है। उदाहरण के लिये, हरिप्रसन्न के मन पर सुनीता ने कमरे से बाहर जाते समय जो प्रभाव डाला, उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—'...वह कमरे के बाहर तैर गयी। उस समय उसकी रेशमी साड़ी की धानी आभा ही कांपती हुई झलमल-झलमल हरिप्रसन्न की आंखों में रह गयी। और उसके कानों में साड़ी की तरल पर्तों को छूकर जाती हुई समीर की सरसराहट भरने लगी। मानों कुछ होले-हौले बज रहा हो, कुछ भीना-भीना बरस रहा हो और भीतर से उसे भिजो रहा हो।'[3]

मनोभावों का चित्रण करते-करते जैनेन्द्र कुमार की भाषा में ओजस्विता आ जाती है। श्रीकान्त की सरलता के सम्मुख हरिप्रसन्न के स्वभाव का तीखापन कैसे कुण्ठित होता है, इसका उल्लेख इन शब्दों में किया गया है—'जो तीखी धार सब कुछ काट देगी, स्वच्छ तरलता को वही किस दांत से काट सकती है? तीखे की, पैने की स्पर्धा यहीं कुण्ठित होती है। उसका अहंभाव यहीं आकर मानों क्षार-

---

१. जैनेन्द्र कुमार, 'साहित्य का श्रेय और प्रेय', पृष्ठ १५६।

२. वही, पृष्ठ १५७।

३. 'सुनीता', पृष्ठ ६७।

क्षार होना चाहता है। उत्ताप के लिए इससे बड़े भय का हेतु और क्या है कि कोई उससे न तपे। तब उसे अपनी ही तपन की व्यर्थता मानों डसने को आती है। यहीं शक्ति की मर्यादा है, गर्व यहीं खर्व होगा। दम्भ का यहीं स्खलन है, दर्प यहीं नमता है।'[1]

कल्याणी के मानसिक क्लेश का एक चित्र है—बोलीं, 'ठीक तो है। आप भी मेरी तरह उन्नत क्यों नहीं होते हैं? कोठी में जा रही हूं। अधिक नहीं तो आकर जरूर देखियेगा, उन्नति कैसी दीखती है। देखकर सबक लीजियेगा।

उस वक्त कहने को तो मैंने हंसकर कह दिया—'जरूर' पर सच यह है कि हंसी मेरी झूठ थी। उस नारी के द्वन्द्व की तीक्ष्णता पर मुझे कभी हर्ष नहीं हुआ है। आदमी हर घड़ी अपने पर दांतेदार छुरी चलाता रहे, यह कोई हर्ष की बात नहीं है।'

इसी प्रकार 'विवर्त' में जितेन पर भुवन मोहिनी के रहस्यपूर्ण आचरण की प्रतिक्रिया का वर्णन है—'जितेन कुछ न समझ सका। वह ठिठका रह गया। ये पल उसे उठाये न उठे। जी होता था कि इकहरी काया की इस अपदार्थ नारी को अपनी मुट्ठी में पकड़कर इस वायु के व्योम में ऐसे फेंक दे कि उसका नाम-निशान कहीं न रह जाये। होता था कि सिर उसका ऊपर उठाकर उसके चरणों में ऐसा बिछ जाये कि स्वयं शून्य हो रहे। पर कुछ न हुआ।'[2]

अन्त में, मानसिक कुण्ठा का चित्र उतारते हुये, उन्होंने 'व्यतीत' के नायक जयन्त के मुख से कहलवाया है—'तब तो मैं भी शायद (अपने को) कवि जानता था, अपने को महान जानता था, विचारक जानता था। निर्णय के भाव से औरों को देखता और फैसला देता था। तब चन्द्री मेरे लिए मानिनी थी जो अतिशय रमणीया थी, इससे मेरे लिए जैसे तिरस्करणीया बन उठी; मानिनी थी इससे अपमाननीया हो गयी। धनशालिनी थी इससे दण्डनीया बन गयी, ऊँची थी इससे नीची बनाना शायद मेरे लिए आवश्यक हो गया। ओफ! क्या पैसे की कमी मेरे भीतर इतनी गहरी जा बैठी थी, कि वह दबकर, कसकर अभिमान की ग्रन्थि बन उठी। जो हो, वह अभ्यर्थना में झुकती, मैं अनादर में तनता, कहता, 'कुछ नहीं तुम रहने दो।'[3]

प्रतीक योजना—जटिल मनोभावों एवं गहन विचारों को व्यक्त करने के लिये जैनेन्द्र कुमार ने कहीं-कहीं प्रतीकात्मक शैली को भी अपनाया है। जहां विचार जितने अधिक उलझे हुए जान पड़े, वहीं जैनेन्द्र कुमार ने किसी प्रतीक के सहारे इन्हें सुलझाने का प्रयास किया है। इस कारण भी उनकी भाषा में कहीं-कहीं चित्रमयता का आभास मिलता है। सितार के तारों की झकार में सुनीता के हृदय

१. 'सुनीता'। २. 'कल्याणी'। ३. 'विवर्त'।

की झंकार का संकेत इस प्रकार दिया है—'सितार के सुर मिलाकर उसने बजाना आरम्भ किया। जाने भीतर क्या रुका था जो सितार के सुरों में बज उठा। इस सुर में प्रणय भी नहीं है। अभियोग भी नहीं है, केवल उच्छ्वास है। सितार में से किसके प्रति यह संगीत उत्थित हो रहा है, वह नहीं जानती। वह तो बजाये जाती है। उस संगीत के भीतर का प्राण उसकी आत्मा में से निकल कर सितार के तार के सुर के सहारे गूंज रहा है कि फिर इस शून्य की गोद में खो जाये।'[1]

हरिप्रसन्न के मन की घुमड़न को चित्र-कला के माध्यम से प्रकट करते हुए जैनेन्द्र कुमार ने जिस प्रतीक की रचना की है वह देखने योग्य है—'उसके (स्तूप के) तल में खड़ा है एक पुरुष, अमावस्या के समक्ष दीपक की नन्हीं सी लौ जैसा असहाय किन्तु ऊर्जस्व। वह सर्वथा नग्न है, बाहें दोनों ओर क्रास की भांति फैली है। देह से बलिष्ठ है उज्ज्वल है। किन्तु कैसा पुरुष—बिना ओर-छोर के रेगिस्तान तट पर जड़े एकाकी माइल-पोस्ट जैसा। इंगित उसका खो गया है। अपार शून्य को ताक रहा है—कहां है उसका कोई और साथी ? कहाँ है कोई ? ईसा की क्रास मुद्रा में खड़ा है वह पुरुष, जाने कबसे खड़ा है—उसके समक्ष जाने क्या है, स्तूप है, कि शून्य प्रसार है, कि सर्वहारा रमणी है। खड़ा है कि उन फैली बाहुओं को जोड़कर प्रणाम करेगा, कि आलिंगन करेगा, कि विदारण कर डालेगा, नहीं जानता। मानों खड़ा है पुकारता हुआ—ओ तू।'[2]

संयत भाषा—प्रतीकात्मक भाषा के उपयोग के कारण जैनेन्द्र कुमार ने उपन्यासों की भाषा में जहां ओजस्विता एवं सामर्थ्य उत्पन्न किया है, वहां उन्होंने प्रायः अश्लील कही जाने वाली घटनाओं एवं कामपूर्ण प्रसंगों के वर्णन में जिस संयम का परिचय दिया है उससे उनकी भाषा के सन्तुलन की सराहना ही की जायेगी। ऐसे प्रसंगों में उपन्यासकार बहुधा बह जाता है, किन्तु जैनेन्द्र कुमार की खूबी इसी में है कि इनका विशद्-वर्णन करते हुए भी वह बहते नहीं और भाषागत संयम का सर्वत्र निर्वाह करते हैं। उदाहरण के लिए, सुनीता के अनावरण प्रसंग को ही लें। उन्होंने सुनीता द्वारा अपने कपड़े उतारने का क्रमिक वर्णन अवश्य किया है किन्तु उसके अंग-प्रत्यंगों की छटा दिखाने से उन्होंने अपने-आपको बचाया है। इसी संयम के कारण निरावरण प्रसंग का वर्णन करते समय भी उनकी भाषा में नग्नता नहीं आई। साथ ही, हरिप्रसन्न भी इतना साहस नहीं बटोर पाया कि सुनीता को नग्न देख सके। जैनेन्द्र कुमार ने उसी प्रसंग का वर्णन करते हुए कहा है—'और अपने हाथ छुड़ाकर अपने शरीर से चिपकी हुई बाडी को उसने फाड़ दिया। वह अन्तिम वस्त्र भी चीर होकर नीचे सरक गिरा।'

हरिप्रसन्न ने दोनों हाथों से अपनी आंखें ढक लीं। उसके मुंह से शब्द नहीं

---

१. 'सुनीता'। २. वही।

फूट सका। सर्वथा पराभूत वह अपनी पराजय में गड़ जाने लगा। लज्जा ने उसे जमा दिया। मानों काटो तो लहू नहीं। धरती फट क्यों न गई कि वह गड़ जाता।'[1]

यहां उल्लेखनीय है कि ऐसे प्रसंगों में जैनेन्द्र कुमार संकेतात्मक प्रणाली का सहारा लेकर बहुत-सी अनकही बात कह डालते हैं। उदाहरण के लिए, 'सुखदा' में मिस्टर लाल द्वारा सुखदा को अपने बहुपाश में बांध लेने का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'वह क्षण मुझे भूलता नहीं—जीवन और मृत्यु के बीच का वह क्षण। दोनों मानों एक होकर उस क्षण में पिघल आए थे। इस तरह बाघ के से अपने सख्त पंजों में मेरे कन्धे को कसे, मेरी आंखों को वह ऐसे देख रहे थे जैसे कि नहीं बूझ पाते हों कि मैं हूं कि क्या हूं। समय तब न था, और वह पल त्रिकाल जितना अन्तिम था। कि देखते-देखते असह्य हिंसा ने मुझे अपने में जकड़ कर दबोच लिया।'[2]···तदनंतर संकेतात्मक प्रणाली अपनाते हुए उन्होंने चुम्बन-प्रति-चुम्बन के वर्णन के चक्कर में न पड़ कर इस आलिंगन का अन्त किया है—'कब मुझे अलग किया और छिटकाकर दूर फेंक दिया, मैं नहीं जानती। मैं सोफे में आ गिरी। वह कोच में हो बैठे, कहा—'जाओ बच गई तुम।'[3]

'व्यतीत' में स्त्री पात्रों की प्रगल्भता के कारण ऐसे तीन-चार प्रसंग आए हैं जहां स्त्री-पात्रों की कामुकता तीव्र हो उठती है और वे पुरुषों का आलिंगन करने के लिए उतावली हो जाती है। जयन्त के दफ्तर में जाकर अनिता, जयन्त का आलिंगन करने के लिए लपकती है और फिर उसे इस बात का ध्यान नहीं रहता कि दफ्तर में अन्य कर्मचारी भी हैं अथवा, कि उसका पति भी साथ में है।'[4] चन्द्री की प्रगल्भता का वर्णन भी उन्होंने किया है अवश्य, किन्तु, बहुत स्वाभाविकता से··· चीख कर बोली, 'जयंत' और पछाड़ खाकर मुझ पर गिर पड़ी।

मैं इसके लिए तैयार न था। मेरी छाती पर पड़ी गर्दन में बांह डाले वह सुबकती रही। कुछ देर अटैची हाथ में लिए ज्यों का त्यों खड़ा रहा। उसके रोने ने मुझे छुआ ही नहीं।

कहा—'सीधी बैठो।'

सुन कर और भी उसने मुझे कस लिया और सुबकी बढ़ती गई···'ऊटी के लिए सोचते हो। मेरे लिए भी तो सोचो। फर्ज हमारा क्या अपनी तरफ नहीं है, सब दूसरे के लिए है?'[5] अथवा चन्द्री के अनावरण प्रसंग को ही लें—'दांत मिस-मिसाकर झटके से तन के तनिक से अंतिम वस्त्र को उतार कर मेरे मुंह पर जोर से फेंकते हुए कहा—लो, अब तो नहीं लगेगी सर्दी।'[6]

---

१. 'सुनीता' २. 'सुखदा' ३. वही।
४. 'व्यतीत' ५. वही, ६. वही।

तात्पर्य यह है कि कामुकता-पूर्ण प्रसंगों के वर्णन में जैनेन्द्र कुमार ने जिस संयम का परिचय दिया है उससे उनकी भाषा गम्भीर ही अधिक बनी है। उसमें वाजारूपन का भाव नहीं, बल्कि बड़े ही मंजे और नपे-तुले हुये शब्दों में तथा संकेतात्मक प्रणाली की सहायता से उन्होंने जो उन्होंने वर्णन किये हैं, उनमें से गाम्भीर्य टपकता है। इसलिए, अश्लील कहे जाने वाले प्रसंगों का वर्णन करने पर भी इनकी भाषा ने संयम का परित्याग नहीं किया। यही तो उनकी भाषा की खूबी है।

सूक्तिमयता—जैनेन्द्र कुमार की भाषा सम्वन्धी एक और विशेषता का उल्लेख करने के उपरान्त इस प्रकरण को समाप्त किया जायेगा। यह विशेषता है उनकी भाषा की सूक्तिमयता। छोटे-छोटे वाक्यों एवं सूत्रों में अपने चिन्तन का मर्म उडेल देने की स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही यह परिणाम है कि शायद ही कोई पृष्ठ बचा होगा जिसमें कि एकाध सूत्र अथवा सूक्ति न हो। इस विशेषता के कारण दार्शनिक जैनेन्द्र कुमार का सूत्र अथवा सूक्तिकार का रूप स्पष्ट मुखरित हो उठा है। इन सूत्रों का जीवन के विविध पहलुओं से सम्बन्ध है, इसलिए, जैनेन्द्र कुमार सूत्रों द्वारा अपने विचार अभिव्यक्त करते समय मानव जीवन की आलोचना प्रस्तुत करते जाते हैं। जैनेन्द्र कुमार की नैतिक धारणायें एवं मान्यतायें सूत्र-रूप में इन सूक्तियों में अवतरित हुई हैं, इसलिये किंचित् सूक्तियों का विवेचन करने पर यह सहसा ही ज्ञात हो जायेगा कि जैनेन्द्र कुमार के नैतिक आदर्श क्या हैं।

उदाहरण के लिये, 'परख' के सत्यधन को समझाते हुये भगवद्दयाल कहते हैं—'जीवन दायित्व का खेल है, पग-पग पर समझौता है। जो मन नहीं मार सकता, वह जिन्दगी में कभी कुछ नहीं कमा पाता।'[1] अथवा 'कोई यहां नितान्त स्वतन्त्र, एकाकी नहीं है—जो ऐसा समझता है वह दायित्व से डरता है।'[2] 'त्यागपत्र' की मृणाल लांछित जीवन व्यतीत करने में भी आदर्श-साधन देखती है और कहती है—'सत्य को सदा नये प्रयोगों की अपेक्षा है।'[3] अथवा—'जो समाज के उच्छिष्ट हैं या उच्छिष्ट बनना पसन्द कर सकते हैं, उन्हीं को जीवन के साथ नये प्रयोग करने की छूट हो सकती है।'[4] अपनी मृत्यु में भी मृणाल को सार्थकता दिखायी देती है। उसके शब्द हैं—'श्रद्धा के साथ मरना भी सार्थक है।'[5] विवाह के बारे में जैनेन्द्र कुमार का मत है—'विवाह की ग्रन्थि दो के बीच की ग्रन्थि नहीं है, वह समाज के बीच की भी है।...विवाह भावुकता का प्रश्न नहीं, व्यवस्था का प्रश्न है।

जैनेन्द्र कुमार की भाषा में विचार प्रवर्तकता का गुण इतना अधिक है कि कहीं-कहीं तो उनके पात्रों के स्वगत भाषण सूक्तियां-सी लगते हैं। एक उदाहरण है—'निष्फलता ही जगत का निष्कर्ष नहीं है—नकार सार नहीं है। मृत्यु यदि सत्य है तो तभी, जब जन्म उसके आगे है। जन्मपूर्वक ही मृत्यु जी सकती है।[6] इतना ही

---

१. 'परख' २. वही, ३. 'त्यागपत्र' ४. वही, ५. वही, ६. वही।

नहीं, जब उनके पात्र दार्शनिकता में बह जाते हैं तो उनके मुख से सूक्तियों की फुलझड़ियां छूटने लगती है। श्रीकान्त को धन की पेचीदगी समझाते हुए हरिप्रसन्न कहता है–'आप पैसे वाला होना, दस और को उससे वंचित रखना है। और यदि कोई पैसे वाला बनता है तो मेरा ख्याल है; इस कारण उसे बल्कि उसे निम्न समझना चाहिये।...यह पैसे की संस्था बड़ी पेचीदा हो गयी हैं। अनुत्पादक चालाकियों से सोने का ढेर बन जाता है, उत्पादक ठोप मेहनत करने पर तांबे के पैसों का भी भरोसा नहीं बनता। अब खराबी क्या है? खराबी उन ख्याली कीमतों में है जो हमने चीजों को दे रखी हैं। हमारा समाज शास्त्र, हमारा अर्थ-शास्त्र, हमारा नीति-शास्त्र और हमारा धर्म-शास्त्र, सब उन कीमतों को मानकर चलते और उनको मजबूत बनाते हैं।'[1] हरिप्रसन्न के इस सम्भाषण में सूक्तियों एवं सूत्रों की छटा देखने लायक है।

यही स्थिति 'कल्याणी' की नायिका की भी है। पत्नीत्व की महिमा गाते हुए वह कहती है–'पत्नीत्व को दासता कहते हो? हां है वह दासता। लेकिन साधना भी वह है। स्वेच्छापूर्वक अगर कष्ट न उठाया जाये, तो त्राण का कोई उपाय नहीं। विश्व के मूल में यज्ञ है। त्याग पर भोग टिका है। सुख की चाहना यहां नहीं हो सकती। सब को सुख नहीं मिल सकता। विशिष्ट वे हैं जो अपने सुखों का विसर्जन करेंगे, कि औरों को सुख मिले। स्त्री को निसर्ग से विसर्जन की पात्रता मिली है। वह सीधा सुख चाह कर अपने विसर्जन के अधिकार से वंचित होती है।'[2]

सूक्तियों एवं नुकीले जीवन-सूत्रों से ओतप्रोत ऐसे सम्भाषणों का संकलन यदि किया जाये तो आश्चर्य नहीं कि एक पूरा ग्रन्थ ही जैनेन्द्र कुमार की सूक्तियों के ऊपर लिखा जा सकता है। वस्तुतः, जैनेन्द्र कुमार की दार्शनिकता तथा उनके विश्लेषणात्मक चिन्तन का प्रभाव उनके उपन्यासों के वाक्य-वाक्य पर पड़ा हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उनकी सामान्य भाषा में भी सूक्तियों की रेल-पेल है। सूक्तियों और सूत्र-वाक्यों की मानों लहर पर लहर आती है जो पाठक के विचारों को कुरेदती, ठेलती हुई आगे बढ़ाती रहती है उनके प्रायः सभी प्रमुख पात्र दार्शनिक चोले में प्रकट हुए हैं और इसका यह परिणाम हुआ है कि अपने चिन्तन को पात्रों के कथोपकथन अथवा स्वगत भाषण द्वारा प्रस्तुत करते समय, जैनेन्द्र कुमार की भाषा सहज एवं सरल बनने के साथ-साथ, समर्थ एवं अर्थ-गाम्भीर्य लिए हुये है। इसमें संयम भी है, प्रवाह भी है, ओज भी है और सामर्थ्य भी, और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जैनेन्द्र कुमार के दार्शनिक चिन्तन को सस्वर बनाती हुई, यह उनके व्यक्तित्व के रंग में रग गयी है।

---

१. 'त्यागपत्र' २. 'सुनीता'।

इलाचन्द्र जोशी

जैनेन्द्र कुमार ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात करके जहाँ हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास की नयी-नयी सम्भावनायें प्रस्तुत कीं, वहाँ इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए इलाचन्द्र जोशी, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' जैसे प्रसिद्ध उपन्यासकारों ने इसे अधिक पुष्ट किया है। मनोविज्ञान की सहायता से मानवाचरण की व्याख्या करते हुये इन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में उपन्यास और मनोविज्ञान का जो अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया है, उससे हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना अधिकाधिक निखरी है और इसने हिन्दी के उपन्यास-साहित्य की समृद्धि की ऐसी सम्भावनायें प्रस्तुत कर दी हैं जिनके कारण अब यह भी विश्व के उत्कृष्ट उपन्यास-साहित्य की बराबरी का दावा करने लगा है। हिन्दी-उपन्यास के उत्तरोत्तर विकास में जैनेन्द्र कुमार के अतिरिक्त उपर्युक्त दो प्रमुख मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने अपने साहित्य-सृजन द्वारा जो योग दिया है, उसका अध्ययन करना प्रस्तुत प्रबन्ध का लक्ष्य है। अतः, इसके आगे, पहले इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों पर विचार किया जायेगा।

जीवन-दर्शन

उपन्यासकार के जीवन-दर्शन का उसकी रचना पर जो अनिवार्य प्रभाव पड़ता है, उसको इलाचन्द्र जोशी ने भी, इतर उपन्यासकारों की भाँति, मुक्त रूप से स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, साहित्यकार की कला का उत्कर्ष वे इसी में मानते हैं कि अपनी सम्पूर्ण अनुभूति को वह अपनी कलाकृति में अभिव्यक्त कर सके। उनके मतानुसार किसी भी साहित्यिक कृति मे साहित्यकार के प्राणों के स्पन्दन के अनुपात में ही कला की सजीवता, प्रभावोत्पादकता तथा स्थायित्व का गुण उत्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में उनका कथन है—'वाणी में प्राणानुभूति भर सकने की कला को ही मैं साहित्य-कलाकार या कवि की श्रेष्ठ कला मानता हूं।'[1] अतः, अपनी रचनाओं में उन्होंने अपनी सम्पूर्ण प्राणवत्ता एवं अनुभूतिमूलक सत्ता, अपने दर्शन एवं चिन्तन तथा अपने विश्वासों एवं मान्यताओं को खुलकर व्यक्त करने का प्रयास किया है।

साहित्य-रचना की श्रेष्ठता सम्बन्धी इस कसौटी का अनुसरण करने के कारण इलाचन्द्र जोशी की रचनायें उनके चिन्तन एवं जीवन-दर्शन को प्रतिबिम्बित करने के साथ-साथ उनके जीवन-दर्शन के अनुरूप ही ढली है। इनका स्वरूप-निर्धारण एक सुनिश्चित एवं स्पष्ट जीवन-दर्शन का परिणाम है, अतः, उनके उपन्यासों की विभिन्न विशेषताओं पर विचार करने के पूर्व उनके जीवन-दर्शन एवं उनकी नैतिक मान्यताओं पर विचार करना अधिक लाभदायक सिद्ध होगा।

---

१. इलाचन्द्र जोशी, 'साहित्य चिन्तन', पृष्ठ ११४।

जनवाद—इलाचन्द्र जोशी ने अपनी कृतियों में जनसाधारण के सुख-दुख के साथ एकात्मता स्थापित करते हुए जनहित को बढ़ावा देने का प्रयास किया है। उनकी रचनाओं में जनहित को ही शीर्षस्थान दिया गया है, और जनवादी मनोभावना के लिये उपयुक्त भूमि तैयार करने की ओर वे सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। इतना ही नहीं, इलाचन्द्र जोशी अपने-आपको जनवादी कलाकार कहलाने में आत्मगौरव का अनुभव करते हैं। अतः, जनवादी दृष्टिकोण का उनकी रचनाओं में में प्राधान्य होने के कारण, सर्वप्रथम, इलाचन्द्र जोशी के जनवादी जीवन-दर्शन को समझना नितान्त आवश्यक है।

जनवाद से अभिप्राय है जनसाधारण के सुख-दुख, आशा-निराशा और हार-जीत के प्रति सहानुभूति रखते हुए जनहित एवं जनकल्याण को बढ़ावा देना। जन-साधारण के कल्याण की भावना अपनी परिधि में मानव-मात्र के हित को समेट लेती है, किसी समाज अथवा भूखण्ड विशेष तक सीमित होकर नहीं रह जाती। जनवादी चिन्तन एक से अनेक और संकुचित से विशाल की ओर बढ़ता है। इस अर्थ में जनवाद, वस्तुतः, मानववाद के अधिक निकट है, और मानव-मात्र में समता, एकता एव भ्रातृत्व की भावना का संवर्द्धन करते हुये मानव-कल्याण के लिए सचेष्ट रहने का आह्वान है। मानववाद के समान, जनवाद भी संकीर्ण भावनाओं का परित्याग करते हुये, विशालता एवं उदारता का समर्थक है। विश्व-शान्ति एवं विश्व-कल्याण के लक्ष्य को जनवाद ने अपने सम्मुख रखा है, अतः, स्वार्थ के स्थान पर इसने परमार्थ को, और वैयक्तिक के बजाय सामूहिक हित को ही महत्व दिया है।

अहंवाद का उन्मूलन—इलाचन्द्र जोशी का जनवाद जहाँ एक ओर मानववाद के उच्च-आदर्श को छूता है वहां दूसरी ओर अहंवाद के उन्मूलन की अनिवार्यता की ओर भी संकेत करता है। इलाचन्द्र जोशी के मतानुसार इस अहंवाद के दो स्रोत हैं। एक स्रोत है मानव की बर्बरकालीन मूल प्रवृत्तियों का संचित कोष जो उसके मन की असंख्य परतों के नीचे छिपा पड़ा है। ये मूल प्रवृत्तियाँ काम, क्षुधा और भय की हैं, जिन्हें बहुधा पशु-प्रवृत्ति का नाम दिया जाता है। इन मूल-प्रवृत्तियों की तृप्ति को यदि प्रमुखता दी जाये तो मानव छीना-झपटी और मार-काट की बर्बरावस्था से आगे नही बढ़ सकता। ये मूल प्रवृत्तियां मानव के अहंवाद की जनक हैं, अतः, यदि मानव मन का संस्कार अभीष्ट हो तो उसे इन मूल-प्रवृत्तियों की कारा से मुक्त करना नितान्त आवश्यक है।

कहना न होगा कि इलाचन्द्र जोशी मानव-मन की असंख्य स्तरों के नीचे छिपी इन पशु-प्रवृत्तियों के संचित कोष—अर्थात्, अहंवाद के उद्घाटन की ओर अग्रसर हुये हैं। इस उद्घाटन से उनका एकमेव उद्देश्य यही है कि मानव के अहंवाद का नग्नरूप प्रस्तुत करके उसकी समाजघाती प्रवृत्तियों के आकस्मिक विस्फोट की

रोकथाम का उपाय सुझाया जाये। वे मानव के अहंत्र द अथवा उसकी पशु-प्रवृत्तियों के दमन के पक्षपाती नहीं हैं। उनका कहना है—'मानवता के किये सबसे कल्याण-कर उपाय यह है कि वह अपनी इस अज्ञात चेतना के गहरे, स्तरों में प्रवेश करके उसके भीतर जड़ जमाने वाली आदिकालीन पशु-प्रवृत्तियों की छानबीन और विश्लेषण करे, और उस पातालपुरी की नारकीय अंधकारा में बद्ध उन संस्कारों की यथार्थता स्वीकार करके ऐसी तरकीब निकालने का प्रयत्न करें जिससे गलत रास्ते से होकर उन बद्ध प्रवृत्तियों का विस्फोट न हो, बल्कि उचित मार्गों से उनका नियमित प्रस्फुटन हो।'[1] इस प्रकार वे अपनी रचनाओं में इन मूल-प्रवृत्तियों के विश्लेषण एवं शोध का प्रयास करते हैं। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि इन प्रवृत्तियों के अस्तित्व को उन्होंने स्वीकार किया है—और उनके दमन का विरोध करते हुए इनके उचित नियमन का सुझाव दिया है।

बूर्जवा मनोवृत्ति और अहंवाद—यह तो हो गया मानव के अहंवाद का एक स्रोत। इसका दूसरा स्रोत है बूर्जवा संस्कृति से उत्पन्न स्वार्थ-साधन की मनोवृत्ति। मानव की पशु-प्रवृत्तियों के समान, इलाचन्द्र जोशी ने, बूर्जवा संस्कृति से उत्पन्न स्वार्थपरता की समाजघाती मनोवृत्ति को भी निन्द्य ठहराया है। उनके मतानुसार बूर्जवा मनोवृत्ति जनवादी दृष्किोण के सर्वथा विरुद्ध है और यह मानव द्वारा मानव के शोषण एवं उत्पीड़न को बढ़ावा देकर विश्व-शान्ति के लिए एक प्रबल संकट उपस्थित कर रही है। उनके मतानुसार, आज के युग के वर्ग-संघर्ष के मूल में यही बूर्जवा मनोवृत्ति काम कर रही है। उनका कथन है—'बूर्जवा संस्कृति की विरासत में प्राप्त जो एकान्त अहंगत चेतना आज के बौद्धिक मनुष्य को विश्व-मानवत्व से छिन्न करके उसे विनाश के महागह्वर में ढकेलने के लिये तत्पर है, उसका विश्व-मानवत्व से पुनस्संयोजन कैसे हो सकता है, इसका सुझाव इस नये उपन्यास के स्वाभाविक चित्रण के भीतर निहित होगा।'[2] बूर्जवा संस्कृति पर आघात करते-करते वे जनवादी संस्कृति का, जिसे वह प्रोलेटेरियन संस्कृति का नाम देते हैं, पक्ष ग्रहण करते हैं और इसके विकास के उपाय ढूँढ़ने लगते हैं।

समन्वयवाद—जनवाद के समर्थन तथा अहंवाद के उन्मूलन के उपरान्त, इलाचन्द्र जोशी के चिन्तन में समन्वयवाद को बहुत महत्व प्राप्त है। समन्वयवादी के रूप में वे आदर्शवादी बन गये हैं और समस्त चिन्तन पद्धतियों एवं व्यवस्था-प्रणालियों में जो अच्छी बातें हैं, उनके समन्वय की ओर जनसाधारण का ध्यान खींचते हैं। इसीलिए बूर्जवा तथा प्रोलेटेरियन संस्कृति में जो संघर्ष चल रहा है, उसकी परिसमाप्ति वे इस समन्वयवाद में ही देखते हैं। उनका आग्रह किसी एक

---

१. इलाचन्द्र जोशी, 'प्रेत और छाया', प्रस्तावना, पृष्ठ ८।

२. इलाचन्द्र जोशी, 'साहित्य-चिन्तन', पृष्ठ ४८।

वाद अथवा चिन्तन पद्धति पर न होकर सभी के कल्याणकारी पक्षों के समन्वय पर है। पूंजीवाद हो चाहे मार्क्सवाद, भारतीय संस्कृति हो चाहे पाश्चात्य संस्कृति और प्राचीन परम्परा हो अथवा आधुनिक, सबके अच्छे गुणों को ग्रहण करने पर वे जोर देते हैं। यही है संक्षेप में उनका समन्वयवाद। जनसंस्कृति के विकास में उन्हें समन्वयवाद की स्थापना सम्भव जान पड़ती है। इसलिए 'जिप्सी' के चरित-नायक के मुख से उन्होंने समन्वयवादी दृष्टिकोण से जनसंस्कृति की व्याख्या करवाई है—'दूसरी सस्कृतियां शताब्दियों से मानवीय सभ्यता के विकेन्द्रीकरण की ओर प्रयत्नशील रही हैं, केवल जनसंस्कृति ही ऐसी है जो जीवन से सीधा सम्बन्ध रखने के कारण आज की बिखरी हुई मानवता को एक सूत्र में बांधकर एक केन्द्र में बटोर सकती है।'[1] दूसरे शब्दों में, समन्वयवाद के नाम पर वे प्रत्येक जीवन-प्रणाली, चिन्तन पद्धति तथा सामाजिक व्यवस्था के अच्छे गुणों को ग्रहण करने पर जोर देते हैं; ताकि, सबके जीवन रस से सिंचित होने वाली जनसस्कृति की स्थापना हो सके।

जनसंस्कृति की प्रतिष्ठा—इलाचन्द्र जोशी के जनवादी और समन्वयवादी चिन्तन का लक्ष्य जन-संस्कृति की स्थापना करना है, ताकि मानव समाज उन्नति करता हुआ सुख-चैन से रह सके। यह उनके चिन्तन का विधायक पक्ष है। साथ ही उन्होंने मानव पक्ष की अहंवादी प्रवृत्तियों के उन्मूलन पर भी जोर दिया है। इसलिये, जब वे अपनी रचनाओं में मानव मन के अन्दर उठने वाले नानाविध सघर्षों और पशुवृत्तियों के आकस्मिक विस्फोट का नग्न चित्र खींचते हैं तो इससे उनका अभिप्राय जनसंस्कृति की स्थापना मे बाधा डालने वाले तत्वों—अर्थात्, अहवाद का उद्घाटन करना है। मानव की कुरूपता का मनोवैज्ञानिक चित्रण उनका साधन-मात्र है, साध्य तो है जनसंस्कृति के भव्य आदर्श की प्रतिष्ठा, जिसके प्रताप से मानव का उन्नयन सम्भव है। यही आदर्श इलाचन्द्र जोशी की कृतियों का प्राण है। इस दृष्टि से उन्होंने जनवाद और समन्वयवाद के प्रसार के साथ-साथ अहवाद के उन्मूलन के जो लक्ष्य अपने सामने रखे हैं वे, अन्ततोगत्वा, इस भव्य जनसंस्कृति की प्रतिष्ठा सम्बन्धी उच्चादर्श के त्रिविध रूप हैं। इलाचन्द्र जोशी ने इसी भव्य आदर्श के त्रिविध रूपों को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है।

उद्देश्य-पक्ष

इलाचन्द्र जोशी के चिन्तन ने उनके साहित्य सम्बन्धी आदर्शों को इस रूप में प्रभावित किया है कि वे साहित्य को मानव की सेवा में रत देखना चाहते हैं। उन्हें साहित्य का उपयोगितावादी पक्ष मान्य है, इसलिए साहित्य के आधुनिक एवं लोकप्रिय अग, अर्थात्, उपन्यास को वे निठल्ला नहीं देख सकते। उनके सम्मुख

१. 'जिप्सी'।

ऐसे उपन्यास का आदर्श है जो मानव के विकास में सहयोग देता हुआ उसकी प्रगति की नानाविध दिशाओं का मार्ग प्रशस्त करेगा। ऐसा उत्कृष्ट उपन्यास-साहित्य किसी देश अथवा जाति-विशेष तक सीमित न होकर समस्त विश्व को अपने अंक में समेट लेगा। इस प्रकार के विश्व-उपन्यास साहित्य के सृजन के स्वप्न लेते हुए उन्होंने इसकी सामान्य रूपरेखा निर्धारित की है। उनका कथन है—'वह महा-उपन्यास कुण्ठा, निराशा, घृणा और उबकाई से बहुत दूर, जीवन के आदिकाल से लेकर आज तक के सहज-स्वस्थ, बाह्य और अन्तरीण विकास-पथ पर स्थित रहेगा और आज के युग के समस्त द्वन्द्वों और प्रतिद्वन्द्वों से परे, प्रकृति की मूलधारा से सम्बद्ध, जीवन के आनन्द की अनुभूति से जुड़ी हुई महान् आस्था की वाणी को अपूर्व कला के माध्यम से उसी तरह प्रसारित करेगा जिस प्रकार वसन्त में खिलने वाले फूल सारी प्रकृति में, सहज रूप से, चारों ओर के वातावरण में परिमल बिखेरते हैं।'[1]

उद्देश्य-पक्ष की प्रबलता—उपन्यास सम्बन्धी उपर्युक्त आदर्श के कारण इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों का उद्देश्य-पक्ष बहुत प्रभाव पड़ा है। अतः, इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के स्वरूप-निर्धारण पर उनके चिन्तन का प्रभाव आंकने के लिये, सर्वप्रथम, उपन्यास के उद्देश्य-पक्ष पर विचार करना उचित होगा। उद्देश्य-पक्ष के अन्तर्गत उपन्यास के विषय-चयन तथा निष्कर्ष-निर्धारण को लेना होगा, क्योंकि ये दोनों तत्व उपन्यास के उद्देश्य के अनुरूप ही निर्धारित हुए हैं। इनमें से उपन्यास के विषय को पहले लें।

विषय-चयन—सामाजिक उपन्यासों में समाज के विविध प्रश्नों और समस्याओं का चित्रण करते हुए उपन्यासकार समाज-जीवन की उपलब्धियों, असफलताओं अथवा आदर्शों की व्याख्या करता है। सामाजिक समस्याओं के चित्रण के लिए वह कुछ विशिष्ट पात्रों का सृजन करता है और उनके जीवन के माध्यम से इन समस्याओं अथवा प्रश्नों का हल भी सुझा देता है। इस प्रकार, समाज-जीवन की व्याख्या को सामाजिक उपन्यासों में प्रमुखता दी जाती है। विपरीत इसके, व्यक्ति-चरित्र प्रधान—अर्थात्, मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में समाज की अपेक्षा व्यक्ति को प्रमुखता दी जाती है। इनमें व्यक्ति की मानसिक उथल-पुथल, कुण्ठा और जटिलता के विश्लेषण एवं व्याख्या को महत्व दिया जाता है और सामाजिक समस्याओं के विश्लेषण को गौण स्थान प्राप्त हो जाता है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि एक में मानव-जीवन के बाहरी प्रसार का चित्रण है तो दूसरे में उसके आन्तरिक जीवन की जटिलता की अभिव्यक्ति है। इसीलिए, मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार अपनी रचना के लिए व्यक्ति की मानसिक जटिलता, कुण्ठा तथा द्वन्द्व में से विषय चुनता है और समाज जीवन के प्रति उपेक्षा जताते हुए वह व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य को ही शीर्ष-स्थान देता है।

१. 'साहित्य चिन्तन'।

मानसिक जटिलता और अन्तर्द्वन्द्व—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की उपर्युक्त विशेषता को ध्यान में रखते हुए यदि हम इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों के विषयों पर विचार करें तो यह ज्ञात हो जायगा कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक प्रणाली का अक्षरश: अनुसरण किया है। मानव के अचेतन मन में जिन जिन अमिट संस्कारों की छाप एक बार पड़ जाती है, और जिसके कारण मानव जीवन एक निश्चित दिशा में बढ़ता जाता है, उन्हीं के उद्‌घाटन की ओर जोशी जी अग्रसर हुये हैं। मानव के अचेतन मन की असंख्य परतों को भेदकर उसमें छिपी दमित वासनाओं तथा आकांक्षाओं को उघाड़ने का विषय चुनने के कारण, उसके प्राय: सभी उपन्यासों के विषय एक-से जान पड़ते हैं। इन सब का क्षेत्र मानव के अन्तर्मन तक सीमित है; विविधता यदि कहीं है तो परिस्थिति विशेष के कारण व्यक्ति के मन में उठने वाले संघर्ष के चित्रण में ही।

उदाहरण के लिए, उनके 'लज्जा' उपन्यास को ही लें। उन्होंने 'लज्जा' में नवयौवना नायिका, लज्जा, के मनोभावों में आमूल परिवर्तन के चित्रण को इस उपन्यास का विषय बनाया है। उपन्यास के प्रारम्भ में डा० कन्हैयालाल के प्रति लज्जा की रुचि और तदुपरान्त तीव्राकर्षण दिखाया गया है। इसी तीव्राकर्षण के वशीभूत होकर वह अपने दार्शनिक भाई, रंजन, की परवाह नहीं करती। रंजन की आत्महत्या से लज्जा के मन पर ऐसी प्रतिक्रिया होती है कि डा० कन्हैयालाल के प्रति उसका तीव्र आकर्षण, तीव्र घृणा में परिवर्तित हो जाता है। मानव-मन में उठने वाले कामवासना के प्रबल तूफान, निराशा के अन्धकार और घृणा की आंधी के मनोवैज्ञानिक चित्रण के अतिरिक्त, उन्होंने नवयौवना नायिका की मानसिक उलझन और आत्मसन्ताप के विश्लेषण को इस उपन्यास का विषय बनाया है।

इसी प्रकार, इलाचन्द्र जोशी ने व्यक्ति के घोर अहंवाद से उत्पन्न होने वाली समाजघाती मनोवृत्तियों को आधार बनाकर 'सन्यासी' की रचना की है। अहंवादी व्यक्ति को आत्म-सुख एवं आत्म-हित का ही ध्यान रहता है, पर-सुख अथवा परहित का नहीं। आत्मसुख की इस चाहना के फलस्वरूप वह दूसरे पर अपना प्रभुत्व चाहता है। पर-हित के बजाय उसे प्रभुत्व की चिन्ता अधिक रहती है। क्योंकि, उसके अहं की तुष्टि दूसरे को अपने वश में करने में ही है। इन्हीं भावनाओं के वशीभूत होकर 'सन्यासी' का अहंवादी चरितनायक, नन्दकिशोर, शान्ति को नि:सहाय छोड़कर चल पड़ता है। जयन्ती के साथ विवाह करने के पीछे भी उनकी अहंवादी एवं प्रभुत्व-कामना की भावना काम करती है, जिसके कारण अपने जीवन को दु:खमय बनाने के अतिरिक्त, वह जयन्ती की आत्महत्या का कारण बनता है।

माता-पिता से प्राप्त संस्कारों का व्यक्ति के जीवन पर जो अलक्ष्य, किन्तु सुनिश्चित, प्रभाव पड़ता है उसी के चित्रण को इलाचन्द्र ने 'पर्दे की रानी' का

विषय बनाया है। खूनी पिता और वेश्या माता से उत्पन्न निरंजना में अपने माता-पिता के कुसंस्कार मौजूद हैं। पर-पुरुष को आकर्षित करने की लालसा उसे अपनी वेश्या-माता से विरासत में मिली है तो दूसरे की हत्या करने का संकल्प उसे अपने हत्यारे पिता से मिला है। इन दोनों संस्कारों का निरंजना के कोमल मन पर ऐसा प्रबल प्रभाव पड़ता है कि असामान्य और जटिल आचरण करते-करते वह पहेली-सी बन जाती है। इलाचन्द्र जोशी ने निरंजना के रूप में व्यक्ति के मन में माता-पिता से प्राप्त जटिल संस्कारों से उत्पन्न होने वाली विषमता के चित्रण को ही इस उपन्यास का विषय बनाया है।

कभी-कभी बचपन में ऐसी कोई घटना घट जाती है जो व्यक्ति के अन्तर्मन में गहरी मानसिक उलझन उत्पन्न कर देती है, और इस उलझन के कारण व्यक्ति में समाजघाती मनोवृत्तियां उत्पन्न हो जाती है। 'प्रेत और छाया' में इलाचन्द्र जोशी ने व्यक्ति के मन में उत्पन्न होने वाली ऐसी उलझन तथा इसके दुष्परिणामों को लिया है। अपने पिता से यह जानकर कि उसकी माता व्यभिचारिणी थी, इस उपन्यास के नायक, पारसनाथ, के मन में स्त्री जाति के प्रति घृणा एवं विद्वेष की ऐसी दुर्भावना उत्पन्न हो जाती है कि वह जिस-जिस व्यक्ति के संसर्ग में आता है, उसी का अनिष्ट करता घूमता है। अपनी माता के कथित भ्रष्टाचार के भूत-प्रेत उसके मन पर छाये हुये हैं और उसके जीवन को बरबस पतन की ओर ढकेलते रहते हैं। न चाहते हुये भी वह विध्वंस करने के लिये मानों विवश है। व्यक्ति की इस विवशता का चित्रण ही 'प्रेत और छाया' का विषय है।

'प्रेत और छाया' की रचना के उपरान्त जोशी ने, मन की दुर्बलता और रुग्णावस्था के चित्रण के साथ-साथ, स्वस्थ एवं कुण्ठारहित व्यक्तित्व के चित्रण को भी अपने उपन्यासों में स्थान देना शुरू किया है। 'मुक्तिपथ' के राजीव और सुनन्दा के मन में न तो कोई उलझन है और न ही कोई कुंठा। बल्कि, आदर्शमय जीवन के स्वप्न लेते हुये वे दोनों जीवन की कठिनाइयों के साथ लोहा लेने को उद्यत हैं और दृढ़ संकल्प एवं अथक परिश्रम के सहारे वे वर्तमान उबकाई भरे जीवन में से मुक्ति का मार्ग ढूंढ निकालते हैं। इस उपन्यास में व्यक्ति की सुषुप्त कर्म-शक्ति की ओर उन्होंने संकेत किया है जो कि एक बार जागृत होने पर अद्भुत कार्य कर दिखाती है।

'जिप्सी' में भी इलाचन्द्र जोशी ने साधारण-से दिखायी देने वाले व्यक्ति के अचेतन मन में छिपी प्रचण्ड कर्मशक्ति एवं अटूट लगन को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। मनिया जैसी घरबार रहित, एकाकी जिप्सी लड़की के व्यक्तित्व के क्रमिक-विकास के चित्रण को उन्होंने इस उपन्यास का विषय बनाया है। अनुकूल परिस्थिति मिलने पर व्यक्ति की सामर्थ्य में जो अद्भुत वृद्धि होती है, उसी का दिग्दर्शन उन्होंने मनिया के चरित्र-विकास में कराया है।

इलाचन्द्र जोशी के अन्तिम उपन्यास 'जहाज का पंछी' की रचना में स्वस्थ एवं कुंठारहित व्यक्तित्व के चित्रण को आधार बनाया गया है। वे दिखाना चाहते हैं कि स्वस्थ व्यक्तित्व पर प्रतिकूल परिस्थितियों की अवांछित प्रतिक्रिया नहीं होती, बल्कि, उनसे भी जीवन-रस पाकर वह परिपुष्ट होता है। 'जहाज का पंछी' का चरितनायक जीवन की ठोकरों का सहर्ष स्वागत करते हुए अपने मन में तनिक भी निराशा नहीं उत्पन्न होने देता। अपनी साधन-हीनता के बावजूद, वह पर-हित के चिन्तन में रत है—केवल अपनी ही चिन्ता नहीं करता। निराशा, कटुता अथवा कुंठा उसे छू नहीं जाती और अहंवादी अथवा आत्मकेन्द्रित न बन कर वह विश्व-बन्धुत्व एवं विश्वकल्याण के स्वप्न लेता है। इस प्रकार, जीवन के प्रति आशामय दृष्टिकोण रखते हुए इलाचन्द्र जोशी ने इस उपन्यास में मानव-स्वभाव की मूलभूत सदाशयता को ही प्रकट करने का प्रयास किया है।

इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों के उपर्युक्त विवेचन से यह सहज निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उन्होंने मनोवैज्ञानिक उपन्यास-रचना की परम्परा का अनुसरण करते हुए मानव-मन की गुत्थियों, उलझनों और कुंठाओं के सूक्ष्म विश्लेषण को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। उनका ध्यान मुख्यतः अचेतन मन की जटिलता के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर ही अधिक रहा है, इसलिए, वे व्यक्ति की मानसिक जटिलता का उद्घाटन करते-करते, परोक्ष रूप से, यद्यपि सामाजिक जीवन की जटिलता एवं विषमता का उद्घाटन कर जाते हैं, तो भी, उन्होंने अपनी रचनाओं के विषय के रूप में व्यक्ति की मानसिक कुंठा और जटिलता के उद्घाटन को ही प्रधानता दी है। यही कारण है कि अपने उपन्यासों में उन्होंने व्यक्ति के जीवन की सीमा से बाहर निकल कर कहीं-कहीं सामाजिक जीवन में आर्थिक और राजनैतिक पहलुओं को छूते हुए सामाजिक समस्याओं, आर्थिक विषमताओं और राजनैतिक आंदोलनों को भी अपनी रचनाओं में स्थान अवश्य दिया है, किन्तु इन इतर पहलुओं को उन्होंने सदैव गौण स्थान ही दिया है। तो भी इसका एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि अन्य मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तुलना में उनकी रचनाओं का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया है। उदाहरण के लिए, 'मुक्तिपथ' में उन्होंने वैवाहिक रूढ़ियों और हिन्दू समाज में स्त्रियों की विवशता का चित्रण किया है तो 'जिप्सी' में उन्होंने आर्थिक विषमता के दुष्परिणामों तथा आर्थिक समता उत्पन्न करने वाले आंदोलनों के चित्रण की ओर ध्यान दिया है। 'जहाज का पंछी' में पढ़े-लिखे बेकारों की समस्या के साथ-साथ उन्होंने समाज की उन विषम परिस्थितियों के चित्रण का प्रयास किया है जो वेश्याओं और अपराधियों को जन्म देती हैं। साहित्यिक एवं सांस्कृतिक नवोत्थान की ओर संकेत करते हुए वे समाज के विगलित एवं दूषित जीवन की ओर भी थोड़ा-बहुत संकेत करते जाते हैं। इस प्रकार, अपने उपन्यासों में व्यक्ति की मानसिक उलझनों एवं जटिलताओं के साथ-साथ सामाजिक

विषमताओं और उलझनों को चित्रित करने के कारण इलाचंद्र जोशी ने अपनी रचनाओं के विषय-क्षेत्र को, इतर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की तुलना में, अपेक्षाकृत अधिक विस्तृत कर दिया है।

निष्कर्ष-निर्धारण

उदात्त निष्कर्ष—इलाचंद्र जोशी ने मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का अनुसरण करते हुए व्यक्ति की मानसिक कुंठा और जटिलता के उद्घाटन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है, किन्तु, जब वह अपनी रचनाओं का निष्कर्ष-निर्धारण करने लगते हैं तो उनका आदर्शवादी चिन्तन उपन्यास की बागडोर थाम लेता है। इस प्रकार उपन्यासों के विषय-चयन में यथार्थवादी मनोवृत्ति का परिचय देने के बावजूद, अपनी रचनाओं के निष्कर्ष-निर्धारण में वे पूर्णतः आदर्शवादी बन गए हैं। यहां आकर उनके जनवाद और समन्वयवाद के आदर्श उनकी रचनाओं पर पूरी तरह छा जाते हैं और उनकी उद्देश्यवादिता मुखर हो उठती है। इसलिए उपन्यास के प्रारम्भ अथवा मध्य में उन्होंने जीवन के चाहे कैसे ही कुरूप अथवा वीभत्स चित्र क्यों न खींचे हों, उपन्यास के अंत तक पहुंचते-पहुंचते वे जीवन का मंगलमय चित्र खींचने लगते हैं। यहां आकर जीवन की कटुता और कुटिलता, कुंठा और द्वन्द्व का अंत हो जाता है और मानव-जीवन का नया अध्याय प्रारम्भ होता है। इसी कारण, इलाचंद्र जोशी की रचनाओं में जीवन की यथार्थता तथा आदर्शवादिता दोनों का समन्वय दिखाई देता है। मानव-जीवन की कुरूपता और कुटिलता दिखा कर वे जीवन के उन्नयन की ओर अग्रसर होते हैं; तभी तो, वीभत्सता एवं नग्नता में न रम कर वे, उपन्यास के अंत में, जीवन के मंगलमय-पक्ष की झलक दिखा देते हैं।

अहंवाद और समाजघाती प्रवृत्तियां—उदाहरण के लिए, उनके 'सन्यासी' उपन्यास को लें। उपन्यास का नायक, नंदकिशोर, अपने जीवन में अहंवाद का पुजारी बन कर आत्मतुष्टि एवं स्वार्थपरता का जीवन बिताता है और अपने अहंकारी स्वभाव के कारण वह शांति और जयंती के सर्वनाश का कारण बनता है। किन्तु उपन्यास के अंत तक पहुंचते ही उसको अपनी दुष्टता पर इतनी ग्लानि होती है कि सब कुछ त्यागकर वह सन्यासी बन जाता है और लोक-सेवा में जीवन लगा देता है। अहंवादी नंदकिशोर के मन में पश्चाताप की भावना दिखा कर इलाचंद्र जोशी परोक्ष-रूप से इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अहंवाद से उत्पन्न समाजघाती मनोवृत्तियों से जीवन में दुख और क्लेश ही उपजता है। अतः, मानव का कल्याण इसी में है कि वह सदैव अपने सम्मुख स्वहित के बजाय परहित का, और स्वार्थ के बजाय परमार्थ का लक्ष्य रखे।

यही बात 'पर्दे की रानी' के निष्कर्ष-निर्धारण के बारे में भी है। आत्म-परितोष की निकृष्ट मनोवृत्ति से प्रेरित होकर इन्द्र मोहन नीच से नीच कर्म करने

पर उतर आता है। निरंजना को प्राप्त करने के लिये वह अपनी पत्नी, शीला की मृत्यु करने से भी नहीं चूकता। किन्तु ऐसा आत्मगत एवं घोर अहंवादी व्यक्ति भी उपन्यास के अन्त में आत्महत्या करके विशुद्ध प्रेम का उदाहरण उपस्थित कर देता है। इन्द्रमोहन की आत्महत्या मानों उसके समस्त पापों का परिमार्जन कर देती है, और निरंजना द्वारा इन्द्रमोहन के गर्भ को पालने का सकेत देकर, इलाचन्द्र जोशी ने तो इस वीभत्स कांड का मंगलमय अत कर दिया है।

कुण्ठा और समाजघात—इलाचन्द्र जोशी के 'प्रेत और छाया', 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी' और 'जहाज का पछी' नामक उपन्यासों का निष्कर्ष-निर्धारण उनके आदर्शवाद की स्पष्ट छाप लिये हुये है। 'प्रेत और छाया' में स्त्री जाति से घृणा करने वाला पारसनाथ, स्त्री जाति का अनिष्ट करने का संकल्प लेकर कांची, मंजरी और नन्दिनी के विनाश का कारण बनता है। हीरा के जीवन को भी वह विनाश के गढ़े में धकेलना चाहता है, किन्तु सुबुद्धि पर वह सन्मार्ग पर चल पड़ता है। मन को ग्रसित करने वाली कुण्ठा से छुट्टी पाते ही पारसनाथ का हृदय-परिवर्तन हो जाता है; यहाँ तक कि अन्त में वह अपनी सारी सम्पत्ति सेवा-कार्य के लिए दे डालता है। उपन्यास के अन्त में कुण्ठाओं से ग्रसित पारसनाथ द्वारा स्वास्थ्य-लाभ का संकेत देकर, वस्तुतः, इलाचन्द्र जोशी ने मानव की समाजघाती एव आत्मघाती प्रवृत्तियों के मूल कारण—अर्थात्, मानसिक जटिलता की ओर सकेत किया है। मानों वे कहना चाहते हैं कि बुराई व्यक्ति में नहीं, व्यक्ति के अन्दर विद्यमान कुण्ठा और उलझन में है। कुण्ठा को दूर कर दो, बुराई अपने आप दूर हो जायेगी।

इलाचन्द्र जोशी के आदर्शवाद का प्रबल प्रभाव यदि कहीं स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है तो वह है उनके उपन्यास 'मुक्तिपथ' में। जैसा कि इस उपन्यास के नाम से प्रकट है, उन्होंने वर्तमान बन्धनों एवं निषेधों की अन्धकारा से मानवता की मुक्ति की कामना करते हुए उसके 'मुक्तिपथ' की ओर संकेत किया है। इस पथ क अनुयायी के मन में विराट-पारिवारिकता के प्रति स्नेह और श्रम-शक्ति के विकास के लिए सतत् प्रयास करने की क्षमता अनिवार्य मान कर, इलाचन्द्र जोशी ने भी उपन्यास के अन्त में साधन-हीन राजीव और सुनन्दा को विराट् परिवार के सदस्य के नाते, सतत् कर्मरत दिखाया है। क्षुद्र परिवार की चारदीवारी से सुनन्दा को, तथा प्रतिकूल परिस्थितियों के दबाव से राजीव की मुक्ति दिखाकर उन्होंने मानव-मात्र के 'मुक्तिपथ' की ओर निर्देश किया है।

बूर्जवा मनोवृत्ति और अहप्रेम—इसी प्रकार, 'जिप्सी' के अन्त में उन्होंने सम्पन्न जमींदार, नृपेन्द्र रंजन की बूर्जवा मनोवृत्ति में आमूल परिवर्तन दिखाया है। मनिया के संसर्ग का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि विलासी-जीवन को छोड़कर, रंजन, त्यागपूर्ण जीवन को अपनाता है और अपनी समस्त सम्पत्ति 'जन संस्कृति समन्वय केन्द्र' को दे डालता है। नृपेन्द्र रजन को त्याग और सेवा का व्रत ग्रहण

करते दिखा कर इलाचन्द्र जोशी ने निर्धन एवं निस्सहाय जनसाधारण के कल्याण हेतु किये जाने वाले कार्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। यही बात 'जहाज के पंछी' के बारे में भी है। बेकार और निस्सहाय युवक नायक की विपत्तियों और कष्टों का वर्णन करके अन्त में इलाचन्द्र जोशी ने उपन्यास की नायिका, लीला द्वारा भी अपनी समस्त सम्पत्ति दीन-दुखियों के कल्याण हेतु दे डालने की घटना उल्लेख किया है।

इस प्रकार अपने प्रायः सभी उपन्यासों का उदात्त निष्कर्ष-निर्धारित करने के बाद इलाचन्द्र जोशी सर्वत्र अपने आदर्शवाद की प्रतिष्ठा करते दिखायी देते हैं। मानव-जीवन की कुरूपता और वीभत्सता के घिनौने चित्र दिखाने के उपरान्त वे आदर्शवाद की तान छेड़ देते हैं। उपन्यास के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते यह तान सुरीले गान का रूप धारण कर लेती है। इलाचन्द्र जोशी ने अपनी रचनाओं के अन्त में सेवा व त्यागमय जीवन की श्रेष्ठता दिखायी है जिसके सम्मुख मानव की क्षुद्रता और संकीर्णता लुप्त होकर, मानव-मन विराटता व उदात्तता का अनुभव करता है। यथार्थवाद की कठोरभूमि से उठकर आदर्शवाद के अनन्त आकाश को छूने का क्रम उनके उपन्यासों म सर्वत्र मिलेगा, इसीलिए विषय-चयन में यथार्थवाद का ध्यान रखने पर भी, उपन्यास के निष्कर्ष तक पहुंचते ही वे आदर्शवाद में अपनी आस्था प्रकट कर देते हैं।

कथानक

उपन्यास के माध्यम से मानव के अन्तर्जीवन की कुण्ठाओं और उलझनों के उद्घाटन तथा मानव को अन्तश्चेतना में छिपी पशु-प्रवृत्तियों के संयोजन को इलाचन्द्र जोशी बहुत महत्त्व देते हैं। अन्तर्मन की रहस्यात्मकता के उद्घाटन तथा अन्तर्मन की मूल प्रवृत्तियों के सयोजन के लक्ष्य का उनके उपन्यासों के कथानक पक्ष पर इतना प्रभाव पड़ा है कि इस पर उनके चिन्तन की स्पष्ट छाप पड़ी हुई है। इलाचन्द्र जोशी की लक्ष्यवादिता का उनके उपन्यासों के कथानक पक्ष पर जो प्रभाव पड़ा है, उसे भली-भांति समझने के लिये हमें कथानक पक्ष के अन्तर्गत कथानक के गठन, विकास तथा उपसंहार—इन तीन पहलुओं का अध्ययन करना होगा। इस अध्ययन के लिए कथानक के गठन को पहले लें।

कथानक का गठन

मानसिक द्वन्द्व और कुण्ठा का आधार—मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का अनुसरण करते हुए इलाचन्द्र जोशी ने भी अपने कथानकों के माध्यम से मानव के अन्तर्मन की कहानी कहनी चाही है। अतः, अन्तर्मन के उद्घाटन को अपने कथानक का लक्ष्य बनाने के कारण, उन्होंने मानव की विविध मानसिक अवस्थाओं, जटिलताओं और द्वन्द्वों तथा जटिलताओं को अपने कथानकों का आधार बनाते

समय इलाचन्द्र जोशी ने मन की स्वस्थ अवस्था के बजाय उसकी विकृतावस्था को अधिक लिया है। यही कारण है कि मन की कुरूपता पर आधारित उनके अधिकांश कथानक मानसिक उलझनों एवं पेचीदगियों की कहानी ही अधिक कहते हैं।

उदाहरण के लिए, उनके 'लज्जा' उपन्यास का कथानक मूलतः राग और वासना के द्वन्द्व की कहानी है। यह द्वन्द्व उपन्यास की नायिका, लज्जा, के मन में उपजता है। एक ओर अपने भाई, रंजन, के प्रति उसके हृदय में विशुद्ध प्रेम है तो दूसरी ओर डा० कन्हैयालाल के प्रति वासनाजनित आकर्षण उसे मतवाला बनाये हुए है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि अपने भाई के प्रति सहज प्रेम को ठुकराने वाली और डा० कन्हैयालाल के प्रति अधिकाधिक आकर्षित होने वाली वासनाभिभूत इस नवयौवना नायिका का मन विचित्र घात-प्रतिघातों का अखाड़ा बन जाता है। इसीलिये, स्वभाव एवं आदर्श, भावना एवं कर्त्तव्य तथा परिवार के सम्मान और अपने यौवन की मजबूरी के द्वन्द्व को लेकर 'लज्जा' के कथानक का गठन किया गया है।

इसी प्रकार, 'सन्यासी' के कथानक की रचना के लिए इलाचंद्र जोशी ने व्यक्ति के विकृत अहंभाव का सहारा लिया है। उपन्यास के नायक नंदकिशोर का अहंभाव उसे अधिकाधिक आत्मगत और घोर स्वार्थी बना देता है; यहाँ तक कि उसका अहंप्रेम उसमें समाजघाती के साथ-साथ, आत्मघाती मनोवृत्तियां भी उत्पन्न कर देता है। इसका फल यह होता है कि दूसरों के जीवन में दुख, क्लेश उत्पन्न करते-करते वह अपने जीवन में भी असंतोष व अशांति के बीज बो लेता है। इस प्रकार, नंदकिशोर के अहंवाद से उदभूत समाजघाती मनोभावनाओं, मानसिक जटि-लताओं तथा परेशानियों को लेकर ही उपर्युक्त उपन्यास के कथानक की रचना की गयी है।

इलाचंद्र जोशी ने, 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया' तथा 'जिप्सी' नामक उपन्यासों के कथानकों का गठन भी किसी न किसी मनोवैज्ञानिक जटिलता एवं विकृति को लेकर किया है। 'पर्दे की रानी' की नायिका रंजना के मन पर अपने खूनी पिता और वेश्या माता के संस्कारों का ऐसा प्रभाव पड़ा हुआ है कि न चाहते हुये भी उसके हाथों अनिष्टकर कृत्य हो जाते हैं। हत्या तथा वासना के मूलगत पूर्व-संस्कारों से उत्पन्न अपनी मानसिक कुण्ठा के कारण वह विवश है, और इसी विवशता को आधार बनाते हुये उन्होंने 'पर्दे की रानी' के कथानक की रचना की है।

इसी प्रकार, 'प्रेत और छाया' में व्यक्ति के मन में उत्पन्न मानसिक कुंठा और तज्जनित कुटिलता को लेकर कथानक का गठन किया गया है। अपने कठोर स्वभाव के पिता के मुख से अपनी माता के तथाकथित भ्रष्टाचार की सूचना पाते ही

पारसनाथ के मन में गाँठ पड़ जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री जाति के प्रति विद्वेष एवं घृणा से उसका मन भर जाता है और वह सर्वत्र समाजघाती आचरण करता घूमता है। 'जिप्सी' में भी उन्होंने बूर्जवा मनोवृत्ति से उत्पन्न परा-धिकार की कुत्सित कामना तथा अपना ही लाभ सोचने की स्वार्थी मनोवृत्ति को कथानक का आधार बनाया है। इलाचन्द्र जोशी के मतानुसार बूर्जवा मनोवृत्ति भी तो अन्ततोगत्वा अहं की आराधना से उत्पन्न हुई है, इसलिये 'जिप्सी' के कथानक में उन्होंने आत्मरति तथा आत्मकेन्द्रिता के इस अमंगलकारी रूप को आधार बनाकर कथानक का गठन किया है।

मानसिक उलझन का मूल रूप—इलाचन्द्र जोशी के कतिपय उपन्यासों के कथानकों के गठन का अध्ययन करने पर यह सहज ही पता चलता है कि उन्होंने इनके गठन में मानसिक उलझनों एवं द्वन्द्वों का खुलकर उपयोग किया है। देखा जाए तो मानसिक द्वन्द्व की उत्पत्ति तभी होती है जब उचित-अनुचित, अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का झगड़ा व्यक्ति के मन में उठ खड़ा होता है। दूसरे शब्दों में, इस द्वन्द्व का मूल कारण नैतिक ही होता है क्योंकि नैतिक चेतना के अभाव में उचित-अनुचित अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार व्यक्ति के मानसिक द्वन्द्व के चित्रण के सहारे इलाचन्द्र जोशी, वस्तुतः, उसके नैतिक द्वन्द्व का चित्रण करते जाते हैं। नैतिक जटिलता को व्यक्ति के अन्तर्मन की जटिलता के रूप में दिखाकर यद्यपि उन्होंने इन कथानकों को मनोवैज्ञानिक चोला पहना दिया है, तो भी, थोड़ी-सी खरोंच लगते ही मनोवैज्ञानिकता का यह झीना परदा फट जाता है है और कथा-नक के मूल में स्थित नैतिक प्रश्न तुरन्त उभर आते हैं।

कथानक का विकास

द्वन्द्व और कुंठा का उद्घाटन—इलाचन्द्र जोशी ने कथानक का ढांचा खड़ा करने के लिए मानसिक द्वन्द्व एवं कुण्ठा का सहारा लेने के अतिरिक्त, इस द्वन्द्व के उत्तरोत्तर उद्घाटन तथा मानसिक कुण्ठा की प्रतिक्रिया की सहायता से कथानक का विकास किया है। द्वन्द्व और मानसिक ग्रन्थि पर आधारित उनके कथानकों ने मन की इस रुग्णावस्था से अपने लिये पोषक-पदर्थ ग्रहण किये हैं। अतः द्वन्द्व और कुण्ठा पर आधारित कथा के जिन सूत्रों को वह उपन्यास के आरम्भ में पकड़ते हैं, उन्हीं के सहारे वे कथानक का विकास करते जाते हैं।

उदाहरण के लिये, राग और वासना के द्वन्द्व पर आधारित 'लज्जा' उपन्यास का कथानक इसी द्वन्द्व के उत्तरोत्तर उद्घाटन से विकसित हुआ है। डा० कन्हैया-लाल के प्रति लज्जा का तीव्र आकर्षण उसके नवयौवन का स्वाभाविक परिणाम है। किन्तु, घर की मर्यादा और अपने भाई राजू के नैतिक आदर्शों के सम्मुख लज्जा को

यह प्रणय-व्यापार ओछा-सा जान पड़ता है। अतः, नैतिक मर्यादा और मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति में उत्पन्न संघर्ष के चक्रजाल के अधिकाधिक उद्घाटन के सहारे 'लज्जा' का कथानक आगे बढ़ता जाता है। इलाचन्द्र जोशी ने लज्जा के मन में उठने वाली नव-प्रणय की हिलोरों और तदनन्तर प्रतिक्रिया जनित घृणा के तूफानों का चित्रण करके इस उपन्यास का कथानक विकसित किया है।

इसी प्रकार, 'सन्यासी' का कथानक नन्दकिशोर के विकृत अहंवाद की विभिन्न अवस्थाओं, घृणा, ईर्ष्या जैसी कुत्सित मनोभावनाओं तथा मन कीं पशु-वृत्तियों का क्रमिक उद्घाटन करते हुये आगे बढ़ता है। काम-तृप्ति एवं आत्म-रति की मूल-प्रवृत्तियों से परिचालित नन्दकिशोर पर-हित के प्रति बिल्कुल अंधा है। निजवासना-पूर्ति के कुत्सित लक्ष्य के कारण उसके हृदय में सदाशयता, सहृदयता जैसे मानवी सद्गुणों का पूर्ण लोप हो जाता है। तब नैतिक-अनैतिक, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य अथवा उचित-अनुचित के विवेक से शून्य होकर यह पशुधर्म का पालन करने लगता है। इस विकृत अहंवाद से उद्भूत समाजघाती मनोवृत्तियों के दुष्परिणामों का दिग्दर्शन कराते हुये इलाचन्द्र जोशी 'सन्यासी' का कथानक आगे बढ़ाते हैं।

इलाचन्द्र जोशी ने अहं और कामजन्य विकारों के आधार पर 'पर्दे की रानी' का कथानक रचकर, इन विकारों की प्रतिक्रिया एवं दुष्परिणामों को दिखाते हुये इस उपन्यास का कथानक विकसित किया है। रंजना और इन्द्रमोहन दोनों ही अहंवादी तथा कामासक्त हैं और आत्म-तृप्ति की लालसा दोनों के हृदयों को आलोड़ित किये हुये है। किन्तु काम-तृप्ति के मार्ग में बाधा पहुंचते ही इन्द्रमोहन के हृदय में प्रतिहिंसा की ज्वाला भड़क उठती है। इसके आगे उपन्यास का कथानक इन्द्र मोहन की उत्कृष्ट प्रतिहिंसा की भावना से पुष्ठ होकर बढ़ा है।

इलाचंद्र जोशी ने 'प्रेत और छाया', 'जिप्सी' तथा 'जहाज का पंछी' उपन्यासों के कथानकों का विकास भी कुंठा तथा अहंवाद की प्रतिक्रिया के क्रमिक चित्रण का सहारा लेकर किया है। 'जिप्सी' के नायक, पारसनाथ, के मन में अपनी माता के कथित स्वैराचार की सूचना से गांठ उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप, स्त्री-जाति का अहित करने पर उतारू पारसनाथ उत्तरोत्तर नीचता की दलदल में धँसता चला जाता है। प्रतिहिंसा की धधकती ज्वाला से उसके हृदय में पशु-वृत्तियों के विस्फोट तथा उसके क्रमिक पतन को लेकर इस उपन्यास का कथानक विकसित हुआ है।

इसी प्रकार, 'जिप्सी' में नृपेन्द्र रंजन की बूर्जवा मनोवृत्ति को आधार बनाकर, इलाचंद्र जोशी ने कथानक का विकास करते समय इस मनोवृत्ति के अनिष्टकारी परिणामों के चित्रण का विशेष रूप से सहारा लिया है। बूर्जवा मनोवृत्ति

वस्तुतः मानव के अहंवाद का नवीन संस्करण ही है, जिसके प्रभाव में आकर नृपेन्द्र रंजन में पर-अधिकार की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस दुष्ट मनोवृत्ति के सामने नैतिक मर्यादा एवं आदर्श कैसे फीके पड़ जाते हैं, इसका विवरण प्रस्तुत करते हुये उपन्यास के कथानक का विकास हुआ है।

इलाचन्द्र जोशी के अन्तिम उपन्यास 'जहाज का पंक्षी' में भी एक निःसहाय एवं निराश्रित युवक की कुण्ठित कामनाओं का चित्र प्रस्तुत करते हुये उपन्यास का कथानक आगे बढ़ाया गया है। दर-दर ठोकरें खाता हुआ उपन्यास का नायक, जीवन के अनेक क्षेत्रों में भटकता है। हर जगह उसे निराशा और अतृप्ति का ही सामना करना पड़ता है। उसकी निराशा, कुण्ठा एवं अतृप्ति की विविध अवस्थाओं को लेकर इलाचंद्र जोशी ने इसके कथानक का विकास किया है।

घटनाओं की मानसिक प्रतिक्रिया का वर्णन—इलाचंद्र जोशी ने मानसिक द्वन्द्व व उलझन को आधार बनाकर उपन्यास के कथानक का विकास करते समय उपयुक्त घटनावली का भी निर्माण किया है। किंतु घटनाओं का विशद् वर्णन करने की अपेक्षा उन्होंने घटनाओं की मानसिक प्रतिक्रिया का ही चित्रण अधिक किया है। घटनाओं का अस्तित्व यदि है तो व्यक्ति के अंतर्मन में प्रतिक्रियास्वरूप उठने वाले बवंडरों के चित्रण तथा मनोविकारों का विश्लेषण करने के लिए ही। इसलिए उन्होंने अपने कथानकों का विकास करते समय अधिकतर उन्हीं घटनाओं को लिया है जिनसे कि पात्र की मानसिक जटिलता व रहस्यात्मकता को प्रकाश में लाने में सहायता मिले। उनका मुख्य क्षेत्र मानव का अंतर्जगत् होने के कारण वे जागतिक घटनाओं का थोड़ा-बहुत ही वर्णन करके पात्र के मन पर इन घटनाओं की प्रतिक्रिया का वर्णन करने लग जाते हैं।

असाधारण घटनाओं का समावेश—घटनाओं के इस विशिष्ट प्रयोग के अतिरिक्त, इलाचन्द्र जोशी ने अपने उपन्यासों में अधिकतर ऐसी घटनायें ली हैं जो कि असाधारण हैं। सामान्य जीवन में ऐसी घटनायें कम ही मिलेंगी। इसका एक कारण तो यह है कि उनके पात्र असाधारण हैं और उनका आचरण भी असाधारण है। इस असाधारण आचरण का ही यह परिणाम है कि इलाचंद्र जोशी को भी पात्र के स्वभाव एवं आचरण में एकरूपता बनाये रखने के लिए असाधारण घटनाओं की सहायता लेनी पड़ी है। उदाहरण के लिये, 'लज्जा' उपन्यास में डा० कन्हैया-लाल को देखते ही लज्जा का उसके प्रति आकर्षित हो जाना, लज्जा का अभिसार तथा दोनों को प्रणय-व्यापार में मग्न देखकर राजू का आत्म-हत्या करना—इत्यादि घटनायें साधारण जीवन में कम ही मिलेंगी। 'सन्यासी' में भी नंदकिशोर द्वारा शाँति को लेकर इलाहाबाद भाग जाना, उसे निराश्रित छोड़कर शिमला चला जाना, जयन्ती द्वारा जलकर आत्म-हत्या करना तथा नन्दकिशोर द्वारा पश्चाताप-

स्वरूप सन्यास ग्रहण करना, आदि घटनायें, वस्तुतः, असाधारण आचरण की ही द्योतक हैं।

असाधारण घटनाओं की सहायता से कथानक का विकास करने की प्रवृत्ति इलाचन्द्र जोशी के सभी उपन्यासों में मिलती है। 'पर्दे की रानी' में इन्द्र मोहन द्वारा रंजना को होटल में बलात् भ्रष्ट करने की कुचेष्टा, रंजना का चालाकी से बच निकलना, इन्द्रमोहन द्वारा शीला को विष देकर मार डालना, रेल गाड़ी में रंजना का सहर्ष आत्म-समर्पण तथा अन्त में इन्द्र मोहन द्वारा रेल गाड़ी के नीचे कट मरना—ये सब घटनायें असाधारण ही कही जायेंगी। 'प्रेत और छाया' में भी पारसनाथ का असाधारण आचरण उसकी असाधारण मानसिक जटिलता का परिणाम है। कांची, मंजरी और नन्दिनी को धोखा देने की असाधारण घटनाओं से उपन्यास का कथानक विकसित हुआ है। 'मुक्तिपथ' में निराश्रित राजीव द्वारा सुनन्दा को घर से निकाल कर ले जाने और फिर उसके साथ दाम्पत्य जीवन न बिताकर सामूहिक श्रम का आदर्श पालन करने में ही मग्न रहने की घटनायें साधारण कदापि नहीं कही जा सकतीं।

'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' में तो इलाचन्द्र जोशी ने कथानक में असासारण घटनाओं के प्रयोग की मानों पराकाष्ठा कर दी है। मनियां जैसी घरबार-विहीन, यतीम युवती के पीछे नृपेन्द्र रंजन जैसे धनवान जमींदार का पागल हो उठना, उसके कहने पर धर्म-परिवर्तन कर ईसाई बन जाना, मनिया के कुरूप होने पर शोभना के लिये पागल हो उठना, तथा अन्त में मनिया की इच्छानुसार अपनी समस्त सम्पत्ति दान कर डालना—ये घटनायें कुछ ऐसी हैं जो अपनी असाधारणता के कारण अविश्वसनीय-सी प्रतीत होती हैं। 'जहाज का पंछी' की घटनायें तो इतनी अधिक असाधारण हैं कि सर्वथा विचित्र लगती हैं। उपन्यास के निःसहाय एवं निराश्रित नायक के विचित्र कारनामों से इस उपन्यास का कथानक विकसित हुआ है। वह पढ़ा-लिखा है और कलाविद् भी है, फिर भी मारा-मारा फिरता है। जितनी फुर्ती से उसके हाथ में रुपया आता है उतनी ही फुर्ती से वह उसे लुटा देता है। कहीं भूखों मरने की हालत हो जाती है तो कहीं अमेरिका से आये पर्यटकों को बुद्धू बनाने से भी वह नहीं चूकता। कहीं पाक-शास्त्र में उसकी निपुणता दिखायी गयी है तो कहीं गूढ़ साहित्यिक समस्याओं पर वह धारावाहिक भाषण देने में व्यस्त है। अन्त में, वह एक लखपती युवती के आकर्षण का केन्द्र बन जाता है और उससे समस्त सम्पत्ति निर्धनों के कल्याण हेतु दे डालने की शर्त पूरी करा कर उसके साथ विवाह-बन्धन में बंध जाता है।

वासनापूर्ण प्रसंग—असाधारण घटनाओं के सहारे कथानक का विकास करने के अतिरिक्त, इलाचन्द्र जोशी ने ऐसे प्रसंग भी लिए हैं जिनमें वासना छलकती

है और काम-अतृप्ति की लपटें मानों आकाश छूने को लपकती हैं। किन्तु ऐसे कामुक प्रसंगों को कथानक में लेते समय किसी प्रकार की हिचक न दिखाते हुये भी, इलाचन्द्र जोशी ने बहुत सावधानी से काम लिया है। ऐसे कामुक प्रसंगों के माध्यम से वासनाओं को उभाड़ने की अपेक्षा उन्होंने इनके विश्लेषण का ही प्रयास किया हैं। वस्तुतः, वे इन प्रसंगों के वर्णन में रमे नहीं, बल्कि इनकी सहायता से कामासक्त व्यक्ति की मानसिक स्थिति के विश्लेषण को उन्होंने प्रधानता दी है।

उदाहरण के लिए, 'लज्जा' की नायिका की जवानी के जोश के प्रबल वेग और अल्हड़ यौवन के पागलपन को चित्रित करने के लिये उन्होंने दो-चार प्रसंग लिये हैं। डा० कन्हैया लाल के सम्मुख कोच पर लेटने की घटना का वर्णन है—'मैं उनके सामने कोच पर बैठने और लेटने की मध्यावस्था में अवस्थित हो गयी। मैं अच्छी तरह से जानती थी कि मेरा इस प्रकार बैठना शिष्टाचार के विरुद्ध है, पर मुझे यह भी विश्वास था कि डा० साहिब इस प्रकार मेरे शरीर का विलास और उसकी ललित गति देखकर शिष्टता और अशिष्टता का विचार सब भूल जायेंगे। प्रत्येक नारी के हृदय में येन-केन प्रकार से पुरुष को रिझाने की प्रवृत्ति वर्तमान रहती है, और मैं तो इसके लिये बर्बरता की चरम-सीमा तक पहुंचने के लिये भी तैयार थी।'[1]

लज्जा के अभिसार[2] की घटना के अतिरिक्त उसकी काम-विवशता का एक चित्र है--'अकस्मात् डा० साहिब के पैरों ने मेरे पांवों को स्पर्श किया। मेरे सारे शरीर में एक बिजली-सी दौड़ गयी। मेरे रक्त में उन्मत्तता व्याप्त हो गयी। मैंने अपने को सम्भालने की चेष्टा की। क्षण भर में सहस्र भावनायें मेरे मस्तिष्क से होकर गुजर गयीं।

मैं रह न सकी और उनकी गोद में मुंह छिपाकर सिसक-सिसककर बेअख्तियार रोने लगी। कुछ देर बाद जब मेरा सिसकना बन्द हो गया तो मैं फिर उसी मोहमग्न अवस्था में उनकी गोद के ऊपर अपना सिर रखे रही। विवश अलसता के कारण उस स्थिति से हिलने-डूलने की शक्ति मुझ में नहीं थी।'[3]

'पर्दे की रानी' में इलाचन्द्र जोशी ने रंजना की विवशता और इन्द्र मोहन की काम-असक्ति का चित्र इस प्रकार खींचा है—'रंजना—नहीं इन्द्रमोहन जी, जब तक शीला जीवित है तब तक आप मुझसे हर्गिज इस तरह की आशा न करें—यह असम्भव है। यदि आप बहुत उतावले हैं, तो लीजिये, मेरा यह हाथ अपने होंठों से लगा लीजिये।' यह कहकर मैंने अपना हाथ उनकी ओर बढ़ा दिया।

इन्द्रमोहन जी ने न आव देखा न ताव, अत्यन्त अधीरता के साथ अपने

---

१. 'लज्जा' २. वही, ३. वही।

दोनों हाथों से कसकर मेरा हाथ पकड़ लिया और एक उन्माद-ग्रस्त व्यक्ति की तरह उत्कट आवेश में उसे चूमने और चूसने लगे। पूरे पांच मिनट तक वह अपनी दोनों आंखें मूँदकर उसे चूमते रहे।'[1]

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का लक्ष्य—इलाचन्द्र जोशी के प्राय: सभी उपन्यासों में ऐसे कामुक प्रसंग आये हैं किन्तु इन प्रसंगों के वर्णन में रस लेने की उनकी प्रवृत्ति नहीं है। इन प्रसंगों के माध्यम से, मन के इतर मनोविकारों की तरह, उन्होंने काम-वासना का विश्लेषण करने की ओर ही अधिक ध्यान दिया है, इसलिये ऐसे अवसर पर भावधारा में बहने की अपेक्षा उन्होंने बहुत संयम दिखाया है। यही कारण है कि अश्लीलता की अपेक्षा इन घटनाओं के वर्णन में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की मात्रा अधिक दिखायी देती है।

कथानक का उपसंहार–उपन्यास के प्रारम्भ में जिस समस्या को लेकर कथानक का गठन एवं विकास किया गया है, उसे सुलझाने के बारे में कथानक के अन्त में सामान्यत: कोई न कोई उपाय भी सुझाया जाता है। इलाचन्द्र जोशी ने भी अपनी रचनाओं के आरम्भ में उठायी गयी समस्याओं तथा प्रश्नों के बारे में कथानक के अन्त में, अपनी मान्यता एवं विश्वासानुसार कुछ हल सुझाये हैं और उनपर निर्णय दिये हैं। इस कारण कथानक का उपसंहार उनके चिन्तन के अनुरूप ही हुआ है। जैसा कि पहले कहा गया है, इलाचन्द्र जोशी ने व्यक्ति के विकृत अहंवाद पर कठोर प्रहार करते हुये इनके परिशोधन व नियन्त्रण पर ही जोर दिया है। उनकी दृष्टि में घोर अहंवाद तो भस्मासुर के समान है जो कि समूची मानवता को भस्म करने के लिए भाग-दौड़ मचा रहा है। अत:, अपने कथानकों में आत्मरति के अधिष्ठाता भस्मासुर के विनाशकारी कारनामों की झलक दिखाकर इलाचन्द्र जोशी इस असुर को ध्वस्त करने की आवश्यकता पर ही बल देते हैं। उपन्यास के अन्त में उन्होंने सहानुभूनि, सहृदयता जैसे मानवी सद्‌गुणों की विजय दिखाते हुए अपने पात्रों को कुटिलता एवं कठोरता की आत्मग्लानि एवं पश्चाताप की अग्नि में पिघलते दिखाया है। कथानक के अन्त में पश्चाताप की भावना का उदय होना, वस्तुत:, मानवमन के अन्दर पर-हित एवं परमार्थ जैसे नैतिक गुणों के उदय होने का पूर्वचिन्ह है। और, इलाचन्द्र जोशी ने तो अपने सभी कथानकों के उपसंहार में प्रमुख पात्रों के मन में पश्चाताप उत्पन्न करके नैतिकता की अनैतिकता पर, और मानवता की दानवता पर विजय दिखायी है।

पश्चात्तापपूर्ण अन्त—उदाहरण के लिये, 'लज्जा' उपन्यास के कथानक के अंत में लज्जा के मन में अपने भाई राजू द्वारा आत्महत्या करने के कारण तीव्र आत्मग्लानि उत्पन्न होती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि काम-वासना के वशीभूत होकर

---

१. 'पर्दे की रानी'

तथा अपने भाई के नैतिक आदर्शों की उपेक्षा करके उसने बहुत बड़ा पाप किया है। इस पाप का प्रायश्चित करते हुये वह डा० कन्हैयालाल से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती है और अपने प्रथम प्रणय का गला घोंट देती है। राजू के प्रति किया गया अन्याय उसके हृदय को कचोटता रहता है और अंत में वह अपनी काम-वासना को ही धिक्कारती है।

'सन्यासी' के कथानक का अंत भी पश्चातापपूर्ण वातावरण में हुआ है। जयंती की आत्महत्या से और शांति द्वारा किसी अज्ञात स्थान में चले जाने से नंदकिशोर के अहं को प्रबल चोट पहुंचती है और उसे अपने अहंवाद की वीभत्सता का ज्ञान होता है। फलस्वरूप, आत्मग्लानि तथा पश्चात्ताप की भावना के कारण वह अपने पापों का प्रायश्चित करने की ठान लेता है। उपन्यास के अंत में वह गैरिक वस्त्र धारण कर 'सन्यासी' बन जाता है और अपने दुष्कर्मों के परिमार्जन के लिये जहां-तहां डोलता फिरता है।

इसी प्रकार 'पर्दे की रानी' के कथानक का उपसंहार भी प्रायश्चितपूर्ण वातावरण में हुआ है। निरंजना को भ्रष्ट कर, छल-कपट से अपनी कामवासनापूर्ण करने वाले इन्द्र मोहन को अपने कृत्य पर इतनी ग्लानि होती है कि वह चलती गाड़ी के आगे कूद कर आत्महत्या कर लेता है। इन्द्र मोहन के विशुद्ध प्रेम का प्रतिदान न दे सकने के कारण रंजना भी प्रायश्चित की आग में जलती है। अपनी कठोरता, और इन्द्रमोहन के प्रेम की अस्वीकृति के पाप का प्रायश्चित करते हुये वह इन्द्रमोहन के गर्भ को सहर्ष धारण करती है।

इलाचंद्र जोशी ने सभी कथानकों का उपसंहार करते समय अपने प्रमुख पात्रों में पश्चाताप की भावना उदित होते दिखाई है। 'प्रेत और छाया' के कथानक के उपसंहार में पारसनाथ को अपने पापों का परिमार्जन करते दिखाया गया है। घृणा और प्रतिहिंसा की कुत्सित भावनाओं का प्रायश्चित करते हुये वह हीरा से विवाह कर लेता है और अपनी समस्त सम्पत्ति जन-कल्याण तथा देश-कार्य में लगा देता है। नंदिनी और भुजौरिया को भी अपने जीवन से घृणा हो जाती है और वे दोनों, पारसनाथ का अनुकरण करते हुये, सेवा का पथ अपनाते हैं।

इलाचन्द्र जोशी ने 'मुक्तिपथ' जैसे आदर्शपूर्ण उपन्यास के कथानक की परिसमाप्ति पश्चात्तापपूर्ण वातावरण में की है। सुनंदा के प्रति पूर्ण उपेक्षा से राजीव को बहुत पश्चात्ताप होता है। किन्तु सुनंदा ने तो अपनी मुक्ति का पथ खोज लिया है, इसलिये, राजीव की पश्चात्तापपूर्ण वाणी की परवाह न कर वह अपने वांछित मार्ग पर चल पड़ती है। इसी प्रकार, 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' के कथानकों का ऐसा ही पश्चात्तापपूर्ण अंत दिखा कर इलाचंद्र जोशी, वस्तुतः, मानव के अहंवाद के सुनियोजन की बात कहते हैं। 'जिप्सी' के नृपेन्द्र रंजन के मन में अपनी बूर्जवा-

मनोवृत्ति से ग्लानि उत्पन्न होती हैं और प्रायश्चित-स्वरूप अपनी समस्त सम्पत्ति दान करके वह जनसेवा का मार्ग अपनाता है। 'जहाज का पंछी' में भी जनकल्याण का आदर्श अपनाते हुए लीला अपनी समस्त सम्पत्ति दीन-दुखियों की सेवा के लिए दे डालती है।

कथानक के उपसंहार में पश्चाताप की भावना के उदय के कारण यद्यपि उनके प्रायः सभी उपन्यासों का अंत दुःखपूर्ण हुआ है, तो भी कहीं-कहीं सुखपूर्ण अंत भी दिखाया गया है। उदाहरण के लिए, 'लज्जा', 'सन्यासी', 'पर्दे की रानी' दुखान्त उपन्यास हैं, जबकि, 'प्रेत और छाया', 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' सुखान्त हैं। उनका ध्यान तो मानव के अहं का घमण्ड तोड़ने की ओर अधिक रहा है, इसलिए, उपन्यास के अंत में अहंवादी व्यक्ति को अपने दुष्कृत्यों पर पश्चाताप करते हुए दिखा कर उन्होंने उपन्यास का अंत कर दिया है। इस बात की उन्होंने चिंता नहीं की कि उपन्यास का उपसंहार सुखान्त होता है अथवा दुखान्त। अहंवाद के भस्मासुर को भस्म करने में उन्होंने वहुत सतर्कता बरती है, इसलिए प्रत्येक कथानक कि अंत में उन्होंने पशुता पर मानवता की, स्वार्थ पर परमार्थ की, और अनैतिकता पर नैतिकता की जीत दिखाई है।

पात्र व चरित्र-चित्रण

कथानक के उपरांत, पात्रों के सृजन एवं उनकी चरित्रगत विशेषताओं के उद्घाटन पर जब हम विचार करते हैं तो पता चलता है कि इलाचंद्र जोशी के जनवादी दृष्टिकोण तथा मानव की अंतश्चेतना में सुपुप्त मूल-प्रवृत्तियों के संयोजन के आदर्श के अनुरूप उनके पात्र सिरजे गए हैं। पात्रों के सृजन पर उनके चिंतन का वहुत प्रभाव पड़ा है, और इस प्रभाव को समझने के लिए हमें पात्रों के चयन, प्रवृत्ति-निर्देश तथा चरित्र-विकास को क्रमानुसार लेना होगा। इस क्रम का अनुसरण करने से यह सहज ही पता चल जाएगा कि इलाचंद्र जोशी के पात्र कैसे चिंतन की रेखाओं में निर्मित हुए हैं और किन आदर्शो का उनमें रंग भरा गया है। इस क्रम में से पात्रों के चयन को पहले लें।

पात्रों का चयन

समाज का व्यापक चित्रण—इलाचन्द्र जोशी ने अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण से समाज के व्यापक जीवन का चित्र खींचना चाहा है, इसलिए, उन्होंने किसी वर्ग-विशेष तक सीमित न रहकर समाज के प्रायः सभी वर्गों व स्तरों से पात्रों का चयन किया है। उनके पात्रों में उच्चवर्ग के रईस, जमींदार, वकील और डाक्टर, मध्यवर्ग के अध्यापक, नौकरी करने वाले और दूकानदार तथा निम्नवर्ग के मजदूर, बेघरबारी जिप्सी, और निर्धन किसान मिलेंगे। इन पात्रों में जहां सम्भ्रान्त कुल

के पढ़े-लिखे सम्मानित व्यक्ति हैं तो यहां समाज की जूठन का प्रतिनिधित्व करने वाले अपराधी, चोर, वेश्यायें और लुच्चे-लफंगे भी हैं। तात्पर्य यह कि उन्होंने समाज के प्राय: प्रत्येक वर्ग तथा स्तर से अपने पात्र चुने हैं, ताकि उनके माध्यम से सामाजिक जीवन के मूल में निहित विषमताओं का उद्घाटन हो सके।

व्यापक चयन—उदाहरण के लिये, 'लज्जा' में उन्होंने समाज के उच्चवर्ग में से पात्र चुनते हुए धनी कुल की पढ़ी-लिखी नायिका, लज्जा, उसके भाई रंजन तथा डा० कन्हैयालाल को लिया है। 'सन्यासी' में प्राय: मध्यवर्ग से उन्होंने पात्र लिए हैं। नन्दकिशोर, बलदेव प्रसाद, कैलाशनाथ, जयन्ती और शान्ति आदि पात्र इसी वर्ग के हैं और पढ़ाई या नौकरी ही उनका व्यवसाय है। 'पर्दे की रानी' में रंजना, शीला, इन्द्र मोहन, मनमोहन सिंह आदि पात्र पुन: समाज के उच्चवर्ग के प्रतीक हैं, तो 'प्रेत और छाया' में तीनों वर्गों से पात्र चुने गये हैं। इसमें पारसनाथ बैजनाथ जैसे उच्चवर्ग के, कांची, मंजरी जैसे मध्यवर्ग के पात्रों के अतिरिक्त नन्दिनी, हीरा और भुजोरिया जैसे समाज के पतित वर्ग के पात्र भी हैं। इसी प्रकार 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' में उन्होंने समाज के सभी वर्गों और स्तरों के पात्र लिए हैं। 'मुक्तिपथ' में क्रान्तिकारी राजीव, विधवा, सुनन्दा, सरकारी उच्चाधिकारी उमाप्रसाद और विजयकुमार तथा पढ़ी-लिखी और सम्भ्रान्त घराने की प्रमीला और रमला गिडवानी जैसी लड़कियां हैं। 'जिप्सी' में उच्च और निम्न दोनों वर्गों में से पात्र लिये गये हैं। नृपेन्द्र रंजन, वीरेन्द्र कुमार, अभयकुमार सरकार और शोभना, रईस व जमींदार वर्ग के हैं तो मनिया, भवानी, सनीवरिया, सितारिया आदि जिप्सी वर्ग से सम्बन्ध रखते हैं। 'जहाज का पंछी' का कन्वास इतना विशाल है कि इसमें एम० ए० ए०, कोयला बेचने वाले, पहलवान, धोबी, अमेरिकन टूरिस्ट, पुलिस अधिकारी, वेश्यायें, नेता, डाक्टर तथा कला व संगीत के प्रेमी, सभी आ जाते हैं। 'जिप्सी' में शायद ही उन्होने कोई उल्लेखनीय वर्ग छोड़ा हो जिसमें से कि उन्होंने पात्र न लिये हों।

सामाजिक जटिलता का चित्रण—सामाजिक जीवन का पूरा चित्र खींचने के लिए इलाचन्द्र जोशी ने समाज के प्रत्येक वर्ग व स्तर से पात्र चुनने के अतिरिक्त समाज की विकृतियों एवं जटिलाओं को भी पात्रों के जीवन के माध्यम से चित्रित करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से उन्होंने मुख्य पात्रों का चुनाव करते समय प्राय: रुग्णमानस, कुण्ठाग्रस्त तथा विषमता से परिपूर्ण असाधारण पात्रों को ही नायक-नायिका बनाया है। इनमें अहं-प्रेम, स्वरति, प्रतिहिंसा अथवा कामवासना की प्रवृत्तियां इतनी प्रबल हैं कि उनके पात्र मानसिक स्वास्थ्य खोकर, असाधारण व्यक्तियों की श्रेणी में पहुंच गये हैं। उनमें सामान्य, स्वस्थ जीवन के लक्षण नहीं; बल्कि एक विचित्र-सी कुण्ठा उनके जीवन पर ऐसी छायी हुई है कि वे अपनी अलग

श्रेणी बनाये हुए हैं। समाज के सामान्य जीवन से विच्छिन्न होकर इनका आचरण भी असामान्य हो गया है।

उदाहरण के लिये, 'लज्जा' की लज्जो, 'सन्यासी' के नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' के रजना और इन्द्र मोहन, 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ, 'जिप्सी' के नृपेन्द्र रंजन, वीरेन्द्र कुमार और शोभना, तथा 'जहाज का पंछी' का चरितनायक सर्वथा असाधारण पात्र हैं। इलाचन्द्र जोशी अपने पात्रों के असामान्य आचरण के चित्रण से, वस्तुतः, इस आचरण के मूल में स्थित सामाजिक जटिलता का परोक्ष रूप से उद्‌घाटन करना चाहते हैं। यह सामाजिक जटिलता व्यक्ति की अन्तश्चेतना में दबी असामाजिक प्रवृत्तियों को उभार देती है और उसका पशुत्व जाग उठता है। इस दृष्टि से इलाचन्द्र जोशी के पात्र यद्यपि प्रकट में असाधारण अवश्य दिखाई देते हैं, किन्तु उनके हृदयों में उठने वाले असामाजिक प्रवृत्तियों के बवंडर असाधारण नहीं हैं। कहना न होगा कि उन्होंने मानव के असामाजिक एवं असाधारण आचरण के मूल कारण की खोज करते हुए अपने पात्रों के आचरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है और उसकी मानसिक रुग्णावस्था का उपचार सुझाते हुए, सामाजिक जीवन में व्याप्त अस्वास्थ्यकर वातावरण को दूर करने के मानों उपाय भी सुझाये हैं।

प्रवृत्ति-निर्देश

असाधारण प्रवृत्तियां—अपने असामान्य पात्रों की असाधारण प्रवृत्तियों की ओर इलाचन्द्र जोशी, उपन्यास के प्रारम्भ में संकेत कर देते हैं। जहां तक सम्भव हुआ है उन्होंने इनकी असाधारण प्रवृत्तियों के मनोवैज्ञानिक कारणों की ओर भी निर्देश कर दिया है, ताकि आगे चलकर उनका असाधारण आचरण अस्वाभाविक प्रतीत न हो। इस प्रकार अपने पात्रों की अन्तश्चेतना में दबी हुई मानसिक ग्रन्थि अथवा विकृति की ओर संकेत करके इलाचन्द्र जोशी ने अपने पात्रों के असाधारण आचरण को विश्वसनीय आधार प्रदान कर दिया है।

उदाहरण के लिए, 'लज्जा' की नायिका, लज्जा, के मन में डा० कन्हैयालाल के प्रति उत्पन्न तीव्र घृणा की ओर उन्होंने उपन्यास के आरम्भ में संकेत करते हुये उसके मुख से कहलवाया है—'घृणा। घृणा। मेरी सारी आत्मा आज घृणा के भाव से ओतप्रोत है। मुझ हत्यारी नारी ने आज समस्त प्रकृति को, सारे विश्व को अपने अन्तस्तल की घृणा से लीप-पोतकर एकाकार कर दिया है।...'[1] लज्जा के मन की विकृति की ओर आरम्भ में संकेत करके इलाचन्द्र जोशी आगे बढ़ते हैं।

इसी प्रकार 'सन्यासी' में नंदकिशोर द्वारा सन्यासी बनने और 'पर्दे की रानी'

१. लज्जा।

में होस्टल की अन्य लड़कियों से संबंध न बढ़ाकर अपने कमरे में ही बन्द रहने की रंजना की विचित्र प्रवृत्ति की ओर संकेत करके वे अपने पात्रों के असामान्य आचरण की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के स्पष्टीकरण के लिये यथेष्ट वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। 'प्रेत और छाया' के नायक पारसनाथ द्वारा अपनी प्रेमिका कांची को निस्सहाय छोड़कर दार्जिलिंग से चम्पत हो जाने की घटना[1] का तथा 'मुक्तिपथ' में राजीव के मन में विद्यमान विद्रोहाग्नि2 का उल्लेख कर उन्होंने अपने पात्रों की कुछ कुछ असामान्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत कर दिया है।

यही बात 'जिप्सी' तथा उनके 'जहाज का पंछी' नामक उपन्यासों में भी दिखायी देती है। 'जिप्सी' में रईस नृपेन्द्र रंजन के असाधारण आचरण की ओर निर्देश करते हुये उसे जिप्सी लड़की मनिया के प्रति तुरंत आकर्षित होते दिखाया है। नृपेन्द्र रंजन को वह जिप्सी लड़की, उपनिषत्कार की 'शुद्धम्, अपापविद्धम्' के समान जान पड़ी,[3] और उसे अपने वश में करने के लिये उसने हिप्नोटिज्म का आश्रय लिया। इसी प्रकार 'जहाज का पंछी' के भूखे-प्यासे और निस्सहाय नायक का उन्होंने ईमानदारीपूर्वक दूसरे का बटुआ वापस करते दिखाकर उसके अंतर्मन की निर्मलता की ओर संकेत कर दिया है।

चरित्र-विकास—इलाचंद्र जोशी के पात्रों की स्वभावगत प्रवृत्तियों पर विहंगम दृष्टि डालने पर यह सहज ही ध्यान में आ जाता है कि उनके पात्र असाधारण व्यक्तित्व सम्पन्न हैं; कम से कम सामान्य जीवन में ऐसे पात्र विरले ही मिलेंगे। इसका प्रमुख कारण तो यही है कि उन्होंने अपने उपन्यासों के लिये जान-बूझकर दुर्बल पात्रों को चुना है। ऐसे दुर्बल स्वभाव के व्यक्तियों की इच्छा-शक्ति शिथिल होने के कारण, उसके मन पर विविध परिस्थितियों के प्रभाव को अच्छी तरह दिखाया जा सकता है। साथ ही मनोविकारों और कुंठाओं का नंगा नाच दिखाने के लिये ऐसे दुर्बल चरित-नायकों से बढ़कर और उपयुक्त पात्र नहीं मिल सकते, इसलिये भी इलाचंद्र जोशी ने असाधारण आचरण करने वाले दुर्बल पात्रों को चुना है।

अतिवादी चित्रण—इलाचन्द्र जोशी के विविध पात्रों के असाधारण आचरण पर यदि तनिक विचार करें तो सहज ही ज्ञात हो जायेगा कि उन्होंने अपने पात्रों का चरित्र-विकास करते समय अतिवाद से काम लिया है। उन्होंने यद्यपि दुर्बल और सबल, दोनों प्रकार के पात्र लिये हैं, किन्तु इनका चरित्र-विकास इस ढंग से किया है कि यह अतिवाद को छूने लगता है। फलस्वरूप, दुर्बल चरित-पात्रों में आत्मरति, अहंवाद, कुण्ठा अथवा मनोविकार का उन्होंने ऐसा प्राबल्य दिखाया है कि वे सभी नैतिक बंधनों की अवहेलना करते हुए स्वेच्छाचारी जीवन व्यतीत करते हैं। इन भावनाशून्य, वासनासक्त दुर्बल पात्रों के मन की कोमल भावनायें नष्ट हो जाती हैं,

---

१. प्रेत और छाया। २. मुक्तिपथ। ३. जिप्सी।

और साधारण मानव से भी गया-बीता इनका आचरण, दुष्टता और नीचता की चरम-सीमा छूने लगता है।

इसी प्रकार आदर्श पात्रों की श्रेष्ठता का चित्रण करते-करते वे उन्हें आदर्शवाद के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचा देते हैं; उनमें मानव की स्वभावगत कामनायें वासनायें नष्ट हो जाती हैं और पूर्णत: निष्काम, अपरिग्रही तथा वीतराग बनकर वे परहित की साधना में लीन हो जाते हैं। अत:, आदर्श मार्ग का अनुसरण करने वाले इन सबल पात्रों का चरित्र-चित्रण भी, दुर्बल पात्रों के समान, अतिवादी हो गया है।

असाधारण पात्र—उदाहरण के लिये, पहले उनके दुर्बल पात्रों के अतिवादी चरित्र-चित्रण को लें। 'सन्यासी' के नंदकिशोर, 'पर्दे की रानी' के इंद्रमोहन, 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ 'जिप्सी' के नृपेन्द्र रंजन में, इलाचद्र जोशी का अतिवादी चरित्र-चित्रण स्पष्ट झलकता है। जीवन में महत्वाकांक्षाओं की अपूर्ति तथा वासना की अतृप्ति के कारण 'सन्यासी' के नन्दकिशोर के मन में गांठ पड़ जाती है। उसका स्वभाव विकृत हो जाता है, और वह घोर अहंवादी और आत्मकामी बनने से अपने अभाव की क्षतिपूर्ति करता है। अपने स्वभाव की नीचता के कारण वह शांति पर संदेह करता है और उसे निस्सहाय छोड़कर चला जाता है। यहां तक कि जयन्ती भी उसके कारण आत्महत्या कर लेती है। अपने स्वभाव की नीचता को स्वीकार करते हुए नन्दकिशोर कहता है—'जयन्ती यदि एक असाधारण स्त्री थी, तो मैं भी एक अप-साधारण पुरुष था। 'अपसाधारण' शब्द का कुछ और अर्थ लगाकर कोई यह न समझे कि मैं साधारण मनुष्यों से बहुत ऊँचा उठा हुआ था। हो सकता है कि कुछ विशेष बातों में मेरे मन और मस्तिष्क ऊँचे उठे हुये हों, पर बहुत-सी बातों में मैं साधारण मनुष्यों से बहुत नीचे—एकदम नीचे गिरा हुआ था।'[1]

नन्दकिशोर के समान इन्द्रमोहन के स्वभाव में आत्मरति का ऐसा प्रबल पुट है कि वासनापूर्ति के लिए वह बुरे-से-बुरा कृत्य करने से भी नहीं झिझकता। रंजना को प्राप्त करने के लिये वह जघन्य व घृणित कर्म करने से भी कतराता नहीं। प्रेमोन्माद और प्रतिहिंसा की ज्वाला में जलते हुए वह अपनी पत्नी, शीला, की हत्या कर डालता है और धोखा देकर रंजना को भी भ्रष्ट कर डालता है। अन्त में, आत्महत्या में ही उसके पाशविक प्रेमोन्माद की समाप्ति होती है।

इन्द्रमोहन की घृणित प्रवृत्तियों को लेकर इलाचन्द्र जोशी ने जिस प्रकार उसकी चरित्रगत गहन कालिमा को प्रकट किया है, उसी प्रकार उन्होंने 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ को भी काल्पनिक भूतों और प्रेतों से घिरा दिखाकर, उसके

---

१. सन्यासी।

घोर आत्मकामी और पाशविक स्वभाव का चित्रण किया है। अपनी माता के कथित व्यभिचार की बात सुनते ही पारसनाथ के हृदय में प्रतिहिंसा की ऐसी प्रचण्ड लपटें उठती हैं कि वह समस्त स्त्री जाति से अपने अपमान का बदला चुकाने का संकल्प कर लेता है। उत्कट प्रतिहिंसा के भाव से प्रेरित होकर वह कांची, मंजरी और नन्दिनी को धोखा देता है। घृणा और प्रतिहिंसा के भूत-बैताल उसे कुमार्ग पर ठेलते हैं, और न चाहते हुए भी वह उनके इशारों पर नाचने के लिए विवश हो उठता है। पारसनाथ की इस रुग्ण-मानसिकता, समाजघाती मनोवृत्ति और हिंसक तथा पाशविक कामुकता के पीछे इलाचन्द्र जोशी ने आत्मग्लानि जनित उत्कट प्रतिहिंसा की दुर्भावना को एकमेव कारण के रूप में प्रस्तुत किया है। यह सही है कि ऐसे 'अपसाधारण' व्यक्ति यद्यपि विरले ही होते हैं, तो भी, इलाचद्र जोशी ने मानव की अन्तश्चेतना में निहित कलुषता और पशुता का उद्घाटन करने के लिए पारसनाथ जैसे अपवाद-स्वरूप, अपसाधारण व्यक्ति का चरित्र अंकित किया है।

इसी प्रकार, 'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र रंजन का चित्र अंकित करते हुए इलाचन्द्र जोशी ने असाधारण प्रवृत्तियों और विरल मनोभावनाओं का सहारा लिया है। विशाल जमींदारी के मालिक नृपेन्द्र रंजन में कामवासना और चरित्रगत दुर्बलता को उन्होंने इतनी तूल दी है कि मनिया के रूप के आगे उसका सत्-असत् विवेक तथा इच्छा-शक्ति पूर्णतः लुप्त हो जाती है। मनिया को अपने अधिकार में करने के लिए वह 'हिप्नाटिज्म'[1] जैसे कुत्सित उपाय का आश्रय लेता है, और फिर उसके रूप के जादू का शिकार होकर, धर्मपरिवर्तन करके ईसाई बन जाता है। इसके आगे नृपेन्द्र रंजन के चरित्र में वासनापूर्ति का ऐसा तूफान उठता है कि मनिया के कुरूप होने पर, और गोली लगने से वीरेन्द्र कुमार की मृत्यु हो जाने पर, वह उसकी पत्नी शोभना से अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। भोग-विलास के गहरे गर्त से अन्त में मनिया ही उसे उबारती है और इस कृपा के बदले अपनी समस्त सम्पत्ति 'जन-समन्वय-केन्द्र' को अर्पित कर, वह त्याग व सेवा का पथ अपनाता है। वासनापूर्ति एवं बूर्जवा मनोवृत्ति से उत्पन्न घोर अहंवादी प्रवृत्तियों के आधार पर नृपेन्द्र रजन का चरित्र-गठन करते समय निःसंदेह, इलाचन्द्र जोशी ने उसकी मानसिक दुर्बलता को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया है।

अतिमानव पात्र—उपन्यासों के रुग्ण-मानस, विकारग्रस्त तथा अपसाधारण पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय जिस प्रकार इलाचन्द्र जोशी ने अतिवाद से काम लिया है, उसी प्रकार साधारण मानव के स्तर से ऊपर उठे हुए आदर्शप्राण एवं विकार-रहित पात्रों का चरित्र अंकित करते हुए उनकी कल्पना अतिवाद को

१. 'जिप्सी'।

छूने लगती है। 'लज्जा' के रंजन, 'पर्दे की रानी' की रंजना, 'मुक्तिपथ' के राजीव और सुनन्दा, 'जिप्सी' की मनिया, और 'जहाज का पंछी' के चरित-नायक का चरित्र-चित्रण करते समय उन्होंने सम्भाव्यता की अपेक्षा कल्पना से ही अधिक काम लिया है। इसी कारण उनके उपर्युक्त पात्र सामान्य मानव के स्तर से ऊपर उठ कर जब आदर्श आचरण करने लगते हैं तो अतिमानव से प्रतीत होते हैं।

उदाहरणार्थ, 'लज्जा' के रंजन को ही लें। उसमें भावुकता, सत्-असत् विवेक तथा प्रखर बौद्धिकता का ऐसा प्राबल्य है कि अल्पायु में ही वह प्रौढ़ता धारण किये हुए है। भाव-प्रवणता तो उसमें इतनी अधिक है कि अपनी बहन के स्वैराचार से उसे हिस्टीरिक उन्माद हो जाता है और वह आत्महत्या करने की ठान लेता है।[1] उसमें अपनी बहन के प्रति इतना अधिक स्नेह है कि उसे बुरा-भला कहने के बजाय वह स्वयं अपनी आहुति देना श्रेयस्कर समझता है। छोटी अवस्था हुई तो क्या, अनैतिकता के विरुद्ध लड़ने के लिये वह अकेला ही डटा हुआ है और मृत्यु का आलिंगन कर इस पर विजय पाता है।

तीव्र घृणा और उत्कट प्रेम की दो परस्पर विरोधी भावनाओं को उन्होंने 'पर्दे की रानी' की नायिका के चरित्र का आधार बनाया है, इसीलिये, हृदय के इन तीव्र आवेगों में झूलती हुई रंजना कभी आकाश को और कभी पाताल को छूती है। इन्द्रमोहन की कामचेष्टा से सन्तप्त होकर कभी तो वह उसे पिस्तौल दिखाती है, और कभी उसके प्रणयनिवेदन से पिघलकर अपना कोमल हाथ उसके चुम्बन के लिए आगे बढ़ा देती है।[2] इतना ही नहीं, इन्द्रमोहन द्वारा शील भ्रष्ट किये जाने पर उसके मन में घृणा और क्रोध का इतना प्रबल वेग उमड़ता है कि वह उसे तरह-तरह से धिक्कारती है और जब इन्द्रमोहन रेल से कटकर आत्महत्या कर लेता है तो अपने कटु-वाक्यों पर पश्चाताप करते हुए इन्द्रमोहन के गर्भ को धारण करने में शान्ति का अनुभव करती।[3] प्रेम और घृणा, क्रोध और पश्चाताप, आत्म-रति और आत्म-पीड़न की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों से इलाचन्द्र जोशी ने उसका चरित्र उभारते हुए उसे अन्त में जिस आदर्श-पथ का अनुगामी बनाया है, उसमें सम्भाव्यता उतनी नहीं मिलती जितनी कि अतिशयोक्ति।

इसी प्रकार 'मुक्ति-पथ' में उन्होंने राजीव और सुनन्दा को अति-मानव के रूप में ही प्रस्तुत किया है। राजीव में क्रान्तिकारी की विद्रोह-भावना, युगस्रष्टा की दूरदृष्टि तथा कर्मयोगी की सतत् कर्म करने की लगन है। उसमें मानवेतर गुणों की इतनी भीड़ है कि उसमें काम, राग जैसी सहज मानवीय प्रवृत्तियों का पूर्णतः लोप हो गया है। इसीलिए सुनन्दा को घर-गिरिस्ती के बन्धनों से निकालकर वह उसके प्रति उपेक्षा का भाव जताता है। स्वधर्म के मन्त्र का जाप करते-करते

---

१. 'लज्जा'। २. 'पर्दे की रानी'। ३. वही।

उसमें मानव की सहज प्रवृत्तियां नष्ट हो गयी हैं। फलस्वरूप, निष्काम और वीत-राग बनकर वह आदर्श की ही बातें सोचता है, इस धरती की ठोस यथार्थता की नहीं।

यही बात 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा के चरित्र-चित्रण में भी दिखायी पड़ती है। घर-गृहस्थी की क्षुद्रता का घेरा तोड़कर वह मानवता के विराट-क्षेत्र में पदार्पण करती है। किन्तु, क्षुद्र से विराट् की ओर बढ़ते-बढ़ते वह इतना आगे निकल जाती है कि राजीव द्वारा बताया गया 'मुक्तिपथ' उसे बन्धन-पथ ही जान पड़ता है। इसलिए, अपनी सामर्थ्य पर भरोसा रखकर वह समस्त नारी जाति की मुक्ति का बीड़ा उठाती है। सुनन्दा के चरित्र में ऐसा क्रान्ति-कारी परिवर्तन दिखाकर इलाचन्द्र जोशी ने नारी की स्वतन्त्र चेतना को जगाने का अतिमानवीय आदर्श सम्मुख रखा है, और इसी आदर्श के अनुरूप सुनन्दा के चरित्र का गठन किया है।

नारी-जीवन को उच्च-आदर्श के धरातल पर प्रतिष्ठित कर इलाचन्द्र ने नारी पात्रों में तेजस्विता, सामर्थ्य एवं प्रखर ध्येय निष्ठा के गहरे रंग भरे हैं, जिससे कि उनके प्राय: सभी नारी पात्रों में मानवेतर गुणों का समावेश हो गया है। उन्हें सामान्य धरातल से उठाकर आदर्श के उच्च-धरातल पर लाने की प्रवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि उनके नारी-पात्र अपना जीवन सुधारने के साथ-साथ दुर्बल चरित्र पुरुष पात्रों का जीवन भी सुधार देते हैं। 'जिप्सी' की मनियां का चरित्र उन्होंने इसी ढंग से विकसित किया है। गंवार, अपढ़ और यतीम मनिया का सामान्य से भी गया-बीता जीवन धीरे-धीरे इतना तेजस्वी बन जाता है, कि नृपेन्द्र रंजन का अहंभाव उसके तेज के सम्मुख फीका पड़ जाता है। उसके गर्व को चूर-चूर करके मनिया उसे जन-कल्याण एवं जन-सेवा के मार्ग पर चलाती है। इलाचन्द्र जोशी ने दर-दर की ठोकरें खाने वाली मनिया का ऐसा विचित्र कायाकल्प किया है कि वह नृपेन्द्र रंजन जैसे धनी जमींदार को ठोकर मारकर अपना मार्ग स्वयं चुनती है।

पात्रों का अतिरंजित चित्र प्रस्तुत करने में इलाचन्द्र जोशी ने 'जहाज का पंछी' नामक उपन्यास में तो मानों कमाल ही कर दिया है। इस उपन्यास के नायक में आत्मविश्वास, अनासक्ति और मानव-कल्याण की भावनायें इतनी कूट-कूट कर भरी हुई हैं कि उसे दुख और कष्ट का आह्वान करने में सुख मिलता है। सुरक्षा के नाम से उसे चिढ़ है और आवारापन से उसे मोह है। जीवन की भौतिक सुवि-धाओं के प्रति उसमें अनासक्ति की मात्रा इतनी अधिक है कि कौड़ी-कौड़ी का मोहताज होने पर भी वह विपुल ऐश्वर्य को लात मारने को तैयार है। उपन्यास के नायक को विविध विपत्तियों में डालकर और उन विपत्तियों में भी उसकी स्थिर-चित्तता एवं अपार धैर्य का परिचय देकर इलाचन्द्र जोशी ने उसके चारित्रिक उत्कर्ष

को इतना बढ़ा-चढ़ा कर दिखाया है कि उनका सम्पूर्ण जीवन अतिरंजित-सा लगता है।

दार्शनिक चिन्तन और मनोविश्लेषण—अपने पात्रों के चरित्र को अतिवादी ढंग से चित्रित करने के अतिरिक्त उन्होंने प्रायः सभी पात्रों को दार्शनिकों के समान जीवन की विविध समस्याओं के बारे में चिन्तनरत दिखाया है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में दार्शनिकता और मनोविश्लेषण का चोली-दामन का साथ रहता है, इसलिए उनके प्रमुख पात्र स्थान-स्थान पर अपनी मनःस्थिति की चीरफाड़ करने के अतिरिक्त, वाह्य परिस्थितियों का भी विश्लेषण करते जाते हैं। इस प्रकार, अपने कृत्यों की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तथा इनके दार्शनिक आधार का विस्तृत लेखा-जोखा प्रस्तुत करने में उनके पात्र मनोविज्ञान तथा दर्शन-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में अवतरित हुए हैं।

उदाहरण के लिए, लज्जा के भाई राजू ने आत्महत्या के पूर्व अपनी डायरी में जैसा गहन चिन्तन व्यक्त किया है वह तो किसी दार्शनिक के ही बस की बात है। उसका कथन है—'मैं चाहता हूं कि जीवन के आनन्द-विलास में सम्मिलित होकर इस दुखमय संसार में जहां-कहीं जो कुछ भी पार्थिव सुख प्राप्त होता है उसे अन्यान्य सुखान्वेषियों की तरह ग्रहण करूँ। पर यह इच्छा मन में उत्पन्न होते ही थोड़ीही देर के बाद घृणा से मेरा सर्वांग जर्जरित हो जाता है।'[1] 'पर्दे की रानी' की नायिका रंजना ठेठ दार्शनिक भाषा का प्रयोग करते हुए कहती है—'सुख केवल मोहमयी कल्पना है और दुःख जीवन के प्रतिपल का प्रत्यक्ष सत्य। सुख तरुण हृदयों के मदिर उच्छ्वासों का केवल फेन ही फेन दिखायी देता है, पर शीघ्र ही वह फेन विलीन हो जाता है और नीचे का कड़ुवापदार्थ अपना असली रंग दिखाकर स्थिरता प्राप्त कर लेता है।'[2]

इसी प्रकार 'मुक्तिपथ' के राजीव और सुनन्दा, 'जिप्सी' के नृपेन्द्र रंजन, फादर जेरेमिया, वीरेन्द्र कुमार और मनिया तथा 'जहाज का पछी' का चरितनायक विशुद्ध दार्शनिक चोला ओढ़कर सामने आते हैं। जीवन के विविध पहलुओं और विषयों पर गहन चिन्तन करना मानों उसका स्वभाव है, और तथ्य की जड़ तक पहुंचे विना उन्हें सन्तोष नहीं है। इसलिए, चिन्तन और तर्क की सहायता से जब उनके पात्र सत्यान्वेषण की ओर प्रवृत्त होते हैं तो वे निरे-पुरे दार्शनिक जान पड़ते हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है कि दार्शनिक होने के साथ-साथ उनके पात्र मनोविश्लेषण में, भी सिद्धहस्त हैं अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करने के अतिरिक्त, ये पात्र अन्य पात्रों की मानसिक स्थिति, कुण्ठा अथवा मनोविकार की चीरफाड़ करने के लिए सदैव तैयार रहते हैं। 'लज्जा' की नायिका लज्जा, डा० कन्हैयालाल

---

१. 'लज्जा' २. 'पर्दे की रानी'।

को अपने प्रति आकर्षित करने
अच्छी तरह से जानती थी कि
मुझे यह भी विश्वास था कि उ
गति देखकर शिष्टता और अशि
हृदय में येन-केन प्रकार से पुरु
तो उसके लिए बर्बरता की चर

'पर्दे की रानी' की ना
षण करते हुए कहती है...'मेरे
लगता है कि मेरे मन के मूल वे
के उपर एक, इस सिलसिले से
किसी दूसरे स्तर के तत्वों से मे
स्वभाव भयंकर भार से दबा प

इसी प्रकार, 'सन्यासी'
विकारों का विश्लेषण करता है
है। बलदेव के प्रति ईर्ष्या से उ
'बलदेव के प्रति ईर्ष्या के भाव
था। अन्तर केवल इतना ही थ
जाता था और कभी बाहरी सत
ईर्ष्या के अस्पष्ट इंगित के कार
सन्देश शान्ति से नहीं कहा था
मैं अपने स्वभाव के विरुद्ध सम
कभी शान्ति और कभी बलदेव
तर होता जाता था।'

मनिया की निस्सहाय
तथा प्रेम की जो हिलोरें उठ
भर के लिए मेरी भीतरी आँखो
मर्मविदारक दयनीयता और नि
गयी। अतल व्यापी वेदना की
तत्काल, जाने कहाँ से एक ऐसा
जाग पड़ी, जिसने इतनी देरतक
कर दिया जो मुझे उसके प्रबल
कारण अपने विरोध में सफल
रहा था।'[4]

---

१. 'लज्जा' २. 'पर्दे की रानी

इसी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की प्रमुखता देकर 'जिप्सी' के नायक, नृपेन्द्र रंजन, का चरित्र-चित्रण किया गया है। 'जिप्सी' की सम्पूर्ण कथा ही आत्मकथात्मक ढंग से लिखी होने के कारण नायक को अपने मन में उठने वाले तरह-तरह के विचारों और मनोभावनाओं को विस्तारपूर्वक व्यक्त करने का अवसर मिला है। जहां भी सम्भव हुआ है वह किसी घटना-विशेष की मानसिक प्रतिक्रिया, अथवा विशिष्ट आचरण के मनोवैज्ञानिक कारण का स्पष्टीकरण करने से चूका नहीं है।

अपने पात्रों के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष का उद्‌घाटन करने के प्रयास में इलाचन्द्र जोशी का यह लक्ष्य अवश्य रहा है कि इन पात्रों के असाधारण आचरण का विश्वसनीय कारण प्रस्तुत किया जा सके। उनके पात्र असाधारण होने के साथ-साथ अतिवादी स्वभाव के भी हैं, इस कारण भी उनके कर्म-जगत् की विचित्रता को विश्वसनीयता का पुट देने के लिए इलाचन्द्र जोशी ने पात्रों के दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष को सुदृढ़ करने का प्रयास किया है।

भाषा

इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों की भाषा, उनके उद्देश्य-पक्ष की अनुगता होने के कारण, इस पर उनके उद्देश्य-पक्ष की स्पष्ट एवं सीधी छाप पड़ी है। उन्होंने अपनी रचनाओं में मानव के अहं के उद्‌घाटन एवं उनकी मनोवृत्तियों के सूक्ष्म विश्लेषण पर सर्वाधिक ध्यान दिया है, इसलिये, इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों में पात्रों के भाव-प्रकाशन तथा मानसिक घात-प्रतिघातों के चित्रण की दृष्टि से ही भाषा का बाहरी स्वरूप निर्धारित किया गया है। पात्रों के मन की द्वन्द्वात्मक स्थिति अथवा मानसिक विकृति का चित्र खींचने के लिये उन्हें उपमायें अधिक जंची हैं, इसलिये, उनकी रचनाओं में उपमाओं की भरमार मिलेगी। उपमाओं की भरमार के बारे में एक बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र से उपमायें चुनने में अपेक्षाकृत अधिक रुचि दिखायी है। मनोवैज्ञानिक प्रणाली से पात्रों के भाव-प्रकाशन तथा उनके मानसिक द्वन्द्वों के उद्‌घ टन में वैज्ञानिक उपमाओं के प्रयोग से इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों की भाषा में अलंकारिकता के गुण का समावेश हो गया है।

उपमाओं की भरमार—इलाचंद्र जोशी के उपन्यासों में पात्रों के भाव-प्रकाशन के लिये उपमाओं के प्रचुर प्रयोग तथा मनोवैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन केअनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए, 'सन्यासी' का नंदकिशोर, अपने चिंताग्रस्त मन का चित्रण करते हुये कहता है—'जिस प्रकार अगाध समुद्र में विभिन्न प्रकार के विचित्र जीव निर्द्वन्द्व भाव से तैरते रहते हैं, कभी एक-दूसरे के संघर्ष में आकर एक-दूसरे को निगल जाने की फिराक में रहते हैं, उसी प्रकार मेरे मन के भीतर विभिन्न चिन्तायें नाना रूप धारण करके एक अनोखी खलबली मचा रही थीं। मेरी भीतरी आंखें इन सब चिंताओं की समूर्त अवस्था में, विशेष-विशेष आकार धारण

किये हुये देख रही थीं। प्रत्येक आकृति की भीषणता अथवा वीभत्सता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की थी। कोई अद्भुत नथुने फैलाकर मेरा परिहास कर रही थी, कोई अपने तीखे दाँतों से मुझे काटने को आती थी, कोई अपने विकट दाढ़ खोलकर मुझे पकड़कर निगल जाना चाहती थी।

'प्रेत और छाया' में अपनी माता के कथित व्यभिचार की बात सुनते ही पारसनाथ के मन पर होने वाली प्रतिक्रिया का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'उस घटना के बाद से पारसनाथ के भीतरी जीवन में भयंकर परिवर्तन आ गया। उसे ऐसा मालूम होने लगा कि जीवन के प्रभात में जो एक रहस्यपूर्ण प्रकाशमय निर्मल आकाश, एक अज्ञात किंतु मनोहर स्वप्न की छवि लेकर उसकी आंखों के आगे उतरा था, उस पर किसी ने अपने दानवी हाथ से केवल एक ही बार ब्रश फेरकर एक छोर से दूसरे छोर तक गाढ़ कालिमामय तारकोल पोत दिया है।' मंजरी की मां के मुख से दर्दभरी आत्मकथा सुनने पर पारसनाथ के मन की जो प्रतिक्रिया हुई उसका वर्णन है—'अधेड़ महिला की दिल हिला देने वाली रामकहानी सुनने पर पारसनाथ को ऐसा मालूम हो रहा था कि जैसे उसे कमरे को चारों ओर से भयंकर आकृति वाले भूत-प्रेत और पिशाच-दानवों ने घेर लिया है और वे सब किसी कारण से बौखलाये हुये 'हा, हा! हू-हू' के भैरव हुंकार और फुफकार भरे शब्दों में गरजते हुये उन्मत्त नृत्य कर रहे थे।

पात्रों के मानसिक उद्वेलन का वर्णन करने में इलाचंद्र जोशी को उपमाओं का कितना सहारा लेना पड़ा है इसका एक उदाहरण 'मुक्तिपथ' की नायिका सुनंदा के मनोभावों का यह चित्रण है—'राजीव का एक-एक शब्द उसके मन की कई इंच मोटे लोहे की चादर पर भीम की गदा के समान भारी हथौड़े से चोट पर चोट करता चला आ रहा था, जिसके फलस्वरूप उसकी अवचेतना की प्रत्येक कन्दरा प्रचंड शब्द से गूंज उठती थी। एक-एक चोट की आवाज उन समस्त कन्दराओं में प्रायः एक साथ गूंज उठने से ऐसा विकट हाहाकार मचाती थी जैसे किसी शहर के लाखों आदमी भीषण बम-वर्षा से आतंकित होकर एक साथ चीख-पुकार मचा रहे हों और उस सम्मिलित कोलाहल और कलरव में किसी एक की भी आवाज स्पष्ट नहीं सुनायी दे रही हो।

'जिप्सी' में भी नृपेन्द्र रंजन से अपनी विचित्र मनःस्थिति का उपमायुक्त वर्णन इस प्रकार कराया गया है—'सारी घटना और मेरी भावना की पृष्ठभूमि में जो सामूहिक रूप से प्रचण्ड हिंसक प्रतिहिंसक प्रवृत्तियाँ फेनायित हो उठी थीं उनके गर्जन के प्रति मैं उस समय जान-बूझकर अपने भीतर के कानों को बन्द किये हुये था। अन्तर्मन की जिस खिड़की से उस आतंकजनक दृश्य के दिखायी देने और गर्जन स्वरों के सुनायी देने की सम्भावना थी उसे मैंने बंद करके भीतर से चिटखनी लगा

दी थी। पर खिड़की को इस मजबूती से बंद करने के बावजूद उस युद्ध के-से भैरव घोष और तुमुल कोलाहल की आवाज डिब्बा-दर-डिब्बा बन्द किये हुये रेडियो की आवाज की तरह दबे हुये, तथापि सुस्पष्ट स्वरों में, मेरे कानों में आ रही थी।

वैज्ञानिक उपमायें—इलाचंद्र जोशी की भाषा में, मनोवैज्ञानिक रीति से पात्रों की अन्तश्चेतना के उद्घाटन तथा उनकी मनःस्थिति के उपमायुक्त चित्रण के कारण, वैज्ञानिक उपमाओं की भरमार दिखायी देती है। शांति की पैनी दृष्टि की तुलना एक्स-रे से करते हुये कहा गया है-'जब कभी वह अपनी स्वभावतः विस्मित दृष्टि की किरणों को किसी व्यक्ति की ओर केन्द्रित करती तो ऐसा जान पड़ता जैसे एक्स-रे की तरह शरीर के बाह्यावरण को भेदकर उसके मर्म का अणु-अणु देख लेगी। निरंजना के सौंदर्य की शीला पर जो प्रतिक्रिया हुई, उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—'प्रथम दृष्टि में मुझे ऐसा लगा जैसे वह मायाविनी बिजली की सौ-सौ उद्दीप्त तरंगों को अपने मुख पर किसी मन्त्रबल से निश्चल अवस्था में बांधे हुये है, जैसे किसी भी समय इच्छा करने पर बटन दबाते ही उसके मुख की सब तड़ित तरंगे एक साथ हिल्लोलित होकर प्रचण्ड प्रकाश-प्रलय से जगमगा उठेंगी।'[1] पारस-नाथ के मन में उठने वाले हिंसा और क्रोध के तूफान का वर्णन किया गया है। 'रह-रहकर कालकूट से भी अधिक तीव्र और उग्र विषयुक्त हाइड्रोजन से उसकी छाती बैलून की तरह फूल उठती थी—चरम विस्फोट के लिये।'[2] नृपेन्द्र रंजन के मन पर प्रबल आघात की उपमा देते हुए कहा गया है है-'मेरी सोयी आत्मा किन्हीं अज्ञात, मार्मिक आघातों से रह-रहकर चौंक उठती थी। लोहार की भट्टी में गर्म किये हुये लाल-लाल हथौड़ों की निर्मम चोटों से भरे मन के वर्षों से जंग खाये हुये लोहे के दरवाजे हिलने लगे थे।'[3] नृपेन्द्र रंजन ने अन्तर्दृष्टि की तुलना एक्स-रे से की है—'शोभना के जटिल जालों में उलझे हुए व्यक्तित्व के भीतर निहित सीधा और सच्चा रूप 'एक्स' किरणों के से प्रकाश में मेरी भीतरी आंखों के आगे नाचने लगा।'[4]

लम्बे कथोपकथन—इलाचन्द्र ने अपने उपन्यासों की भाषा में अलंकारिता और वैज्ञानिक शब्दावली का पुट देने के अतिरिक्त उपन्यासों में अपने विचारों को व्यक्त करने का भरसक प्रयास किया है। उन्होंने पात्रों के मुख से अपने विचार व्यक्त किये हैं और ऐसा करते समय उन्हें लम्बे-लम्बे कथोपकथनों का सहारा लेना पड़ा है। इसी कारण 'पर्दे की रानी', 'मुक्तिपथ', 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी' नामक उपन्यासों में पात्रों के कथोपकथन बहुत ही लम्बे हो गये हैं। 'पर्दे की रानी' में 'चन्द्रशेखर, 'मुक्तिपथ' में राजीव और सुनन्दा, 'जिप्सी' में फादर जिरेमिया, वीरेन्द्र कुमार और कन्हैया लाल तथा 'जहाज का पंछी' का नायक जब अपने आदर्शों और

---

१. पर्दे की रानी। २. प्रेत और छाया। ३. जिप्सी।
४. जिप्सी।

विचारों को व्यक्त करने पर उतर आते हैं तो भाषणों की झड़ी लग जाती है। बूर्जवा मनोवृत्ति व अहंवाद के उन्मूलन, विराट पारिवारिकता की स्थापना, मानव मात्र की मुक्ति, जन-संस्कृति के उदय तथा समन्वयवाद के उच्चादर्श की व्याख्या करते-करते उनके पात्रों के मुख से शब्दों का अजस्र प्रवाह निसृत होने लगता है। इलाचन्द्र जोशी, वस्तुतः, उपन्यासों में अपने विश्वासों एवं जीवनादर्शों की स्थापना का लोभ नहीं संवरण कर पाये हैं, इसी कारण पात्रों के लम्बे-लम्बे कथोपकथनों का सहारा लेना उनके लिये अनिवार्य हो गया है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

जैनेन्द्र कुमार और इलाचन्द्र जोशी के उपरान्त हिन्दी उपन्यास-साहित्य की मनोवैज्ञानिक परम्परा के प्रमुख उपन्यासकार, सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' की रचनाओं का नैतिक दृष्टिकोण से विवेचन अवशिष्ट है। आधुनिक भारतीय जनजीवन में व्याप्त नैतिक विषमताओं और असंगतियों की ओर इन मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने विशेष ध्यान दिया है। इसलिए, इनकी रचनाओं में इन विषमताओं एवं असंगतियों के मूल कारणों को खोजने का प्रयास किया गया है। साथ ही, उपन्यास-रचना के माध्यम से समाज के सम्मुख नये आदर्शों की स्थापना तथा उन नये आदर्शों के अनुरूप नयी आचरण-पद्धति की रूपरेखा निर्धारित करने की ओर भी इन्होंने ध्यान दिया है। इन उपन्यासकारों ने समाज के सम्मुख एक ज्वलन्त एवं तेजस्वी जीवन का आदर्श रखना चाहा है। ऐसा करते समय इन उपन्यासकारों ने सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन के नैतिक पक्ष के प्रति गहरी चिन्ता से प्रेरित होकर अपनी रचनाओं का सृजन किया है, भले ही ऊपर से ऐसा दिखायी देता हो कि उनकी रचनाओं का एकमेव उद्देश्य प्रचलित नैतिक आदर्शों व मान्यताओं को ध्वस्त करना है। वस्तुतः, विनाश के साथ-साथ वे अपने जीवन-दर्शन के अनुरूप नये आदर्शों की स्थापना की ओर भी प्रवृत्त हुये हैं। समाज की नैतिक व्यवस्था में देशकालानुसार परिवर्तन सुझाकर इसे विकसित करने तथा इसकी नैतिक मान्यताओं को रूढ़ि के बन्धनों से मुक्त कर एवं नए आदर्शों की स्थापना का लक्ष्य लेकर इन उपन्यासकारों ने समाज़ के नैतिक पक्ष पर बहुत जोर दिया है। इसीलिये, इनकी रचनाओं के विवेचन में नैतिक दृष्टिकोण को पर्याप्त महत्व दिया जाता है, और यह महत्व अकारण नहीं है।

प्रस्तुत परिच्छेद में जैनेन्द्र कुमार तथा इलाचन्द्र जोशी की रचनाओं का विवेचन करने के पूर्व उनके जीवन-दर्शन पर विचार किया गया था। व्यक्ति के जीवन-दर्शन के अनुरूप ही उनके जीवनादर्श निर्धारित होते हैं और इसी से उसके नैतिक विश्वासों की जड़ें भी रस प्राप्त करती है। मानव के आचरण का प्रत्येक पहलू उसके आदर्श एवं विश्वास के अनुरूप निर्धारित होता है, इसलिये जब किसी साहित्यकार की कृतियों पर विचार करना अभीष्ट हो तो उसके जीवनादर्शों एवं

उसकी नैतिक मान्यताओं पर सर्वप्रथम विचार करना नितान्त आवश्यक है। साहित्यकार आत्मदान की भावना से प्रेरित होकर सृजन करता है, इसलिए, उसके सृजन को समझने के पूर्व उसकी रचना के पीछे छिपी उसकी आत्मा, उसके व्यक्तित्व तथा उसके समूचे चिन्तन को जान लेना बहुत जरूरी है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए इसके आगे 'अज्ञेय' के जीवन-दर्शन पर संक्षिप्त विचार करने का प्रयास किया गया है।

जीवन-दर्शन

फ्रायडवाद का प्रभाव—'अज्ञेय' के जीवन-दर्शन के बारे में विचार करते ही जो बात एकदम खटकती है वह है, उनके चिन्तन पर फ्रायडीय मनोविज्ञान का प्रभाव। वस्तुतः, प्रभाव शब्द कुछ हल्का है, क्योंकि उनका चिन्तन उपर्युक्त मनोविज्ञान से पूर्णतः आक्रान्त ही कहा जायेगा; यहां तक कि 'अज्ञेय' ने मानव के आचरण सम्बन्धी फ्रायडीय सिद्धान्तों को अपने चिन्तन में पूरी तरह आत्मसात कर लिया प्रतीत होता है। फ्रायडीय मनोविज्ञान के अनुसार मानव-आचरण की मूल-प्रेरणायें हैं—अहंता, भय और सैक्स। इन्हीं तीन प्रेरणाओं से प्रेरित होकर मानव, जीवन के विविध क्षेत्रों में उतरता है। उपर्युक्त तीन महती प्रेरणायें उसके कर्म, चिन्तन और भाव-क्षेत्र पर शासन करती हुई समस्त चेष्टाओं को जन्म देती हैं। फ्रायड के मतानुसार मानव अपने जन्म के साथ ही इन तीन मूल प्रेरणाओं से शासित होने लगता है। इनसे किसी प्रकार का निस्तार नहीं, क्योंकि मानव-जीवन को इन्हीं से गति मिलती है। इनसे निस्तार का उपाय तो जीवन से ही निस्तार पाने में है; अतः, जीवन के विविध कर्म-श्रृंखला में फंसे मानव को इनका अस्तित्व और इनका शासन स्वीकार करके ही चलना होगा। ऐसा न करके यदि वह इन मूल प्रेरणाओं के दमन के उपाय सोचेगा तो उसके जीवन में विविध कुण्ठाओं, विकृतियों और उलझनों की ऐसी बाढ़-सी आ जायेगी कि उसके व्यक्तिगत जीवन का विकास तो स्थगित होगा ही, अपितु, जिस समाज में वह रहेगा, उसका विकास भी कुण्ठित हो जायेगा। फ्रायडीय मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्ति को तथा समाज की भलाई इसी में है कि इन मूल प्रेरणाओं का अस्तित्व स्वीकार करके तदनुरूप वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के विकास की योजना बनायी जाये।

व्यक्तिवादी चिन्तन—व्यक्ति की अहंता, भय और सैक्स सम्बन्धी मूल प्रेरणाओं को इतनी अधिक मान्यता देने का एक फल यह हुआ है कि समाज की तुलना में व्यक्ति को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि फ्रायडीय मनोविज्ञान के मूलभूत सिद्धान्तों से व्यक्तिवाद की उत्पत्ति हुई है। व्यक्तिवाद का अर्थ है—व्यक्ति के अबाध एवं निरपेक्ष अस्तित्व की स्वीकृति, उसके अहं की प्रतिष्ठा तथा समाज की तुलना में व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना। व्यक्तिवादी चिन्तन में व्यक्ति को समाज का अनुचर नहीं माना गया,

वरन्, व्यक्ति पर लादे गये विधि-निषेध अनुचित समझे गये हैं। यहां तक कि व्यक्ति के जीवन को गति देने वाली इन मूल प्रेरणाओं पर व्यक्तिवादियों को किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नहीं, क्योंकि प्रतिबन्ध तो उन मनोभावनाओं पर ही उचित होता है जो अनिष्टकर हों, अमंगलकारी हों। और ये तो जीवन की प्रेरक शक्तियां हैं, इसलिए इन्हें जघन्य अथवा अमंगलकारी मानना तो अनुचित है ही, इन पर प्रतिबन्ध लगा देना तो सरासर अन्याय है। अतः व्यक्तिवाद ने व्यक्ति के अहं पर आघात करने वाले समाज के विधि-निषेधों और वर्जनाओं को अमंगलकारी माना है, और इनकी अवहेलना में व्यक्ति के चरम विकास की सम्भावनायें देखी हैं। संक्षेप में कहा जाये तो व्यक्तिवादी चिन्तन में सामाजिक नियम-व्यवस्था अथवा नैतिकता का कोई स्थान नहीं है। उसमें व्यक्ति की अमोघ एवं निरपेक्ष सत्ता की दुहाई दी गई है।

'अज्ञेय' के जीवन-दर्शन पर फ्रायडीय मनोविज्ञान और व्यक्तिवादी चिन्तन की गहरी छाप पड़ी हुई है। व्यक्ति के अस्तित्व को पूरी-पूरी मान्यता देते हुए 'अज्ञेय' भी मानव-जीवन को गति प्रदान करने वाली मूल प्रेरक शक्तियों--अहंता, भय और सैक्स, के सम्मुख नतमस्तक हैं। समाज की अपेक्षा वह व्यक्ति को अधिक महत्व देते हैं, इसीलिए व्यक्ति के अहं की प्रतिष्ठा को वे सर्वोपरि मानते हैं। व्यक्ति की निरपेक्ष सत्ता का भाव उनके चिन्तन में इतना प्रधान हो उठा है कि वे समूचे समाज के प्रति अनासक्ति और तटस्थता का भाव लिये हुए जान पड़ते हैं। व्यक्ति की सत्ता के मुकाबले में उनके लिए सामाजिक संस्थाओं, परम्पराओं और पूर्वाग्रहों का तनिक भी महत्व नहीं है। इसलिये, समाज की नैतिक व्यवस्था के प्रति उनमें उपेक्षा का भाव ही अधिक प्रबल है। व्यक्ति की अबाध सत्ता के वे समर्थक है और इस पर किसी प्रकार का बाहरी नियंत्रण उन्हें सह्य नहीं है।

आत्म-दमन का विरोध—फ्रायडीय अन्तश्चेतनावाद और व्यक्तिवाद के दोहरे प्रभाव के कारण अज्ञेय का भी यही मत है कि मानव को अहं और सैक्स सम्बन्धी मूल प्रवृत्तियों पर रोक न लगायी जाये। व्यक्ति के अहं के विकास में उन्हें समस्त मानवता के विकास की सम्भावनायें दिखायी देती हैं, इसीलिए उसके अहं के दमन के वह पूर्णतः विरोधी हैं। इतना ही नहीं, मानव की सैक्स सम्बन्धी मूल-प्रवृत्ति को वे जघन्य नहीं मानते; अपितु, भूख और प्यास की भांति भोगेच्छा को भी वे जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में देखते हैं। तदनुसार, मानव जीवन की कामोपभोग सम्बन्धी मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति पर किसी प्रकार की पाबन्दी या हस्तक्षेप अनुचित मानते हुए एक प्रकार से, निर्बाध प्रेम और मुक्त भोग का ही समर्थन करते हैं। मानव की कामवासना को वे नैतिक विधि निषेधों द्वारा कुण्ठित करने के पक्ष में नहीं है, क्योंकि यह तो उसकी स्वतन्त्र सत्ता पर आघात है। श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने 'अज्ञेय के चिन्तन के इस पहलू के बारे में कहा है कि

उनके मतानुसार 'व्यक्ति की अबाध निरपेक्ष सत्ता है जो किसी मर्यादा, मूल्य और नैतिकता की गिरफ्त में नहीं रहती, अपितु सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त है।'

विद्रोह-भावना—व्यक्ति की निरपेक्ष सत्ता के कायल 'अज्ञेय' जब उसे चारों ओर से सामाजिक बन्धनों और वर्जनाओं से जकड़ा हुआ पाते हैं, तो इन नियमों और वर्जनाओं को ध्वस्त करने के लिए वे क्रान्ति का आह्वान करते हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास कुण्ठित करने वाले नैतिक विधि-निषेधों का अस्तित्व उन्हें मान्य नहीं, इसलिए इन विधि-निषेधों के प्रति विद्रोह-भावना में उन्हें व्यक्ति के विकास की सम्भावनायें दिखाई देती हैं। उन्होंने सामाजिक परम्पराओं के बन्धन के प्रति उत्पन्न होने वाली विद्रोह-भावना को व्यक्ति का जन्मजात गुण,[1] उसकी आत्मा का अभिन्नतम अंग माना है, इसलिये, व्यक्ति की निरपेक्ष सत्ता की रक्षा के लिए, 'अज्ञेय' के मतानुसार, यह नितान्त आवश्यक है कि व्यक्ति अपने चारों ओर व्याप्त नियमों और वर्जनाओं को ध्वस्त करने के लिए, विद्रोही बने। व्यक्ति की इस विद्रोह-वृद्धि को 'अज्ञेय' स्वाभाविक ही नहीं, परमावश्यक भी मानते हैं, ताकि उसके विकास का मार्ग प्रशस्त हो। यही कारण है कि 'अज्ञेय' के चिन्तन में व्यक्ति के मन में सुलगने वाली विद्रोह-भावना को बहुत महत्व दिया गया है। इस प्रकार, व्यक्तिवादी चिन्तन के अनुरूप व्यक्ति की सत्ता को सर्वोपरि मानते हुए वे व्यक्तिवादी तर्क की चरमसीमा, अर्थात् विद्रोह-भावना तक जा पहुंचते हैं। यहां आकर व्यक्ति ही सब कुछ है और समाज के नियम-निषेध, संस्था-परम्परा का महत्व इतना ही है कि इनसे व्यक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त रहे।

दुख-पूजा—किन्तु कोरी विद्रोह-भावना से तो व्यक्ति का विकास सम्भव नहीं; क्योंकि कोरी अभावात्मक नींव पर व्यक्तिवादी भवन का निर्माण कैसे सम्भव हो सकता है? इसलिए भावात्मक आधार भी तो चाहिए। अतः, व्यक्तिवादी जीवन-दर्शन के भावात्मक आधार के रूप में 'अज्ञेय' ने व्यक्ति में सूक्ष्म संवेदनशीलता के गुण को परमावश्यक माना है। इस संवेदनशीलता की पहचान है कि व्यक्ति में दुःख की चरम अनुभूति तथा यातना सहन करने की अपूर्व क्षमता विद्यमान हो। यहां आकर 'अज्ञेय' का विद्रोही व्यक्तिवाद, दुखवाद का साथी बन गया है; क्रान्ति के आह्वान के साथ-साथ यह दुख का आह्वान भी करने लगा है। आत्यधिक पीड़ा की अनुभूति के साथ-साथ इस पीड़ा को सहन करने की क्षमता में 'अज्ञेय' को आत्मशुद्धि, और फलस्वरूप, व्यक्तित्व के विकास की महती सम्भावनायें दिखायी देती हैं। दुखपूजा में उन्होंने नये सृजन एवं नये विकास के बीज पाये हैं। आत्यन्तिक पीड़ा और यातना की अनुभूति में उन्हें आत्मशुद्धि की ऐसी विपुल सामर्थ्य दिखाई दी है कि इसे भोगने वाला अपनी समस्त क्षुद्रता को त्याग कर

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'।

व्यापक और विराट मानवता का साक्षात्कार लेता है, अर्थात्, वह दृष्टा बन जाता है। इस प्रकार दुख की चरम अनुभूति को कल्याणकारी मानते हुए उन्होंने कहा है—

'दुःख सबको मांजता है
और
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने,
किन्तु जिनको मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।'[1]

साहित्यिक आदर्श

अहं की प्रतिष्ठा—'अज्ञेय' के व्यक्तिवादी चिंतन और तज्जनित विद्रोह-भावना का उनके साहित्यिक आदर्शों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। पहली बात तो यही है कि कला का व्यक्तिवादी आधार मानते हुये उन्होंने कला को अपर्याप्तता के प्रति व्यक्ति के विद्रोह के रूप में देखा है। 'अज्ञेय' के शब्दों में—'कला सामाजिक अनुपयोगिता की अनुभूति के विरुद्ध अपने को प्रमाणित करने का प्रयत्न—अपर्याप्तता के विरुद्ध है।'[2] व्यक्तिवादी अधार पर प्रतिष्ठित करते ही उन्होंने कला में, और तदन्तर्गत साहित्य-सृजन में, व्यक्ति द्वारा अपने को सर्वोपरि प्रमाणित करने की चेष्टा देखी है। इस प्रकार साहित्य-सृजन में 'अज्ञेय' को व्यक्ति द्वारा अपने अहं को अक्षुण्ण रखने का प्रयास दिखायी देता है।

विद्रोह का स्वर—साथ ही, कला अथवा साहित्य-सृजन को अपर्याप्तता के प्रति विद्रोह के रूप में देखने के कारण, 'अज्ञेय' के मतानुसार सच्चा साहित्य वही है जिस का आधार अतृप्ति हो, विद्रोह हो। साहित्य समाज को तभी प्रेरणा दे सकता है जब साहित्यकार में असन्तोष अथवा विद्रोह-भावना हो। प्रचलित सामाजिक रूढ़िबद्धता को ध्वस्त करने और उसे नयी गति प्रदान करने की सामर्थ्य उन्होंने विद्रोह-भावना पर आधारित साहित्य में ही देखी है। इतना ही नहीं, सच्चे साहित्यकार में उन्होंने इस विद्रोह-बुद्धि को नितांत आवश्यक मानते हुये कहा है—'कहना चाहिए कि प्रत्येक महत्वपूर्ण लेखक अग्निगर्भ होता है; बुद्ध के बोधिसत्व होते हैं, तो महान् लेखकों को भी अनिवार्य रूप से विद्रोहसत्व होना चाहिए।'[3]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'अज्ञेय' का जीवन-दर्शन, व्यक्तिवाद के रूप में अहंवाद की प्रतिष्ठा को लक्ष्य मानकर चला है। अहंवाद की प्रतिष्ठा में विद्रोह बुद्धि तथा दुखवाद को भी उन्होंने सहायक माना है, इसलिये उनके जीवन-दर्शन में विद्रोह-भावना को, और दुख-पूजा को भी, बहुत महत्व प्राप्त हो गया है। इस दार्शनिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में उनके उपन्यासों को

१, नदी के द्वीप, पृष्ठ १। २, त्रिशंकु, पृष्ठ २३। ३, वही, पृष्ठ ५२।

समझना कठिन नहीं है, क्योंकि इन रचनाओं द्वारा 'अज्ञेय' ने अपने समूचे चिंतन को अभिव्यक्त करना चाहा है। इस अभिव्यक्ति का प्रभाव उनकी रचनाओं पर बहुत गहरा पड़ा है; यहां तक कि उनके चिन्तन के अनुरूप ही उनके उपन्यासों का स्वरूप निर्धारित हुआ है। अतः, इसके आगे, उपन्यास के विविध पहलुओं पर 'अज्ञेय' के चिन्तन का जो प्रभाव पड़ा है, उस पर विचार किया जायेगा। इस दृष्टि से उपन्यास के उद्देश्य-पक्ष के निर्धारण को यहां पहले लिया गया है।

उद्देश्य-पक्ष

समाज की प्रचलित नैतिक मर्यादा एवं व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह-बुद्धि तथा व्यक्ति के अहं एवं प्रतिष्ठा के लक्ष्य के अनुरूप ही 'अज्ञेय' के दो उपन्यासों—'शेखर: एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप'—का उद्देश्य-पक्ष निर्धारित हुआ है। अपने जीवना-दर्शों के प्रति 'अज्ञेय' की गहरी आस्था का प्रभाव उनके उपन्यासों पर इस रूप में पड़ा है कि इनका उद्देश्य-पक्ष बहुत सबल हो गया है। 'अज्ञेय' के चिन्तन की निर्भीकता तथा उनकी स्पष्टवादिता को मानों उनकी रचनाओं में खुलकर खेलने का मौका मिला है, जिसका फल यह हुआ कि प्रच्छन्न रूप से अपने जीवन-दर्शन का समर्थन करने की अपेक्षा 'अज्ञेय' ने अपने सिद्धांतों व आदर्शों का खूब खुलकर प्रति-पादन किया है। तभी तो, उनके उपन्यासो में समाज की प्रचलित नैतिक-मर्यादाओं व मूल्यों को खुली चुनौती दी गयी है और इन पर बगली प्रहार करने के बजाय, सामने से प्रहार किया गया है। इस स्पष्टवादिता का उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष पर जो प्रभाव पड़ा है उसे समझने के लिये हमें उद्देश्य-पक्ष के अन्तर्गत उपन्यासों के विषय-चयन तथा निष्कर्ष-निर्धारण इन दो पहलुओं पर विचार करना होगा।

विषय-चयन—अपने उपन्यासों के विषयों का चयन करते समय 'अज्ञेय' ने व्यक्तिवादी चिन्तन के अनुरूप मानव के अहं की प्रतिष्ठा और उसकी मूल प्रवृत्तियों को विशेष रूप से ध्यान में रखा है। साथ ही मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का पालन करते हुए उन्होंने मानव के अन्तर्जगत् के उद्घाटन को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। मानव-जीवन के प्रति 'अज्ञेय' में विशेष अनुरक्ति है, इसलिए भी मानव-जीवन की विवेचना करते हुए उन्होंने मानव की सिद्धियों और अभावों को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है। मानव-जीवन के प्रति कुतूहल-पूर्ण जिज्ञासा के कारण उन्होंने मूल प्रेरणाओं का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए अपने जीवन-दर्शन के अनुरूप यही सिद्ध करना चाहा है कि मानव-जीवन वन्दनीय है और इसकी मूल प्रवृत्तियां भी वन्दनीया हैं।

विद्रोह-भावना—उदाहरण के लिए, उन्होंने 'शेखर : एक जीवनी' के विषय के रूप में एक विशिष्ट व्यक्ति की जीवनी को लिया है और शैशवकाल से लेकर

युवावस्था तक उसके जीवन के विविध पहलुओं को चित्रित करते हुए उसके जीवन की मूल प्रेरणाओं को समझने का प्रयास किया है। इनमें से एक प्रेरणा है शेखर में अहं-प्रतिष्ठा की दुर्दमनीय आकांक्षा। अतः, जब उसकी आकांक्षा को कुंठित करने के लिए बाह्य परिस्थितियां एवं सामाजिक बंधन उमड़ पड़ते हैं तो शेखर के अन्दर का अहं भड़क उठता है। 'अज्ञेय' ने शेखर के अन्दर विद्यमान स्वतन्त्र अस्तित्व की चेतना और तज्जनित विद्रोह-भावना को उपर्युक्त उपन्यास के विषय के रूप में चुना है। इस प्रकार शेखर के अभावग्रस्त, विद्रोह-भावना से ओतप्रोत तथा अहं की चरम सिद्धि की ओर प्रयत्नशील संघर्षमय जीवन को इस उपन्यास का विषय बनाकर 'अज्ञेय' ने मानव के भावी विकास तथा आधुनिक अभावों का एक चित्र खींचना चाहा है।

जैसा कि पहले कहा गया है, 'अज्ञेय' ने मानव के मन में उठने वाली काम-वासनाओं को निन्द्य नहीं ठहराया, अपितु, जीवन की प्रेरक शक्ति के रूप में इन का अभिनंदन ही किया है। इतना ही नहीं, 'सेक्स इंस्टिक्ट' अथवा ऐन्द्रिक चेतना की तात्कालिक प्रतिक्रिया के कारण नैतिक बन्धनों एवं मर्यादाओं की अवहेलना को उन्होंने सर्वथा स्वाभाविक माना है, और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के अनुरूप, अहं की सिद्धि के लक्ष्य को लेकर उन्होंने अपने दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' की रचना की है। इस उपन्यास का नामकरण प्रतीकात्मक है। मानव-जीवन तो व्यथा से परिपूर्ण है, अतः जब कभी भी इस दुख-प्रवाह में सुख की अनुभूति का अवसर आ जाये तो उसे आगे बढ़कर प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है, नहीं तो भला इस विषादपूर्ण जीवन में थोड़ा-बहुत भी मन बहलाव न हुआ तो जीवन की यात्रा कैसे पूरी होगी ? इसलिए, क्षणिक आनन्दोपभोग का अवसर मिलने पर, संयम और विवेक की चिन्ता न करके मानव यदि उस आनन्द के क्षण की ओर लपके तो इसमें कोई बुराई नहीं, अपितु, जीवन की सिद्धि ही है।

उपर्युक्त जीवन दर्शन को 'अज्ञेय' ने अपने 'नदी के द्वीप' नामक उपन्यास का विषय बनाया है। ऐन्द्रिक चेतना के प्रतिक्रियास्वरूप क्षणिक सुख के पीछे लपकने वाली रेखा, विवेक और संयम के नाम पर, सुख के क्षणों को छोड़ना नहीं चाहती। रेखा और भुवन के जीवन सम्बन्धी अभावों तथा इनकी पूर्ति को लेकर 'अज्ञेय' ने इस उपन्यास की रचना की है। इस प्रकार, अहं की प्रतिष्ठा, विद्रोह-भावना, दुख-पूजा और सहानुभूति से सम्बद्ध मानव की सहज प्रवृत्तियों को उन्होंने अपने उपन्यासों का आधार बनाया है और ऐसे जीवन खण्डों को चुना है जिनमें मानव की मूल प्रवृत्तियों की कसमसाहट, आन्तरिक उद्वेलन और उलझन उसकी अंतश्चेतना की अतल गहराई से ऊपर उभर कर उसके आचरण में प्रकट हो जाती है।

निष्कर्ष-निर्धारण

विद्रोह में सिद्धि—'अज्ञेय' ने मानव के अन्दर विद्यमान विद्रोह-बुद्धि को उसके स्वभाव का सहज गुण माना है, इसलिये, विद्रोह-भावना का अभिनन्दन करते हुये 'अज्ञेय' ने इसी में जीवन की सिद्धि देखी है। यही कारण है कि 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर के मन में बचपन में उठने वाली विद्रोह-भावना, उपन्यास के अन्त में, निष्प्रयोजन सिद्ध नहीं होती। इस विद्रोह-भावना के विकास के साथ-साथ शेखर का जीवन विकसित होता है। अपने परिवार के प्रति उसका विद्रोह अन्त में समाज की सभी मान्यताओं और मर्यादाओं के प्रति उत्कट विद्रोह का रूप धारण कर लेता है। शेखर के जीवन की सिद्धि मानों इसी विद्रोह-भावना को पुष्ट करने में है, इसलिए उपन्यास के अन्त में शेखर को निराश अथवा शिथिल न दिखाकर, 'अज्ञेय' ने उसे पुन: जीवन से जूझने के लिए अपनी शक्ति बटोरते हुये दिखाया है।

उनके दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' के नामकरण में, प्रतीकात्मक पद्धति की सहायता से दार्शनिकता का जैसा पुट दिया गया है, उसका उपन्यास के निष्कर्ष में भी पूरी तरह निर्वाह किया गया है। मानव-आचरण को नैतिक-अनैतिक दृष्टिकोण से न देखकर 'अज्ञेय' ने इसमें मानव की विवशता ही अधिक देखी है; मानों कि जीवन के प्रवाह में व्यक्ति कुछ कर नहीं सकता—बस प्रवाह के साथ बहने में उसकी गति है। कभी इस द्वीप के किनारे जा लगे तो कभी दूसरे द्वीप के किनारे। रेखा और भुवन भी प्रवाह में बहने के धर्म का पालन करते हुए एक-दूसरे के पास आते हैं और फिर धीरे-धीरे बिछुड़कर अलग हो जाते हैं। किन्तु इस बिछोह को दोनों ने दार्शनिक ढंग से स्वीकार किया है और अपने भाग्य को न कोसते हुए जीवन-प्रवाह के प्रबल वेग के आगे अपनी विवशता स्वीकार की है।

उपर्युक्त विवेचन से 'शेखर : एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' के उद्देश्य-पक्ष के बारे में एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि 'अज्ञेय' ने अपने उपन्यासों का विषय-चयन और निष्कर्ष-निर्धारण अपने दार्शनिक-चिन्तन के अनुरूप किया है। उनके चिन्तन की आवृत्ति प्रसार की अपेक्षा गहनता की ओर अधिक है, इसलिये समाज के व्यापक क्षेत्र में से कोई विषय न चुनकर उन्होंने व्यक्ति के किसी जीवन खण्ड को अपने उपन्यासों का विषय बनाया है, ताकि वे उसके जीवन में गहरे से गहरे उतर कर उसके जीवन के सूत्रों को पकड़ सकें। उपन्यास के आरम्भ में वे जीवन के जिस सूत्र को पकड़ लेते हैं फिर तो उसी के सहारे उसके समस्त जीवन की व्याख्या कर देते हैं। इस व्याख्या का ही यह परिणाम है कि 'अज्ञेय' के उपन्यासों में दार्शनिक चिन्तन की मानों बाढ़-सी आ गयी है और उनके उपन्यासों का उद्देश्य-पक्ष छिछला अथवा दुर्बल रहने के बजाय बहुत ही गम्भीर एवं सबल बन गया है।

कथानक

उपन्यास के उद्देश्य-पक्ष के उपरान्त, 'अज्ञेय' की औपन्यासिक कृतियों के कथानक-पक्ष पर यदि हम विचार करें तो पता चलेगा कि उनके उपन्यासों में कथानक का उपयोग उनके चिन्तन को अभिव्यक्त करने के लिए ही किया गया है। मानव-देह में जीवात्मा के समान 'अज्ञेय' के कथानकों की रग-रग और रेशे-रेशे में उनका चिन्तन व्याप्त है। कथानक के प्रत्येक उतार-चढ़ाव, मोड़-तोड़ तथा प्रारम्भ और अन्त का निर्णय उनके चिन्तन के अनुरूप हुआ है, इसलिये कथानक के गठन, घटनावली के निर्माण द्वारा कथानक के विकास और कथानक के उपसंहार में हमें उनके चिन्तन के सूत्र स्थान-स्थान पर मिलेंगे।

कथानक का गठन और विकास—उपन्यास के कथानक-पक्ष के गठन एवं विकास पर अपने चिन्तन के प्रभाव को 'अज्ञेय' ने 'शेखर : एक जीवनी' में स्वीकार करते हुए कहा है—'शेखर के तीन भागों में एकान्तता है; कालीन के रंग-बिरंगे बाने को जैसे मोटे और सख्त बटे हुए सूत का एकरंगा ताना धारण करता है और सहता है उसी तरह जीवन के तीन भागों की रंगीन गाथा में मेरे अभिप्रेत, मेरे कथ्य का एक तन्तु है, अविभाज्य है, मेरी ओर से जीवन की आलोचना और जीवन का एक तन्तु है, अविभाज्य है, मेरी ओर से जीवन की आलोचना और जीवन का दर्शन है।'[1] इस प्रकार, अपने कथ्य के ताने-बाने की सहायता से 'शेखर : एक जीवनी' के कथानक की रचना करने की स्पष्ट स्वीकृति के अतिरिक्त, यदि हम उनके दूसरे उपन्यास, 'नदी के द्वीप' के कथानक पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि इनका गठन एवं विकास करते समय 'अज्ञेय' ने अपने कथ्य को ही प्रधानता दी है। कथानक के माध्यम से उन्होंने अपने अभिप्रेत की अभिव्यक्ति चाही है, इसलिए उनके दोनों उपन्यासों में कथानक का गठन एवं विकास उनके कथ्य के अनुरूप ही हुआ है।

विद्रोह की कहानी—उदाहरण के लिये, 'शेखर : एक जीवनी' को लें। इस उपन्यास में 'अज्ञेय' ने शेखर के विद्रोहीपन की कहानी कहनी चाही है उसकी विद्रोही मनोवृत्ति पर उपन्यास का कथानक आधारित करने के उपरान्त उन्होंने ऐसी घटनावली का निर्माण किया है जिससे कि उसके आन्तरिक उत्ताप का उत्तरोत्तर उद्घाटन होतो जाए। उदाहरणार्थ, उन्होंने शेखर की बाल्यावस्था की एक घटना ली है जब वह अपनी विद्रोही मनोवृत्ति से प्रेरित होकर घर से निकल पड़ता है और सारी रात झरने के किनारे बिताकर दूसरे दिन वापस लौट आता है।[2] परिवार के साथ मोर्चा लेने के उपरान्त वह ईश्वर से जूझ पड़ता है और ईश्वर का अस्तित्व उसे स्वीकार्य नहीं।[3] ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है उसकी विद्रोह-भावना नयी-नयी परि-

१. 'शेखर' २. वही, ३. वही।

स्थितियों और नये-नये मोर्चों से टक्कर लेती है। विदेशी पहरावे और विदेशी भाषा के विरुद्ध उसके अन्दर का उत्ताप उबाल खाता है और फलस्वरूप विदेशी चीजों का बहिष्कार कर वह स्वदेशी पहनावा अपना लेता है।[1] मद्रास में कालेज में पढ़ते समय वह जात-पात के संकीर्ण बन्धनों से भिड़ जाता है, इसलिए, अन्त्यजों के वोर्डिंग हाउस में भरती होकर वह अछूत बालकों को पढ़ाने की योजना क्रियान्वित करता है।

तदुपरान्त, 'अज्ञेय' ने शेखर की विद्रोही-वृत्ति का अधिकाधिक प्रसार दिखाने के लिए उसे और भी विस्तृत क्षेत्र में खुला छोड़ दिया है। लाहौर में पढ़ाई के निमित्त आने पर फैशनेबुल कहलाये जाने वाले स्वेच्छाचारी युवक-वर्ग से उसकी ठन जाती है। पढ़ाई करते-करते वह राजनैतिक हलचलों में हिस्सा लेने लगता है और पुलिस कर्मचारी को पीटने के अभियोग में जेल भेज दिया जाता है।[2] जेल में रहते हुए शेखर की विद्रोहाग्नि और भड़क उठती है और अपनी विशिष्ट मनोवृत्ति का विश्लेषण करते-करते वह अपनी विद्रोह-बुद्धि का दार्शनिक आधार ढूँढ़ लेता है। परिणाम यह होता है कि जेल से छूटने पर उसका विद्रोहीपन दुगने वेग से उबाल खाता है। अपने भावी जीवन और भौतिक सुख-सुविधाओं को लात मारकर वह अपनी पढ़ाई बन्द कर देता है। सामाजिक क्रान्ति लाने के लिये वह साहित्यिक क्षेत्र में उतरता है और राजनैतिक क्रान्ति लाने के लिए वह क्रान्तिकारियों के गुप्त दल में प्रविष्ट हो जाता है। यहां आकर विद्रोही शेखर, क्रान्तिकारी बन जाता है, उसकी विद्रोही वृत्ति क्रांति के मार्ग को अपना कर ही चैन लेती है।

नियति की गाथा—जिस प्रकार 'अज्ञेय' ने शेखर की विद्रोही मनोवृत्ति का अभिनन्दन करते हुए 'शेखर : एक जीवनी' में घटनावली के निर्माण द्वारा कथानक का विकास एक विशिष्ट दृष्टिकोण से किया है, उसी प्रकार उन्होंने 'नदी के द्वीप' के कथानक का विकास अपने चिन्तन के अनुरूप ही किया है। नियति के आगे मानव को अवश मानकर इस उपन्यास में अज्ञेय ने रेखा और भुवन के मिलन और बिछोह की कहानी कही है। नियति के वश होकर भुवन और रेखा लखनऊ में मिलते हैं और उनका परिचय बढ़ते-बढ़ते आत्मीयता का, और अंत में, आत्मार्पण का रूप धारण कर लेता है। 'अज्ञेय' के मतानुसार ऐन्द्रिक चेतना की प्रतिक्रियास्वरूप किया गया प्रत्येक कर्म जायज है, इसलिये नोकुछिया ताल[3], तुलियन झील[4] पर रेखा की आत्मसमर्पण की घटनाओं को बड़े स्वाभाविक एवं निःसंकोच ढग से वर्णित किया गया है। और फिर, नदी की धारा में बहने वाले तिनके जिस प्रकार बहते-बहते पास आकर अलग भी हो जाते हैं, उसी प्रकार भुवन और रेखा भी नियति की धारा में बहते हुये पास आकर भी एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। नदी की धारा में

१. 'नदी के द्वीप' २. वही, ३. वही, ४. वही।

बनने और मिटने वाले द्वीपों के समान उनका संयुक्त द्वीप मिट जाता है, किन्तु इस मिटने में भी सृजन छिपा हुआ है। भुवन से अलग होकर रेखा डा० रमेशचन्द्र से विवाह कर लेती है[1] और भुवन का गौरा के प्रति आकर्षण, धीरे-धीरे बढ़कर, प्रगाढ़ प्रेम में बदल जाता है। इस प्रकार एक द्वीप की कटी हुई मिट्टी से अन्य द्वीपों का सृजन दिखाकर 'अज्ञेय' ने मानव-जीवन के प्रवाह, नियति की प्रबलता और मानव की अवशता सम्बन्धी चिन्तन के आधार पर घटनावली का निर्माण करते हुए कथानक का विकास किया है।

कामुक-प्रसंग

नैतिक मर्यादाओं की उपेक्षा—घटनाओं की सहायता से कथानक का विकास करते समय 'अज्ञेय' ने अपने उपन्यासों में उन प्रसंगों को निःसंकोच लिया है जिनमें कामवासना की बाढ़ से आप्लावित दो धड़कते हृदय शारीरिक समर्पण में ही सन्तोष पाते हैं। इन प्रसंगों के लेते समय 'अज्ञेय' ने मानव-आचरण को प्रेरित करने वाली कामरूपा मूल शक्ति की अभिनन्दना की है। ऐन्द्रिक चेतना की क्षणिक प्रतिक्रिया स्वरूप आत्मार्पण को उन्होंने मानव की अत्यन्त स्वाभाविक एवं वैध वृत्ति माना है, अतः, इस आत्मार्पण में समाज की प्रचलित नैतिक मर्यादाओं की अनिवार्य अवहेलना का एक कारण यह भी है कि 'अज्ञेय' नैतिकता को नकारात्मक मानते हैं, क्योंकि इसके मूल में निषेध है। मानव की स्वाभाविक व सृजनात्मक मनोवृत्ति को निषेधात्मक एवं नकारात्मक नैतिकता के पैरों तले कुचलते हुए देखना उन्हें कदापि सह्य नहीं। इसलिये, उनके कथानकों में ऐसे अनेक प्रसंग मिलेंगे जिनमें समाज की नैतिक मर्यादाओं की उपेक्षा करते हुये, कामोपभोग के प्रसंगों का निःसंकोच वर्णन किया गया है।

उदाहरण के लिये, 'शेखर : एक जीवनी' में शशि और शेखर के मिलन की निम्नांकित घटना है—'क्षण भर शेखर कुछ नहीं समझता, फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ पड़ती है, और वह उन उठे हुये अर्धमुकुलित ओठों की ओर झुकता है—झुकते-झुकते उसकी आप्लवनकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है, एक वत्सल कोमलता उसमें जगती है कि बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निकट पहुंचते-पहुंचते वह ग्रीवा कुछ मोड़कर अपना कर्णमूल शशि के ओठों से छुआ देता है। ओंठ तृप्त हैं,—ज्वर से; उस रोमिल स्पर्श से एक सिहरन-सी उसके माथे में दौड़ जाती है, तब चेतना की एक नयी लहर से वांछित वह फिर झुकता है और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध किन्तु बेझिझक ओंठ चूम लेता है—निर्द्वन्द्व, वरद, दीर्घ चुम्बन...।[2]

'नदी के द्वीप' में ऐसे कामुक प्रसंगों की तो भरमार है। नौकुछिया ताल के

---

१. 'नदी के द्वीप' २. 'शेखर : एक जीवनी'

के किनारे रेखा और भुवन के आलिंगन-बद्ध होने का प्रसंग है—'वह तनिक-सा चौकी पर फिर पूर्ववत् हो गयी, घूमी नहीं, गाना बन्द कर दिया। भुवन ने हाथ का कुसुम का गुच्छा उसकी कबरी में खोंस दिया—वह इतना बड़ा था कि आधी कबरी को और कान तक बालों को ढक रहा था; उसे ठीक से अटकाने के लिये भुवन कुछ आगे झुका कि एक-आध कांटा खींचकर कबरी कुछ ढीली करे; सहसा रेखा ने दोनों बाहें उठाकर उसका सिर घेर लिया, कन्धे के ऊपर से उसे निकट खींचकर उसका मुँह चूम लिया—बड़े हल्के स्पर्श से...ओठों पर भरपूर।

भुवन भी कुछ चौंक गया, वह भी चौंक कर खड़ी हो गयी, दोनों ने स्थिर और जैसे असम्पृक्त दृष्टि से एक-दूसरे को देखा, फिर एक साथ ही दोनों ने हाथ बढ़ाकर एक-दूसरे को खींच लिया, प्रगाढ़ आलिंगन में ले लिया और चूम लिया—एक सुलगता हुआ सम्मोहन, अस्तित्व-निरपेक्ष, तदाकार चुम्बन।'[1]

आलिंगन और चुम्बन की अन्तिम परिणति शारीरिक समर्पण में होने के कारण रेखा भी आत्मसमर्पण की ओर प्रवृत्त होती है—'एक हाथ में रेखा के दोनों हाथ पकड़े वह उठा, दूसरे हाथ से उसने कम्बल खींचकर रेखा की पीठ भी ढक दी। स्वयं पैर समेट कर बैठा हो गया, कुछ रेखा की ओर उन्मुख।

रेखा सहसा हाथ छुड़ाकर उससे लिपट गयी। आंखें उसने बन्द कर लीं; भुवन के माथे पर अपना माथा टेक दिया। उसके होंठ न जाने क्या कह रहे थे; आवाज उनसे न निकल रही थी।

भुवन कहता गया, 'क्या बात है रेखा; रेखा क्या बात है'—उसका स्वर क्रमशः धीमा और आविष्ट होता जा रहा था।

रेखा के ओंठ उसके कान के कुछ और निकट सरक आये। पर स्वर उनमें से अब भी नहीं निकला।

पर सहसा भुवन जान गया कि वे शब्दहीन-स्वरहीन ओंठ क्या कह रहे हैं।

'मैं तुम्हारी हूं भुवन, मुझे लो।'[2]

नौकुछिया ताल की आत्मार्पण की घटना के बाद तो जीवन की धारा में बहते बहते भुवन और रेखा एक-दूसरे के प्रति इतना समर्पित हो जाते हैं कि किसी प्रकार का संकोच अवशिष्ट नहीं रहता। तुलियन झील के किनारे तम्बू में रेखा और भुवन के मिलन का एक और प्रसंग—'भुवन ने उठकर उसके कन्धे पकड़े—ठंडे जैसे बर्फ़। बलात् उसे लिटा दिया, कम्बल उढ़ा दिया। धीरे-धीरे उसके चेहरे पर हाथ फेरने लगा; चेहरा भी बिलकुल ठंडा था। उसने खाट के पास घुटने टेक कर नीचे बैठते हुए रेखा के माथे पर अपना गर्म गाल रखा, उसका हाथ धीरे-धीरे रेखा

---

१. 'नदी के द्वीप'। २. वही।

के कन्धे सहलाने लगा। भुवन ने कम्बल खींचकर कन्धे ढक दिये। कम्बल के भीतर उसका हाथ रेखा का वक्ष सहलाने लगा।

सहसा वह चौंका। झीने रेशम के भीतर रेखा के कुचाग्र ऐसे थे, जैसे छोटे-छोटे हिम-पिण्ड……और अब तक जड़ रेखा के सहसा दांत बजने लगे थे।

……सहसा रेखा ने बाहें बढ़ाकर उसे खींचकर छाती से लगा लिया; उसके दांतों का बजना बन्द हो गया। क्योंकि दांत उसने भींच लिये थे, भुवन को उसने इतनी जोर से भींच लिया कि उन छोटे-छोटे हिमपिण्डों की शीतलता भुवन की छाती में चुभने लगी…।'[1]

इन कामुकतापूर्ण प्रसंगों को लेने में 'अज्ञेय' ने किसी प्रकार की झिझक नहीं दिखायी, अपितु ऐसी घटनाओं द्वारा उन्होंने समाज की तथाकथित निषेधात्मक नैतिकता को मानों चुनौती देनी चाही है। मानव के अहं की प्रतिष्ठा में बाधक तथा उसके विकास का मार्ग अवरुद्ध करने वाली नैतिक मर्यादाओं का अस्तित्व ही उन्हें स्वीकार्य नहीं; अतः 'शेखर : एक जीवनी' में इन मर्यादाओं के प्रति विद्रोह द्वारा, और 'नदी के द्वीप' में इनकी अवहेलना द्वारा उन्होंने समाज की नैतिकता के गलत आधार पर कड़ा प्रहार करते हुए अपने अभिप्रेत के अनुरूप ही कथानक का विकास किया है।

पात्र व चरित्र-चित्रण

'अज्ञेय' ने कलाकार की निर्वैयक्तिकता का आदर्श अपने सम्मुख रखते हुए उपन्यास के पात्रों को अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अछूता रखना चाहा है। इस सम्बन्ध में इलियट का अनुसरण करते हुए उन्होंने कहा भी है—'कल्पना और अनुभूति-सामर्थ्य के सहारे दूसरे के घटित में प्रवेश कर सकना और वैसा करते समय आत्म-घटित की पूर्व-धारणाओं और संस्कारों का स्थगित कर सकना ही लेखक की शक्ति का प्रमाण है।'[2] अपने पात्रों पर अपने विचार, विश्वास, मान्यता और आदर्श न थोपकर 'अज्ञेय' चाहते हैं कि वे सर्वथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व से सम्पन्न हों। पात्रों के जीवन में अपना जीवन प्रतिविम्बित करने का लोभ प्रायः हरेक उपन्यासकार में होता है, इसलिए, न जानते हुए भी वह अपनी रचना में और पात्रों के सृजन में ही अपने जीवन का प्रक्षेपण कर देता है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होता है कि उपन्यास के पात्र प्रायः एक ही सांचे में ढले हुये से प्रतीत होते हैं। सम्भवतः, इस दोष से बचने के लिये 'अज्ञेय' ने पात्रों के सृजन एवं चरित्र-चित्रण में अपनी धारणाओं और पूर्वाग्रहों की स्थापना करते हुए निर्वैयक्तिकता का आदर्श अपने सम्मुख रखा है।

---

१. 'नदी के द्वीप'। २. 'शेखर : एक जीवनी'।

पात्रों में निजत्व का प्रक्षेपण—किन्तु, आदर्श की प्रतिष्ठा और तदनुसार आचरण की क्षमता, दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। अतः 'अज्ञेय' के निर्वैयक्तिकता सम्बन्धी उपर्युक्त आदर्श का विचार आते ही यह प्रश्न उठता है कि क्या उपन्यास-रचना में 'अज्ञेय' उतने निर्वैयक्तिक हो सके हैं जितना कि वे चाहते हैं? संक्षेप में, उत्तर नकारात्मक है। पात्रों के सृजन एवं चरित्र-चित्रण में वे निर्वैयक्तिकता का आदर्श पालन करने में असमर्थ रहे हैं; यहां तक, कि 'शेखर : एक जीवनी' के नायक शेखर के सृजन में अपने निजत्व के प्रभाव को स्वीकार करते हुए उन्होंने कहा भी है—'मेरी अनुभूति और मेरी वेदना शेखर को अभिसिंचित कर रही है। और यह अभिसिंचन ऐसा है कि उससे यह कहकर छुटकारा नहीं पाया जा सकता कि अन्ततोगत्वा सभी गल्प-साहित्य आत्मकथामूलक है, अपने ही जीवन का चित्रण नहीं तो प्रक्षेपण है, अपने स्यात की कहानी है। शेखर में मेरापन इससे कुछ अधिक है; इलियट का आदर्श मुझसे नहीं निभ सका है।'[1]

पात्रों का सृजन और चरित्र-विकास—'अज्ञेय' की उपर्युक्त असमर्थता, अथवा कहें कि विवशता, को ध्यान में रखते हुये यदि उनके उपन्यासों के विविध पात्रों के सृजन एवं उनकी चरित्रगत विशेषताओं पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि, जैनेन्द्र कुमार के समान, 'अज्ञेय' भी अपने पात्रों की आड़ लेकर अपनी रचनाओं में मानों स्वयं प्रकट हो गये हैं; अपने को छिपाने के प्रयास में स्वयं ही छप गये हैं। पात्रों के सृजन तथा चरित्र-विकास में 'अज्ञेय' ने आत्मीयता का इतना अधिक परिचय दिया है कि उनकी निजी अनुभूतियों और दार्शनिक चिन्तन से सम्पन्न ये पात्र स्वयं रचनाकार की प्रतिमूर्ति बनकर अवतरित हुये हैं। शेखर और भुवन का सृजन कर 'अज्ञेय' ने अपना गत जीवन मानों पुनः जीने का प्रयास किया है, इसलिये, इन दोनों की उपलब्धियां और अभाव उनके अपने जीवन से लिए प्रतीत होते हैं।

पात्रों के सृजन और उनके जीवन की कहानी में निहित अपने लक्ष्य का स्पष्टीकरण करते हुए 'अज्ञेय' ने 'शेखर : एक जीवनी' में स्वीकार किया है—'मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूं, क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है, जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी नहीं बनाये रख सकता—उस दिन का भोगने वाला और आज का वृत्ताकार दोनों एक हो जाते है, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे जीवन का अर्थ है।' और शेखर ही क्यों, भुवन, रेखा, चन्द्रमाधव, शशि और गौरा जैसे अन्य पात्रों में जीवन का अर्थ ढूंढ़ने के प्रयास में 'अज्ञेय' वस्तुतः, अपने ही जीवन का अर्थ ढूंढ़ने लगते हैं। अतः, विहंगम दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि 'अज्ञेय' ने उन पात्रों के चरित्र का

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'।

विकास एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के अनुरूप किया है, और ये पात्र कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों को धारण किए हुए हैं। इन प्रवृत्तियों के विश्लेषण से 'अज्ञेय' के विविध पात्रों के चरित्र-विकास की सामान्य रूपरेखा का सहज ही बोध हो जायेगा।

जटिल पात्र—पात्रों की प्रवृत्तियों के विश्लेषण के पूर्व एक बात उल्लेखनीय है कि 'अज्ञेय' के पात्रों के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाली प्रवृत्तियां, असामान्य ही कही जा सकती हैं। उन्होंने प्रायः वक्र रेखाओं से अपने पात्रों के चित्र अंकित किये हैं, इसलिये किसी एक पात्र की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने की ओर प्रवृत्त होने पर उसकी चरित्रगत जटिलता तुरन्त खटकने लगती है। इस जटिलता का मुख्य कारण यही है कि उनके पात्रों में परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियां अपने चरम उत्कर्ष को पहुंच गयी हैं। आत्म-रति और आदर्श-प्रेम, संकीर्णता और विशालता, स्वार्थपरता और आत्म-बलिदान, निराशा और आत्म-विश्वास, अक्खड़ता और विनय जैसी एक-दूसरे से सर्वथा विरोधी प्रवृत्तियों को धारण करने का यह परिणाम हुआ है कि उनके पात्रों का व्यक्तित्व सरल न होकर बहुत जटिल बन गया है। इस जटिलता को समझने के लिए पहले हमें उनके पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं और स्वभावगत प्रवृत्तियों को समझना होगा।

स्वच्छन्द आचरण—सबसे पहली विशेषता तो यही है कि 'अज्ञेय' के सभी पात्रों में आत्म-चेतना अर्थात्, अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का बोध इतना प्रबल है कि यह उनके व्यक्तित्व का मूलाधार बन गया है। इस आत्मचेतना का ही यह परिणाम है कि उनके पात्र, जन-साधारण के समान सामाजिक नियमों और मर्यादाओं के सम्मुख नतमस्तक होकर, एक बँधा-बँधाया जीवन बिताने को तैयार नहीं; अपितु, वे अपने जीवन में नये प्रयोग करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। इस बात की चिंता किए बिना कि इन प्रयोगों का क्या परिणाम होगा, ये पात्र आत्म-चेतना से उद्भूत प्रबल आत्मविश्वास की भावना से ओतप्रोत होकर जिधर चाहते हैं उधर ही बढ़ते जाते हैं। कोई रुकावट उन्हें रोक नहीं सकती और कोई दुश्चिन्ता उन्हें विचलित नहीं कर सकती, इसलिए अपनी अन्तःप्रवृत्ति के आदेश का पालन करते हुए उन्हें अपने स्वच्छन्द आचरण पर कोई अंकुश स्वीकार्य नहीं है।

उदाहरण के लिए, 'शेखर : एक जीवनी' के नायक, शेखर, को लें। शेखर में आत्म-चेतना का इतना प्राबल्य है कि अपने निजत्व की रक्षा के लिए वह अपने चारों ओर की प्रतिकूल परिस्थितियों से विद्रोह कर बैठता है। परिवार और समाज के बन्धन और वर्जना उसे मान्य नहीं, क्योंकि इनसे उसका व्यक्तित्व कुंठित होता है। अपने निजत्व की रक्षा का उपाय उसे उनके प्रति विद्रोह करने में ही दिखायी पड़ता है। किन्तु, यहां यह बात ध्यान देने की है कि शेखर की यह विद्रोही मनोवृत्ति बाह्य परिस्थितिजन्य न होकर जन्मजात है। शेखर ने स्वीकार किया है—

'मुझे विश्वास है कि विद्रोही बनते नहीं, उत्पन्न होते हैं। विद्रोह-बुद्धि, परिस्थितियों से संघर्ष की सामर्थ्य, जीवन की क्रियाओं से, या परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से, नहीं निर्मित होती। वह आत्मा का कृत्रिम परिवेष्टन नहीं है, उसका अभिन्नतम अंग है। मैं नहीं मानता कि दैव कुछ है, क्योंकि हममें कोई विवशता, कोई बाध्यता है तो वह बाहरी नहीं भीतरी है।'[1] आत्मचेतना से उद्भूत यह विवशता और बाध्यता ही वस्तुत, शेखर के जीवन का परिचालन करती है। और ऐसा करते समय समाज के नैतिक विधि-निषेधों से उसका टकराव यदि हो जाए, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात ? अपनी भीतरी बाध्यता, और आन्तरिक उत्ताप के कारण शेखर के लिए परिवार, समाज और शासन के बन्धन, अवहेलना के ही पात्र हैं। अपनी मौसी की विवाहिता और तदुपरांत परित्यक्ता बेटी शशि के प्रति शेखर का भाई-बहन जैसा सख्य भाव शनैः शनैः प्रगाढ़ प्रेम में परिणत हो जाता है। इस प्रणय-व्यापार में शेखर को कोई अनौचित्य नहीं दिखायी देता, बल्कि कर्त्तव्य की भावना की ओट में वह अपने आचरण पर गर्व ही करता है।

शेखर के समान शशि भी नैतिक मर्यादाओं और सामाजिक बन्धनों का उत्तरदायित्व निभाने के लिए अधिक उत्सुक नहीं है। पति के जीवित होते हुए भी वह शेखर के प्रति आकर्षित है और शेखर को आत्मसमर्पण करना वह निन्दनीय नहीं मानती। उसका कहना है–'तुमने जो दिया है, उसमें लज्जा नहीं है। वह वरदान है, यह भी मैं बिना लज्जा के देखती हूं। वरदान में अस्वीकार का विकल्प नहीं है। मैं विवाहिता हूं। अपना आप मैंने स्वेच्छा से दिया है; अपने का, इसका संकल्प कर दिया है—आहुति दे दी है। जो दे दिया है, मेरा नहीं है, उनकी ओर से मैं कुछ नहीं कर सकती; न कुछ स्वीकार ही कर सकती हूं न प्रतिवाद ही कर सकती हूं, और न कुछ दे सकती हूं।'[1] अपने आचरण के प्रति उसके मन में किंचित् भी शंका नहीं है, इसलिए, पति द्वारा घर से निकाल दिये जाने पर वह निःशंक होकर शेखर की शरण लेती है।

नैतिक दृष्टि से 'अज्ञेय' के पात्रों के आचरण-स्वातन्त्र्य पर विचार करते हुए जब हम 'नदी के द्वीप' के पात्रों को लेते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि इस उपन्यास के प्रायः सभी पात्र निर्बाध प्रेम और उन्मुक्त भोग को अत्यन्त स्वाभाविक रीति से ग्रहण करते हुए यौन वर्जनाओं के प्रति पूर्णतः उदासीन हैं। वासना के क्षणिक बवंडर की लपेट में आकर और उस क्षण में विवेक संयम को ठुकराते हुए वे अपनी वासना की तृप्ति में ही जीवन की सिद्धि देखते हैं। उदाहरण के लिए, पति द्वारा परित्यक्ता रेखा और लेक्चरार भुवन का एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो जाना, उनके उन्मुक्त भोग के प्रारम्भ की सूचना देता है। इस प्रारम्भिक आकर्षण के

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' पृष्ठ २७। २. 'शेखर : एक जीवनी' पृष्ठ १६६।

बाद दोनों अपने हृदय वेग को थामने में असमर्थ हैं, अतः नौकुछिया ताल और तुलियन झील पर रेखा का आत्मसमर्पण दोनों की असमर्थता का अनिवार्य परिणाम हैं। विवाहिता रेखा अपने इस अवैध सम्बन्ध में किसी प्रकार की ग्लानि अनुभव नहीं करती; उल्टे इसका समर्थन करते हुए कहती है–'पर भुवन, तुम समाज की दृष्टि से देखते हो; वह दृष्टि गलत नहीं है, अप्रासंगिक भी नहीं है, निर्णायक भी वह नहीं है। व्यक्ति को दबाकर इस मामले का जो भी निर्णय होगा—गलत होगा, घृण्य होगा, असह्य होगा ?'

फिर थोड़ी देर वह चुप रही। फिर आँखें गिराते हुये कहा—'हो सकता है कि मेरा सोचना शुरू से ही गलत रहा हो—पर शुरू से वह यही रहा है। मेरे कर्म का, सामाजिक व्यवहार का नियमन समाज करे, ठीक है; मेरे अन्तरंग, जीवन का, नहीं। वह मेरा है। मेरा यानी हर व्यक्ति का निजी।'[1] और अपने निजी जीवन को सामाजिक नियमों के दायरे से परे मानने का यह परिणाम है कि तुलियन झील के स्वच्छन्द विहार के उपरान्त भुवन का गर्भ धारण करने में वह अपने जीवन की सिद्धि देखती है। उसका कहना है–'हां, भुवन मैं अब भी वैसी फुलफिल्ड हूं–और तुम्हारी कृतज्ञ।'[2]

भुवन और रेखा के अतिरिक्त, भुवन का मित्र, चन्द्रमाधव, और रेखा का पति, हेमेन्द्र भी उन्मुक्त जीवन के कायल हैं। चन्द्रमाधव यद्यपि विवाहित है तो भी रेखा के प्रति प्रेम-निवेदन करने और रेखा के सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखने का साहस करता है। रेखा के लिए वह अपनी पहली पत्नी को छोड़ने के लिए ही नहीं, उसका किसी अन्य व्यक्ति से पुनः विवाह कर देने की तैयारी दिखाते हुए कहता है— 'पर मैं अपने विवाह को विवाह कभी नहीं मान सका हूं-ऐसा विवाह सन्तान को जायज करने की रस्म से अधिक कुछ नहीं है, न हो सकता है। मैं अलग हूं, अपने को अलग और मुक्त मानता हूं, और मेरा परिवार भी मुझसे न कुछ चाहता है, न कुछ अपेक्षा रखता है सिवाय खर्चे के जो मैं भेजता हूं और भेजता रहूंगा। सच रेखा मुझे कभी उस बेचारी स्त्री पर बड़ी दया आती है। बल्कि उसका किसी से प्रेम हो, वह किसी से शादी करना चाहे, तो मैं कभी बाधा न दूं बल्कि भरसक मदद करूं—खुद जाकर कन्यादान कर आऊं।'[3]

रेखा के फटकारने पर चन्द्रमाधव अपने मित्र भुवन की परिचित लड़की गौरा को फंसाने के लिए डोरे डालता है। उधर से भी उपेक्षा का भाव जताये जाने

---

१. 'नदी के द्वीप', पृष्ठ २०६-२०७' २. वही, पृष्ठ २०५।
३. वही, पृष्ठ ८५।

पर अन्त में वह अभिनेत्री मिस चन्द्रलेखा से आर्यसमाजी ढंग से विवाह कर[2] अपनी पहली पत्नी कौशल्या को उसके भाग्य पर छोड़ देता है।

यही हाल रेखा के पति हेमेन्द्र का भी है। विवाह से पूर्व हेमेन्द्र की अनुरक्ति अपने किसी युवा बन्धु से थी और उसने रेखा से विवाह इसीलिए किया था क्योंकि रेखा का चेहरा उस मित्र से मिलता था।'[1] रेखा को छोड़कर वह मलाया चला गया और उसने वहीं किसी से शादी कर ली। पुनः, अफ्रीका बदली हो जाने पर जब रेखा और भुवन के अवैध सम्बन्ध की सूचना मिली तो क्रोध आने के बजाय उसे प्रसन्नता ही अधिक हुई क्योंकि उसे इस बहाने रेखा से सम्बन्ध-विच्छेद करने का कारण मिल गया।

इन सभी पात्रों में गौरा ही ऐसी है जो उच्छृंखलतापूर्ण जीवन की ओर प्रवृत्त नहीं होती। किन्तु वह भी भुवन और रेखा के अवैध सम्बन्ध को निन्दनीय न कहकर, इसे सर्वथा स्वाभाविक मानती है। उसे इसमें किसी प्रकार की अनैतिकता की बू नहीं आती और न ही रेखा के प्रति उसमें स्त्री-सुलभ ईर्ष्या का भाव जागृत होता है। यह सही है कि उसमें किसी प्रकार की निरंकुशता नहीं, पर साथ ही रेखा की प्रगल्भता को वह बुरा भी तो नहीं मानती और रेखा के प्रति कृतज्ञता का भाव ही उसमें अधिक है।

दार्शनिक आधार—'अज्ञेय' ने व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की प्रतिष्ठा करते हुए अपने पात्रों को मनमाना आचरण करने की खुली छूट ही नहीं दी, अपितु, उनके स्वच्छन्द आचरण को दार्शनिक आधार देने का प्रयास भी किया है। यही कारण है कि उनके पात्र सामान्य के बजाय दार्शनिक धरातल पर आकर अपने स्वच्छन्द आचरण का समर्थन करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में 'अज्ञेय' ने उन्हें आत्मदर्शी एवं तत्व-चिन्तक के रूप में प्रस्तुत किया है। जीवन में तरह-तरह के प्रयोग करने वाले ये पात्र इन प्रयोगों के समर्थन में तरह-तरह के तर्क प्रस्तुत करते हैं। कभी भाव-भूमि पर अवस्थित होकर और कभी दार्शनिक धरातल पर आकर, कभी अपने स्वभाव की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुये आत्मदर्शी के रूप में और कभी संसार की विविध गतिविधियों पर दार्शनिक के नाते विचार करते हुये दिखा कर 'अज्ञेय' ने अपने पात्रों का दार्शनिक रूप खूब निखारा है।

उदाहरण के लिए, 'शेखर : एक जीवनी' के नायक शेखर को लें। शुरू से ही उसमें अपने आपको, अपने जीवन को समझने की एक उत्कट जिज्ञासा है, इसलिये अपनी प्रत्येक मनोवृत्ति और जीवन की सामान्य व्यवस्था की तह में पहुंचने के लिये वह प्रयत्नशील है। अपने अन्दर विद्यमान जिज्ञासा भाव से प्रेरित होकर वह नित नये प्रयोग करने की ओर लपकता है। इस प्रयत्न में भले ही दूसरों का तिरस्कार

---

१. 'नदी के द्वीप'। २. वही।

उसे मिले, किन्तु वह अपने जिज्ञासा-भाव को यों ही समझा-बुझाकर शान्त नहीं कर लेता। नैतिकता के बारे में सोचता हुआ वह कहता है—'हम लोगों की नैतिकता भौगोलिक नैतिकता है—विन्ध्याचल के इस पार उत्तर भारत है, उस पर दक्षिणी प्रायद्वीप—उसी प्रकार यह नीति की रेखा है। इसके पार सत् है, उस पार असत् ......इसीलिये हमारी नैतिकता निष्प्राण है, उसका अन्तिम प्रमाण कोई जीवित सत्य नहीं है, केवल एक रेखा है, एक निर्जीव और पिटी हुई लीक...'[1] इसी प्रकार वासना और प्रेम की तुलना करने पर वह वासना को अमर मानते हुए तर्क प्रस्तुत करता है—'कहते हैं, वासना नश्वर है, प्रेम अमर है। दोनों में कोई मौलिक विपर्यय है या नहीं, नहीं मालूम; किन्तु यदि ये दोनों दो हैं तो बात कितनी झूठी है। प्रेम के एक ही जीवन है; वह एक बार होता है और जब मरता है तो मर जाता है, उसे दूसरा जीवन नहीं मिलता। अमर तो वासना है जो चाहे खण्डित होकर गिरे, चाहे तृप्त होकर, गिरते-न-गिरते रक्तबीज की तरह नया जीवन पाकर फिर उठ खड़ी होती है।'[2]

शेखर के समान, शशि को भी समाज की सामान्य व्यवस्था एवं विवाह जैसी संस्था में निहित आदर्शों में किंचित् विश्वास नहीं है। हिन्दू समाज में नारी को अस्तित्वशून्य बताते हुये वह कहती है—'आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ-धर्म, सतीत्व का हिन्दू आदर्श—किन्तु अभिमान की काही के नीचे आदर्श का पानी क्या कभी बहता है कि बंधकर सड़ गया है ? गृहस्थधर्म उभयमुखी होता है, किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ नहीं है; सख्य तो दूर, करुणा भी देय नहीं रही, और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गयी है; निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे।'[3] अतः, इन आदर्शों के सम्मुख अपने आपको होम करने पर भी शशि के मन में श्रद्धा का भाव न जगकर एक प्रकार की उपेक्षा का भाव ही जगता है जिसका परिणाम यही होता है कि विवाहिता होते हुए भी वह शेखर के प्रति समर्पित है। इस समर्पण में उसे अपने जीवन की सिद्धि दिखायी देती है, जिसका उल्लेख करते हुए वह कहती है—'स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आयी है। ज्ञान उसमें संचित है, जैसे धरती में चेतना संचित है। पर बीज अंकुरित होता है तो धरती को फोड़कर; धरती अपने-आप नहीं फलती-फूलती। मेरी भूल हो सकती है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता की ओर पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है—और वही एक माध्यम है। मैं अपने को मिटा नहीं रही—जिस शेखर को मैं देखती हूं; उसके बनाने में मेरा बराबर साझा होगा, इसलिए लेने-देने का कोई सवाल नहीं है; और तुम्हारा यह झिझकना और कृतज्ञता जताना ही अपमान है।'[4]

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'। २. वही। ३. वही। ४. वही।

'अज्ञेय' के पात्रों की आत्मदर्शी एवं दार्शनिक प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते 'नदी के द्वीप' में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गयी है। अपनी अन्तःप्रवृत्ति के निर्देश को ही नैतिक आचरण का मूलाधार मानते हुए भुवन, गौरा को एक पत्र में लिखता है— 'गौरा, कोई किसी के जीवन का निर्देशन करे, यह मैं सदा से गलत मानता आया हूं, तुम जानती हो। दिशा-निर्देश भीतर का आलोक कर सकता है; वही स्वाधीन नैतिक जीवन है, बाकी सब गुलामी है। दूसरे यही कर सकते हैं कि उस आलोक को अधिक द्युतिमान बनाने में भरसक सहायता दें। वही मैंने जब-तब करना चाहा है, और उस प्रयत्न में स्वयं भी आलोक पा सका हूं, यह मैं कह ही चुका। तुम्हारे भीतर स्वयं तीव्र संवेदना और साथ मानों एक बोध भी रहा है जो नीति का मूल है; तुम्हें मैं क्या निर्देश देता।'[1]

भीतर के आलोक को दिशा-निर्देशक मान कर रेखा भी समाज की मर्यादा एवं वर्जना की अवहेलना करती है, और ऐसा करते समय उसने अपने आचरण को दार्शनिक आधार इस प्रकार दिया है—'और इसीलिये सब मंजिलें झूठी हो जाती हैं और कोई रास्ता नहीं रहता। मैं सचमुच कहीं भी पहुंचना नहीं चाहती—चाहना ही नहीं चाहती। मेरे लिए काल का प्रवाह भी नहीं;—केवल क्षण और क्षण का योगफल है—मानवता की तरह काल-प्रवाह भी मेरे निकट युक्ति-सत्य है, वास्तविकता क्षण ही की है। क्षण सनातन है।'[2] क्षण में ही आत्म-तृप्ति का लक्ष्य पूरा करने के अतिरिक्त, रेखा के मतानुसार मानव की अन्तःप्रकृति को सभ्यता की परतों के नीचे दबाना अनुचित है, क्योंकि इससे मानव-चरित्र का विकास रुक जाता है। उसका कहना है—'और सभ्यता जो ह्रासोन्मुख हो जाती है वह किसलिए? कि समर्थ प्रकृत चरित्र सभ्यता के पोसे हुए पालतू चरित्र के नीचे दब जाता है—व्यक्ति चरित्र-हीन हो जाता है। तब वह सृजन नहीं करता, अलंकरण करता है। नये बीज की दुर्निवार शक्ति से जमीन फोड़कर नये अंकुर नहीं फेंकता, पल्लवित नहीं होता; झरे फूल चुनता है, मालायें गूंथता है, मालाओं से मूर्तियां सजाता है। जब मूर्ति पर मालायें सूख जाती हैं तब हमें ध्यान होता है कि सभ्यता तो मर चली'—[3]

भावुक आदर्शवाद—एक तो 'अज्ञेय' के पात्रों में दार्शनिकता और आत्म-दर्शिता की इतनी क्षमता है कि वे अपने आचरण और मानसिक व्यवस्था की सूक्ष्मतम चीरफाड़ करते हुए इसमें निहित तथ्य को ढूंढने का प्रयास करते हैं, तो दूसरी ओर ये पात्र भावना की बाढ़ में बहते हुये मनचाहा आचरण करने लगते हैं। कभी शुद्ध तार्किक और कभी शुद्ध भावुक के रूप में उपस्थित होकर ये पात्र अपने चरित्र के विविध पहलुओं की झलक दिखा देते हैं। शेखर जैसा विद्रोही और अक्खड़ स्वभाव का अहंवादी भी शशि की स्मृति में कहता है—'सबसे पहले तुम, शशि।

---

१. 'नदी के द्वीप'। २. वही। ३. वही।

इसलिये नहीं कि तुम जीवन में सबसे पहले आयीं या कि तुम सबसे ताजी स्मृति हो। इसलिये कि मेरा होना अनिवार्य रूप से तुम्हारे होने को लेकर है—ठीक वैसे ही जैसे तलवार की धार का होना सान की पूर्व-कल्पना करता है। तुम वही सान रही हो, जिस पर मेरा जीवन बराबर चढ़ाया जाकर तेज होता रहा है–जिस पर मँज-मँज कर में कुछ बना हूं जो संसार के आगे खड़ा होने में लज्जित नहीं हैं–लज्जित होने का कोई कारण नहीं जानता।'[1]

भावुकता की धारा में बहता हुआ शेखर शशि को आत्म-निर्णय की सलाह देता है—'और मैं तुम्हारे साथ हूं, शशि तुम विवाह हो जाने दो, अपने भविष्य को किसी और के भविष्य में मिटा दो, तब भी मेरी सारी शक्ति तुम्हारे साथ होगी कि तुम अपने चुने हुये मार्ग में अडिग रहो, और वैसा तुम नहीं करो, एक व्यक्ति पर अपने को मिटाने की बजाय समाज के विरोध से ही टक्कर लेना चाहो तो भी मैं तुम्हारे साथ हूं। वह तुम्हें अलग कर दे, घरबार भी तुमसे छूट जाये; तो मेरा अकिंचन सहयोग तुम्हें मिलेगा, अगर तुम्हें अपने हाथों के परिश्रम से मुझे तुम्हारी रोटी प्राप्त करनी पड़ेगी तो वह मेरा गौरव होगा...मैं जानता हूं कि तुमने मुझे जो सीख दी है उसका मूल्य मैं किसी तरह नहीं चुका सकता, उसके लिये कृतज्ञता भी दिखा सकता हूं तो केवल इतनी कि उसी पर चलते-चलते या चलने की चेष्टा करते करते समाप्त हो जाऊं।'

इस भावुकता से आदर्शवाद की उत्पत्ति होती है, अतः, शशि भी अपनी माता के प्रति ममता के भाव लिये हुये अपनी इच्छाओं को होम करने का आदर्श अपनाती है- मैं जानती हूं मेरी सम्पूर्ण अनिच्छा है। पर क्या मुझे अनिच्छा का, अनिच्छा के बाद अस्वीकृति का अधिकार है? समाज का मैं अंग हूं, उसके प्रति मेरी जवाबदेही है और फिर उसके आदर्श भी बदलते रहते हैं और रहेंगे। पर मां–मां तो सनातन है, सदा मां है, उसके प्रति भी मेरा कर्त्तव्य है–मां विधवा है, फिर उनके अपने संस्कार हैं। मेरी अस्वीकृति समाज के सम्मुख उनकी क्या अवस्था करेगी, यह तो कभी नहीं कह सकती, पर स्वयं अपने ही सामने उन्हें तोड़ देगी। वे कुछ नहीं कहेंगी मैं जानती हूं पर क्या उससे मुझे कुछ दीखेगा नहीं। उनका मौन उनकी व्यथा को धार दे देगी जिस पर मैं हर समय कटती रहूंगी...मैं अपना युद्ध लड़ सकती हुं, पर मुझे क्या अधिकार है, मैं उससे अपना युद्ध लड़वाऊं; ..और अगर किसी को मूक होकर जलना ही है, तो वह कोई मैं ही क्यों नहीं होऊं?' भावुकता से उत्पन्न आदर्शवाद से जिस प्रकार शेखर, शशि के लिये अपनी जान की बाजी लगाने को तैयार है, उसी प्रकार शशि भी

---

१. 'शेखर: एक जीवनी'।

पहले माँ के सुख के लिये, और बाद में शेखर के जीवन में सम्पूर्णता लाने के लिये स्वयं न्योछावर होने को तैयार है।

भावुक आदर्शवाद के सहारे अपने जीवन की रूपरेखा निर्धारित करने वालों में 'नदी के द्वीप' के भुवन और रेखा भी हैं। भुवन के प्रति रेखा का भावुक हृदय उमड़ पड़ता है और वह सर्वस्व समर्पण कर भुवन के प्रति अपना कृतज्ञ भाव जताते हुये कहती है—'मैं एक खड़ा हुआ पानी थी : एक झील, एक पोखर, एक छोटा ताल, शैवालों से ढका हुआ। तुमने आंधी की तरह आकर मुझको आलोड़ित कर दिया, मुझमें अनन्त आकाश को प्रतिबिम्बित कर दिया। मुझे कहने दो, भुवन, मेरी यह देह जैसे तुम्हारी ओर उमड़ी थी, वैसे कभी नहीं उमड़ी, शिरा-शिरा ने तुम्हारा स्पर्श मांगा; तुम्हारे हाथों का स्पर्श तुम्हारी बांहों में जकड़, तुम्हारी देह की उत्तेजित गरमाई...लेकिन तुम में डर था—डर नहीं, एक दूर का कोई अनुशासन, कोई एक मर्यादा, जिसके स्रोत तक मेरी पहुंच नहीं थी ? और मैं फिर उसी तल पर पहुंच गयी जिस तल पर ताल सदा से था—ढका हुआ निश्चल, खड़े पानी का एक उद्देश्यहीन जमाव..लेकिन नहीं। यह ढका नहीं, आकाश का प्रतिबिम्ब उसमें रहा; फिर तुमने मुझे जगा दिया—क्षण-भर के लिये, लेकिन पहचान के लिये, अनन्य सम्पृक्त एक क्षण के लिये—भुवन, मैं तुम्हारी हूं, तुम्हारी हूं, तुम्हारी हूं।'[1]

रेखा का आत्मसमर्पण का आदर्श यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता; वह चाहती है कि उसने जो व्यथा भोगी है उससे सृजन हो, भुवन के जीवन में पूर्णता आये। भुवन को पत्र लिखते हुए वह कहती है—'मैं जो सोचती थी कि जो भी हुआ, जो मैं टूट गयी, उसकी बड़ी व्यथा हमारे चरित्र में फैलेगी, मेरे से अधिक तुम्हारे में, वह सब झूठ होगा, वह व्यथा एक अर्थहीन ट्रेजेडी हो जायेगी क्योंकि उसमें अभियोग होगा और उसकी अर्थहीनता हम दोनों को ले डूबेगी। मेरा तो कुछ नहीं, मैं तो डूबी ही हूं—पर तुम, भुवन, तुम मेरी सारी आशाओं के केन्द्र तुम हो—मेरे अंतरतम की सारी व्यथा को इस तरह व्यर्थ न कर दो, भुवन। व्यथा सृजन करती है, मेरी व्यथा बांझ रह गयी, मुझे भी झुलसा गयी; पर मैंने मानना चाहा था कि तुम्हीं को बनायेगी, और अपनी व्यर्थता तुम्हें अर्पित करके सार्थक हो जाऊंगी। वह सान्त्वना भी मुझे नहीं मिलेगी।' और इसी भावुक आदर्शवाद के कारण वह अपने जीवन का अस्तित्व भुवन के जीवन की सम्पूर्णता में देखते हुए कहती है—'भुवन, अपने जीवन को परास्त भाव से नहीं, स्रष्टा-भाव से ग्रहण करो; एक विशाल पैटर्न है जो तुम्हें बुनना है; तुम्हारी प्रत्येक अनुभूति उसका एक अंग है—प्रत्येक व्यथा एक-एक तार—लाल, सुनहला, नीला—मैं-मैं भी उसी ताने-बाने के तारों का एक पुंज हूं—तुम्हारे जीवन-पट का एक छोटा-सा फूल। मेरे बिना वह

१. 'नदी के द्वीप'

पैटर्न पूरा न होता, लेकिन मैं उस पैटर्न का अन्त नहीं हूं—मैं इससे सुखी हूं कि मैंने भी उसमें थोड़ा-सा रंग दिया है—'

रेखा के समान ही भुवन का सम्पूर्ण जीवन इस भावुक आदर्शवाद को समर्पित है। रेखा के प्रति भुवन का प्रगाढ़ प्रेम उसे रेखा के सम्मुख विवाह का प्रस्ताव रखने को प्रेरित करता है, किन्तु यह जानकर कि रेखा ने उसी पर किसी प्रकार की आँच न आने देने के लिये ही अपना गर्भ गिराकर व्यथा सही है तो भुवन के हृदय में पश्चाताप की भावना लहक उठती है। रेखा के त्याग और स्नेह का प्रतिदान देने में अपने आपको असमर्थ मानकर उसका हृदय उसे कचोटता है। गौरा को पत्र लिखते हुए वह कहता है-'यह सब जानकर भी मैं अपने को समझा लेना चाहता हूं कि तुम मुझे भूल गयीं। क्योंकि, क्यों कोई मेरे आघात सहे? यह सब स्नेह, करुणा, वात्सल्य—सब मानों एक बोझ-सा मुझे दबाये डालता है...... एक नयेबोझ-सा, क्योंकि एक बोझ पहले ही मेरे कन्धों पर है—मानों एक सजीव बोझ, एक सजीव शाप का बोझ, सिन्दबाद के कन्धों पर सवार सागर के बूढ़े-सा, जो विवश न मालूम किधर ले जा रहा है।' भावुकता की यह कचोट इतनी तीखी है कि भुवन अपने आपको सम्हाल नहीं पाता। इधर-उधर भटकता है और अंत में गौरा के सम्मुख अपने मानसिक बोझ की कथा कहकर ही सन्तोष पाता है।[1]

'अज्ञेय' के विविध पात्रों के चरित्र-विकास की उपर्युक्त सामान्य रूपरेखा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने पात्रों के चरित्र के माध्यम से अपने जीवनादर्शों को मूर्त्त करने का प्रयास किया है। उनके जीवनादर्श असामान्य होते हुये भी दार्शनिक एवं भावुक धरातल पर अवस्थित है। इसी कारण 'अज्ञेय' के उपन्यासों के विविध पात्रों में दार्शनिकता, भावुकता, आदर्शवादिता एवं असामान्यता के गुण पर्याप्त रूप से मिलते हैं। 'अज्ञेय' का चिन्तन नवीनता और अनोखापन लिये हुये है, अतः, उनके पात्रों के सृजन एवं विकास में भी नवीनता का उन्मेष तथा अनोखेपन की झलक दिखायी पड़ती है।

भाषा

उपन्यासकार द्वारा पात्रों के माध्यम से अपने चिन्तन को मूर्त्त स्वरूप देने के कारण जिस प्रकार पात्रों के चरित्र-विकास पर उसके चिन्तन का अमिट प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार भाषा भी रचयिता के चिन्तन के प्रभाव से अछूती नहीं रहती, क्योंकि, पात्रों की भाषा एवं कथोपकथन के माध्यम से वह अपने चिन्तन को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अज्ञेय' के पात्रों व इनके चरित्र-

---

१. 'नदी के द्वीप'

चित्रण के अतिरिक्त, उपन्यासों की भाषा पर भी उनके चिन्तन का रंग चढ़ा हुआ है। पात्रों की दार्शनिक, आत्मदर्शी एवं स्वच्छन्द मनोवृत्ति तथा भावप्रवणता को अभिव्यक्त करने के प्रयास में उनके उपन्यासों की भाषा में भी, उपर्युक्त गुणों का समावेश हो गया है। इन गुणों के कारण 'अज्ञेय' के उपन्यासों की भाषा जितनी प्रौढ़ है, उतनी ही समर्थ है, जितनी लचीली है उतनी ही लालित्यपूर्ण है, और जितनी परम्परा-विच्छिन्न है उतनी ही गहन भी है।

समर्थ एवं प्रौढ़ भाषा—उदाहरण के लिये, उनकी भाषा की प्रौढ़ता एवं सामर्थ्य को ही लें। 'अज्ञेय' ने भाषा को अपने चिन्तन की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है, इसलिये, नये-नये विचारों, तर्क-वितर्कों और दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करने के कारण 'अज्ञेय' की भाषा पर दार्शनिक की भाँति उनके पात्र किसी तथ्य की जड़ तक पहुँचने का प्रयास करते हैं, इसलिये पात्रों के स्वगत-भाषण में दार्शनिकता झलकती रहती है। उदाहरणार्थ, शेखर अपने विद्रोही स्वभाव का विश्लेषण करते हुये कहता है—'क्रान्तिकारी की बनावट में एक विराट, व्यापक प्रेम की सामर्थ्य तो आवश्यक है ही; साथ ही उसमें एक और वस्तु नितांत आवश्यक, अनिवार्य है, घृणा की क्षमता, एक कभी न मरने वाली, जला डालने वाली, घोर मारक, किन्तु इतना सब होते हुए भी एक तटस्थ, सात्विक घृणा की क्षमता; यानी ऐसी घृणा जिसका अनुभव हम अपने सचेतन मस्तिष्क से करते हैं, ऐसा नहीं जो कि हमें ही भस्म कर डालती है और पागल करके अपना दास बना लेती है।'[1]

इसी प्रकार, जेल में रहते हुए शेखर को आत्म-चिन्तन का पर्याप्त अवसर मिलता है और बाबा मदनसिंह द्वारा सुझाये गये चिन्तन-सूत्रों का अनुसरण करते हुये वह सोचता है—'दासता क्या है? अप्रिय सत्य का ज्ञान नहीं, असत्य का ज्ञान भी नहीं; दासता है सत्य या असत्य की जिज्ञासा को शांत करने में असमर्थ होना; वह बन्धन वह मनाही, जिसके कारण हमारा ज्ञान माँगने का अधिकार छिन जाता है।'[2]

'नदी के द्वीप' में भुवन, विज्ञान और नैतिकता के परस्पर सम्बन्ध की विवेचना करते हुये कहता है—'निस्सन्देह यह विज्ञान का सूक्ष्म-काल तो है ही; और उसके साथ नैतिकता और वैज्ञानिक संस्कृति का भी क्राइसिस है। इससे यह सोचना होगा कि नीति से अलग विज्ञान बिना सवार का घोड़ा है, या बिना चालक का इंजन है; वह विनाश ही कर सकता है। और संस्कृति से अलग विज्ञान केवल सुविधाओं और शक्तियों का संचय है, और वह संचय भी एक को वंचित करके दूसरे के हक में; और इस अम्बार के नीचे मानव की आत्मा कुचली जाती है, उसकी नैतिकता भी कुचली जाती है, वह एक सुविधावादी पशु हो जाता है।'[3]

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' २. वही। ३. नदी के द्वीप।

इसी प्रकार, रेखा को पत्र लिखते हुये वह परस्पर के सम्बन्धविच्छेद की अनिवार्यता की ओर संकेत करते हुये कहता है—'प्यार मिलता है, व्यथा भी मिलती है; साथ भोगा हुआ क्लेश भी मिलता है; लेकिन क्या ऐसा नहीं है कि एक सीमा पार कर लेने पर ये अनुभूतियां मिलाती नहीं, अलग कर देती हैं. सदा के लिए और अन्तिम रूप से ? अनुभूतियां गतिशील है; अतीत होकर भी निरन्तर वदलती रहती है और व्यक्तित्व को विकसाती हुई उसमें घुलती रहती हैं, लेकिन यह सीमा लांघ जाने पर जैसे वे गतिशील नहीं रहती; स्थिर, जड़ हो जाती है; एक न घुल सकने वाला लोंदा, एक वजूवातु पिंड। फिर व्यक्ति मानों इन अनुभूतियों को चौखटे में जड़कर रख लेता है; जीवन एक चल-चित्र न रहकर स्थिर चित्रों का संग्रह हो जाता है, और हर नयी सम्भाव्य अनुभूति के आगे व्यक्ति किसी एक चित्र को प्रतिरोधक दीवार की तरह खड़ा कर लेता है।'[1]

प्रतीक योजना—पात्रों के दार्शनिक चिन्तन को अभिव्यक्त करने का वहुधा यही परिणाम होता है कि उपन्यास की भाषा का प्रवाह अवरुद्ध होकर, इसमें क्लिष्टता और दुरूहता आ जाती है। किन्तु 'अज्ञेय' ने दार्शनिक चिन्तन की अभिव्यक्ति में प्रतीक-पद्धति का सहारा लेकर, भाषा को प्रवाहमयी एवं प्रभविष्णु बना लिया है। उदाहरण के लिए, 'नदी के द्वीप' में नदी में समय-समय पर मिटने और बनने वाले द्वीपों के प्रतीक के सहारे उन्होंने मानव-जीवन की व्याख्या करनी चाही है। इस प्रतीक का सहारा लेकर रेखा कहती है-'मैं तो समझती हूं, हम अधिक से अधिक इस प्रवाह में छोटे-छोटे द्वीप हैं उस प्रवाह से घिरे हुए भी, उससे कटे हुए भी; भूमि से बँधे और स्थिर भी, पर प्रवाह में सर्वदा असहाय भी। न जाने कब प्रवाह की एक स्वैरिणी लहर आकर मिटा दे, बहा ले जाये, फिर चाहे द्वीप का, फूल-पत्ते का आच्छादन कितना ही सुन्दर क्यों न रहा हो।'[2] वर्तमान में भली-भांति जीने में ही जीवन की सिद्धि मानते हुये रेखा कहती है—'मैंने भविष्य मानना ही छोड़ दिया है। भविष्य है नहीं, एक निरन्तर विकासमान वर्तमान ही सब कुछ है। आपने कभी पानी के फव्वारे पर टिकी हुई गेंद देखी है? बस जीवन वैसा ही है, क्षणों की धारा पर उछलता हुआ—जब तक धारा है तब तक बिल्कुल सुरक्षित, सुस्थापित; नहीं तो पानी पर टिके होने से अधिक वेपाया क्या चीज़ होगी।'[3] पुनः द्वीप के प्रतीक का सहारा लेते हुये वह कहती है—'हमीं द्वीप हैं, मानवता के सागर में व्यक्तित्व के छोटे-छोटे द्वीप; और प्रत्येक क्षण एक द्वीप है–खासकर व्यक्ति और व्यक्ति के सम्पर्क का, कान्टेक्ट का प्रत्येक क्षण अपरिचय के महासागर में एक छोटा किन्तु मूल्यवान द्वीप।'[4]

प्रतीक योजना के सहारे 'अज्ञेय' ने दार्शनिक अभिव्यक्ति से उद्भूत शुष्कता

---

१. नदी के द्वीप। २. वही। ३. वही। ४. वही।

को दूर कर भाषा में सरसता का संचार किया है और जब वे अपने पात्रों की भाव-भूमि के चित्रण की ओर प्रवृत्त होते हैं तब तो उनकी भाषा में लालित्य एवं सौंदर्य का संचार होने लगता है। पात्रों के गूढ़तम भावों, उनकी मानसिक यातनाओं तथा संकल्प-विकल्पों का चित्रण करते समय 'अज्ञेय' की भाषा सुन्दर उपमाओं का सृजन कर लालित्य-पूर्ण हो उठती है। उदाहरण के लिए, उन्होंने शेखर की जिज्ञासा वृत्ति का चित्रण इस प्रकार किया है 'कभी कोई तितली कमरे के भीतर आ फँसती है, तब पहले तो वह खिड़की के या किवाड़ के शीशों से, जिनसे प्रकाश आ रहा होता है और जिन्हें इसलिये वह बाहर की राह समझती है, जा-जा टकराती है, फिर टकराती है, फिर और टकराती है। फिर हारकर वह कमरे के एक-दो चक्कर काटती है, और फिर वहीं लौट आती है, और शीशों पर सिर पटकती, विवश पंख फड़फड़ाती, गिर-गिर कर भी नहीं गिरती···। वही दशा शेखर की थी। मुक्ति की खोज में पहले वह उन वस्तुओं से उलझा जो स्थूल थीं, जिन्हें वह देख सकता था, और उनसे हारकर वह कल्पना के क्षेत्र में गया, वहां से निराश होकर वह फिर यथार्थता में, स्थूल और प्रत्यक्ष में लौट आया।'[1]

इसी प्रकार शेखर के नैराश्य-भाव का चित्रण करते हुये कहा गया है—'एक पथरीले नीले रंग की धूमिल साँझ—चौतल्ले के एक अकेले कोणाकार कमरे की खुली खिड़कियों में से ठंडा और बोझीला और तेजाब की तरह चुभने वाला, सांप की केंचुल सी मरी और बदरंग चिकनाहट लिये शहर के पौष का धुंआ भीतर धँसा चला आ रहा है, नीचे और आस-पास फैले हुए अदृश्य-शहर में से प्रेत-सा आकारहीन शोर धुएं के कफन को भेद कर ऊपर उठ रहा है, पर उसकी नीरव चाप मानों कमरे के पथराये हुये सन्नाटे को बढ़ा रही है। शेखर धुएं से अंधी पर जलन के कारण और भी निर्मल आँखों को बलात् खोले हुये खाट के एक कोने में दुबका बैठा है, और धूमिल भाव से अनुभव करता है कि यह बाहर का चित्र उसकी भीतरी अवस्था की अच्छी विडम्बना है।'[2]

'नदी के द्वीप' में भुवन के भावोन्माद के चित्रण में 'अज्ञेय' ने भाषा को कितना समर्थ एवं कितना प्रभविष्णु बना दिया है इसका एक उदाहरण है, 'तुलियन से लौटकर भुवन फिर प्रयोगशाला में डूब गया था। यद्यपि वह डूबना पहले से कुछ भिन्न था, क्योंकि तुलियन के प्रयोगों को लेकर वह जब भी गणना करने बैठता तो उन प्रयोगों से मिलने वाली बौद्धिक प्रेरणा ही नहीं, उनकी ओट में तुलियन का वह भावोन्माद भी झलक आता जिसे ओट से खींचकर सामने लाने का प्रयत्न उसने नहीं किया था; वह अनुभूतियों का एक संघट्ट, संवेदनाओं का एक घना सम्पुंजन था जिसे विश्लिष्ट करके देखना चाहना ही मानों बर्बरता थी—जिस तरह किसी हल्की गैस से भरे हुये गुब्बारे से लटक जाने पर गुरुत्वाकर्षण को काट कर मानव

---

१. शेखर : एक जीवनी। २. वही।

मानों भार-मुक्त हो जाता है—पृथ्वी पर पैर रख कर चलता भी है तो भार देकर नहीं चलता, वैसी ही उसकी अवस्था थी। वह अपनी सब चर्या पूरी करता था, पर मानों धरती पर पैरों की छाप डाले बिना; जैसे मानवी मायापिंजर में बँधा हुआ कोई आकाशचारी देवगन्धर्व।'[1] पुनः अपने मन में व्याप्त गहरे विषाद एवं असंतोष को प्रकट करते हुए भुवन गौरा को पत्र में लिखता है—'सहसा भीतर कुछ उभर आया है कि नहीं यह तुम्हारा स्थान नहीं है, चलो। और यह निरी 'होम सिकनेस' नहीं है—यहां का न होने में देश की भावना बिल्कुल नहीं है, सारी परिस्थिति से असन्तोष है। मैं जैसे किसी सुदूर पोत-भंग का एक टूटा, बह कर आया हुआ विपन्न तख्ता हूं—फ्लाट्सम—लहरों के थपेड़े खाता लुढ़कता पुढ़कता कहीं लगा हूं और जानता हूं कि नहीं, वह ठिकाना नहीं है, और वह पोत तो अब हुई नहीं जिसका मैं अंश हूं—था। अपने को ऐसे बहते देखा जा सकता है एक प्रकार की तटस्थता से और निरन्तर देखते रहने से एक मोहावस्था भी हो जाती है, पर सहसा वह टूटती है तो…'

काव्यमयी भाषा—और जब 'अज्ञेय' अपने पात्रों के कोमल तथा रोमांटिक भावों के चित्रण की ओर प्रवृत्त होते हैं तब तो उनकी भाषा काव्यमय हो जाती है। उनके उपन्यासों में ऐसे अनेक स्थल मिल जाएंगे जहां कि पात्रों के कोमल एवं स्वप्निल मनोभावों को चित्रित करने के कारण उनकी भाषा ने काव्य का रूप धारण कर लिया है। शेखर के मन में उठने वाली प्रणयाकांक्षा का एक चित्र है—'वह छिप कर सुन्दर कागज पर रंग-बिरंगी फूल-पत्तियां बनाता और उनसे घिरे हुए स्थान में लिखना। किसे ? वह स्वयं नहीं जानता। लेकिन अपने हृदय की सारी भूख वह उस पत्र में भर देता और इस अज्ञात के स्वागत की सारी विह्वलता…वह लिखता; ओ कल्पित, ओ अज्ञात, जिसे मैं मन में भी नहीं देख पाता, तुम इस पत्र को पढ़ोगी, और समझोगी ? मैं शेखर हूं, मैं अकेला हूं, मैं जाने कब से तुम्हें ढूंढ़ रहा हूं, तुम्हारी ही प्रतीक्षा में हूं, तुम्हारे ही लिए हूं। तुम दिव्य लोक में हो लेकिन दिव्य लोक भी तुम्हें उसी तरह मांगता है जिस तरह मैं ? ओ अज्ञेय, ओ अकल्पनीय।'[3]

शेखर—शशि के मिलन का एक चित्र है 'शशि के झुकने में न अनुकूलता थी न प्रतिरोध; वह झुकी हुई थी, पर स्तब्ध, निःशब्द थी…।

'वह स्तब्धता जैसे शेखर के प्राणों में भी समा गई; उसे लगा कि सब ज्यों का त्यों स्तिमित हो गया है, क्योंकि आगे और कुछ होने का नहीं है, सब कुछ वहां पहुंच गया है जहां कैवल्य है, क्योंकि निर्वाण है—यद्यपि दूर कहीं, बादल की गर्जन थी और बूंदों का फूत्कार, और कौंध का वह प्रकाश जो स्वयं भी कुछ नहीं दिखाता और बाद के अन्धकार को और भी घना कर जाता है।

---

१. 'नदी के द्वीप' २. वही। ३. 'शेखर : एक जीवनी'

'और शेखर के ऊपर थी सप्तपर्ण के तरुण गाछ की छांह, जिसे दूर की कोई बहती सांस कँपा जाती थी; दूर दक्षिणी किसी समीर की सांस, क्योंकि उसमें स्निग्ध गरमाई थी, और जब तब एक सोंधापन शेखर के नासापुटों को भर देता था—वह सोंधापन जो मलय के प्राणद पहले स्पर्श में होता है...'[1]

भुवन के प्रति रेखा के स्नेहसिक्त हृदय का एक काव्यमय चित्र है— मैंने तुम्हें गाना सुनाया था; शारद प्रति आमार रात पोहालो। मेरी वंशी, तुम्हें किसके हाथ सौंप जाऊंगी ? अब सोचती हूं क्या उसमें भवितव्य की सूचना थी—क्या मैं तब जान गई थी, देख सकी थी...मूक मेरी वंशी, अभी सहसा तुम्हारी बहकी हुई सांस से मुखर हो उठी है, और अभी मूक हो जाएगी। होने दो, चुकने दो रात—। मैंने गाया था, महाराज, यह किस साज में आप मेरे हृदय में पधारे हैं ? उसमें कौतुक भी है, अचरज का चकित भाव भी है, और अपनापे की द्योतक ठठोली भी है—कोटि शशि सूर्य लजा कर पैरों में लोट रहे हैं; महाराज, यह किस ठाठ से आप मेरे हृदय में पधारे हैं—मेरा देह-मन वीणा-सा बज उठा है।'[2] ऐसा ही एक चित्र है भुवन के प्रति गौरा के प्रेम का—'तुम्हारे भेजे हुए फूल मिले—पर उनकी गंध तो उड़ गई। काश; मैं भी ऐसे ही उड़ सकती—उड़ कर शून्य में विलीन होने को नहीं, उन पेड़ों तक पहुंचने को जिनके नीचे बैठ कर तुम उनकी सुगंध नासापुटों में भरते होगे, जिनके नीचे तुम्हें मेरी याद आई। तुम्हारी सांसें मेरी स्मृति को घेरती हैं—? पर मुझे, भुवन मुझे ? मुझसे तुम दूर-ही-दूर जाते हो और जाते रहे हो। अच्छा जाओ, जहां भी जाओ, मुक्त रहो...'[3]

नग्न-चित्रण—पात्रों के प्रणय-अनुराग और कोमल मनोभाव का चित्र खींचते-खींचते 'अज्ञेय' की भाषा में जहां काव्यमयता और सौन्दर्य का संचार हो गया है वहां कामुक प्रसंगों का वर्णन करते समय उन्होंने नग्नप्राय चित्र खींच दिए हैं। शेखर और शशि के अन्दर उफनती हुई वासना का एक चित्र है—'तब बिना एक शब्द और कहे शशि अपनी ठोड़ी उठाती है; उसकी आंखें अर्धनिमीलित हैं और ओंठ अधखुले, वह निश्चल मुद्रा बोलती रही।

'क्षण-भर शेखर कुछ नहीं समझता, फिर एक बाढ़ उसके भीतर उमड़ आती है और वह उन उठे हुए अर्धमुकुलित ओंठों की ओर झुकता है—झुकते झुकते उसकी आप्लवनकारी आतुरता ही उसे संयत कर देती है, एक वत्सल कोमलता उसमें जागती है कि बेले के अधखिले सम्पुट को स्निग्धतम स्पर्श से ही छूना चाहिए, और ओठों के निकट पहुंचते-पहुंचते वह ग्रीवा कुछ मोड़ कर अपना कर्णमूल शशि के ओठों से छुआ देता है। ओंठ तप्त हैं—ज्वर से; उस रोमिल स्पर्श से एक सिहरन-सी उसके माथे में दौड़ आती है, तब चेतना की एक नई लहर से बाधित वह फिर

---

१. 'शेखर : एक जीवनी' २. 'नदी के द्वीप' ३. वही।

झुकता है और शशि के स्निग्ध, स्तब्ध किन्तु बेझिझक ओंठ चूम लेता है··· निर्द्वन्द्व वरद, दीर्घ चुम्बन···'[1]

'नदी के द्वीप' में तो 'अज्ञेय' ने बिना किसी झिझक के कामोपभोग के चित्र दिए हैं। तुलियन झील पर भुवन और रेखा के सम्भोग का एक चित्र है—'सहसा भुवन ने कम्बल हटाया, मृदु किन्तु निष्कम्प हाथों से रेखा के गले से बटन खोले, और चांदनी में उभर आए उसके कुचों के बीच की छाया-भरी जगह को चूम लिया। फिर अवश भ व से उसकी ग्रीवा को, कन्धों को, कर्णमूल को, पलकों को, ओठों को, कुचों को···और फिर उसे अपने निकट खींच कर ढक लिया।'

भुवन ने अपना माथा रेखा के उरोजों के बीच में छिपा लिया; उनकी गरमाई उसके कानों में चुनचुनाने लगी : फिर उसके ओंठ बढ़ कर रेखा के ओठों तक पहुंचे उन्हें चूमा और प्रतिचुम्बित हुए।'[2]

इसी प्रकार का एक और चित्र है—चन्द्रमाधव और कौशल्या के कामोपभोग का—'कौशल्या क्षण भर अनिश्चित रही; उत्तर देने को थी कि चन्द्र ने हाथ बढ़ा कर उसकी कमीज का गला पकड़ कर अपनी ओर खींच लिया। खींचने से दो-तीन टीप-बटन खुल गए पर चन्द्र की जकड़ छूटी नही; कौशल्या खिच आई; चन्द्र ने सहसा खड़े होते होते दूसरी बांह उसके सिर के पीछे से ले जाते हुये उसे और निकट खींच लिया; पास आते चेहरे पर उसने देखा, कुछ विस्मय, कुछ अचकचाहट, कुछ प्रतीक्षा; ओठों के अधखुलेपन में इन सबके मिश्रण से ऊपर भी एक अकथ्य भाव; इससे आगे वह देख नहीं सका क्योंकि ओठों के छूते-न-छूते कौशल्या ने हाथ बढ़ा कर बत्ती बुझा दी थी, चन्द्र ने उसकी कांपती-सी देह को खींच कर चारपाई पर गिरा दिया और एक क्रूर चुम्बन से उसके ओंठ कुचल दिये—'[3]

कामोपभोग के उपर्युक्त चित्रों पर भले ही अश्लीलता का आपेक्ष किया जाये, किन्तु 'अज्ञेय' को उसमें असुन्दर अथवा भोंडापन नहीं, अपितु स्वाभाविकता ही दिखायी देती है। इसी आशय को प्रकट करते हुए उन्होने रेखा के मुख से कहलवाया है—'वेदों की विवाह की ऋचायें हैं—सुन्दर जानो तो सुन्दर, अश्लील मानों तो अश्लील। मुझे याद आता है...' ठीक कहती हैं वह, हमने आंखों से आंखों को वरा था, ओंठ से ओंठ को, वक्ष से वक्ष को। प्राण से प्राण को; प्यार से प्यार को, और हां, वासना से वासना को...'[4]

'अज्ञेय' के उपन्यासों की भाषा के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यह कहना पिष्टपेषण-मात्र है कि भाषा को अपने चिन्तन एवं मनोभावों की अभिव्यक्ति का

---

१. 'शेखर : एक जीवनी'   २. 'नदी के द्वीप'।
३. 'नदी के द्वीप'   ४. 'नदी के द्वीप'।

माध्यम बनाने के कारण, इस पर उनके चिन्तन की गहरी छाप पड़ गयी है। वस्तुतः 'अज्ञेय' की भाषा में दार्शनिक गाम्भीर्य और काव्यमय लालित्य का ऐसा सुन्दर समन्वय हुआ है कि उनकी भाषा प्रवाहमयी, समर्थ एवं प्रौढ़ रूप धारण कर हमारे सामने प्रस्तुत हुई है। जिस ओजपूर्ण काव्यमयी भावप्रवण एवं विचारोत्तेजक भाषा का जैनेन्द्र कुमार ने सूत्रपात किया था, उसके उत्तरोत्तर विकास के दर्शन हमें 'अज्ञेय' की भाषा में होते हैं। अतः, एक दृष्टि से देखा जाये तो भाषा के क्षेत्र में जैनेन्द्र ने विकास के जिस क्रम का श्रीगणेश किया था, उसे 'अज्ञेय' ने अधिकाधिक बढ़ावा दिया है।

यशपाल

राजनैतिक उपन्यासों की परम्परा–हिन्दी उपन्यास-साहित्य की मनोवैज्ञानिक परम्परा के उपरान्त, इसकी राजनैतिक परम्परा का अध्ययन किये बिना, इस साहित्याग के क्रमिक विकास का विवेचन अधूरा ही रह जायेगा। हिन्दी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने मानव के अन्तर्जगत् का विश्लेषण करते हुए उसकी मानसिक जटिलताओं के उद्घाटन का प्रयास किया और अपने-अपने चिन्तन के अनुरूप इन जटिलताओं को सुलझाने के उपाय भी सुझाये। किन्तु राजनैतिक उपन्यास-रचना की परम्परा में मानव के अन्तर्जगत् की अपेक्षा उसके बाह्य जगत् के प्रसार की ओर पुनः ध्यान दिया जाने लगा। अंतर्मुखी के स्थान पर बहिर्मुखी होकर राजनैतिक उपन्यासकार ने मानव की आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं पर विचार करना प्रारम्भ किया। साथ ही, मानव की इतर जागतिक समस्याओं में से राजनैतिक समस्याओं एवं घटनाओं की ओर अधिक ध्यान देने और एक विशिष्ट राजनैतिक चिन्तन के अनुरूप इन समस्याओं का हल और घटनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण उसकी औपन्यासिक कृतियों को 'राजनैतिक उपन्यास' के नाम से पुकारा जाने लगा।

हिन्दी के राजनैतिक उपन्यासकारों में यशपाल का नाम अग्रगण्य है। इस परम्परा की नींव रखने का श्रेय यद्यपि प्रेमचन्द को दिया जायेगा, किन्तु इस परम्परा को उत्तरोत्तर विकसित करने और निखारने की बात जब उठती है तब यशपाल का नाम सामने आता है। यशपाल ने मानव-जीवन के राजनैतिक पहलू पर सब से अधिक जोर दिया है और एक विशिष्ट राजनैतिक दर्शन के अनुरूप भारतीय जन-जीवन की सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। यशपाल द्वारा विशिष्ट राजनैतिक चिन्तन के अनुरूप मानव जीवन की सर्वथा नये पहलू से व्याख्या प्रस्तुत करने का यह परिणाम हुआ है कि उन्होंने उपन्यास-रचना में नये दृष्टिकोण और नयी सामग्री का समावेश कर हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास की एक नयी दिशा प्रशस्त की है। यशपाल के इस योगदान के आकलन

के लिए हमें सर्वप्रथम उनके जीवन-दर्शन को समझना होगा, क्योंकि उपन्यास के माध्यम से मानव-जीवन की व्याख्या प्रस्तुत करने के प्रयास में वे अपने जीवन-दर्शन के अनुरूप ही जीवन के कुछ खास लक्ष्य और आदर्श निर्धारित करके साहित्य-सृजन के क्षेत्र में उतरे हैं। इन विशिष्ट जीवनादर्शों व लक्ष्यों ने उनके साहित्य-सृजन को प्रेरणा दी है, इसलिए उनकी साहित्यिक कृतियों के आकलन के पूर्व उनके जीवनादर्शों एवं लक्ष्यों के स्रोत, अर्थात् उनके जीवन-दर्शन का आकलन नितान्त आवश्यक है।

जीवन-दर्शन

मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव—यशपाल के जीवन-दर्शन पर विचार करते ही जो बात तुरन्त ध्यान में आती है, वह है इस पर मार्क्सवादी चिन्तन का प्रभाव। वस्तुतः, यशपाल के जीवन-दर्शन पर मार्क्सवाद की इतनी गहरी छाप पड़ी हुई है कि यदि मार्क्सवादी चिन्तन को उनके जीवन-दर्शन का मूलाधार कहा जाये तो अत्युक्ति न होगी। यशपाल ने जीवन के विविध पहलुओं पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया है, और मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार भारतीय जीवन की आलोचना की है। मार्क्सवादी दर्शन में समाज जीवन का परिचालन करने वाली कोई दैवी शक्ति नहीं मानी गयी, वरन् प्राकृतिक नियमों के समान, समाज व्यवस्था के कुछ नियम निर्धारित किये गये हैं और यही नियम समाज-जीवन को गति देते हैं। भौतिक पदार्थों के समान समाज-व्यवस्था के कुछ निश्चित नियम स्वीकार करने के कारण मार्क्सवाद, मूलतः, भौतिकवादी दर्शन है। मार्क्सवाद में समाज के ईश्वरीय अथवा दैवी विधान का अस्तित्व अमान्य ठहराया गया है, और इसके स्थान पर समाज की अर्थ-व्यवस्था को सर्वोपरि मानते हुए आर्थिक शक्तियों को ही सामाजिक जीवन की प्रेरक शक्ति माना गया है। मार्क्सवादी चिन्तन का यह भौतिक, और फलस्वरूप आर्थिक दृष्टिकोण, इसकी प्रमुख विशेषता है और इसी आर्थिक दृष्टिकोण के अनुसार मार्क्सवाद ने समाज-जीवन के विविध पहलुओं की विवेचना की है।

आर्थिक निर्धारण का सिद्धान्त—मार्क्सवाद के उपर्युक्त आर्थिक दृष्टिकोण ने 'आर्थिक निर्धारण' के सिद्धान्त को जन्म दिया है, जिसका अर्थ है कि किसी युग विशेष में उत्पादन के साधनों का—अर्थात् आर्थिक व्यवस्था का, उस युग की समस्त प्रवृत्तियों एवं गतिविधियों पर पूर्ण नियन्त्रण रहता है; यहाँ तक कि उस युग की कला, रीति-रिवाज और विधि-विधान के स्वरूप का निर्धारण भी तत्कालीन उत्पादन के साधन ही करते हैं।' समाज की आर्थिक व्यवस्था बदलने पर समाज-जीवन के विविध पहलू भी बदलते रहते हैं, इसलिये मार्क्सवादी चिन्तन में सामाजिक व्यवस्था को अटल अथवा सामाजिक नियमों को अपरिवर्तनीय न मानकर इसमें युगानुसार

परिवर्तन को अनिवार्य माना गया है। उदाहरण के लिए, सामन्ती युग में समाज के सामाजिक नियम अथवा नैतिक मर्यादायें युग विशेष की अर्थ-व्यवस्था के अनुरूप ढली होने के कारण, उस युग के लिए भले ही उचित हों, किन्तु पूंजीवाद युग में इन परम्परागत सामन्ती नियमों अथवा मर्यादाओं में परिवर्तन करना अनिवार्य हो जायेगा। जिस सामन्ती वर्ग के हितों की रक्षा के लिये इनकी रचना की गयी थी, जब वह वर्ग ही न रहा तो इनका कोई प्रयोजन नहीं रहता। अतः, इसमें परिवर्तन करना अनिवार्य है। इसी प्रकार, जो नियम और मर्यादायें पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था पर आधारित समाज में सर्वथा उचित समझी जाती हैं, वही समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के अनुसार ढले हुए समाज में बेकार और अनुचित प्रतीत होंगी।

समाज की अर्थ-व्यवस्था, और फलस्वरूप समाज-व्यवस्था को, मार्क्सवाद अटल नहीं समझता, अपितु इसकी परिवर्तनशीलता को अनिवार्य भी मानता है। मार्क्सवाद की विशेषता इस बात में है कि इसने इस परिवर्तनशीलता को पहचानने के अतिरिक्त इसे एक दिशा देने का संकल्प किया है। यह संकल्प है मानव के उत्तरोत्तर विकास, उसकी उत्तरोत्तर प्रगति का। मार्क्सवाद ने मानवमात्र की प्रगति को चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करने के उपरान्त, आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति को भी परमावश्यक माना है। यहां आकर मार्क्सवाद, प्रगतिवादी दर्शन होने के साथ-साथ, क्रान्ति का आह्वान करने लग गया है।

समाजवाद का लक्ष्य—मार्क्सवाद के प्रगतिवादी चिन्तन ने जहां एक ओर सामाजिक क्षेत्र में क्रान्ति की घोषणा करते हुए वर्गविहीन समाज का लक्ष्य अपने सम्मुख रखा है, वहीं दूसरी ओर, आर्थिक क्षेत्र में भी इसने 'आर्थिक विकास' का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए समाजवादी आर्थिक व्यवस्था की स्थापना को अपना एकमेव लक्ष्य माना है। मार्क्सवादी दर्शन के इस 'आर्थिक विकास' के सिद्धान्त का अभिप्राय केवल इतना ही नहीं कि विज्ञान के विकास के साथ-साथ उत्पादन के साधनों का उत्तरोत्तर विकास हो जायेगा, वरन् उत्पादन के साधनों पर पूंजीपतियों के बजाय धीरे धीरे श्रमिकों का, और अन्त में सम्पूर्ण समाज का अधिकार हो जायेगा। इस प्रकार 'आर्थिक विकास' की अन्तिम परिणति समाजवाद में मानकर मार्क्सवादी चिन्तन ने वर्गसंघर्ष, पूंजीवाद के अनिवार्य ह्रास, मजदूरों के निर्बाध शासन, आदि विविध स्थितियों को भी अनिवार्य माना है। इस चिन्तन के अनुसार उपर्युक्त विविध स्थितियां तो समाजवाद की स्थापना में अलग-अलग सीढ़ियां हैं जिन्हें पार करके मार्क्सवादी चिन्तन का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त होगा।

यशपाल के चिन्तन का आधार—मार्क्सवादी चिन्तन के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यशपाल के जीवन-दर्शन की मार्क्सवादी पृष्ठभूमि का कुछ-कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुतः, मार्क्सवाद के भौतिकवादी एवं प्रगतिवादी चिन्तन

तथा इसके समाजवाद की स्थापना के लक्ष्य को आत्मसात करके यशपाल का जीवन-दर्शन पनपा है। फलस्वरूप, समाज की नैतिक मर्यादाओं के बारे में यशपाल के विचार, मार्क्सवादी चिन्तन से पूर्णतः मेल खाते हैं। समाज की आधुनिक नैतिक व्यवस्था से यशपाल पूर्णतः असन्तुष्ट हैं, क्योंकि उनके मतानुसार, नैतिकता का एकमेव उद्देश्य 'यदि मनुष्य को व्यवस्था और विकास की ओर ले जाना है तो मानना पड़ेगा कि यह उद्देश्य हमारी वर्तमान नैतिक और आचार सम्बन्धी धारणा से पूरा नहीं हो रहा है।'[1] समाज के वर्तमान नैतिक विश्वासों और मर्यादाओं में यशपाल की श्रद्धा नहीं है, इसलिये वे चाहते हैं कि मानव की वर्तमान आवश्यकताओं और उसके भावी विकास को ध्यान में रखकर इन मर्यादाओं का नये सिरे से निर्धारण किया जाये।

यहां प्रश्न उठता है कि ये आवश्यकतायें कैसी हैं और ये अभाव कौन से हैं? इसके उत्तर में यशपाल ने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा है-'हमारे यथार्थ का नग्न-रूप केवल 'शिष्णोदर' का चीत्कार है। वह श्रेणी संघर्ष और राष्ट्रों के संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। वह जघन्य है परन्तु वह हमारी सामाजिक स्थिति की वास्तविकता है। हमारा साहित्य, कला, नैतिकता और न्याय इस शिष्णोदर की पूर्ति के व्यापक और रूपान्तरित प्रयत्न हैं।'[2] अतः, एक ओर पेट की भूख और दूसरी ओर, अतृप्त कामवासना को मानव के प्रधान अभावों के रूप में देखकर यशपाल ने इन अभावों की पूर्ति को सामाजिक व्यवस्था का लक्ष्य माना है। उनके मतानुसार समाज की वर्तमान नैतिक व्यवस्था ने जहां जन-समुदाय की काम-अभुक्ति को बढ़ावा दिया है, वहां आज की पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने उसका आर्थिक शोषण कर उसे भौतिक सुख-सुविधाओं से वंचित कर रखा है।

समाजवाद का आदर्श—यशपाल के चिन्तन में मानव के सर्वांगीण विकास को शीर्षस्थान प्राप्त है, इसलिये इस विकास का श्वासावरोध करने वाली आधुनिक नैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओं के विरुद्ध उन्होंने मोर्चा ठान रखा है। यह तो हो गया उनके चिन्तन का प्रतिक्रियात्मक एवं अभावात्मक रूप। किन्तु, इसका एक विधायक रूप भी है जिसका लक्ष्य एक ऐसे समाज की रचना करना है जो मानव की 'शिष्णोदर' सम्बन्धी भूख को तृप्त कर सके। ऐसी आदर्श सामाजिक व्यवस्था की रूपरेखा खींचते हुए यशपाल ने कहा है—'हमारा आदर्श है समाज की वह अवस्था प्राप्त करना, जिसमें शिष्णोदर की तृप्ति और तृष्णा से मनुष्य पशु न बना रहे, मनुष्य श्रेणी और राष्ट्रों के संघर्ष से आत्महत्या न करता रहे।'[3] इस आदर्श की पूर्ति को वे समाजवादी ढांचे की आर्थिक व्यवस्था तथा वर्जना-शून्य नैतिक व्यवस्था में ही सम्भव मानते हैं। इस प्रकार मानव के सर्वांगीण विकास को सम्भव

---

१. 'दादा कामरेड'। २. 'देशद्रोही'। ३. वही।

यशपाल ने समाजवाद की स्थापना एवं वर्तमान नैतिक व्यवस्था में
ों के अनुसार, यथोचित सुधार को अपने जीवन-दर्शन में शीर्षस्थान
नके चिन्तन का विधायक-पक्ष है।

और गांधीवाद से विरोध—साथ ही, यशपाल के मतानुसार, मानव
द्ध करने वाली बाधाओं को हटाकर इसका विकास-पथ प्रशस्त
नहीं रखता। इन बाधाओं में से प्रमुख हैं—मनुष्य का आर्थिक-
ली पूंजीवादी व्यवस्था और उसकी बुद्धि को भरमाने वाले धार्मिक-
कार जहां एक ओर यशपाल ने पूंजीवाद के उन्मूलन को मानव के
स्मावश्यक माना है तो दूसरी ओर गांधीवाद के रूप में धार्मिक एवं
न्तन के विरुद्ध भी उन्होंने युद्ध छेड़ रखा है। इन दोनों विचार-
साथ आक्रमण करने का कारण यही है कि यशपाल के मतानुसार
ौतिक अभावों का सृजन करता है उन्हीं अभावों को गांधीवाद
ोष के नाम पर सहन करने का उपदेश देता है। इस प्रकार दोनों
न है, पूंजीवाद तो इन अभावों को उत्पन्न करने के कारण और
भावों का समर्थन करने के कारण। अतएव, यशपाल के चिन्तन
विचारधाराओं के विरुद्ध संघर्षरत होने को, मानव के कर्त्तव्य के
किया गया है।

चिन्तन—यशपाल ने समाजवाद और वर्गहीन समाज-व्यवस्था की
में पूंजीवाद और गांधीवाद को प्रमुख बाधा के रूप में देखा है,
समाजवाद तथा आदर्शसमाज व्यवस्था की स्थापना की बात कहते
न्न विचारधाराओं के विरुद्ध जिहाद-सा छेड़ देते हैं। इसका परि-
क रचनात्मकता के साथ-साथ उनका जीवन-दर्शन बहुत उग्रता लिए
ादी आदर्शों के प्रति उनका विश्वास इतना दृढ़ है कि इनसे भिन्न
छिड़ते ही उनका चिन्तन फुफकार उठता है। यद्यपि यह उग्रता
क प्रति उसकी पूर्ण ईमानदारी की ही सूचक है, तो भी यह स्वीकार
कि इस उग्रता ने उनके चिन्तन में एकांगिता ला दी है। मानव के
की विविध समस्याओं को उन्होंने मार्क्सवाद के आर्थिक दृष्टिकोण
ाए इन समस्याओं का विश्लेषण भी एक है, निदान भी एक है और
। इस कारण, यशपाल के दृष्टिकोण की उग्रता और एकांगिता
प्रमुख गुण बन गयी है; यहां तक कि उनके साहित्यादर्श भी इस
नहीं बचे हैं।

साहित्यादर्श

की उपयोगिता—यशपाल के साहित्यादर्शों पर उनके मार्क्सवादी

चिन्तन के प्रभाव का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि साहित्यकार को श्रमिक की श्रेणी में रखकर उसके साहित्य-सृजन की सामाजि योगिता आंकनी चाही है। उनका कथन है-'लेखक यदि कलाकार है तो प्रयत्न की सार्थकता समाज के दूसरे श्रमिकों की भांति कुछ उपयोगिता को करने में ही है। विकास द्वारा समाज को सामर्थ्य और पूर्णता की ओर ले ही श्रमिक की सामाजिक उपयोगिता है।'[1] उनको 'कला-कला के लिये सिद्धान्त मान्य नहीं, अतः, कला के उपयोगितावादी पक्ष पर उनका अधि है। साहित्य-सृजन के उपयोगितावादी आदर्श की व्याख्या करते हुये उन्हों कहा है—'कला का उद्देश्य है, जीवन में पूर्णता लाने का प्रयत्न। बजाय इ कला का यत्न बहक कर हवा में पैंतरे बदलकर श्रान्त हो जाये, क्या यह अच्छा नहीं कि वह विकास और नवीन कला के लिये आधार प्रस्तुत करे?'[2]

साहित्यकार के कर्तव्य—साहित्य सृजन के ऊपर समाज के उत्तरोत्तर का दायित्व डालने के कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि समाज में व्याप्त एवं वैषम्य की ओर जनसाधारण का ध्यान खींचा जाये और तदुपरान्त इन परिस्थियों को बदलने की इच्छा उत्पन्न की जाये। इस प्रकार यशपाल ने सृजन के सम्मुख समाज के विकास का कोरा आदर्श ही नहीं रखा, वरन् उ को प्राप्त करने के लिये यथोचित् कार्य-प्रणाली भी प्रस्तुत की है। द्वारा वे समाज को एक विशिष्ट दिशा में चलाना चाहते हैं; कोरे मनोरंज सौन्दर्य-सृष्टि में ही इसकी इति नहीं मानते। अपने इन्हीं विचारों को व्य हुए उन्होंने साहित्यकार के कर्त्तव्य की व्याख्या की है—'साहित्य का केवल चारण बनकर, सौन्दर्य, पौरुष और तृप्ति की महिमा गाता रहकर इ सामाजिक कर्त्तव्य को पूरा नहीं कर सकता। विकास और पूर्णता के स प्रयत्न की इच्छा और उत्साह उत्पन्न करना, उस उत्साह को विवेक और की प्रवृत्ति द्वारा सजग और सचेत रखने की भावना जगाना, साहित्य के का काम है।'[3]

सोद्देश्य साहित्य-रचना—साहित्य के उपयोगितावादी पक्ष पर आग्रह यशपाल के चिन्तन की उग्रता के संयोग का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि साहित्य की श्रेष्ठता का मूल्यांकन इसकी सोद्देश्यता के अनुरूप ही किया है द्देश्य साहित्य-रचना पर 'हवा में पैंतरे' बदलने का लेबु ' चिपकाकर य समाज को झंझोड़ कर उठाने और इसे विकास-पथ पर अग्रसर करने वाले साहित्य की सराहना की है। ऐसे सोद्देश्य एवं समर्थ साहित्य का लक्ष्य आ रखकर यशपाल ने साहित्यिक क्षेत्र में पदार्पण किया है, अतः, इस सक्षयता

१. 'देशद्रोही' २. 'दादा कामरेड' ३. 'देशद्रोही'।

उनके उपन्यासों पर जो प्रभाव पड़ा है उसका समुचित अध्ययन करने के लिए इसके आगे, सर्वप्रथम, उनके उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष पर विचार किया जायेगा।

उद्देश्य-पक्ष

यशपाल ने सोद्देश्य साहित्य-रचना के आदर्श का अनुसरण करते हुए मार्क्सवादी चिन्तन के प्रचार को अपने उपन्यासों के उद्देश्य के रूप में स्वीकार किया है, और अपनी प्रत्येक कृति में इस उद्देश्यपूर्ति का सदैव ध्यान रखा है। यही कारण है कि यशपाल के उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष पर विचार करते समय उनके उपन्यास-साहित्य की प्रचारात्मकता पर अपने-आप ही निगाह अटक जाती है। अपनी रचनाओं में मार्क्सवादी चिन्तन के प्रति अटल निष्ठा व्यक्त करने और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की नीति का स्पष्टीकरण एवं समर्थन करने के कारण उनकी कृतियों पर प्रचारात्मकता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। अतः, यशपाल के उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष पर विचार करने के पूर्व उनके उपन्यास साहित्य के प्रचार-पक्ष पर विचार करना अधिक अच्छा रहेगा।

प्रचारात्मकता—एक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक साहित्यकार अपने मत और विश्वास अथवा भाव और विचार से पाठकों को परिचित कराने के लिये, अथवा यों कहें कि इनका प्रचार करने के लिये, साहित्य सृजन करता है। वह चाहता है कि वह अपनी अनुभूतियां अथवा अपने विचार दूसरों तक पहुंचाये। इस रूप में साहित्य सृजन में प्रचार का पुट होना अनिवार्य है। किन्तु, प्रत्येक साहित्यिक कृति के मूल में यह समानता होने पर भी हम किसी रचना को तो झट से शुद्ध प्रचारात्मक कह देते हैं और किसी को शुद्ध साहित्यिक। ऐसी कौनसी बात है जो इस मूलभूत समानता के बावजूद दोनों पर भिन्न-भिन्न लेबुल चिपका देती है? इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने के लिए हमें, सर्वप्रथम, प्रचारात्मकता के असली रूप को समझना होगा।

श्री जेम्स टी० फारेल ने प्रचारात्मकता की अपने ही ढंग से व्याख्या की है। उनका प्रचारात्मकता से अभिप्राय ऐसी योजना, प्रक्रिया अथवा विधि से है जो किसी खास व्यवस्था, विचार अथवा सिद्धान्त को बढ़ावा देते हुए तदनुरूप कर्म-योजना को जन्म दे अथवा उस कर्म-योजना के प्रति जनसाधारण में स्वीकृति का भाव उत्पन्न करे। इस परिभाषा के अनुसार जब हम यशपाल की रचनाओं पर विचार करते हैं तो यह प्रकट हो जाता है कि उन्होंने श्री फारेल की परिभाषा को अक्षरशः अपनाया है। उनकी रचनाओं का एकमेव उद्देश्य है—मार्क्सवादी विचारधारा का प्रचार करना और मार्क्सवादी लक्ष्यों को मूर्त रूप देने वाली कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के प्रति जनता में सहानुभूति का भाव उत्पन्न करते हुए उसे कम्युनिस्ट पार्टी

की कार्यप्रणाली अपनाने के लिए प्रेरित करना। इस प्रकार, यशपाल ने अपने उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष पर किसी प्रकार का पर्दा न डालकर इसे सबके सामने खूब उघाड़ कर रखना चाहा है। अपनी रचनाओं पर अपने विश्वासों और आदर्शों का गहरा रंग चढ़ाकर यशपाल ने उन्हें प्रचार का साधन बना दिया है। अतः, यह कहना अनुचित नहीं है कि यशपाल के उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष पर प्रचारात्मकता पूरी तरह छायी हुई है। इस प्रचारात्मकता ने उनके उपन्यासों के उद्देश्य पक्ष पर जो प्रभाव डाला है, उसके अध्ययन के लिए यहां उद्देश्य-पक्ष के अंतर्गत उपन्यास के विषय-चयन एवं निष्कर्ष-निर्धारण पर क्रमानुसार विचार किया जायेगा।

यशपाल ने साहित्य के उपयोगितावादी पक्ष को ध्यान में रख कर अपने उपन्यासों की रचना की है, इसलिए उनकी रचनाओं को एक-साथ कई उद्देश्यों की चाकरी करने को विवश होना पड़ा है। उपन्यास के माध्यम से उन्होंने समाज की नैतिक विषमताओं और विकृतियों का चित्र खींच कर इनके उन्मूलन की आवश्यकता की ओर संकेत करना चाहा है जिससे सामाजिक जीवन में उत्तरोत्तर पूर्णता एवं विकास की सम्भावना पैदा की जा सके। इस सामाजिक उद्देश्य के अतिरिक्त, उन्होंने अपनी रचनाओं में राजनैतिक प्रश्नों को छूते हुए कम्युनिस्ट पार्टी की नीति और कार्यप्रणाली के स्पष्टीकरण के उद्देश्य को भी स्थान दिया है, और इस रूप में उनके उपन्यास एक दल-विशेष के प्रवक्ता बन गए हैं। राजनैतिक उद्देश्य को अपने सम्मुख रखते ही यशपाल के लिए अपनी रचनाओं में कांग्रेस और समाजवादी पार्टी जैसे विरोधी राजनैतिक दलों की नीति एवं कार्यप्रणाली की पोल खोलना अनिवार्य हो गया है। इसलिए, कम्युनिस्ट पार्टी की नीति का समर्थन करने के साथ-साथ उनके उपन्यासों को विरोधी दलों पर प्रबल आघात करने का काम करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त, जब वे मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार समाज की पुरातन व्यवस्था की व्याख्या करने की ओर प्रवृत्त होते हैं तो उनके उपन्यासों को इतिहास के शोध-कार्य में जुटना पड़ा है। इस प्रकार, अपने उपन्यासों के सम्मुख एक-साथ अनेक उद्देश्यों की पूर्ति का लक्ष्य रखने के कारण यशपाल ने सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक क्षेत्र से अपने उपन्यासों के विषय चुने हैं।

विषय-विविधता—उदाहरण के लिए, उनके प्रथम उपन्यास 'दादा कामरेड' को लें। उन्होने क्रान्तिकारियों के गुप्त आंदोलन तथा मजदूर आंदोलन को इस रचना का आधार बनाया है। इसमें यशपाल ने देश की स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले क्रान्तिकारियों के आंदोलन से जहां एक ओर तत्कालीन राजनैतिक स्थिति के चित्रण का प्रयास किया है, वहां उन्होंने मजदूरों की हड़ताल की सहायता से श्रमिकों में राजनैतिक चेतना उदय होते दिखाई है। साथ ही शैल, राबर्ट, हरीश और रूबी के प्रेम-सम्बन्धों की चर्चा करके उन्होंने समाज की नैतिक विषमता को भी अपनी रचना का आधार बना दिया है।

इसी प्रकार, यशपाल ने 'देशद्रोही' में समाज की नैतिक व्यवस्था और कम्यु-निस्ट पार्टी के मजदूर आंदोलन को उपन्यास के विषय के रूप में चुना है। सरकार द्वारा अवैध घोषित की जाने वाली कम्युनिस्ट पार्टी की गुप्त सरगर्मियों और समाज की नैतिक व्यवस्था द्वारा अनैतिक घोषित किए जाने वाले डा० खन्ना और चन्दा के प्यार को अपनी रचना का विषय बना कर यशपाल ने 'देशद्रोही' नामकरण से मानों एक ही शब्द में अपने विषय को स्पष्ट कर दिया है। मजदूरों के हित के लिए किया जाने वाला साम्यवादी आंदोलन क्या 'देशद्रोह' है ? अथवा, विवाह के बन्धन में न बँधे हुए पुरुष और स्त्री का एक-दूसरे के प्रति सहज प्रेम क्या 'समाज-द्रोह' है ? वस्तुतः, इन दो प्रश्नों को इस उपन्यास का आधार बना कर यशपाल ने इसकी रचना की है।

राजनैतिक प्रचारात्मकता के प्रति यशपाल का स्वाभाविक रुझान होने के कारण, उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की युद्धकालीन नीति के स्पष्टीकरण को अपने 'पार्टी कामरेड' नामक उपन्यास का विषय बनाया है। युद्ध में अंग्रेजों का साथ देने के कारण कम्युनिस्ट पार्टी को गद्दार बता कर इसकी नीति का तिरस्कार करने की भावना बढ़ चली थी। कम्युनिस्ट पार्टी की नीति में इस आमूल परिवर्तन को प्रेरित करने वाले जनतन्त्रात्मक आदर्शों की पृष्ठभूमि में इस उपन्यास की रचना की गई है। इसी प्रकार, यशपाल ने 'मनुष्य के रूप' नामक उपन्यास में राजनैतिक आंदोलन के अतिरिक्त पूंजीवाद से पूर्णतः प्रभावित समाज की नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के उद्घाटन को उपन्यास का विषय बनाया है। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी की राज-नैतिक हलचल के साथ-साथ समाज की जर्जर नैतिक मान्यताओं और प्रेम की सौदे-बाजी के विवेचन को लेकर यह उपन्यास रचा है।

यशपाल ने 'दिव्या' नामक ऐतिहासिक उपन्यास की रचना में बौद्धकालीन भारत की सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था को आधार बनाया है। तत्कालीन समाज में नारी की परतन्त्र स्थिति, दास-प्रथा, सामंतवादी व्यवस्था, राजसत्ता के लिए विविध वर्गों की छीनाझपटी आदि विविध पहलुओं को लेकर उन्होंने इसकी रचना की है। 'अमिता' में यशपाल ने अशोक-कालीन भारत की राजनैतिक उथल-पुथल की पृष्ठभूमि में वर्तमान युग की शान्ति-स्थापना की समस्या को अपने उपन्यास का विषय बनाया है। शान्ति की स्थापना शस्त्रीकरण की वृद्धि से सम्भव है या नहीं ?—इस प्रश्न को लेकर उन्होंने 'अमिता' नामक अपना ऐतिहासिक उपन्यास रचा है।

निष्कर्ष-निर्धारण

प्रचारात्मकता का प्रभाव—जैसा कि पहले कहा गया है, यशपाल की उपन्यास-रचना पर प्रचारात्मकता पूरी तरह छाई हुई है, इसलिए, उपन्यासों के विषयों का

चयन करते समय उन्होंने यथासम्भव ऐसे ही विषय चुने हैं जिनसे कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधि एवं नीति का स्पष्टीकरण आसानी से हो सके। साथ ही, इन विषयों की सहायता से यशपाल को मार्क्सवादी चिन्तन के अनुरूप समाज की नैतिक जर्जरावस्था एवं विकृतियां दिखाने का अच्छा अवसर मिला है। किन्तु, विषय-चयन के उपरांत जब हम उनके उपन्यासों के निष्कर्ष पर विचार करते हैं तो सहसा पता चलता है कि उनकी प्रचारात्मकता की मनोवृत्ति निष्कर्ष-निर्धारण पर भी पूरी तरह छाई हुई है। तभी तो अपने विशिष्ट जीवन-दर्शन एवं राजनैतिक चिन्तन के अनुरूप वह अपने उपन्यासों का यथोचित निष्कर्ष निकालने में सचेष्ट हैं।

उदाहरण के लिए, 'दादा कामरेड' में उन्हें क्रांतिकारियों के गुप्त आंदोलन के बजाय कम्युनिस्टों के प्रकट एवं सामूहिक जन-आंदोलन की सफलता दिखाना अभीष्ट था, इसलिए उपन्यास के अंत में उन्होंने दादा जैसे पुराने क्रांतिकारी के विचारों में परिवर्तन दिखा कर उसे भी 'कामरेड' बना दिया है। उपन्यास के अंत में दादा, शैल से कहते हैं—'मैं यह सोचता था, मेरा जीवन निष्प्रयोजन हो गया। जिस कार्य का साधन अपने आपको मैंने बनाया था उस कार्य की आवश्यकता न रहने से मैं बेकाम हो गया। पर तुमने मेरे लिए काम तैयार कर दिया है। मैं समझता था, दिए की जोत बुझी जा रही है, मैं अब किसके लिए जियूंगा···?'[1] यह जोत बुझती नहीं है। शैल बाला द्वारा हरीश के गर्भ को धारण करने और दादा द्वारा शैल की सहायता करने का सकेत देकर यशपाल ने परोक्ष रूप से हरीश द्वारा शुरू किए गए मजदूर आंदोलन को जारी रखने की बात कही है। अतः, क्रांतिकारी आंदोलन की कम्युनिस्ट आंदोलन मे परिणति दिखाने के लिए उन्होंने अत में क्रांतिकारी दादा को नया उत्तरदायित्व सम्भालते हुए दिखाया है। इतना ही नहीं, युवक और युवती के परस्पर आकर्षण एवं शारीरिक सम्भोग को उन्होंने अनैतिक अथवा निन्द्य नही ठहराया। अपने पिता द्वारा परित्यक्ता शैलबाला को हरीश के अवैध गर्भ को धारण करने में किसी प्रकार का पश्चाताप नहीं है, अपितु, गर्भस्थित बालक के पालन-पोषण में उसे आदर्श की साधना दिखाई देती है, और दादा कामरेड को इसमें अपने लिए एक नए कर्तव्य के दर्शन होते हैं।

अपने दूसरे उपन्यास 'देशद्रोही' के निष्कर्ष से यशपाल ने कांग्रेस और समाजवादी दल के ढोंग और समाज की नैतिक मान्यताओं की जर्जरता का उद्घाटन किया है। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी के ईमानदार व त्यागी कार्यकर्त्ता, डा० खन्ना के करुणाजनक अन्त की प्रत्यक्ष जिम्मेदारी सामाजिक कठोरता के प्रतीक राजाराम, पतिव्रता का ढोंग करने वाली उसकी पत्नी राज, और परोक्ष रूप से बद्री बाबू तथा शिवनाथ जैसे अन्य पार्टियों के कार्यकर्त्ताओं पर डालकर, समाज की

---

१. 'दादा कामरेड'।

नैतिक मान्यताओं और अन्य पार्टियों के राजनैतिक सिद्धान्तों की सत्यता को चुनौती दी है।

यशपाल ने राजनैतिक प्रचारात्मकता को 'पार्टी कामरेड' में प्रमुखता देते हुये इस उपन्यास के निष्कर्ष से कम्युनिस्ट पार्टी की नीति व कार्यप्रणाली का समर्थन किया है। गीता जैसी कर्मठ और ईमानदार कम्यूनिस्ट कार्यकर्त्री की अटूट लगन की सराहना करते हुये यशपाल ने उसके संसर्ग में आने वाले पदमलाल भावरिया जैसे शरीफ लफंगे के जीवन में परिवर्तन दिखाया है। गीता से प्रेरणा पाकर विलासी भावरिया शहीद हो जाता है। उसकी जीवन-धारा को बदलने की क्षमता गीता में दिखा कर यशपाल ने कम्युनिस्ट पार्टी की नीति और कार्यप्रणाली का गुणगान किया है। यही बात हमें 'मनुष्य के रूप' में दिखाई देती है। यशपाल ने इस उपन्यास के अंत में सोमा के जीवन का भौतिक उत्कर्ष दिखा कर पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था में स्त्री की परतन्त्र स्थिति, शोषण के नग्न रूप, और तथाकथित सड़ी-गली नैतिक व्यवस्था की पोल खोल दी है।

इसी प्रकार, यशपाल ने 'दिव्या' और 'अमिता' नामक ऐतिहासिक उपन्यासों का निष्कर्ष अपने मार्क्सवादी चिन्तन के अनुरूप ही निर्धारित किया है। जिस सामन्ती समाज में वेश्या ही स्वतन्त्र नारी हो सकती है, उसमें उन्होंने दिव्या जैसी स्वाभिमानी नारी द्वारा कुलदेवी के गौरवपूर्ण किन्तु परतन्त्र जीवन का तिरस्कार करते हुये दिखाया है। वह मारिश की जीवन-संगिनी बनना स्वीकार करती है क्योंकि वह उसे नारी के रूप में ग्रहण कर अपना पुरुषत्व अर्पित करता है। मारिश के प्रस्ताव में आश्रय का आदान-प्रदान है तथा दिव्या की स्वतन्त्र स्थिति को सहर्ष स्वीकृति है। अतः, दिव्या और मारिश के मिलन में यशपाल ने नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की है।

यशपाल ने अपने दूसरे ऐतिहासिक उपन्यास 'अमिता' के अन्त में चंड अशोक से युद्ध न करने की प्रतिज्ञा कराकर युद्ध की व्यर्थता की ओर संकेत किया है। यशपाल के मतानुसार शस्त्र-शक्ति की वृद्धि की अपेक्षा प्रेमभाव की वृद्धि से शान्ति की स्थापना सम्भव हो सकती है। इसी बात को उन्होंने उपन्यास के अंत में अशोक से कहलवाया है—'सम्राट अशोक प्रतिज्ञा करता है, वह किसी से छीनेगा नहीं, किसी को डरायेगा नहीं, किसी को मारेगा नहीं। अब अशोक हिंसा और युद्ध से विजय की कामना नहीं करेगा। वह कलिंग की विजयी महारानी की भांति निश्चल प्रेम से संसार के हृदयों को विजय करेगा।'[1]

कथानक

यशपाल ने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज की नैतिक अवस्था के

१. 'अमिता'।

चित्रण के साथ-साथ कम्युनिस्ट पार्टी की नीति एवं कार्यप्रणाली की विवेचना करनी चाही है, इसलिये उन्होंने अपने उपन्यासों के कथानकों को भी आधुनिक घटनाओं पर आधारित करके, इनका विकास एक विशिष्ट लक्ष्य के अनुरूप किया है। उद्देश्य-पक्ष की प्रबलता का उनके उपन्यासों के कथानक पर भी यथेष्ट प्रभाव पड़ा है, अतः, इस प्रभाव के विश्लेषण के लिये यहां पर कथानक के गठन, विकास एवं उपसंहार पर क्रमानुसार विचार किया जायेगा।

कथानक का गठन

प्रसिद्ध घटना का आधार—यशपाल ने अपने राजनैतिक उपन्यासों के कथानकों का गठन आधुनिक-काल की प्रसिद्ध घटनाओं के आधार पर किया है। इन घटनाओं की सहायता से कम्युनिस्ट पार्टी की नीति एवं गतिविधि का समर्थन करते हुए जहां वे इतर राजनैतिक दलों की नीति एवं कार्यप्रणाली पर चोट करते हैं, वहाँ समाज की नैतिक विकृति का उद्घाटन करते हुए उन्होंने इस विकृति के मूल कारणों की ओर संकेत किया है। उदाहरण के लिये, उनके 'दादा कामरेड' नामक उपन्यास का कथानक क्रान्तिकारी आन्दोलन की सफलता पर आधारित है। यह उनका पहला उपन्यास है, और इसमें कम्युनिष्ट पार्टी द्वारा प्रतिपादित मजदूर आन्दोलन के पूर्ववर्ती राजनीतिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि के आधार पर इस उपन्यास के कथानक का गठन किया गया है।

यशपाल के शेष उपन्यासों के कथानकों का गठन किसी-न-किसी प्रसिद्ध राजनीतिक घटना का सहारा लेकर किया गया है। उदाहरणार्थ, 'देशद्रोही' उपन्यास का कथानक गत महायुद्ध में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध कांग्रेस और समाजवादी दल की क्रान्ति की तैयारियों और कम्युनिष्ट पार्टी द्वारा क्रान्ति की नीति के विरोध की घटना पर आधारित है। कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा युद्ध में अंग्रेजों की सहायता की नीति अपनायी गयी थी, ताकि विश्व को आक्रान्त करने वाले जर्मन-जापानी डिक्टेटर शिप के संकट का अन्त किया जा सके। अतः, कम्यूनिस्ट पार्टी की इस नीति का स्पष्टीकरण करने का उद्देश्य सामने रखकर इस उपन्यास के कथानक का गठन किया गया है।

इसी प्रकार युद्धकाल में बम्बई में नौसेना के सैनिकों के विद्रोह की घटना को लेकर 'पार्टी कामरेड' का कथानक रचा गया है। यही बात 'मनुष्य के रूप' के कथानक में दिखायी देती है। १९४२ में कांग्रेस द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध चलाये जाने वाले जन-आन्दोलन को लेकर इस उपन्यास का कथानक रचा गया है। आधुनिक काल की प्रसिद्ध राजनैतिक घटनाओं के आधार पर अपने उपन्यासों के कथानक रचने की प्रवृत्ति के पीछे, वस्तुतः, यशपाल की प्रचारात्मक मनोवृत्ति का बहुत हाथ है। इसमें उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी की नीति-व्याख्या का पूरा-पूरा अवसर मिला है।

ऐतिहासिक कथानक का आधार—राजनैतिक उपन्यासों के अतिरिक्त, ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करते समय उन्होंने इतिहास की किसी खास प्रवृत्ति अथवा घटना में कल्पना का पुट देकर कथानक का गठन किया है। उदाहरणार्थ, 'दिव्या' में बौद्धकालीन समाज का चित्र खींचते हुए यशपाल ने सामन्ती समाज-व्यवस्था में नारी की परतन्त्र स्थिति को कथा का आधार बनाया है। सामन्ती व्यवस्था में नारी का भोग्या रूप ही प्रधान था। अतः, 'दिव्या' के कथानक का गठन उन्होंने नारी के इसी रूप को लेकर किया है। इसी प्रकार, कलिंग प्रदेश पर अशोक के आक्रमण की ऐतिहासिक घटना के आधार पर उन्होंने 'अमिता' के कथानक के कलेवर का गठन यद्यपि उन्होंने अपनी कल्पना-शक्ति की सहायता से किया है, तो भी, यह मानना पड़ता है कि यशपाल की कल्पना उनके निजी जीवनादर्शों एवं उनकी प्रचारात्मक मनोवृत्ति से अभिभूत हो गयी है।

कथानक का विकास—यशपाल ने उपन्यास-साहित्य के उद्देश्य-पक्ष पर आग्रह करते हुए अपनी रचनाओं में प्रचारात्मकता का ऐसा पुट दिया, कि कथानक के गठन के अतिरिक्त, यह प्रचारात्मकता उनके कथानक के विकास पर भी पूरी तरह छायी हुई है। प्रत्येक उपन्यास के आरम्भ में उठाए गए कथा-सूत्र का उत्तरोत्तर विकास करते हुए उन्होंने ऐसी ही घटनाओं का सृजन किया है जिनसे कि उनकी प्रचारात्मकता साफ उघड़ जाती है।

उदाहरण के लिए, 'दादा कामरेड' में यशपाल को क्रान्तिकारी आन्दोलन की असफलता और कम्युनिस्ट पार्टी के मजदूर आन्दोलन की सफलता दिखाना अभीष्ट है, इसलिए, गुप्त आन्दोलनों की कार्यप्रणाली के दोषों का उद्घाटन करने के लिए उन्होंने क्रान्तिकारियों के परस्पर मतभेद की घटना के अतिरिक्त, धन के लिये डाका डालने, और अन्त में डाके से प्राप्त धन का उपयोग करने के कारण हरीश और उनके साथियों को फांसी लगने की घटनायें ली हैं। दूसरी ओर, मजदूर आन्दोलन की सफलता दिखाने के लिये उन्होंने मजदूरों की हड़ताल के सम्मुख मिल-मालिकों के झुकने, मजदूरों के संगठन की वृद्धि तथा दादा जैसे पुराने क्रान्तिकारी द्वारा हरीश का पथ अपनाने की घटनाओं की सहायता से कथानक का विकास किया है। यशपाल ने तत्कालीन क्रान्तिकारी आन्दोलन की कार्यप्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता की ओर संकेत करते हुये जहां एक ओर 'दादा कामरेड' नामक उपन्यास के कथानक का विकास किया है, वहां दूसरी ओर उन्होंने सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन की आवश्यकता का सुझाव देते हुये वे ही घटनाएं ली हैं जिनसे कि समाज-जीवन की विषमता उभर कर सामने आ जाये। उपन्यास के प्रारम्भ में उन्होंने यशोदा के प्रति अमरनाथ के सन्देह की घटना से समाज की विवाह परम्परा पर कठोर आघात किया है, जिसके अनुसार पत्नी को पति की इच्छा का दास बनकर रहने को विवश होना पड़ता है। तदुपरान्त शैल और महेन्द्र के परस्पर आकर्षण,

शैल के गर्भपात, रावर्ट और शैल के प्रेम. हरीश के प्रति शैल के पूर्ण समर्पण, तथा ध्यानचन्द्र द्वारा शैल की भर्त्सना करने आदि की घटनाओं से यशपाल ने समाज की उन नैतिक मान्यताओं का उल्लेख करना चाहा है, जो उनके मतानुसार, खोखली एवं निष्प्राण हो चुकी हैं। शैल द्वारा महेन्द्र, रावर्ट और हरीश के साथ मुक्त भोग में रत होने पर भी क्रान्तिकारी और मजदूर आन्दोलन में भाग लेने की घटनाओं का उल्लेख करके यशपाल ने शैल में स्वच्छन्द आचरण और आदर्श-आराधना के विचित्र समन्वय का प्रयास किया है। उन्होंने इन घटनाओं की सहायता से कथानक का विकास करते हुये राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं के आचरण का मूल्यांकन करने वाली समाज की नैतिक मर्यादाओं की व्यर्थता सिद्ध करनी चाही है।

'देशद्रोही', 'पार्टी कामरेड' और 'मनुष्य के रूप' नामक उपन्यासों के कथानकों का विकास करते समय यशपाल ने कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के समर्थन, कांग्रेस पार्टी की नीति के खण्डन तथा समाज की विकृत अवस्था के उद्घाटन को प्रमुखता दी है, और कथानक में ऐसी घटनाओं का समावेश किया है जिनसे कि उनके कथ्य की पुष्टि हो सके। उदाहरण के लिये, 'देशद्रोही' में कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता, डा० खन्ना की ईमानदारी जताते हुए उसे गज़नी और रूस का सुखमय जीवन त्यागकर भारत में काम करने के लिये लौटने, अपनी पत्नी राज और बद्री बाबू के विवाह की सूचना मिलने पर उसका शान्त रहने, भाइयों से अपने हिस्से की सम्पत्ति की मांग न करने और फिर करुणाजनक स्थिति में उसका देहान्त होने की घटनाओं से कथानक का विकास किया है। इसी प्रकार बद्री बाबू नामक कांग्रेसी कार्यकर्त्ता के ढोंग का चित्र खींचने के लिये उन्होंने मजदूरों की हड़ताल समाप्त करने के लिए मिल-मालिकों के साथ बद्री बाबू के घृणित षडयन्त्र, अपने घनिष्ट मित्र डा० खन्ना की पत्नी से विवाह करने आदि की घटनाएं ली हैं। इसके अतिरिक्त, सामाजिक विषमता का चित्र खींचने के लिये उन्होंने डा० खन्ना की पत्नी, राज का बद्री बाबू से विवाह करने, अपने भूतपूर्व घायल पति को शरण न देकर घर से दुत्कार देने, राजाराम का अपनी पत्नी चन्दा पर सन्देह करने और अन्त में डा० खन्ना को पहाड़ी रास्ते में निस्सहाय छोडकर चले जाने की घटनायें ली हैं। उपर्युक्त घटनाओं की सहायता से यशपाल ने जहां एक ओर कथानक का विकास किया है, वहाँ दूसरी ओर समाज के अन्दर विद्यमान विषमता के उद्घाटन के साथ-साथ राजनैतिक प्रचारात्मकता का उनका लक्ष्य भी पूरा हुआ है।

इसी प्रकार, 'पार्टी कामरेड' के कथानक का विकास करते हुये उन्होंने कांग्रेसी कार्यकर्त्ता भाया जी की करतूनों का वर्णन किया है और कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं की सच्ची लगन और ईमानदारी की झलक देनी चाही है। भाया जी द्वारा गीता को परेशान करने के लिये गुंडों को बुलाने और कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यालय को क्रुद्ध भीड़ की सहायता से जला डालने आदि की घटनाओं में प्रचारात्मकता

की गन्ध आती है। कथानक के विकास की इसी पद्धति का अनुसरण करते हुये 'मनुष्य के रूप' में सोमा के जीवन में आने वाली उत्थान-पतन की अनेक घटनाओं का वर्णन करके वे पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में नारी की दयनीय स्थिति का चित्र खींचना चाहते हैं। पूंजीवादी समाज में नारी को आश्रय का मूल्य अपने शरीर-दान से चुकाना पड़ता है, इसलिए सोमा अनेक लोगों को अपना शरीर अर्पित करती है। दूसरी ओर बैरिस्टर जगदीश के सोमा को रखैल रूप में रखने, मनोरमा और सुतली वाला के प्रेम-विवाह, और अन्त में सम्बन्ध-विच्छेद की घटनाओं से समाज की नैतिक जर्जरावस्था का चित्र खींचते हुए कथानक का विकास किया गया है। इसके अतिरिक्त, कांग्रेस पार्टी की दब्बू नीति का खण्डन करने लिये उन्होंने जेल-जीवन में कांग्रेसी नेता सोमनाथ के स्वार्थपूर्ण व्यवहार और कांग्रेसी कार्यकर्त्ता अर्जुनलाल के दब्बूपन की घटनायें ली हैं।

हिंसात्मक घटनायें—यशपाल ने अपने उपन्यासों के कथाननकों का विकास करते समय जिन घटनाओं का सृजन किया है उनमें प्रचारात्मकता को प्रमुखता देने की बात तो है ही, साथ ही इन घटनाओं में हिंसात्मकता का पुट भी पर्याप्त मात्रा में दिखायी देता है। हिंसात्मक घटनाओं के अन्तर्गत लूटमार, हत्या, बलात्कार, डाका डालने और तरह-तरह के अत्याचारों की घटनाओं का खुलकर वर्णन किया गया है। कथानक में हिंसात्मक घटनाओं पर निर्भर रहने का प्रधान कारण यही है कि यशपाल चारों ओर व्याप्त समाज-जीवन की गन्दगी से क्षुब्ध हैं। अतः, अपने अन्दर का आक्रोश प्रकट करने और पाठक के अन्दर सामाजिक सड़ांध के प्रति घृणा उत्पन्न करने के लिये उन्होंने अत्याचार, बलात्कार, हत्या, लूट-मार और अपहरण की घटनाओं का भरपूर प्रयोग किया है। साथ ही, इन हिंसात्मक घटनाओं का वर्णन करके वे परोक्ष रूप से मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार इन घटनाओं के मूल कारणों की व्याख्या भी करते जाते हैं।

उदाहरण के लिये, उन्होंने 'दादा कामरेड' के कथानक के हरीश द्वारा पुलिस के सिपाहियों को चकमा देकर भाग निकलने, मजदूरों पर मिल-मालिकों के अत्याचार और मजदूरों की हड़ताल को तोड़ने के लिये हर सम्भव उपाय करने, क्रांतिकारियों द्वारा डाका डालने और अंत में अदालत द्वारा हरीश को मृत्यु-दण्ड देने की घटनायें ली हैं। 'देशद्रोही' में घटनाओं की हिंसात्मकता और भी बढ़ गई है। कबाइलों द्वारा डा० खन्ना का अपहरण करने, चंदा पर राजाराम के अत्याचार, कारखाने में डा० खन्ना पर मजदूरों के आक्रमण, और अंत में निःसहाय अवस्था में डा० खन्ना की करुणाजनक मृत्यु की घटना से यशपाल ने कथानक में मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता उत्पन्न कर दी है।

इसी प्रकार, उन्होंने 'पार्टी कामरेड' में कम्युनिस्ट युवती गीता को भावरिया

द्वारा फँसाने की चेष्टा करने, भीड़ द्वारा कम्युनिस्ट पार्टी का कार्यालय जला डालने, गोरे सैनिकों द्वारा जनसाधारण पर गोली चलाने और अंत में भावरिया की मृत्यु की घटनाओं से कथानक में तीखापन ला दिया है। घटनाक्रम में तेजी के साथ-साथ, बलात्कार, अत्याचार, युद्ध, मारपीट और हत्या जैसी हिंसात्मक घटनाओं का समावेश करके यशपाल कथानक में पर्याप्त मात्रा में तीखापन एवं कटुता लाने का बहुत ध्यान रखते हैं। उदाहरण के लिये, 'मनुष्य के रूप' में धनसिंह द्वारा सोमा को भगा ले जाने, सोमा के साथ पुलिस के कर्मचारियों का बलात्कार करने, धनसिंह द्वारा बदमाश ड्राइवरों की हत्या करने और तदुपरान्त जान बचा कर भाग जाने, सिपाहियों द्वारा ग्रामीण युवती को भ्रष्ट करने, आसाम के मोर्चे पर युद्ध के दृश्य, बरकत द्वारा सोमा से पेशा करवाने का प्रयास करने तथा अंत में बरकत द्वारा भूषण को मार डालने की हिंसापूर्ण घटनाओं का ऐसा तांता लगा हुआ है कि उपन्यास के कथानक में तेजी और तीखापन ठूँस-ठूँस कर भर दिया गया है।

अश्लील प्रसंग—यशपाल ने हिंसात्मक घटनाओं द्वारा समाज के अंदर व्याप्त नग्न पाशविकता का पर्दाफाश किया है तो अश्लील प्रसंगों की सहायता से उन्होंने समाज की नैतिक गंदगी को उघाड़ कर रख दिया है। उन्होंने समाज की नैतिक मर्यादाओं के खोखलेपन का भण्डाफोड़ करने के लिये कामुक व अश्लील प्रसंगों को ढका-मुंदा न रहने देकर इन्हें खूब उघाड़ कर प्रस्तुत किया है। यशपाल ने स्त्री और पुरुष के परस्पर-आकर्षण को स्वाभाविक रूप में स्वीकार किया है और दोनों के शारीरिक सम्बन्ध को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा। इतना ही नहीं, ऐसे कामुक प्रसंगों में कहीं-कहीं आदर्श-पालन का अद्भुत सामंजस्य करके उन्होंने मानों इन कामुक प्रसंगों की अश्लीलता दूर कर देनी चाही है।

उदाहरण के लिये, 'दादा कामरेड' में यशपाल ने, शैल को नग्न रूप में देखने की हरीश की इच्छा को मानव की अत्यन्त स्वाभाविक इच्छा के रूप में प्रस्तुत करना चाहा है। दूसरी ओर शैल भी हरीश की इच्छा पूरी करने में किसी प्रकार के संकोच का अनुभव करने के बजाय, इसे अपना नैतिक कर्तव्य समझती है। इस निरावरण-प्रसंग का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'हरीश के बरामदे में चले जाने के बाद शरीर से कपड़े उतारना, शैल के लिये अपनी त्वचा उतारने के समान कठिन जान पड़ने लगा। परन्तु हरीश के निराशा से सिर लटका लेने की बात सोच कर वह स्वयं अपने ऊपर जबरदस्ती करने के लिये विवश थी। मृत्यु के मुख में फँसा हुआ यह लड़का जो बात कहता है, उसकी उपेक्षा कैसे की जाये ? एक-एक कर अपने कपड़े उतार शरीर को शाल में लपेट लिया। परन्तु हरीश को बुलाये वह किस तरह ? बिजली का स्विच दबा उसने अंधेरा कर दिया।'[1]

---

१. 'दादा कामरेड'।

'देशद्रोही' में उन्होंने परस्पर प्रम एवं विश्वास-रहित विवाहित जीवन की व्यर्थता जताते हुये इस बन्धन से होने वाले अत्याचार का वर्णन, चन्दा को उसके संशयी पति द्वारा बलात् नंगा करने के प्रसंग द्वारा किया है—'चन्दा की बेबसी से राजराम परास्त न हुये। चन्दा के निश्चल रहने पर उन्होंने अपनी आज्ञा स्वयं पूरी कर ली। उन्होंने सब देख लिया। उनका आवेश ठगे जाने की ग्लानि और तिरस्कार में बदल गया। दीवार की ओर मुख कर पिटे से वे खड़े रह गये। पथराई दृष्टि फर्श की ओर लगाये चन्दा ने फिर वही मले कपड़े पहन लिए। खड़े रहने में असमर्थ हो वह कपड़ों के बकस पर बैठ गयी।'[1]

यशपाल ने स्त्री-पुरुष के परस्पर आकर्षण को अत्यन्त स्वाभाविक माना है, इसलिये उन्होंने डा० खन्ना और चन्दा के मिलन के प्रसंग का निःसंकोच वर्णन किया है—'उसी समय अपने पीछे-पीछे आती चन्दा दिखायी दी। वह दो कदम उसकी ओर बढ़ गया। समीप आ चन्दा ने उसके गले में बाँहें डाल दीं। खन्ना के हृदय से लग वह रो पड़ी। रोने का स्वर श्वासों की दीर्घता में दबा हुआ था परन्तु चन्दा के वक्ष ऊपर-नीचे उठने और उसकी कमीज तुरन्त तर हो जाने से उच्छवास की तीव्रता और गहराई प्रकट हो रही थी।'[2] इस मिलन में नैतिक मर्यादा के उल्लंघन से उत्पन्न संकोच अथवा झिझक की भावना को व्यक्त करने की अपेक्षा यशपाल ने विवाह के बन्धन में बंधी नारी की विवशता के चित्रण को ही प्रमुखता दी है। पति के अत्याचार और प्रेमविहीन विवाह के अनैतिक पक्ष का उद्घाटन करते हुये उन्होंने विवाहित स्त्री और पराये पुरुष के स्वाभाविक आकर्षण को सर्वथा नैतिक बताया है।

कथानक का उपसंहार—यशपाल की लक्ष्यवादिता और प्रचारात्मकता ने उनके उपन्यासों के कथानकों के गठन अथवा विकास की रूपरेखा निर्धारित करने के अतिरिक्त इन कथानकों के उपसंहार को भी प्रभावित किया है। यह प्रभाव उनके उपन्यासों के सुखांत अथवा दुखांत कथानक में दिखायी देता है, क्योंकि उन्होंने कथानक को अपने कथ्य के अनुरूप मोड़ देते हुये इसका मनचाहा अन्त किया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक उपन्यासों को छोड़कर, जिनके कथानक सुखान्त हैं, यशपाल के राजनैतिक उपन्यास विषादपूर्ण वातावरण में समाप्त होते हैं। 'दादा कामरेड' में हरीश फाँसी पर झूल जाता है, 'देशद्रोही' में डा० खन्ना की करुणाजनक स्थिति में मृत्यु होती है, 'पार्टी कामरेड' में पन्नलाल भावरिया गोली का शिकार हो जाता है, और 'मनुष्य के रूप' में बरकत के आक्रमण से भूषण की जीवनलीला समाप्त होने के साथ-साथ मनोरमा की मृत्यु भी सन्निकट है। हिंसा और अत्याचार का जो तूफान उनके उपन्यासों के शुरू में उठता है वह उपन्यास के अंत तक पहुँचते-पहुँचते उपन्यास के प्रमुख पात्र की मृत्यु में ही शांत होता है।

१. देशद्रोही। २. वही।

सोद्देश्य-दुखान्त-कथानक—यशपाल के राजनैतिक उपन्यासों के विषादपूर्ण अंत पर यदि थोड़ा विचार करें तो पता चलेगा कि कथानक के दुखान्त उपसंहार के माध्यम से वे कोई न कोई उद्देश्य पूरा कर जाते है। 'दादा कामरेड' में अंत में अदालत द्वारा मृत्युदण्ड की घोषणा करने और हरीश के फांसी पर झूलने की घटना से उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि पूंजीवादी न्याय-व्यवस्था में पूंजीपतियों की प्रच्छन्न लूट को वैध माना जाता है जबकि मजदूरों के हित की चिन्ता करने वाले हरीश जैसे कार्यकर्ताओं पर हत्या और डाका डालने का आपराध लगाकर उन्हें फांसी का दण्ड दिया जाता है। यशपाल के अनुसार इस न्याय-व्यवस्था का आधार उत्पीड़न होने के कारण हरीश जैसे सच्चे और ईमानदार कार्यकर्ता भी इस न्याय-व्यवस्था का शिकार होकर यदि कुचल डाले जायें तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है।

यशपाल ने 'देशद्रोही' में घायल और निस्सहाय डा० खन्ना की करुणापूर्ण परि-स्थिति में मृत्यु दिखाकर वर्तमान समाज के अन्दर व्याप्त स्वार्थपरता और झूठी नैतिकता पर जबरदस्त प्रहार किया है। अपने पहले पति, डा० खन्ना की मृत्यु की झूठी खबर सुनकर आत्महत्या का प्रयास करने वाली राज, जब उसे घायल अवस्था में भी शरण न देकर उल्टे दुत्कार देती है तो समाज का झूठा पति-भक्ति का आदर्श ताश के महल की तरह भड़भड़ा कर ढह जाता है। राज की स्वार्थी मनोवृत्ति की भावना, उसके सहज मानवीय गुणों को, कर्त्तव्य और नैतिकता की भावना को दबा देती है। इसी प्रकार, राजाराम द्वारा डा० खन्ना को असहाय अवस्था में मरने के लिए अकेला छोड़ देने में यशपाल ने स्वार्थपरता और झूठी नैतिकता को उघाड़ कर रख दिया है।

'मनुष्य के रूप' के दुखान्त उपसंहार से यशपाल ने पूंजीवादी समाज की नैतिक व्यवस्था की मानों पोल खोल दी है, जहां पर धन के सम्मुख कृतज्ञता, प्रेम और सहानुभूति जैसे सद्गुणों का कोई मूल्य नहीं। सोमा को आश्रय देने वाली और उसके साथ बहन जैसा बर्ताव करने वाली मनोरमा के प्रति सोमा की कृतघ्नता का परिचय इसी बात से मिल जाता है कि वह मनोरमा के पति, सुतलीवाला से संबंध स्थापित कर मनोरमा को तलाक दिलवा देती है। सोमा की रक्षा के लिये धनसिंह ने जेल काटी, हत्या की, और फिर अपनी जान बचाने के लिये भटकता रहा, किन्तु प्रत्यक्ष भेंट होने पर सोमा ने उसे पहचाना तक नहीं। इसी प्रकार, निराश्रित सोमा को सद्गृहस्थ में शरण दिलाने वाले कामरेड भूषण के प्रति भी उसका उपेक्षापूर्ण बर्ताव सर्वथा निन्दनीय ही है। सोमा को घायल भूषण की सेवा-सुश्रुषा की व्यवस्था करने की चिन्ता नहीं है, बल्कि उसे तो यही चिन्ता है कि किसी न किसी तरह यह बला उसके घर के आगे से टले। अतः, धनसिंह की गिरफ्तारी, भूषण की मृत्यु और मनोरमा की चिन्ताजनक अवस्था के दुखद वातावरण में कथानक का उपसंहार करके

यशपाल ने पूंजीवादी मनोवृत्ति से उत्पन्न स्वार्थान्धता और सहज मानवीय गुणों के ह्रास की ओर इशारा किया है।

सुखान्त कथानक—यशपाल के राजनैतिक उपन्यास दुखान्त होकर उनके कथ्य को प्रकट करते हैं तो उनके ऐतिहासिक उपन्यास सुखांत होकर उनकी लक्ष्यवादिता की स्पष्ट छाप लिये हुये हैं। उन्होंने सुखांत ऐतिहासिक उपन्यासों में किसी न किसी आदर्श की प्रतिष्ठा करनी चाही है, इसलिए जहाँ उनके राजनैतिक उपन्यासों में सड़े गले पूंजीवादी समाज की पूंजीभूत हिंसा और गन्दगी कथानक के अन्त को अभिभूत कर इसे विषादपूर्ण बना देती है, वहाँ उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में आदर्श की प्रखर तेजस्विता के आगे समाज की कालिमा नष्ट हो जाती है। 'दिव्या' के अंत में उपन्यास की नायिका, दिव्या, कुलदेवी अथवा बौद्ध भिक्षुणी न बनकर मारिश के विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है। यशपाल के मतानुसार नारी-जीवन की सफलता उसके स्वतंत्र अस्तित्व में है, अतः जब मारिश, दिव्या के स्वतंत्र व्यक्तित्व का आदर करते हुये पुरुष और स्त्री के आदान-प्रदान की, अर्थात समानता की बात कहता है, तब दिव्या उसके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेती है। इसी प्रकार, 'अमिता' का सुखपूर्ण अंत दिखाकर यशपाल ने युद्ध की व्यर्थता सिद्ध करने का प्रयास किया है। अशोक द्वारा पुनः युद्ध न करने और अमिता को कलिंग राज्य की अधीश्वरी के रूप में स्वीकार करने की घटना से यशपाल ने सहअस्तित्व और विश्व-शांति के उच्चादर्शों की प्रतिष्ठा की है।

यशपाल के उपन्यासों के कथानक-पक्ष के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी उद्देश्यवादिता, और फलस्वरूप, उनकी प्रचारात्मक मनोवृत्ति, उनकी रचनाओं पर पूरी तरह छायी हुई है। इसलिये कथानकों के गठन और विकास के अतिरिक्त उनके कथानकों का उपसंहार एक विशिष्ट उद्देश्य-पूर्ति के अनुकूल हुआ है। वे जनसाधारण में मार्क्सवादी चेतना के उदय और प्रचार का लक्ष्य लेकर साहित्य-सृजन के क्षेत्र में उतरे हैं, इसलिये उनके उपन्यासों के कथानक-पक्ष की रचना में उनकी उद्देश्यवादिता का स्वर गूंजता ही नहीं, इसकी रूपरेखा का निर्धारण भी एक खास उद्देश्य की पूर्ति को लेकर हुआ है।

पात्र व चरित्र-चित्रण

पात्रों में युग-प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब - जिस प्रकार यशपाल ने कथानक के माध्यम से आधुनिक युग की समस्याओं, उपलब्धियों और अभावों को प्रकाश में लाने का यत्न किया है, उसी प्रकार उन्होंने युग की परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों और युग के संघर्षों को पात्रों के चरित्र के माध्यम से व्यक्त करना चाहा है। इस कारण उनके पात्र युग की प्रवृत्तियों के प्रतीक बनकर हमारे सम्मुख उपस्थित हुये हैं। इन

पात्रों की समस्यायें और इनके संघर्ष निजी न होकर युग-विशेष से संबंध रखते हैं; पात्रों के जीवनादर्शों एवं लक्ष्यों में व्यक्तिगत जैसी कोई बात नहीं है, वे जीवनादर्श व लक्ष्य इसी युग-विशेष के हैं। देखा जाए तो यशपाल के मतानुसार साहित्य में युग-चेतना की अभिव्यक्ति का यही अर्थ है कि उसमें युग-विशेष की समस्याओं, प्रवृत्तियों और आदर्शों की अभिव्यक्ति हो, युग-विशेष का स्वर गूंजे। यही कारण है कि यशपाल ने अपने उपन्यासों में पात्रों के चयन और चरित्र-विकास द्वारा युग-चेतना को अभिव्यक्त करने की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया है।

पात्रों का चयन—यशपाल ने अपने उपन्यासों में पात्रों के माध्यम से समाज की तरह-तरह की विषमताओं, परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों और संघर्षों को अभिव्यक्त करने का यत्न किया है, इस कारण, उन्होंने समाज के प्रत्येक वर्ग से पात्र चुने हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के समान मानव के अन्तर्जगत की प्रतिक्रियाओं और घात-प्रतिघातों तक अपने-आपको सीमित न रखकर वे उसके बहिर्जगत की अनेकविध समस्याओं और प्रश्नों से उलझे हैं, इसलिये भी उनके पात्रों के चयन में विविधता है, व्यापकता है। किन्तु, पात्रों के चयन में इस व्यापकता के बावजूद जब हम उनके पात्रों के सामान्य वर्गीकरण की ओर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि विभिन्न वर्गों और श्रेणियों से पात्र चुनने के बाद भी उनके पात्रों के केवल दो ही वर्ग हैं। दो के अतिरिक्त किसी तीसरे वर्ग के पात्रों का मानों उन्होंने बहिष्कार कर रखा है। ऐसा क्यों? इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ने के लिए हमें यशपाल की विशिष्ट चिन्तन-पद्धति का सहारा लेना होगा।

पात्रों का वर्गीकरण—यशपाल के चिन्तन का मूलाधार मार्क्सवादी दर्शन होने के कारण उन्होने युग की प्रवृत्तियों, समस्याओं एवं आदर्शों को मार्क्सवादी चश्मे से देखा है। उन्हें युग की दो ही प्रवृत्तियां दिखायी दी हैं—प्रगतिवाद की और, पुरातनवाद के रूप में, रूढ़िवाद की। इन प्रवृत्तियों ने दो ही समस्याओं को जन्म दिया है—पूंजीवादी शोषण और अन्धविश्वासों का बन्धन। इतना ही नहीं, उनके मतानुसार इस युग के सम्मुख लक्ष्य भी दो ही हैं—समाजवाद की स्थापना तथा बुद्धिवाद का प्रसार। इस प्रकार, यशपाल ने आधुनिक समाज के केवल दो वर्ग माने हैं—प्रगतिवादी बनाम समाजवादी और रूढ़िवादी बनाम पूंजीवादी। इस वर्ग-विभाजन के फलस्वरूप उनके पात्रों के भी दो ही वर्ग हैं—पूंजीवादी, रूढ़िवादी और फलस्वरूप अन्धविश्वासी, अथवा प्रगतिवादी, समाजवादी और फलस्वरूप बुद्धिवादी। दूसरे शब्दों में कहा जाये तो उनके पात्र या तो आदर्शवादी, त्यागी और परमार्थी हैं अथवा कमीने, लोभी और परम स्वार्थी। यशपाल के मतानुसार पहली श्रेणी के पात्र वही हो सकते हैं, जिनमें युग-चेतना का वास है, और दूसरी श्रेणी के वही, जिनमें कि युग-चेतना का पूर्ण अभाव है। कहना न होगा कि उनके प्रथम श्रेणी के

पात्रों में मार्क्सवादी सिद्धांतों को मानने वाले पात्र मिलेंगे और दूसरी श्रेणी में, इन सिद्धांतों का विरोध करने वाले ।

यशपाल के उपन्यासों में पात्रों का वर्गीकरण इतना सुस्पष्ट है कि इस में दो के अतिरिक्त किसी तीसरे वर्ग के पात्रों के लिये स्थान नहीं है । उदाहरण के लिये, उनके 'दादा कामरेड' नामक उपन्यास में पात्रों के दो ही वर्ग हैं । प्रगतिवादी वर्ग में हैं—हरीश, शैल, यशोदा और दादा, और रूढ़िवादी वर्ग में हैं—अमरनाथ, ध्यानचंद, राबर्ट और फ्लोरा । 'देशद्रोही' में पात्रों के प्रथम वर्ग में हैं—डा० खन्ना, चन्दा, नासिर, यमुना और गुलशां, तो दूसरे में हैं—राजाराम, बद्रीबाबू, राज, शिवनाथ और अब्दुल्ला सौदागर । इसी प्रकार 'पार्टी कामरेड' में एक ओर हैं गीता, मजहर, पद्मलाल भावरिया, तो दूसरी ओर हैं—पुत्तूलाल नौसारी और माया जी । पात्रों का उपयुक्त वर्ग-विभाजन 'मनुष्य के रूप' में भी मिलता है । पहले वर्ग में हैं—धनसिंह, भूषण और मनोरमा, और दूसरे वर्ग में हैं—सोमा, हैदरजी, सुतलीवाला, लाला ज्वालासहाय सरोला, और बैरिस्टर जगदीशसहाय, अर्जुन लाल और सोमनाथ जी ।

चरित्र–विकास

मूलभूत प्रवृत्तियां और उनका विकास—जैसा कि ऊपर कहा गया है, यशपाल ने वर्तमान युग की दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों के प्रतीक रूप में अपने पात्रों का सृजन किया है, इसलिये उनके पात्रों के दो ही वर्ग हैं । युग की प्रगतिवादी प्रवृत्ति के प्रतीक-स्वरूप जो पात्र सिरजे गये हैं उनमें आदर्शवादिता, कर्त्तव्यपरायणता, बौद्धिकता, नैतिक जागरूकता और त्याग एवं सेवा के गुण मिलेंगे और उनका प्रत्येक आचरण इन सद्गुणों को प्रकट करता है । विपरीत इसके, रूढ़िवादी प्रवृत्ति के प्रतीक-स्वरूप जिन पात्रों का सृजन किया गया है उनमें नीचता, स्वार्थपरता, अन्ध-विश्वास, और विलासप्रियता के दुर्गुण मिलेंगे । इस प्रकार उनके पात्र या तो हैं खूब उजले और या हैं खूब काले; या तो उनमें धवलता, भव्यता और सच्चरित्रता जैसे गुणों की भरमार है अथवा उनमें कालिमा, पापबुद्धि और दुश्चरित्रता का बोलबाला है । यहाँ उल्लेखनीय है कि पात्रों की प्रवृत्ति विशेष का उपन्यास के आरम्भ में संकेत देकर यशपाल ने पात्रों का चरित्र-विकास, वस्तुतः, उनकी विशिष्ट प्रवृत्ति के उत्तरोत्तर उद्घाटन की सहायता से किया है ।

आदर्शवादिता—उदाहरण के लिये, 'दादा कामरेड' के नायक, हरीश में आदर्शवादिता और त्याग भावना के गुण भरपूर मात्रा में मिलेंगे । हरीश के त्याग और लगन का यह हाल है कि वह अपनी जान हथेली पर रख कर मजदूर आंदोलन में भाग लेता है । एक ओर उसके पुराने क्रांतिकारी साथी, उसके खून के प्यासे हैं तो दूसरी ओर पुलिस भी उसके पीछे पड़ी हुई है । किन्तु वह लुक-छिप कर और

वेष बदल कर काम करता रहता है। उसकी लगन और आदर्शवादिता की सराहना इस प्रकार की गई है—'दादा, तुम्हारी कसम। तुम जानते हो उसने किया क्या है?···सामने, नीचे के दो दांत निकलवा दिये हैं, इससे उसकी आवाज भी नहीं पहचानी जाती। चेहरे पर तमाम फोड़े के दाग जैसी खाल बन गई है। शायद तेजाब लगा कर खाल जला डाली है। चेहरा बहुत बदसूरत और घिनौना हो गया है। उस पर छटी हुई दाढ़ी मूँछ रख ली है। बीमार-सा जान पड़ता है। चेहरा ऐसा बदला है कि बिल्कुल पहचाना नहीं जाता और न आवाज ही।'[1] अंत में डाका डालने और हत्या करने के झूठे अपराध में फांसी की सजा मिलने पर हरीश ने अपने बचाव का यत्न करने की अपेक्षा अपने विचारों का प्रचार करते हुये मृत्यु का आलिंगन करना बेहतर समझा। उसके प्रत्येक आचरण में प्रखर निष्ठा, अखण्ड कर्मशक्ति और त्याग-भावना के दर्शन कराते हुये यशपाल ने उसका गौरवमय अंत दिखाया है।

इसी प्रकार, 'देशद्रोही' के नायक, डा० भगवानदास खन्ना को आदर्श पात्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उसके चिन्तन और आचरण में कोई भिन्नता नहीं है, इसलिये मार्क्सवादी क्रांति का ध्येय अपनाने पर वह शांत नहीं बैठ सकता। गजनी और समरकन्द के सुखपूर्ण जीवन को तिलांजलि देकर वह भारत में क्रांति की आग सुलगाने के लिये संकटमय जीवन को सहर्ष अपनाता है। अपनी प्रिय पत्नी के पुनर्विवाह की सूचना मिलने पर उसके मन में प्रतिशोध की भावना नहीं उठती; अपितु उसके हित को ध्यान में रख कर वह अपने आपको प्रकट नहीं करता। डा० खन्ना का जीवन क्रांति को अर्पित हो चुका है, इसलिये, सांसारिक बन्धन और सुख-दुख की भावना से वह ऊपर उठा हुआ है। यही कारण है कि आदर्शपूर्ण और कर्तव्य-परायण जीवन बिताते हुये अंत में वह पीडा से छटपटाता हुआ और असहाय अवस्था में मर जाता है, किन्तु उफ तक नहीं करता। उसकी आदर्शवादिता और निष्ठा का अंतिम चित्र है—'षष्ठी के चन्द्रमा की हिमशीतल, क्षीण ज्योत्स्ना में प्राण-शक्ति की उष्णता प्रत्येक श्वास के साथ घटती जा रही था। चेतना और अनुभूति क्षीण होते जाने के कारण वह मूर्छा की निद्रा में पड़ा था। उसका सिर पत्थरों के ढेलों में टिका था परन्तु मन में विश्वास था, चन्दा उसका सिर गोद में लिये है, जीवन संग्राम में फिर से लड़ने के लिये वह स्वास्थ्य लाभ कर रहा है।···

वह बड़बड़ा रहा था···चांद मैं देशद्रोही नहीं···चांद उनसे कहना···हां साहस से···'[2]

इसी आदर्शवादिता और त्याग-भावना के आधार पर यशपाल ने 'पार्टी कामरेड' की नायिका, गीता, के चरित्र का विकास किया है। कम्युनिस्ट पार्टी की कार्यप्रणाली में अटल विश्वास रखने वाली गीता निजी मान-अपमान, सुख-सुविधा

---

१. 'दादा कामरेड' २. 'देशद्रोही'।

अथवा लोकनिन्दा की परवाह नहीं करती। पार्टी के हित के लिये वह सब कुछ करने को तैयार है, यहां तक कि पदमलाल भावरिया जैसे दुश्चरित्र व्यक्ति के सम्पर्क में आने से भी वह झिझकती नहीं। पदमलाल भावरिया की दूषित मनोवृत्ति पर गीता की कर्तव्य-निष्ठा का इतना गहरा प्रभाव पड़ता है कि बुरी आदतें छोड़ कर वह सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है। गीता की सच्चरित्रता और लगन का दूसरों पर प्रभाव दिखा कर यशपाल ने उसे आदर्श-रूप में प्रस्तुत किया है। उपन्यास के अन्त में गीता की कर्तव्य-निष्ठा की सराहना करते हुये मजहर कहता है—'यह गीता का ही प्रभाव था कि भावरिया जैसा बदनाम व्यक्ति भी राष्ट्रीय संघर्ष के मोर्चे पर आगे आया वर्ना...।

सेक्रेटरी ने गीता की ओर देख मुस्कराने का यत्न कर कहा—'वी नो, वी नो (हम जानते हैं) गुड गर्ल (शाबाश बहादुर)।'[1]

अपने उपन्यासों के प्रमुख पात्रों को, जो साथ ही कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता भी हैं, आदर्श रूप में प्रस्तुत करने के कारण 'मनुष्य के रूप' नामक उपन्यास के नायक, भूषण को भी यशपाल ने एक आदर्श पात्र के रूप में उपस्थित किया है। भूषण ने क्रांति के आदर्शों को प्रमुखता देकर अपना घर बसाने और नौकरी करने की ओर ध्यान नहीं दिया। कम्युनिस्ट पार्टी की सरगर्मियों में भाग लेते हुये वह लाला ज्वाला सहाय जैसे धनाढ्य व्यक्ति की एकमेव बेटी मनोरमा के घनिष्ट सम्पर्क में आया अवश्य, किन्तु उसकी ओर आकृष्ट हुये बिना वह पार्टी के कार्य में जुटा रहा। अपनी लगन का वह सच्चा है, इसलिये उसके प्रभाव से मनोरमा का जीवन बदल जाता है और अपने पति, सुतलीवाला को तलाक देकर वह भी भूषण के साथ पार्टी के काम में जुट जाती है। किन्तु सुखमय पारिवारिक जीवन भूषण के भाग्य में लिखा नहीं। धनसिंह को सोमा के पास ले जाने पर बरकत, भूषण पर आक्रमण कर देता है और उसे घायल कर देता है। अस्पताल में भूषण की मृत्यु और मनोरमा की मरणासन्न अवस्था दिखा कर यशपाल ने दोनों के चरित्र में उदात्तता ला दी है। यशपाल ने अंत में यही दिखाया है कि दोनों ने मार्क्सवादी क्रांति लाने के लिये अपनी सुख-सुविधा का ध्यान नहीं रखा, और पार्टी के हित को प्रमुखता दी।

नैतिक स्वच्छन्दता—यशपाल ने अपने प्रमुख पात्रों को उच्चादर्श के उच्चधरातल पर प्रतिष्ठित करके जहां उनके जीवन में भव्यता ला दी है, वहां उन्होंने इन पात्रों को समाज के नैतिक विधि-निषेधों से ऊपर उठा दिया है। इसी कारण, यशपाल के ये आदर्श-पात्र जीवन में मुक्त प्रेम और मुक्त भोग के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुये स्वच्छन्द विचरते हैं। यशपाल के चिन्तन के अनुरूप उनके पात्र भी समाज के प्रचलित नैतिक मूल्यों की अवहेलना करते दिखायी पड़ते हैं, क्योंकि उनके

---

१. 'पार्टी कामरेड'।

मतानुसार समाज की वर्तमान नैतिक अवस्था ह्रासोन्मुख है। समाज की प्रचलित नैतिक मर्यादाओं के स्थान पर यशपाल नयी नैतिक मर्यादाओं की स्थापना करने, या कहें कि समाज में नैतिक स्वास्थ्य का संचार करने के लिये प्रयत्नशील हैं। इस प्रयत्न के कारण उनके पात्रों के आचरण में समाज की नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन सुस्पष्ट है।

उदाहरण के लिए, 'दादा कामरेड' के हरीश और शैलबाला जैसे आदर्श-पात्र अपने सम्मुख पार्टी के लिए सर्वस्व अर्पित करने का आदर्श रखने पर भी वासना-पूर्ति से बच नहीं सके। शैलबाला को नग्न रूप में देखने की हरीश की इच्छा, उसे वस्त्रहीन स्थिति में देखने-मात्र से सन्तुष्ट नहीं हो पाती। अतः, इस इच्छा का स्वाभाविक एवं अनिवार्य अन्त, वासना-पूर्ति में होता है। और शैलबाला भी, हरीश की इच्छा के आगे झुकने में किसी प्रकार की अनैतिकता अनुभव नहीं करती, उल्टे वह उसकी इच्छा को राह देती जाती है। हरीश के साथ अवैध सम्बन्ध रखने और हरीश का गर्भ धारण करने में शैल को पश्चाताप न होकर गर्व है। अपने पिता से वह कहती है—'पिता जी, मेरी राह साधारण प्रथा की राह से अलग रही है। मैं आपके ऋण से जन्मभर उऋण नहीं हो सकूंगी और आपका सबसे बड़ा वरदान मुझे मिला है स्वतन्त्रता के रूप में। जो कुछ भी मैंने किया, विचारों के मतभेद के कारण ही...मैं अपने किसी भी काम के लिए अपनी विवेक बुद्धि के सामने लज्जित नहीं हूं...मुझे पछतावा भी नहीं। यदि मैं अपने आपको कलंकिनी समझती तो अपना जीवित मुख संसार को कभी न दिखाती।'[1]

यशपाल के 'देशद्रोही' नामक उपन्यास में पात्रों की नैतिक स्वच्छन्दता अपने चरमोत्कर्ष को पहुंच गयी है। उपन्यास के नायक, डा० भगवानदास खन्ना के जीवन में अपनी पत्नी, राज के अतिरिक्त नर्गिस, गुलशां और चन्दा—ये तीन स्त्रियाँ आती हैं। नर्गिस के साथ यद्यपि उसका निकाह हो गया है किन्तु उसके संग जीवन काटना उसके लिए दूभर है, इसलिये उसे छोड़कर वह रूस चला जाता है। रूस के समरकन्द नामक प्रदेश में डा० खन्ना का गुलशां से मिलन होता है, और वह उसे अपने जाल में फंसाने के लिये हर सम्भव उपाय करती है। गुलशां से मुक्ति पाकर डा० खन्ना भारत पहुंचता है, और अपनी पत्नी, राज के पुनर्विवाह की सूचना मिलते ही उसकी नैतिक किलेबन्दी ध्वस्त हो जाती है। अब तक तो स्त्रियों ने उसे फंसाना चाहा था, किन्तु अब वह स्वयं शिकारी बन बैठा। अतः, विवाहिता चन्दा के साथ अपने प्रेम सम्बन्ध को नैतिक बताते हुये वह कहता है—'न मैं यह विश्वास करता हूं कि स्त्री को एक ही व्यक्ति के उपभोग की वस्तु बनाकर सुरक्षित रख लेना ही आचार-निष्ठा का सबसे बड़ा आदर्श है। पुरुष की वंशरक्षा के लिए सन्तानोत्पत्ति

---

१. 'दादा कामरेड'

का साधन होने के अतिरिक्त, स्त्री का अपना व्यक्तित्व और सन्तोष भी कोई चीज है ।'[1]

डा० खन्ना से नैतिक स्वच्छन्दता का पाठ पढ़कर चन्दा के मन में पातिव्रत्य धर्म के प्रति विद्रोह उत्पन्न हो जाता है । नैतिक-अनैतिक की चिन्ता छोड़कर वह डा० खन्ना के साथ प्रेम-सम्बन्ध जोड़ने को आतुर हो उठती है और अपने स्वच्छन्द आचरण का समर्थन करते हुये कहती है—'अब तक मैं उचित-अनुचित से डरती थी । मर्यादा के पालन का विचार था...एक धारणा की रक्षा की जिम्मेदारी थी...अब कुछ नहीं । उनका विचार है; मेरा चरित्र उन्होंने अपनी मिल्कियत और चौकसी से सम्भाल रखा है । मेरे किसी अनुचित काम के करने की, मर्यादा की रक्षा न करने की जिम्मेदारी उनकी ही है । मैं अपनी इच्छा से नहीं, बल्कि उनके भय से सदाचारी रही । ऐसा है तो वे शक्ति भर अपनी दौलत सम्भाल लें । उनका जो बस चलता है कर लें, जैसे मेरा बस चलेगा मैं कर लूंगी । जब मुझ पर विश्वास था, मेरी जिम्मेवारी थी । मेरा विश्वास ही नहीं तो मेरी जिम्मेवारी क्या ?'[2]

यशपाल के 'पार्टी कामरेड' नामक उपन्यास की नायिका, गीता, में यद्यपि उपर्युक्त आचरण स्वातन्त्र्य की प्रवृत्ति नहीं, तो भी लोकनिन्दा की उसे कदापि चिन्ता नहीं है । पार्टी के लिये वह पद्मलाल भावरिया जैसे बदनाम व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ती है और पार्टी फंड के लिए उससे दो सौ रुपये ले लेती है । मजहर और रंगा जैसे कार्यकर्ताओं के मतानुसार पार्टी के हित के सम्मुख आत्म-सम्मान की भावना का कोई अस्तित्व नहीं; इसलिए उनके कथन से प्रोत्साहन पाकर वह पद्मलाल की ओर झुकती है ताकि उसे पार्टी का सिम्पेथाइजर बनाया जा सके । किन्तु, अन्त में पदमलाल की कुचेष्टा के कारण वह उससे सम्बन्ध तोड़ लेती है ।

इसी प्रकार, 'मनुष्य के रूप' में यशपाल ने आधुनिक समाज में नैतिक दुरावस्था का चित्र खींचते हुये बैरिस्टर जगदीश सहाय और सोमा का चरित्र प्रस्तुत किया है । भूषण का मत है कि 'प्रेम केवल जीवन का सहायक साधन है ।'[3] अतः, 'सभी स्त्रियां आश्रय का मूल्य, प्रेम का मूल्य शरीर से चुकाती हैं ।'[4] पूंजीवादी समाज व्यवस्था में सच्चा प्रेम, सम्भव नहीं है, क्योंकि स्त्रियाँ आत्मनिर्भर नहीं, और उन्हें पुरुष का प्रेम, या कहें कि आश्रय प्राप्त करने के लिये उसकी वासना-पूर्ति का साधन बनना पड़ता है । इसी कारण सोमा को एक-एक करके तीन-चार पुरुषों का सहारा लेना पड़ता है । सबसे पहले वह धनसिंह का सहारा पाकर घर से भाग जाती है और जब धनसिंह भी दो ड्राइवरों की हत्या करके भाग जाता है, तो सोमा को, बैरिस्टर जगदीश सहाय आश्रय देकर रखैल के रूप में रख लेते हैं ।

---

१. 'देशद्रोही', २. वही, ३. 'मनुष्य के रूप', ४. वही ।

लेकिन वहां से भी ठुकराये जाने पर जगदीश सहाय का ड्राइवर बरकत उसे सहारा देता है। फिल्मी दुनियां में स्थान पाने के लिए वह अपनी रही-सही नारी-सुलभ लज्जा को त्यागकर कैमरामैन से लेकर फिल्म-प्रोड्यूसर को प्रसन्न करने तक का यत्न करती है। किन्तु आश्रय पाने की उसकी चाहना अधूरी रह जाती है, इसलिये वह पुनः असिस्टेन्ट डाइरेक्टर, बनवारी की ओर, और तदुपरान्त फिल्म प्रोड्यूसर हैदरजी सुतलीवाला की ओर झुकती है। इस प्रकार सोमा के जीवन को भोग्या के रूप में प्रस्तुत करके यशपाल ने जहां एक ओर पूंजीवादी समाज व्यवस्था में नारी की दयनीय स्थिति का उद्घाटन किया है, वहां दूसरी ओर उन्होंने समाज की तथाकथित नैतिक मर्यादाओं पर भी कठोर प्रहार किया है। सोमा का चरित्र इसका एक ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है।

चरित्र-विकास में पक्षपात—यशपाल के पात्रों के उपर्युक्त विवेचन से यह जानना कठिन नहीं है कि उन्होंने पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय प्रचारात्मकता का सर्वाधिक ध्यान रखा है। प्रचारात्मक साहित्य-रचना में पक्षपात की भावना स्वतः ही आ जाती है, इसी कारण यशपाल के चरित्र-चित्रण में भी पक्षपात दिखायी पड़ता है। मार्क्सवादी चिन्तन के अनुसार आचरण करने वाले कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्त्ताओं को उन्होंने अपनी रचनाओं में सदा आदर्श-पात्र के रूप में प्रस्तुत किया है, जबकि पूंजीवादी अथवा रूढ़िवादी पात्रों को सदैव कलुषित रूप में प्रस्तुत किया गया है। यही कारण है कि यशपाल ने प्रमुख पात्रों के स्वैराचार पर आदर्शवादिता का रंग चढ़ाया है, और उनके स्वच्छन्द आचरण को प्रगतिवाद का नाम देकर सराहा है।

भाषा

यशपाल के उपन्यासों पर उनके मार्क्सवादी चिन्तन के प्रभाव का विश्लेषण करते हुये उनके उपन्यासों के उद्देश्य-पक्ष, कथानक और चरित्र-चित्रण पर विचार किया जा चुका है। यशपाल ने अपने उपन्यासों को मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के प्रचार का साधन बनाया है, इसलिए उपन्यास के उपर्युक्त तत्वों के स्वरूप निर्धारण को, उनकी प्रचारात्मक मनोवृत्ति की पृष्ठभूमि में अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। यही बात भाषा के बारे में भी है। प्रचारात्मकता का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम भाषा होती है, इस कारण यशपाल की प्रचारात्मक मनोवृत्ति का प्रभाव उनकी भाषा के शब्द-चयन और गठन पर प्रचुर मात्रा में पड़ा है।

प्रचारात्मकता—यशपाल ने अपने उपन्यासों में मार्क्सवादी चिन्तन को खुलकर व्यक्त किया है। इस कारण, उनकी भाषा में ठेठ मार्क्सवादी शब्दावली की भरमार हो गयी है। साथ ही, स्थान-स्थान पर कम्युनिस्ट पार्टी की विचारधारा, नीति और कार्यप्रणाली का स्पष्टीकरण करते हुये जब वे जागतिक घटनाओं और समाज-

रचना के विविध पहलुओं की व्याख्या करने लगते हैं तब उनकी भाषा में ठेठ मार्क्स-वादी नारों, मार्क्सवादी वाक्यों और शब्द प्रयोगों तथा मार्क्सवादी युक्तियों की मानों बाढ़ आ जाती है।

उदाहरण के लिए, 'दादा कामरेड' में अदालत के सम्मुख जिरह करते हुए हरीश अपने ऊपर लगाये हिंसा और डकैती के आरोपों के खण्डन की ओर उतना ध्यान नहीं देता जितना कि मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रचार की ओर। मार्क्सवादी चिन्तन के अनुरूप अपराध और न्याय की व्याख्या करते हुये वह कहता है—'हमारा विश्वास है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने परिश्रम के फल पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए। एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य से, एक श्रेणी द्वारा दूसरी श्रेणी से, एक देश द्वारा दूसरे देश से उसके परिश्रम का फल छीन लेना अनुचित है, अन्याय है, अपराध है। यह समाज में निरन्तर होने वाली भयंकर हिंसा और डकैती है। इस हिंसा और शोषण को समाप्त करना ही हमारे जीवन का उद्देश्य रहा है, उसी के लिए हमने प्रयत्न किया है। हिंसा और डकैती का अपराध हम पर लगाना अन्याय है। परन्तु इस अदालत से हम न्याय की आशा भी नहीं कर सकते क्योंकि यह अदा-लत मनुष्यता और नैतिकता की दृष्टि से न्याय और अन्याय का विचार नहीं कर सकती। जिस व्यवस्था को अन्याय समझकर हम बदलने की चेष्टा कर रहे हैं, उसी व्यवस्था को कायम रखना इस अदालत का कर्त्तव्य और उद्देश्य है।'[1]

'देशद्रोही' में डा० खन्ना कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा अंग्रेजों का साथ देने की नीति का समर्थन करते हुये कहता है—'अन्तराष्ट्रीय परिस्थिति से गुलामी का बन्धन काटने की नीति ठीक है परंतु कार्यक्रम ऐसा होना चाहिये जिससे गुलामी का बंधन काटने की आशा हो; केवल बन्धन बदलकर कड़ा हो जाने की नहीं। हमारी वर्त-मान अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति में भारत के लिए फैसिस्ट विरोधी मोर्चे में राष्ट्रीय रूप से अपनी जिम्मेवारी लेने के सिवा और कोई चारा नहीं। इस नीति से हम फैसिस्ट विरोधी युद्ध में मित्र राष्ट्रों का हाथ बटाने के कार्य में अपने शासन के उत्तरदायित्व को भी ले सकते हैं। मित्र राष्ट्र फैसिज्म के विरोध के लिए सभी सम्भव उपायों की शरण के लिए मजबूर हैं।'[2]

मार्क्सवादी तर्क-पद्धति की सहायता से आर्थिक शोषण और साम्राज्यवादी कुचक्र में परस्पर सम्बन्ध जोड़ते हुये 'पार्टी कामरेड' की गीता कहती है—'भारत-वर्ष इतना बड़ा देश है, यहां जनसंख्या इतनी अधिक है; फिर वह छोटे से देश इंगलैंड के अधीन क्यों है? सब पदार्थ और धन श्रम से ही पैदा होते हैं, फिर समाज में श्रम करने वालों की ही अवस्था सबसे बुरी क्यों है? कोई एक पदार्थ तैयार करने की मजदूरी, मजदूर को बहुत कम मिलती है और बाजार में उस वस्तु का

---

१. 'दादा कामरेड', २. 'देशद्रोही'।

दाम काफी रहता है। यह अंतर ही मालिक का मुनाफा और मजदूर का शोषण है। मुनाफा कमाने के लिये पूंजीपति व्यवसाय और मजदूरों पर अधिकार जमाता है और फिर व्यवसाय का क्षेत्र बढ़ाने के लिये दूसरे देशों पर अधिकार, यानी साम्राज्यवाद...।'[1]

इसी प्रकार मार्क्सवादी युक्तियों की सहायता से भद्र समाज और व्यक्तिगत सहृदयता की पोल खोलते हुए 'मनुष्य के रूप' का नायक, कामरेड भूषण कहता है—'इस कोठी के वातावरण में व्यक्तिगत सहृदयता निभ सकती है।'—फिर उसने कोठी के ऊपर एक ओर नोकरों के लिये बनी कोठरियों की ओर उंगली से दिखाया—'शायद वहां नहीं रह सकेगी। वहां केवल भय है। इस व्यक्तिगत सहृदयता के मूल में क्या है? समाज अच्छा-अच्छा है, वह सब छीनकर तुम लोगों के भद्र-समाज की रचना कर ली गयी है। जैसे कश्मीर या कुल्लू के किसी सेवों के बाग के वृक्षों के रूप, रस और गन्ध पैदा करने वाले तत्व किसी क्रिया से खींचकर दस-पांच गमलों में पौदे सजा लिए गये हों। शेष बाग निस्सार होकर, सड़कर, जलकर, विरूप, निश्शक्त और निष्प्रभ हो गया हो। भद्र श्रेणी के सम्पन्न गमलों में सजा हुआ सहृदयता से महकता हुआ यह समाज अपने आप में चाहे कितना सन्तुष्ट हो परन्तु समाज के लिए तो वह अन्याय ही है।'[2]

व्यंगात्मकता—यशपाल ने अपने उपन्यासों में मार्क्सवादी चिन्तन का प्रचार करने के अतिरिक्त इतर राजनैतिक दलों की नीति व कार्यप्रणाली, तथा समाज की नैतिक विकृतियों पर जबरदस्त छींटे कसे हैं। इस कारण, उनकी भाषा में मार्क्सवादी शब्दावली और युक्तियों का समावेश होने के साथ-साथ व्यंग्य के आधिक्य के कारण, तीखापन भी आ गया है। पूंजीवादी और रूढ़िवादी मनोवृत्ति पर उन्होंने स्थान-स्थान पर कटाक्ष किये हैं, इसलिए उनके उपन्यासों की भाषा में प्रचारात्मकता के साथ-साथ व्यंगात्मकता भी पर्याप्त मात्रा में पायी जाती है।

उदाहरण के लिए, 'दादा कामरेड' में विवाह-बन्ध पर कटाक्ष करते हुए राबर्ट कहता है—'विवाह एक लाइसेंस या परवाना है। बन्धन तो वास्तव में यह है कि समाज में कोई पुरुष स्त्री से कोई सम्बन्ध नहीं रख सकता। परन्तु जब इस ढंग से काम नहीं चलता तब पुरुष को एक स्त्री के लिए परवन्ना या लाइसेंस दे दिया जाता है कि वे परस्पर सम्बन्ध पैदा कर सकते हैं।"[3] शैलबाला का पिता, ध्यानचन्द जिन तर्कों का सहारा लेकर पूंजीवादियों के कर्त्तव्यों की सराहना करता है उससे पूंजीवाद पर अच्छी छींटाकशी हो जाती है। उसका कथन है—'अधिकार और जिम्मेवारी एक दिन में छीनकर नहीं ली जाती। वह तिल-तिलकर जोड़ी

---

१. 'पार्टी कामरेड' २. 'मनुष्य का रूप' ३. 'दादा कामरेड'

जाती है और फिर उसकी रक्षा करनी होती है। जो लोग आज मालिक हैं, वे एक दिन में मालिक नहीं बन बैठे। एक प्रकार से यह उनकी श्रेणी की विरासत है और उनका यह कर्त्तव्य है कि भविष्य के लिए इस विरासत को अपनी सन्तान और श्रेणी के लिए सुरक्षित रखें। यदि मैं इस स्थिति में न होता, क्या तुम्हारी शिक्षा का इस प्रकार प्रबन्ध कर सकता? जिन धर्मार्थ कार्यों को मैं चला रहा हूं, उन्हें चला पाता ?'[1]

'देशद्रोही' में पति के कठोर शासन और पत्नी के पतिपरायणता सम्बन्धी भारतीय आदर्श से होने वाले दुष्परिणाम की ओर संकेत कर यशपाल ने चन्दा के वैवाहिक जीवन की खिल्ली उड़ाई है—'इस प्रकार के मतभेद या पति के व्यवहार में रुखाई अनुभव कर चन्दा बारह वर्ष तक अपने आपको सद्‌गृहस्थ जीवन में साधती आई थी। वह घर के बाग की बेल थी और पति माली। पति की पसन्द के प्रतिकूल फूट पड़ने वाली, स्वभाव और प्रवृत्ति की कोंपलों को छांट दिया जाता, पर नई फूट पड़तीं, नई फूटती रहने वाली कोंपलों को काट-छांट कर पति की पसन्द और गृहस्थ की परिस्थितियों के अनुकूल शाखाओं को बढ़ाना ही स्त्री के जीवन का क्रम है।'[2]

कांग्रेसी नेताओं और कांग्रेस की कार्यप्रणाली पर व्यंग्य करते हुए, यशपाल की भाषा बहुत तीखी हो जाती है। 'मनुष्य के रूप' में जेल के अन्दर कांग्रेसी नेताओं के ढोंग का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'बैरिक में सबसे अधिक आदर सोमनाथ जी का था। शहर में भी उनका मान था। वे कांग्रेस के पुराने नेता और कार्यकर्ता थे। उनके घर पर काफी सम्पत्ति थी परन्तु दरिद्रों के समान जीवन अपना लिया था। सरकारी हुकम से उन्हें 'ए' क्लास दिया गया था परन्तु यह सोम बाबू के सिद्धान्त के विरुद्ध था। वे 'सी' क्लास में ही रहते थे। जेल में वे भोजन नहीं करते थे। अपने खर्च पर दो सेर दूध और कुछ फल मंगवा लेते। मिल के सूत से बना जेल का कपड़ा भी वे नहीं पहनते थे। केवल शुद्ध खद्दर का एक अंगोछा कमर में लपेटकर पश्मीने का शाल ओढ़े रहते और दिन भर तकली से सूत कातते या पढ़ते रहते। चोरी से मंगवाया हुआ अखबार पढ़ना वे उचित नहीं समझते थे। केवल खबरें सुन लेते।'[3] इसी प्रकार, पूंजीवाद के आश्रय में पनपने वाले बनवारी जैसे नकली कलाकारों की सफलता पर उन्होंने कटाक्ष किया है—'कला के प्रति भक्ति और सच्चाई का अहंकार वह छोड़ चुका था। अब उसके लिए कला वही थी जो उसे जीविका दे सके। पहले वह अपने आपको कलाकार समझता था, अब वह अपने आपको कला-बाज़ कहने लगा।'[4]

---

१. 'दादा कामरेड' २. 'देशद्रोही'।
३. 'मनुष्य के रूप' ४. वही।

नग्न-चित्रण—यशपाल के मार्क्सवादी चिन्तन के कारण उनके उपन्यासों की भाषा में प्रचारात्मकता और व्यंग्यात्मकता का जो समावेश हो गया है; उस पर ऊपर विचार किया जा चुका है। अब उनकी भाषा पर यथार्थवादी एवं प्रगतिवादी साहित्य-सृजन की प्रवृत्ति का जो प्रभाव पड़ा है, उस पर विचार किया जाएगा।

यशपाल ने मानव की काम-प्रवृत्ति को, मन के अन्य आवेगों के समान, नैसर्गिक माना है और इसे एक महती शक्ति के रूप में देखा है। मानव की कामवासना के प्रति तिरस्कार का भाव रखने की अपेक्षा उन्होंने इसे सर्वथा स्वाभाविक रूप में प्रस्तुत करना चाहा है। यही कारण है कि उन्होंने मानव-जीवन के विविध पहलुओं का उद्घाटन करते हुए उसके काम-पक्ष के उद्घाटन को भी अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। अतः, पात्रों के जीवन में घटित होने वाले कामुकतापूर्ण प्रसंगों के वर्णन से कतराकर निकल जाने की प्रवृत्ति यशपाल में नहीं मिलती। उल्टे, यथार्थवादी साहित्यादर्शों का अनुसरण करते हुए वे ऐसे प्रसंगों का यथातथ्य चित्रण करने लगते हैं। इस यथार्थवादी मनोवृत्ति के कारण यशपाल की रचनाओं में कामप्रसंगों के उघड़े हुए एवं नग्न वर्णन मिलते हैं और इस नग्न-चित्रण के कारण उनके उपन्यासों की भाषा में कहीं-कहीं असंयम एवं अश्लीलता आ गई है।

उदाहरण के लिए, 'दादा कामरेड' में यशपाल ने शैल के निरावरण प्रसंग का वर्णन इस प्रकार किया है—'संकेत समझ शनैः शनैः कदम रखते हुए हरीश स्विच के पास पहुंचा। प्रकाश होने पर उसने देखा, शैल के वस्त्र उसके विस्तर पर पड़े हैं और वह सिर झुकाए दीवार के सहारे शाल में लिपटी बैठी है। दो कदम दूर ही खड़े हो हरीश ने कहा—'यह शाल कांच का तो बना नहीं है।' शैल की आँखें मुँदी थीं। शाल का एक छोर उसने छोड़ दिया, उसकी पीठ दिखाई देने लगी। हरीश ने कहा—'खड़ी हो?' हरीश के दो दफे अनुरोध करने पर वह धुएँ की बल खाती लट की तरह सीधी खड़ी हो गई। उसकी आँखें मुँदी हुई थीं। हरीश ने फिर कहा—'एक दफे आंखें खोलो।' शैल ने अधमुँदी आंखों से हरीश की ओर देखा और फिर तुरन्त बैठ शाल ऊपर ले बोली—'जाओ बाहर।'[1]

यशपाल ने उपर्युक्त निरावरण प्रसंग द्वारा हरीश के प्रति शैल के करुणाभाव का उद्घाटन करना चाहा है। इस करुणाभाव में, अतृप्त-काम हरीश के प्रति शैल के कर्तव्य-भाव का संयोग होने पर यशपाल ने इस संयोग की अनिवार्य परिणति शैल के आत्मार्पण में दिखाई है—'उसका सिर झुका कर उसने अपनी बाहों में ले लिया। शैल और अधिक रोने लगी। हरीश उसे पलँग पर अपने समीप खींच चुप कराने लगा। शैल ने उसे अपनी बाहों में ले हृदय से लगा लिया। उसके हृदय की धड़कन हरीश के कानों में गूँजने लगी। उसके शरीर पर हाथ फेरते हुए हरीश बार-बार

---

१. 'दादा कामरेड'।

उसके बालों को चूमने लगा। कुछ देर में शैल के शरीर के स्पर्श से जाग उठी उत्तेजना में उसकी सब चिन्ता और क्षोभ डूब गया। उसकी चेष्टायें सीमा को लांघने लगीं। शैल का शरीर सिहर उठता। परन्तु प्रत्येक सिहरन से वह हरीश के और भी समीप हो जाने का यत्न कर उसे आलिंगन में और भी अधिक बल से जकड़ लेती है। उसे भय था, हरीश का भटका हुआ मस्तिष्क कहीं फिर उन चिन्ताओं में न फँस जाए। शरीर की अनुभूति से उसकी सब चेतनाओं को डुबा देना चाहती थी परन्तु प्रकृति से लड़ कर वह अपनी चेतना बनाए थी। इस समय उसे अपनी नहीं, हरीश की परवाह थी। हरीश उत्तेजना की चरम-सीमा पर पहुंच अपने आपको भूल गया। शैल उसकी इच्छा को राह देती गई। कुछ देर में शिथिल हो हरीश बिल्कुल बेसुध हो गया।'[1]

'देशद्रोही' में डा० भगवानदास खन्ना और चन्दा के प्रणय का एक वर्णन है—'चन्दा उसके बालों में अपनी उँगलियां चला उसे शान्ति देने का यत्न कर रही थी। वह इतना सन्तोष दे सकती है, यह अनुभव कर उसका हृदय गद्‌गद् हो रहा था। खन्ना की बातें उसके हृदय के अन्तरतम को छू रही थीं। वह चाहती, सामने बैठ खन्ना अपनी बात कहता जाये और वह उसके चेहरे की ओर देखती निरन्तर उसकी बात सुनती रहे। परन्तु उत्तर देना भी आवश्यक था। खन्ना के घुंघराले बालों के एक लच्छे को अपनी उँगली पर लपेटते हुए, सिर झुकाये अधमुँदी आंखों से उसने उत्तर दिया—तो क्या उस (शशि) से कम हो? उसका मन चाह रहा था, खन्ना का सिर उठाकर हृदय से लगा ले।'[2]

यशपाल ने 'मनुष्य के रूप' में सोभा के चरित्र के माध्यम से आधुनिक समाज में नारी के 'भोग्या रूप' का चित्र खींचने का प्रयत्न किया है। उनके मतानुसार पूंजीवादी व्यवस्था में शुद्ध-प्रेम के स्थान पर प्रेम की सौदेबाजी का बोलबाला है, और प्रत्येक स्त्री को भोग्या बनकर इस प्रेम, अथवा आश्रय का मूल्य चुकाना पड़ता है। अतः सोमा के 'भोग्या रूप' को प्रमुखता देते हुए इस उपन्यास में ऐसे अनेक प्रसंगों का वर्णन किया गया है जिनमें सोभा को आश्रय पाने के बदले में अपना शरीर अर्पण करना पड़ता है। ऐसा एक चित्र जगदीश सहाय के प्रति सोमा के आत्मार्पण का है—'साहब के सीने के इतने समीप खड़े होने से सोभा के हाथ कांप रहे थे। साहब झुंझलाहट भूल गये। उन्हें अपनी झुंझलाहट पर झेंप अनुभव होने लगी। सोमा को सान्त्वना देने के लिए वे मुस्करा दिये और अपनी दूसरी बांह उसकी कमर पर रख दी। सोमा के हाथ से कमीज का कफ छूट गया। वह लड़खड़ा गयी, जैसे गिर पड़ेगी। साहब ने उसकी बांह थाम ली और कमर से सम्भाल लिया। सोभा का सिर साहब के सीने पर टिक गया। साहब ने उसकी

---

१. 'दादा कामरेड'। २. 'देशद्रोही'।

ठोडी के नीचे हाथ लगा चेहरा ऊपर उठाकर पूछा—'क्या हो गया ?' सोमा की आंखें मुँद गयीं और माथे पर पसीने की बूँदें छलक आयीं।

'पागल हो, घबराने की क्या बात है ?' साहब ने दबे स्वर में कहा।

साहब का सांस तेज और गला भारी हो गया था। सोमा ने यह अनुभव किया। उसका कम्पन स्वयं रुक गया और उसने आंखें खोल दीं। साहब उसे कुछ और ही से दिखायी दिये। इतने समीप से उन्हें कभी देखा भी तो नहीं था। साहब ने अधीर हो उसके होठों पर होंठ रख दिये। सोमा की आंखें फिर मुँद गयीं। अपनी बाहें उसने साहब के गले में डाल दीं और फिर साहब के सीने पर सिर रखे गहरी सांसें लेती रही।'[1]

'देशद्रोही' में सिपाहियों द्वारा एक-एक ग्रामीण स्त्री के साथ बलात्कार का संकेत न देकर यशपाल ने इस घटना का यथातथ्य नग्न-वर्णन किया है—'झाड़ियों के बीच एक खाली जगह में सिपाही ने एक के ऊपर एक, दोनों रजाइयां बिछा दीं। वह लौट कर गया और लाइन के पास बांहों में सिर छिपाये बैठी औरत को बांह से खींचकर रजाइयों की ओर लाने लगा।

औरत हाथ जोड़कर रोने लगी। सिपाही ने जोर से कहकहा लगाकर गाली दी और धमकाया—'अभी गोली मार दूँगा......को।' उस गाली की नवीनता पर दूसरे सिपाही भी कहकहा लगा उठे। सिपाही औरत को बांह से खींचकर बिछी हुई रजाइयों की ओर ले आया। फीकी-फीकी चांदनी में औरत के गालों पर बहते आंसू दिखायी दे रहे थे। सिपाही ने औरत को जबरदस्ती बाहों में ले झाड़ियों में बिछी रजाई पर गिरा दिया। रजाई का विस्तरा अर्जुनलाल और घनसिंह से केवल तीन कदम के अन्तर पर था। औरत के ठुसक-ठुसक कर रोने और सिपाही के बदहवासी में बड़बड़ाने की आवाज इन लोगों के कानों तक आ रही थी।'[2]

अश्लील शब्दों का प्रयोग—प्रणय, कामोपभोग और बलात्कार के उपर्युक्त कामुकतापूर्ण प्रसंगों के यथातथ्य वर्णन से यशपाल की भाषा जहां एक ओर नग्न-चित्रण की ओर प्रवृत्त हो गयी है वहां दूसरी ओर जब वे मजदूरों, ड्राइवरों, गुण्डों और शराबियों की बातचीत को शब्द-बद्ध करने लगते हैं तो उनकी गन्दी गालियों, अश्लील व्यंग्यों और गन्दे परिहासों से उनकी भाषा में अश्लीलता का पुट आ गया है। उनके मजदूर अथवा ड्राइवर श्रेणी के पात्र भद्दी गालियां दिये बिना बात नहीं करते और उनके व्यंग्य इतने कुरुचिपूर्ण होते हैं कि यशपाल की यथार्थवादी भाषा भी इन वाक्यांशों पर डैश-डाट के चिह्न लगाने को विवश हो जाती है। तो भी, इन पात्रों के अश्लील मुहावरों और शब्दों से भरपूर कुरुचिपूर्ण भाषा के कुछ भोंडे नमूनों

१, 'मनुष्य के रूप'। २, वही।

को यशपाल ने अपने उपन्यासों में स्थान दे ही दिया है। उदाहरण के लिये, 'दादा कामरेड' के अख्तर की बातचीत का नमूना है—'और तुझे मालूम है यहां उस कशमीरी ने पांच-सात फटे जूते जैसी औरतें रखी हुई हैं। साला दुअन्नी-दुअन्नी में भुगताता है और रात भर में अपने पन्द्रह-बीस खरे कर लेता है। इस साले ने भी सारी लाइन में सुजाक; आतशक फैला रखी है। इस साले को भी गोली मारने वाला कोई नहीं मिलता।'[1]

'मनुष्य के रूप' में तो ऐसे अश्लील शब्द-प्रयोगों की भरमार है। धनसिंह के साथी ड्राइवरों की बातचीत प्रायः उन्हीं के शब्दों में व्यक्त की गयी है, इसलिये भाषा में नग्नता और अश्लीलता का रंग बहुत गहरा चढ़ गया है। इसके अतिरिक्त जब निम्न श्रेणी के इतर पात्र गई-बीती भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तो भाषागत अश्लीलता और भी अखरने लगती है। सोमा को ससुराल में मिलने वाली डांट-फटकार का एक उदाहरण है—'बहुत तीखे और ऊँचे स्वर में दूसरी स्त्री ने डांटा—'तू कहां जा रही है चुड़ैल चौका छोड़ कर। पराये मर्द की गन्ध आयी कि टुकड़े पर कुतिया की तरह लपक पड़ी।'[2] इसी प्रकार बलात्कार में रत सिपाहियों के अश्लील मजाक का एक नमूना है—'अबे नौशेर के बच्चे, हमारी बारी का भी ख्याल रखना। साले खबरदार! पहले सब लोग एक-एक बार जायेंगे। जल्दी कर बे—नहीं बनता तो आकर ऊपर से कमर पर एक लात दूँ।'[3]

यथार्थवादी चित्रण की प्रवृत्ति के कारण यशपाल की भाषा में कहीं-कहीं नग्न और अश्लील वर्णन का जो रुझान पाया जाता है उसके उपर्युक्त तीन-चार उदाहरण ही पर्याप्त हैं। कामोपभोग अथवा बलात्कार की घटनाओं का संकेत न देकर यशपाल ने जहां-कहीं भी इनके यथातथ्य एवं निःसंकोच वर्णन किये हैं, उनके कारण भाषा का सहज सौन्दर्य एवं शिष्टता नष्ट होकर इसमें बाजारूपन का समावेश हो गया है। किन्तु, यथार्थवादी साहित्य में ऐसे नग्न और भद्दे वर्णनों का समावेश नैतिक दृष्टि से कदापि आपत्तिजनक नहीं है; बल्कि, यथार्थवादी साहित्यकार सस्ती और बाजारू भाषा के प्रयोग को अनिवार्य बताते हुए यही तर्क प्रस्तुत करेगा कि असभ्य और गंवार पात्रों के स्वाभाविक एवं सहज चित्रण के लिये यह जरूरी है कि उनकी भोंडी और भद्दी भाषा का बेझिझक प्रयोग किया जाये। दूसरे, जब समाज के अन्दर अनैतिकता और गन्दगी भरी पड़ी है तो उसे ढकने-मूँदने से भला क्या लाभ? क्यों न इसे उघाड़ कर सबके सम्मुख रखा जाये और जनसाधारण की नैतिक चेतना उद्‌बुद्ध की जाये?

यशपाल के उपन्यासों की भाषा के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों क प्रचार, अन्य राजनैतिक

१. 'दादा कामरेड'। २. 'मनुष्य के रूप'। ३. वही।

पार्टियों की नीति एवं कार्यप्रणाली पर व्यंग्य की बौछार, तथा सामाजिक विषमता एवं नैतिक विकृतियों पर प्रहार करने के लिये चलती हुई भाषा के प्रयोग पर सर्वाधिक ध्यान दिया है। जैनेन्द्रकुमार अथवा 'अज्ञेय' की काव्यमयी, गम्भीर, समर्थ और विचारोत्तेजक भाषा से तुलना करने पर यशपाल की भाषा में वैसा ओज अथवा गाम्भीर्य दिखायी नहीं देता। वस्तुतः, प्रचार, व्यंग्य और यथार्थ चित्रण की प्रवृत्ति के कारण यशपाल के उपन्यासों की भाषा में गाम्भीर्य, सौष्ठव अथवा ओजस्विता के स्थान पर हल्केपन, सस्तेपन और बाजारूपन की गन्ध अधिक आती है।

४

हिन्दी उपन्यास में नायक-नायिका का विकास और नैतिकता

पात्र के सृजन और उपन्यासकार के जीवन-दर्शन में साम्य

पिछले परिच्छेद में उपन्यास के विविध तत्वों पर उपन्यासकार के चिन्तन एवं जीवन-दर्शन के प्रभाव को ध्यान में रखकर, हिन्दी उपन्यास-साहित्य के स्वरूप-विकास का क्रमिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया था। इस अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपन्यास के उद्देश्य, कथानक अथवा भाषा की तरह, उपन्यास के पात्रों की उद्भावना भी, उपन्यासकार की नैतिक मान्यताओं के अनुरूप होती है। उपन्यासकार ने अपने जीवनादर्शों को अपने पात्रों के आचरण में प्रतिबिम्बित करने का, जाने या अनजाने में, यत्न किया है जिसका फल यह हुआ है कि ये पात्र, उसके जीवन-दर्शन की जीती-जागती और मुंह बोलती तस्वीरें बनकर, उसकी रचनाओं में उपस्थित हो गये हैं। उपन्यासकार के जीवन-दर्शन और पात्रों की उद्भावना में इतना अधिक साम्य है कि जहां एक ओर हम उपन्यासकार के जीवन-दर्शन के आलोक में उसके प्रमुख पात्रों की चरित्रगत प्रवृत्तियों तथा आचरण का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं, वहां दूसरी ओर उसके पात्रों की चरित्रगत प्रवृत्तियों और आचरण के आलोक में उसके जीवन-दर्शन तथा उसके नैतिक आदर्शों का भी अनुमान लगाया जा सकता है। उपन्यासकार के विविध पात्र उसकी मानस-सन्तान सरीखे हैं, और उसने अपने समस्त चिन्तन एवं अनुभव की थाती सौंपकर इन पात्रों को जीवन के विस्तृत क्षेत्र में खुला छोड़ दिया है। यही कारण है कि अपने स्रष्टा के जीवनादर्शों का ईमानदारी से पालन करने वाले ये विविध पात्र उसके चिन्तन के सजीव उदाहरण बन गये हैं।

उपन्यास-रचना में चरित्र-चित्रण का प्राधान्य—हिन्दी उपन्यास-साहित्य के क्रमिक विकास का अध्ययन करने पर एक और बात का पता चलता है कि अब उपन्यास रचना में, पात्र के चरित्र-चित्रण को सबसे अधिक महत्व दिया जाने लगा है; यहां तक कि इस तत्व के सम्मुख उपन्यास के अन्य तत्व गौण हो गये हैं। उपन्यास-रचना पर चरित्र-चित्रण का इतना अधिक दबदबा हो गया है कि उपन्यास की रीढ़ कह-लाई जाने वाली कथावस्तु के क्षीण तंतु ही आधुनिक उपन्यास-साहित्य में अब अव-शिष्ट हैं। चरित्र-चित्रण के बढ़ते हुए महत्व के सम्मुख उपन्यास की भाषा ने अपनी पराजय इस हद तक स्वीकार कर ली है कि अब पात्रों के मनोभावों और विचारों की चाकरी करना ही इसका एकमेव काम रह गया है। वस्तुतः, चरित्रचित्रण ने उपन्यास-रचना पर अपना आधिपत्य इतना अधिक जमा लिया है कि अब यही तत्व उपन्यास-रचना का मूलाधार बन बैठा है। इतना ही नहीं, उपन्यास-साहित्य की कसौटी बनकर अब यह इसके अन्य तत्वों पर शासन करने लगा है।

आधुनिक उपन्यास-साहित्य में चरित्र-चिशण के अत्यधिक प्राधान्य का अनु-मान इसी बात से लगाया जा सकता है कि उपन्यासकार पात्रों के चरित्र-चित्रण द्वारा मानव जीवन के किसी तथ्य का उद्घाटन करने के लिए ही उपन्यास की रचना करता है। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि उपन्यास की समाप्ति पर, पाठक के मानस-पटल पर कथानक अथवा भाषा की अपेक्षा, पात्र विशेष का व्यक्तित्व अपनी गहरी छाप छोड़ जाता है। उपन्यास के इतर तत्वों के धुंधले-से स्मरण के अतिरिक्त, पाठक के मन पर इनका कोई स्थायी प्रभाव शेष नहीं रहता; स्थायी प्रभाव यदि किसी का रहता है तो वह पात्र के व्यक्तित्व का ही, उसके आच-रण, उसकी उलझन और उसके मनोसंग्राम का ही।

चरित्र-चित्रण द्वारा मानव जीवन की व्याख्या—उपन्यास-रचना में चरित्र-चित्रण की उपर्युक्त महत्ता के फलस्वरूप, आधुनिक उपन्यास-साहित्य, कथानक की अपेक्षा, चरित्र-चित्रण को आधार बनाकर विकसित हुआ है। पात्र के चरित्र-चित्रण को अपनी रचना का मूलाधार बनाने का एक कारण यह भी है कि उपन्यासकार ने, अपने चिन्तन के अनुरूप, मानव-जीवन की व्याख्या करनी चाही है, और इस व्याख्या को कथात्मक रूप देने के लिये उसे किसी कल्पित पात्र के जीवन की आड़ लेने के लिये विवश होना पड़ा है। कथात्मक रूप देने की आवश्यकता इसलिए पड़ी क्योंकि उपन्यासकार, मानव-जीवन की व्याख्या जैसे नीरस और गहन विषय को सरस एवं आकर्षक रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। इस काम के लिये उसने चरित्र-चित्रण का आश्रय लिया है, और किसी कल्पित पात्र के चरित्र की ओट में उसन मानव-जीवन सम्बन्धी अपनी व्याख्या को, अर्थात्, अपने जीवन-दर्शन को, अधिक आकर्षक एवं सरस ढंग से प्रस्तुत करना चाहा है।

उपन्यासकार के आत्मदान का महत्व—पात्र विशेष के चरित्र-चित्रण की सहायता से मानव जीवन की व्याख्या करने की इस प्रवृत्ति की अनिवार्य परिणति यद्यपि चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यासों में हुई है, तो भी, इस श्रेणी के उपन्यास की सफल रचना के लिये इस प्रवृत्ति का अन्धानुकरण-मात्र पर्याप्त नहीं है। देखा जाए तो चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यासों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उपन्यास के पात्र सजीव हैं या नहीं। यहां यह कहना पुनरुक्ति-मात्र होगा कि पात्रों की सजीवता उनके रचयिता के आत्मदान पर निर्भर करती है–अर्थात्, उपन्यासकार ने अपने पात्रों को किस परिमाण में अपना व्यक्तित्व प्रदान किया है। इसी कारण चरित्र-चित्रण प्रधान उपन्यासों में पात्र और उनके सृष्टा के एकरूप हो जाने को बहुत महत्व दिया जाता है। श्री हेनरी वारने ने पात्रों के साथ एकरूप होने और उनके व्यक्तित्व में अपना सम्पूर्ण व्यक्तित्व उड़ेल देने को उपन्यासकार का प्रथम कर्त्तव्य माना है। उनका कथन है—'उपन्यासकार जिस परिमाण में अपने पात्रों के जीवन में आत्म-प्रक्षेपण कर सकेगा, और उनके अनुभवों को आत्मसात कर इन्हें अपने उपन्यासों में सजा सकेगा, उसी अनुपात में उसके पात्रों में सजीवता दिखायी देगी।[1]

सृष्टि और स्रष्टा में एकात्मता—उपन्यास के पात्रों और उनके सरजनहार के बीच मूलभूत एकात्मता को न केवल पाश्चात्य उपन्यासकारों ने, अपितु, हिन्दी के ख्यातनामा उपन्यासकारों ने भी स्वीकार किया है। प्रेमचन्द ने इस सम्बन्ध में कहा है—'वास्तव में कोई रचना रचयिता के मनोभावों का, उसके चरित्र का, उसके जीवनादर्श का, उसके दर्शन का आईना होती है।'[1] तात्पर्य यह कि उपन्यासकार अपनी रचना में जिन पात्रों का सृजन करता है, उनमें उसके निजी जीवनादर्श पूरी तरह झलकते हैं। प्रेमचन्द की अपेक्षा, जैनेन्द्र कुमार और 'अज्ञेय' ने पात्रों के सृजन में आत्मदान को, और अपने व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति को, अधिक स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। जैनेन्द्र कुमार का कथन है—'सृष्टि सृष्टा को छिपाये है। मुझे भी अपने इन पात्रों के पीछे छिपा मानें; पर सृष्टि सृष्टा को ही व्यक्त करती है; और यह पुस्तक मुझे व्यक्त करने को बनी है। फिर भी सृष्टि ही तो दीखती है—सृष्टा कहां दीखता है।'[2] इससे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में वे कहते हैं—'किसी पात्र में मैं अनुपस्थित नहीं हूं, और हरेक पात्र हर दूसरे-से भिन्न है। उनकी सब बातें मेरी बात है।'[3] ठीक इसी भाव को व्यक्त करते हुये 'अज्ञेय' ने स्वीकार किया है—मैं शेखर की कहानी लिख रहा हूं; क्योंकि मुझे उसमें से जीवन के अर्थ के सूत्र पाने हैं, किन्तु एक सीमा ऐसी आती है जिससे आगे मैं अपनी और शेखर की दूरी नहीं बनाये रख सकता—उस दिन का भोगनेवाला और आज का वृत्ताकार दोनों

---

१. कुछ विचार। १. सुनीता। ३. वही।

एक हो जाते हैं, क्योंकि अन्ततः उसके जीवन का अर्थ मेरे जीवन का अर्थ है।'[1] पात्रों के सृजन में निर्वैयक्तिकता अथवा निष्पक्षता के आदर्श की बात कहने पर भी 'अज्ञेय' ने इस आदर्शपालन में अपनी असमर्थता स्वीकार करके यह साफ-साफ जता दिया है कि वे अपने पात्रों में अपने समस्त चिंतन और सम्पूर्ण व्यक्तित्व सहित उपस्थित हैं।

उपन्यास के विविध पात्रों और उनके रचयिता के बीच विद्यमान अभिन्न एवं घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर ध्यान दिलाने के लिए हिंदी के उपर्युक्त प्रसिद्ध उपन्यासकारों के कथन उद्धृत किए गए हैं। पिछले परिच्छेद में हिन्दी के जिन-जिन प्रतिनिधि उपन्यासकारों की विवेचना की गयी है, उसके आधार पर यहां तक कहा जा सकता है कि ये उपन्यासकार विविध पात्रों के चेहरे लगाकर उपन्यास के रगमंच पर मानों स्वयं ही उपस्थित हो गये हैं। इन चेहरों की आड़ लेकर उन्होंने अपने आपको हर सम्भव उपाय से छिपाना चाहा है, किन्तु, कभी-कभी असावधानी भी तो हो जाती है। और ऐसे अवसर पर, नकली चेहरे की आड़ में से उपन्यासकार के असली चेहरे की झलक स्पष्ट दिखायी दे जाती है। उपन्यासकार के असली रूप के उद्घाटन की दृष्टि से हिन्दी के ख्यातनामा उपन्यासकारों की रचनाओं का यदि अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि उनसे यह असावधानी बार-बार हुई है; नकली चेहरे की ओट से उनका असली चेहरा बार-बार उघड़ गया है। तब पता चलता है कि अरे! यहां तो रचयिता स्वयं ही उपस्थित हैं—उपन्यास के रंग-मंच पर पाठकों के सम्मुख अपने पात्रों का परिचय कराते-कराते वह स्वयं ही अपना अभिनय-कौशल दिखाने लगा है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से दो बातें सामने आती हैं—एक तो यह कि आधुनिक उपन्यास-साहित्य में मानव जीवन की व्याख्या करने के प्रयास में पात्र के चरित्र-चित्रण को इतनी प्रमुखता दी जाने लगी है कि अब यही तत्व उपन्यास-रचना का मूलाधार बन बैठा है। दूसरे, उपन्यासकार ने पात्रों की उद्भावना में अपने ही व्यक्तित्व और अपने ही जीवनदर्शन को मूलाधार बनाया है; पात्रों का सृजन करते-करते वह आत्मदान कर बैठा है—अर्थात्, उसने अपने समस्त जीवनानुभव और जीवनादर्श इन्हें दे डाले हैं। इस दृष्टि से देखा जाये तो भिन्न-भिन्न उपन्यासकारों के भिन्न-भिन्न जीवनादर्शों से हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विविध पात्र सिरजे गये हैं। इन रंग-बिरंगे पात्रों में यदि साम्य है तो एक ही बात में, कि वे अपने रचयिता के जीवनदर्शन एवं जीवनादर्श की सच्ची प्रतिमूर्तियां हैं।

प्रस्तुत परिच्छेद में हमें पात्रों के अन्दर विद्यमान इस मूलभूत साम्य के आधार पर, हिन्दी उपन्यास के विविध पात्रों की उद्भावना और इनके विकास की

---

१. शेखर: एक जीवनी।

कुछ मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियों को खोजना है। जिस प्रकार पिछले परिच्छेद में उपन्यासकार की नैतिक मान्यताओं और उसके नैतिक आदर्शों की पृष्ठभूमि में हिन्दी उपन्यास के सामान्य स्वरूप-विकास पर विचार किया गया था, उसी प्रकार यहां पर भी उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन के आलोक में उपन्यास के विविध पात्रों की उद्भावना और उनके विकास की सामान्य प्रवृत्तियों का विशद विवेचन किया जायेगा। उपन्यास के विविध पात्रों के अन्तर्गत उपन्यास के नायक, खलनायक, नायिका तथा गौण पात्रों को लिया गया है। अतः, प्रस्तुत परिच्छेद में उपर्युक्त क्रमानुसार हिन्दी उपन्यास-साहित्य में इन विविध पात्रों की उद्भावना और इनके विकास पर विचार किया जायेगा।

उपन्यास का नायक

नायक की उद्भावना—सबसे पहले नायक की उद्भावना और उसके चरित्र-विकास को लें। उपन्यास में नायक का स्थान अद्वितीय होता है। नायक के चारों ओर उपन्यास का कथानक घूमता है, और उस पर उपन्यासकार के जीवनादर्शों के सजीव चित्रण की जिम्मेदारी भी होने के कारण, वह उपन्यास का मानों प्राण है। नायक की आड़ में उपन्यासकार, अपने चिन्तन के अनुरूप, एक आदर्श जीवन जीना चाहता है, इसलिए वह अपनी रचना में नायक की उद्भावना बहुत सावधानी से करता है। वह अपने चिन्तन के अनुरूप अपने नायक को कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों एवं प्रेरणाओं से मण्डित करके उसको जीवन के विस्तृत प्रांगण में खुला छोड़ देता है। अतः, हिन्दी उपन्यास में नायक की उद्भावना और विकास पर विचार करते समय इन प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं का सूक्ष्म अध्ययन करना अत्यावश्यक है, क्योंकि ये प्रवृत्तियां और प्रेरणायें जहां एक ओर उपन्यासकार के नैतिक विश्वासों और आदर्शों से उद्भूत हुई हैं, वहां दूसरी ओर, ये (प्रवृत्तियां और प्रेरणायें) नायक के व्यक्तित्व का मूलाधार हैं और उसके चिन्तन एवं आचरण का स्वरूप निर्धारित करती हैं।

नैतिक व्यवस्था में आस्था अथवा अनास्था—इन प्रवृत्तियों और प्रेरणाओं के दृष्टिकोण से नायक की उद्भावना पर यदि विचार किया जाए तो पता चलेगा कि हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों ने दो पृथक्-पृथक् आधारों का सहारा लेकर अपने नायकों का सृजन किया है। एक आधार है परम्परागत नैतिक मर्यादाओं के पालन का। तदनुसार, समाज की प्रचलित नैतिक व्यवस्था में नायक की आस्था के आधार पर उसके चरित्र की उद्भावना की गई है। दूसरा आधार है परम्परागत नैतिक मर्यादाओं की अवहेलना का, जिसके अनुसार प्रचलित नैतिक व्यवस्था में नायक की अनास्था के आधार पर उसका चरित्र खड़ा किया गया है। नायकों के चरित्रगत आधार की भिन्नता के कारण उनकी प्रवृत्तियां एवं प्रेरणायें भी भिन्न हैं। समाज की नैतिक व्यवस्था में आस्था रखने वाले नायक, इसमें कहीं-कहीं सुधार अथवा परिवर्तन सुझाते हुये भी, इस व्यवस्था से निर्देश पाकर अपने आचरण की रूपरेखा

निर्धारित करते हैं। प्रचलित नैतिक व्यवस्था से उन्हें असन्तोष हो सकता है, किन्तु इसकी अवहेलना उन्हें इष्ट नहीं; समाज की प्रचलित नैतिकता से उन्हें मतभेद हो सकता है किन्तु इसे सरासर मिटा देना उन्हें अभीष्ट नहीं। ऐसे नायकों की स्वभावगत प्रवृत्तियाँ समाज की नैतिक व्यवस्था से मेल खाती हैं, इसलिये असन्तोष अथवा मतभेद होने पर भी वे, अधिक से अधिक, इस व्यवस्था के सुधार की बात सोच सकते हैं।

किन्तु जिन नायकों को इस व्यवस्था में तनिक भी श्रद्धा नहीं है, वे तो समाज के नैतिक-विधि-निषेधों की अवहेलना करते हुये इसे ध्वस्त करने पर उतारू हैं। समाज की नैतिक व्यवस्था में छुट-पुट सुधारों से वे सन्तुष्ट नहीं; अपितु, वे तो समाज के नैतिक ढांचे में आमूल परिवर्तन करने की बात सोचते हैं। समाज की प्रचलित नैतिकता में अश्रद्धा रखने के कारण ऐसे नायकों में इसके प्रति विद्रोह-भावना का प्राबल्य है और वे व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की दुहाई देते हुये उसकी नैतिक स्वच्छन्दता का पक्ष लेते हैं। नायक की उद्भावना के यही दो मुख्य आधार हैं, और उसके चरित्र-विकास की सामान्य प्रवृत्तियों का निर्धारण भी इन्हीं के अनुरूप हुआ है। हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नायक के विकास का अच्छी तरह अध्ययन करने के लिये हमें हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासकारों द्वारा नायक की उद्भावना और उसकी सामान्य प्रवृत्तियों की ओर ध्यान देना होगा। इस अध्ययन का प्रारम्भ प्रेमचन्द के नायकों से ही करें तो ठीक रहेगा।

प्रेमचन्द के नायकों की उद्भावना—पिछले परिच्छेद में प्रेमचन्द के जीवन-दर्शन पर विचार करते समय उनके चिन्तन के मूलाधार, अर्थात्, मानववाद का उल्लेख किया गया था। प्रेमचन्द ने मानव-मात्र के प्रति सद्भाव व्यक्त करते हुये प्रेम, सेवा और त्याग जैसे नैतिक आदर्शों के पालन में मानव जीवन की सिद्धि देखी है। प्रेमचन्द का नैतिक चिन्तन उपर्युक्त उच्चादर्शों से जीवन-रस पाकर पुष्ट हुआ है, इस कारण जब वे समाज की नैतिक व्यवस्था की ओर दृष्टिपात करते हैं तो मानव की उन्नति के लिये नैतिक मर्यादा-पालन को बहुत महत्व देते हैं। इस महत्व-प्रदान के साथ-साथ, नैतिक परम्पराओं में, अपने विशिष्ट नैतिक चिन्तन के अनुरूप, उन्होंने यथोचित सुधार अथवा संशोधन की योजना भी प्रस्तुत की है, और इस सुधार को क्रियान्वित रूप देने के लिये विशिष्ट प्रकार के नायकों की उद्भावना की है। एक प्रकार से देखा जाये तो प्रेमचन्द की रचनाओं के अधिकांश नायक समाज की नैतिक व्यवस्था में सुधार करने की योजना प्रस्तुत करते हुये भी समाज के नैतिक अनुशासन के सम्मुख नतमस्तक होकर इसकी आज्ञा शिरोधार्य करने में सदैव तत्पर रहते हैं। यह बात सही है कि उनमें सिद्धान्तप्रियता और विचार-स्वातन्त्र्य की मात्रा इतनी अधिक है कि वे अपने विश्वास के सम्मुख लोक-निंदा की परवाह नहीं करते, तो भी लोक-निंदा के प्रति उनका उपेक्षाभाव, अन्ततः, समाज की नैतिक व्यवस्था में परिष्कार की सदिच्छा से ही प्रेरित है, न कि इसके प्रति अवहेलना के भाव से।

नैतिक व्यवस्था में श्रद्धा—उदाहरण के लिए, 'प्रतिज्ञा' का नायक, अमृतराय; 'सेवासदन' का पं० पद्मसिंह शर्मा; 'प्रेमाश्रम' का प्रेमशंकर; 'रंगभूमि' का सूरदास; 'कायाकल्प' का चक्रधर; 'कर्मभूमि' का अमरकान्त और 'गोदान' का होरी; लोकनिन्दा की उपेक्षा करते हुए भी, समाज के नैतिक अनुशासन के सम्मुख नतमस्तक हैं और ऐसा कोई आचरण नहीं करते जिससे कि समाज की नैतिक व्यवस्था के परिष्कार के स्थान पर इसे किसी प्रकार का धक्का पहुंचे। विधवा-विवाह के हिमायती, विधुर अमृतराय को लोक-निन्दा सहना मंजूर है किन्तु कुंवारी युवती प्रेमा, से विवाह करके समाज की वाहवाही लूटना उन्हें स्वीकार्य नहीं। उनके सम्मुख समाज की असंख्य विधवाओं के यातनामय जीवन को सुखमय बनाने का लक्ष्य है, अत: लोकनिन्दा के प्रति पूर्ण उपेक्षा का भाव रखते हुये वह अपने नैतिक विश्वासों के अनुसार आचरण करने में तनिक भी नहीं घबराते।

समाज के नैतिक अनुशासन के सम्मुख नम्र होकर समाज की नैतिक व्यवस्था में यथोचित सुधार करने की प्रवृत्ति उनके प्राय: सभी नायकों में मिल जायेगी। 'सेवासदन' के नायक पं० पद्मसिंह शर्मा अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वेश्याओं के अनैतिक एवं पापमय जीवन के सुधार का बीड़ा उठाते हैं। वेश्याओं को घृणा की दृष्टि से देखने के बजाय वह उनके प्रति सहृदयता एवं सहानुभूति का भाव रखते हुये उनके जीवन के उन्नयन की योजना बनाते हैं। यद्यपि इस कार्य में उन्हें लोक-निन्दा का सामना करना पड़ता है, तो भी अपने नैतिक आदर्शों से आश्वस्त हो वह लोकनिन्दा की परवाह न करते हुए समाज-जीवन में व्याप्त वेश्यावृत्ति की कलुषित परम्परा के उन्मूलन की ओर अग्रसर होते हैं।

प्रेमचन्द के मतानुसार समाज के नैतिक जीवन में अनैतिकता के प्रवेश का एक कारण धन का लोभ भी है; इसलिए उन्होंने 'प्रेमाश्रम' के नायक प्रेमशंकर के चरित्र की उद्भावना सरल, सात्विक और निर्लोभी प्रवृत्तियों के आधार पर की है। प्रेमशंकर को झूठे आडम्बर से घृणा है और सेवा तथा त्यागमय जीवन में वह मानव-जीवन की चरम सिद्धि देखता है। यही कारण है कि धन और सम्पत्ति का मोह छोड़कर वह सरल एवं सात्विक जीवन अपनाता है, और अपने आचरण द्वारा इर्फान अली, ज्वालासिंह और डा० प्रियनाथ जैसे सम्मानित व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन लाकर समाज के सम्मुख सरल एवं त्यागमय जीवन का नैतिक आदर्श प्रस्तुत करता है। जाति-पांति और छुआछूत जैसी रूढ़ियों के विरुद्ध प्रेमशंकर ने मोर्चा ठान रखा है, क्योंकि इन रूढ़ियों द्वारा उन्हें समाज-जीवन के सहज विकास का मार्ग अवरुद्ध होता दिखायी देता है। इसलिए, 'प्रेमाश्रम' की स्थापना द्वारा प्रेमशंकर जहां एक ओर उपर्युक्त सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन की ओर संकेत करता है, वहां दूसरी ओर सरल, सात्विक एवं त्यागमय जीवन का अपना स्वप्न

भी साकार कर देता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो 'प्रेमाश्रम' का नायक, प्रेमशंकर, प्रेमचन्द के नैतिक आदर्शों का जीता-जागता उदाहरण है।

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों के नायकों में सूरदास (रंगभूमि), चक्रधर (कायाकल्प), अमरकान्त (कर्मभूमि) और होरी (गोदान) उल्लेखनीय हैं। ये सभी नायक प्रेमचन्द के चिन्तन के जीते-जागते उदाहरण हैं। समाज के नैतिक अनुशासन के प्रति उनके हृदय में अपार श्रद्धा है, किन्तु साथ ही समाज-जीवन की रूढ़ियों के प्रति तीव्र विद्रोह की भावना भी उनमें व्याप्त हैं। 'रंगभूमि' के सूरदास के मन में विद्यमान सत्य और न्यायप्रियता की भावना उसे समाज-जीवन में व्याप्त अन्याय और अनैतिकता के विरुद्ध लड़ने की प्रेरणा देती है। अपंग होने पर भी उसमें नैतिक बल इतना अधिक है कि वह अकेला ही अन्याय और अनैतिकता की शक्तियों को परास्त कर देता है।

इसी प्रकार, प्रेमचन्द ने 'कायाकल्प' के नायक, चक्रधर, के चरित्र की उद्भावना, संयम और सेवा, तथा सिद्धान्तवादिता और तपश्चर्या के आदर्शों के आधार पर की है। चक्रधर के हृदय में समाज-सेवा की भावना, समाज-जीवन के प्रति उसकी गहरी श्रद्धा का आभास देती है, किन्तु समाज की नुमाइशी जिन्दगी और धन की लालसा का वह विरोधी है। अतः, अपना विरोध प्रकट करने के लिये वह भौतिक वैभव का परित्याग कर समाज-सेवा का जीवन अपनाता है। 'कर्मभूमि' का अमरकान्त भी वैभव और विलासिता पर लात मारकर सेवा और कष्टमय जीवन को सहर्ष अपनाता है। भोगमय जीवन के प्रति अमरकान्त के मन तीव्र घृणा है, क्योंकि उसके मतानुसार विलासिता में सच्चा सुख नहीं, हां, नैतिक पतन जरूर है। झूठी और नुमाइशी जिन्दगी के प्रति उसके हृदय की पुंजीभूत उबकाई, उसे समस्त सांसारिक बन्धनों और आकर्षणों से विमुख कर देती है। जिन्दगी की पिटी पिटाई लीक पर चलकर सम्मान पाने की अपेक्षा वह अपने नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार कष्टपूर्ण जीवन अपनाता है। अमरकान्त का परम्परागत जीवन यद्यपि भोग, विलासिता, धन की पूजा और नकलीपन पर आधारित था, किन्तु उनके अन्दर विद्यमान नैतिक चेतना उसे झूठे और नकली जीवन का परित्याग कर सच्चे और सात्विक जीवन को अपनाने की प्रेरणा देती है।

प्रेमचन्द ने 'गोदान' के नायक होरी में एक साधारण कृषक का चरित्र प्रतिबिम्बित किया है जो इन रूढ़ियों के प्रति नम्र भी है और इनका विरोध भी करता है। जहां एक ओर ग्रामीण समाज के अनुशासन को स्वीकार करके वह डांड भरना कबूल कर लेता है, वहाँ दूसरी ओर वह इस अनुशासन की पूर्ण अवहेलना करते हुए झुनिया और सिलिया को शरण भी देता है। होरी के अन्दर नैतिक चेतना की बात कहना, वस्तुतः नैतिक चेतना के अर्थ की अकारण खींचातानी करना होगा।

तो भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 'गोदान' के इस अपढ़ और गंवार नायक के चरित्र की उद्भावना करते समय यद्यपि उन्होंने उसमें समाज की नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघन और पालन जैसी दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों को आधार बनाया है, तो भी उसके चरित्र में समाज की नैतिक व्यवस्था के सम्मुख नतमस्तक होने की प्रवृत्ति का प्राधान्य है।

वृन्दावनलाल वर्मा के नायकों की उद्भावना—नायक की उद्भावना और विकास का अध्ययन करते समय, प्रेमचन्द के उपरान्त, जयशंकर प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा का नाम आता है। इस अध्ययन के क्रम को देखते हुए हमें पहले जयशंकर प्रसाद के नायकों की उद्भावना पर विचार करना चाहिये। किन्तु, प्रेमचन्द ने नायक की उद्भावना की जो परम्परा शुरू की है, उसका पालन वृन्दावनलाल वर्मा ने किया है, प्रसाद ने नहीं। जयशंकर प्रसाद ने तो नायक की उद्भावना की एक निराली परम्परा को जन्म दिया है, इस कारण प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाने वाले ऐतिहासिक उपन्यासकार, वृन्दावनलाल वर्मा के दो-तीन नायकों की उद्भावना पर संक्षिप्त-सा विचार करके, प्रसाद की नयी परम्परा का अध्ययन करना अधिक अच्छा होगा।

नैतिक मर्यादा पर आस्था—वृन्दावन लाल वर्मा ने बुन्देलखण्ड के स्वर्णिम अतीत की पृष्ठभूमि पर अपने उपन्यासों की रचना की है और इतिहास में अपना नाम अमर बनाने वाली महान् विभूतियों को उन्होंने अपनी रचनाओं का नायक बनाया है। उदाहरण के लिए, 'गढ़-कुण्डार' के सोहनपाल, 'विराटा की पद्मिनी' के देवी सिंह, और 'मृगनयनी' के राजा मानसिंह तोमर इतिहास-प्रसिद्ध पात्र हैं और उन्होंने समाज की सामान्य व्यवस्था की रक्षा करते हुये अपने आदर्श आचरण द्वारा समाज की नैतिक मर्यादाओं का पूरी तरह पालन किया है। इन नायकों की ख्याति का मूल कारण बाहरी आक्रमणों से समाज रक्षा था, वर्मा जी ने इन्हें समाज की नैतिक व्यवस्था में पूर्ण श्रद्धा एवं पूर्ण आस्था रखते हुये ही दिखाया है बल्कि, कहा जाये तो वृन्दावन लाल वर्मा ने उनकी लोक रक्षा एवं समाज-रक्षा की प्रवृत्तियों को उभार कर दिखाया है, ताकि उनकी महानता का चित्र खींच सकें। साथ ही, तत्कालीन समाज की यह विशेषता थी कि, इसमें कट्टरता और नियमबद्धता का अधिक बोल-बाला था। इस कारण भी वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने नायकों की उद्भावना करते समय तत्कालीन समाज की उपर्युक्त विशेषता का बहुत ध्यान रखा है। और केवल नायकों में ही नहीं, अपितु उनके प्रायः सभी पात्रों में हमें समाज की नैतिक व्यवस्था के प्रति आस्था एवं नैतिक मर्यादाओं के प्रति श्रद्धा की भावना दिखायी देती है।

प्रसाद के नायक—प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के उपरांत जब हम जयशंकर प्रसाद के नायकों पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि उन्होंने 'कंकाल'

और 'तितली' में नायक की उद्‌भावना के लिए एक नया आधार प्रस्तुत किया है—समाज की नैतिक व्यवस्था की उपेक्षा का। समाज की नैतिक व्यवस्था को श्रद्धापूर्ण नेत्रों से देखये के बजाय प्रसाद ने इसका यथार्थवादी दृष्टिकोण से मूल्यांकन किया है। इस यथार्थवादी मूल्यांकन का अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि प्रसाद ने प्रेमचन्द की लीक पर चलकर, समाज की प्रचलित नैतिक व्यवस्था में सुधार अथवा संशोधन करने के बजाय, इसके प्रति विद्रोह की आवाज उठायी है। 'कंकाल' के नायक, विजय के चरित्र की विद्रोही प्रवृत्ति और सामाजिक रूढ़ि-बंधनों के प्रति उसके मन में व्याप्त तीव्र घृणा के दर्शन कराकर प्रसाद ने अपने पीछे आने वाले अन्य उपन्यास-कारों के लिए मानों विद्रोही नायकों की उद्‌भावना का मार्ग खोल दिया है। यद्यपि उनके दूसरे उपन्यास 'तितली' के नायक, मधुबन, में समाज की नैतिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह की भावना उतनी प्रबल नहीं जितनी कि 'कंकाल' के नायक के मन में है, तो भी एक बात स्पष्ट है कि विद्रोही नायक की उद्‌भावना द्वारा समाज की नैतिक व्यवस्था में क्रान्ति की आवश्यकता जताने वालों में जयशंकर प्रसाद का नाम अग्रगण्य है।

नयी परम्परा—हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नायक के चरित्र-विकास की दृष्टि से 'कंकाल' के विद्रोही नायक, विजय की उद्‌भावना बहुत महत्वपूर्ण है। प्रेमचन्द ने अपने नायकों की उद्‌भावना द्वारा जहां समाज के नैतिक आधार में संशोधन की बात सुझायी थी वहां प्रसाद ने 'कंकाल' के नायक, विजय को उद्‌भावना द्वारा समाज के नैतिक आधार में क्रांति करने की ओर संकेत किया है। नायक के चरित्र-गठन के इस नये आधार को अपनाकर प्रसाद के बाद आने वाले अन्य उपन्यासकारों ने भी समाज की नैतिक विषमता के उद्‌घाटन का प्रयास किया है। उन्होंने भी 'कंकाल' के विद्रोही नायक, विजय के चरित्र की उद्‌भावना को ध्यान में रखकर समाज की नैतिक व्यवस्था के प्रति उपेक्षा तथा नैतिक मर्यादाओं के उल्लंघन को अपने नायकों के चरित्र का आधार बनाया है। इन उपन्यासकारों में जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' और यशपाल प्रमुख हैं। नायक की उद्‌भावना में इन सभी उपन्यासकारों में एक बात में साम्य है कि नैतिक व्यवस्था की उपेक्षा का आधार लेकर और नायक के जीवन में विद्रोह, स्वच्छन्दता और व्यक्तिवादिता की प्रवृत्तियों का समावेश करते हुये इन्होंने अपनी कृतियों में उसके चरित्र का विकास प्रायः एक जैसा ही किया है।

विद्रोह में आदर्श का पुट—यहां यह उल्लेखनीय है कि इन उपन्यासकारों ने अपने नायक को यद्यपि समाज की नैतिक व्यवस्था की अवहेलना करते हुये दिखाया है, तो भी उसे आदर्श रूप में ही प्रस्तुत किया है—अर्थात्, यह अवहेलना, कोरी अव-हेलना मात्र नहीं, इसमें आदर्श का पुट भी है। इस आदर्शवादी चरित्र-चित्रण का एक कारण तो यह है कि उपन्यासकार को अपने विद्रोही नायक के आचरण का

सर्वत्र समर्थन करना था, उसके आचरण की निन्दा नहीं; क्योंकि यदि समाज की नैतिक व्यस्था के प्रति विद्रोह की निंदा की जाये तो वह नायक, उपन्यास का नायक न बनकर, खलनायक बन जायेगा। इतना ही नहीं, आदर्शवादी धरातल पर लाने के बाद ऐसे विद्रोही नायक को नए नैतिक आदर्शों के सृष्टा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है जो कि नैतिकता की पुरानी लीक पर चलने के बजाय अपने लिए नए नैतिक आदर्शों का सृजन करने का साहस करता है। इस दृष्टि से यदि हम समाज की प्रचलित नैतिक मर्यादाओं की अवहेलना करने वाले जैनेन्द्र कुमार, जोशी, 'अज्ञेय और यशपाल के विद्रोही नायकों की उद्भावना पर विचार करें तो आदर्शवादी धरातल पर किए गए उनके चरित्र-विकास की अनिवार्यता तुरन्त हमारी समझ में आ जाएगी।

जैनेन्द्र कुमार के नायक—जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों के कतिपय नायकों की उद्भावना पर विचार करते ही उपर्युक्त कथन की पुष्टि हो जाएगी। 'सुनीता' के नायक श्रीकान्त, 'सुखदा' के कांत, 'विवर्त' के जितेन, 'व्यतीत' के जयंत, और जय-वर्द्धन' के नायक, जयवर्द्धन के चरित्र की उद्भावना में जैनेन्द्र कुमार ने आदर्श-वाद और नैतिक स्वच्छन्दता का समन्वय कर दिखाया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ये नायक समाज की नैतिक व्यवस्था के प्रति उपेक्षा जतलाते हुए दूसरों को नैतिक स्वेच्छाचार की छूट देते हैं और इस स्वेच्छाचारिता का दार्शनिक रीति से समर्थन करते हुए एक विचित्र आदर्शवाद की सृष्टि करते हैं। उनके उपन्यासों की नायिकायें तो और भी खुला खेल खेलती हैं; समाज की नैतिक मर्यादा का तनिक भी अंकुश उन्हें सह्य नहीं है। उनकी नायिकाओं के मुकाबले में यद्यपि उनके उपन्यासों के नायक अपेक्षाकृत दब्बू हैं, तो भी नैतिक स्वेच्छाचार को बहुत दार्श-निक ढंग से स्वीकार करते हुये ये नायक, नायिकाओं को स्वैराचार की खुली छूट दे देते हैं।

आदर्शवाद और स्वेच्छाचार का समन्वय—उदाहरण के लिए, 'सुनीता' का नायक, श्रीकान्त, अपनी पत्नी को हरिप्रसन्न के सम्मुख आत्मार्पण करने की खुली छूट देते हुए उसे मुक्तभोग की मानों स्वयं ही प्रेरणा देता है। यही हाल 'सुखदा' के नायक, कान्त, का है। उसकी ओर से भी सुखदा को पूरी स्वतन्त्रता है कि वह क्रांतिकारी दल के कार्यकर्ता, मिस्टर लाल के साथ प्रेम सम्बन्ध बनाये रखे। अपनी पत्नियों को स्वेच्छाचार की खुली आजादी देते हुए न तो श्रीकान्त के मन में क्षोभ उमड़ता है और न ही कान्त की अन्तरात्मा उसे कचोटती है। इन दोनों के हृदय न जाने किस आदर्श से अपूरित हैं कि वे अपनी पत्नियों के मुक्तभोग को तटस्थ मानते निरपेक्ष दृष्टि से देख सकते हैं, और साथ ही इस तटस्थता को एक महान् आदर्श की साधना समझ कर संतोष कर सकते हैं।

इसी प्रकार, परकीया स्त्री के साथ नायक के अनैतिक संबंध को जैनेन्द्र कुमार ने सहज रीति से प्रस्तुत करते हुए सामाजिक मर्यादाओं के प्रति उपेक्षा ही जतायी है। इतना नहीं, इन नायकों के चरित्र की उद्भावना आदर्शवादी धरातल पर करते हुए उन्होंने इनके स्वेच्छाचार को आदर्श-आचरण के रूप में प्रस्तुत करना चाहा है। 'विवर्त' का नायक, जितेन, वैरिस्टर नरेशचन्द्र की पत्नी, भुवन मोहिनी के प्रति आकृष्ट है, तो 'व्यतीत' का नायक जयन्त, भी मिस्टर पुरी की पत्नी और अपनी बालसखा, अनिता, को चाहता है। 'जयवर्द्धन' का नायक, जयवर्द्धन, एक ओर इला के साथ विवाह किए बिना उसे अपने पास रखे हुए हैं, तो दूसरी ओर, इला के पिता की अनुमति के बिना उससे विवाह करने को अनैतिक समझता हैं। जयवर्द्धन के चरित्र की उद्भावना करते हुए जैनेन्द्र कुमार ने जिस निःसंगता का आधार लिया है, उस आधार में सामाजिक मर्यादाओं की उपेक्षा और पालन, इन दो परस्पर-विरोधी तत्वों का समावेश करने का यत्न किया है। यही बात जितेन और जयंत के चरित्रों की उद्भावना में भी है। निःसंगता और कामासक्ति जैसी दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों का आधार लेकर जैनेन्द्र कुमार ने इनके चरित्र में आदर्श-वादिता का संचार करना चाहा है।

रहस्यात्मक आदर्शवाद—किन्तु, जैनेन्द्र कुमार ने अपने नायकों की उद्भावना कामासक्ति और निःसंगता, आदर्शवाद और स्वच्छन्दाचरण जैसे दो परस्पर-विरोधी तत्वों के आधार पर जिस ढंग से की है, उससे तो उनके नायकों के आदर्शवादी रूप के वजाय उनका स्वेच्छाचारी रूप ही अधिक उभर आया है। नैतिक स्वच्छन्दता की खुली छूट देने में और स्वयं भी अवसर पड़ने पर स्वेच्छाचारी होने में उनके नायकों की अन्तरात्मा उन्हें कचोटती नहीं, अपितु एक अद्भुत नैतिक आदर्श के पालन की कल्पना कर वे अपने मन को समझा लेते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आकाशचारी गन्धर्वों के समान, जैनेन्द्र कुमार के नायकों को नैतिक मर्यादाओं और विधि-निषेधों की कठोर भूमि पर पांव रखने की आवश्यकता नहीं है। उनके नैतिक आदर्श अनन्त आकाश के समान किसी सीमा में नहीं वँध सकते और न ही पकड़ में आ सकते हैं। इसी कारण जैनेन्द्र कुमार के नायक नैतिक स्वेच्छाचार द्वारा जिन नैतिक आदर्शों की सृष्टि करते प्रतीत होते हैं, वे वायवीय अधिक होने के कारण दुर्बोध भी हैं और रहस्यात्मक भी।

इलाचन्द्र जोशी के दुर्बल नायक—हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नायक की उद्भावना और विकास पर विचार करते समय ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ते हैं तो पता चलता है कि इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय', तथा यशपाल प्रभृति उपन्यासकारों ने अपने नायकों को नैतिक स्वेच्छाचार की ओर भी खुली छूट दे रखी है। इलाचन्द्र जोशी ने तो अपने अधिकांश नायकों की उद्भावना उनके चरित्रगत दौबर्ल्य के आधार पर की है। कामोपभोग एवं आत्मतुष्टि की पाशविक प्रवृत्तियों का सामना करने में

असमर्थ इनके अधिकांश नायक, अपने स्वभाव की दुर्बलता के कारण इन्द्रिय-सुख को जीवन में शीर्षस्थान दिये हुये हैं। अपनी वासनापूर्ति के लिए वे नीच-से-नीच कर्म करने को उद्यत हैं, और नैतिक बन्धनों में अपने आपको बंधने नहीं देते। 'लज्जा' का नायक डा० कन्हैयालाल, 'सन्यासी' का नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' का इन्द्रमोहन, 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ और 'जिप्सी' का नायक नृपेन्द्र रंजन, उनके दुर्बल स्वभाव, अस्वस्थ मन तथा कामासक्त नायकों के कुछ उदाहरण हैं। डा० कन्हैयालाल अपनी कामपूर्ति के लिये लज्जा को अपने जाल में फंसाता है और जब वह अपने भाई की मृत्यु के दुःसह शोक के कारण उसकी कामचेष्टाओं का तिरस्कार करती है तो वह अन्य लड़कियों की ओर लपकता है। लज्जा के प्रति डा० कन्हैयालाल के आकर्षण के मूल में काम-पिपासा है, कामोपभोग की चाहना है; वासना-रहित, विशुद्ध प्रेम का वहाँ चिह्न तक भी नहीं है। इसी कारण डा० कन्हैयालाल के हृदय में लज्जा के प्रति विशुद्ध प्रेम से उद्भूत नैतिक उत्तरदायित्व की भावना के स्थान पर वासनापूर्ति का प्रबल पाशविक वेग है।

कामवासना का प्राबल्य—इलाचन्द्र जोशी के अन्य नायकों के स्वभाव में कामवासना का इतना प्राबल्य है कि इसने उनके हृदय के नैतिकता तथा सहृदयता के सहज स्रोत को पूरी तरह सुखा दिया है। 'सन्यासी' का नायक, नन्दकिशोर अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए शान्ति को भगाकर इलाहाबाद ले जाता है। उसके हृदय में शान्ति के प्रति किसी प्रकार के नैतिक कर्त्तव्य की भावना नहीं है, इसलिये अपनी नेकनामी और सुविधा का ध्यान आते ही वह उसे विना किसी हिचकिचाहट के छोड़कर, शिमला चला जाता है। 'पर्दे की रानी' के नायक, इन्द्रमोहन के चरित्र की उद्भावना का मूलाधार आत्मरति और वासनापूर्ति है, अतएव; अपनी वासना की पूर्ति के लिए उसे बुरे से बुरे कृत्य करने से परहेज नहीं है। अपनी पत्नी, शीला, को विष देने और रंजना के साथ बलात्कार करने जैसे नैतिक अपराधों को करते समय उसके मन में नैतिक संघर्ष अथवा कोई दुविधा उत्पन्न नहीं होती। कामवासना की प्रबल आंधी के आगे उसकी नैतिक चेतना, उसका विवेक और उसका संयम टिक नहीं पाता, और पाशविकता के हाथ की कठपुतली बनकर वह अनैतिक आचरण करता घूमता है।

नैतिक चेतना का अभाव—इलाचन्द्र जोशी के अन्य नायकों में चेतना का अभाव देखने लायक है। 'प्रेत और छाया' के नायक, पारसनाथ, ने मानों अनैतिक आचरण को अपने जीवन का लक्ष्य ही बनाया हुआ है। अपनी प्रेमिकाओं के साथ विश्वासघात करने और इन्हें असहाय अवस्था में छोड़ने में उसे पाशविक सुख मिलता है; इसलिये, कांची, मंजरी और नन्दिनी को पुराने कपड़ों की तरह त्याग कर भी वह स्वस्थ-चित्त बना रहता है। यही हाल 'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र रंजन का है। मनिया के प्रति शारीरिक आकर्षण से आकृष्ट होकर वह उसे अपने अधिकार में

लाने के लिए उचित-अनुचित की चिन्ता नहीं करता। और, जब वह कुरूप हो जाती है तो अपने मृत मित्र, वीरेन्द्र की पत्नी, शोभना के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस प्रकार वासनासक्त और कामोपभोग में रत उनके अधिकांश नायक नैतिक बन्धनों को कच्चे सूत के धागे के समान निरर्थक मानते हुए अपनी कामतृप्ति के सामने नैतिक-अनैतिक, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य अथवा पाप-पुण्य का विचार नहीं करते। उनमें नैतिक चेतना का इस हद तक अभाव है कि उन्हें विश्वासघात, बलात्कार, हत्या जैसे जघन्य कर्मों से तनिक भी परहेज नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाये तो इलाचन्द्र जोशी के नायक मानव-समाज की उस बर्बरावस्था की याद दिलाते हैं, जब मानव-मन पर पाशविकता का पूर्ण राज्य था और नैतिकता सहृदयता, विवेक तथा संयम जैसे मानवीय गुणों का पूर्ण अभाव था। मानव की इन बर्बरकालीन पाशविक प्रवृत्तियों के आधार पर डा० कन्हैयालाल, नन्दकिशोर, इन्द्रमोहन, पारसनाथ और नृपेन्द्र रंजन जैसे नायकों की उद्भावना होने के कारण यह कहा जा सकता है कि ये नायक वस्तुतः मानव की आदिकालीन बर्बरता के नवीन संस्करण हैं।

'अज्ञेय' के नायकों की विद्रोह-भावना—इलाचन्द्र जोशी ने नैतिक चेतना से शून्य स्वेच्छाचारी नायकों का सृजन किया तो 'अज्ञेय' के नायक नैतिक दृष्टि से सचेत होते हुए भी समाज की नैतिक व्यवस्था के विरुद्ध, विद्रोह का झण्डा बुलन्द किये हुये हैं। नायक की उद्भावना और उसके विकास के क्रम में 'अज्ञेय' के नायकों का अपना विशिष्ट स्थान है। हिन्दी उपन्यास साहित्य में नायक के चरित्र की उद्भावना, समाज की नैतिक मर्यादाओं के पालन से शुरू होकर, 'अज्ञेय' तक आते-आते नैतिक मर्यादाओं के प्रति विद्रोह में बदल गयी है। उनके नायकों के अन्दर अपने व्यक्तित्व और स्वत्व की रक्षा का इतना प्रबल आग्रह है कि समाज की नैतिक मर्यादाओं और नियमों को वे व्यक्ति के विकास को अवरुद्ध करने वाले और उसके स्वत्व का हरण करने वाले बन्धनों के रूप में ही देखते हैं। इस कारण उनके नायक समाज की नैतिक व्यवस्था से क्षुब्ध होकर इसके उन्मूलन का बीड़ा उठाते हैं और अपने स्वच्छन्द आचरण द्वारा नैतिक विधि-निषेधों की अवज्ञा में जीवन की सिद्धि देखते हैं।

उदाहरण के लिये, 'शेखर : एक जीवनी' के नायक शेखर का सृजन उन्होंने विद्रोह-भावना के आधार पर ही किया है। अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास में उत्पन्न होने वाली बाधाओं के प्रति शेखर के मन में विद्रोहाग्नि की लपटें उठती हैं। माता-पिता की आज्ञा, परिवार के अनुशासन, समाज के विधि-निषेध और शासन-सत्ता के नियम-बन्धनों में छटपटाता हुआ शेखर इन सबके प्रति विद्रोह कर बैठता है। माता-पिता से तिरस्कृत, परिवार और समाज से बहिष्कृत तथा शासन की शक्ति से पीड़ित होता हुआ भी शेखर अपने मनमाने आचरण पर पश्चाताप करने

के बजाय, विद्रोह-भावना में जीवन की सिद्धि देखता है। इसी कारण, समाज की प्रचलित नैतिक कसौटियों से उसके जीवन का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। समाज के शान्त और नैतिकतापूर्ण वातावरण में वह धूमकेतु के समान है, जो अपने प्रचण्ड वेग से बंधी-बंधायी परम्परा को छिन्न-भिन्न करने पर तुला है।

जिस विद्रोह-भावना ने 'शेखर : एक जीवनी' के नायक, शेखर, को जन्म दिया है, वही विद्रोह-भावना 'नदी के द्वीप' के नायक, भुवन, को समाज की नैतिक व्यवस्था की उपेक्षा करने की प्रेरणा देती है। महेन्द्र की विवाहिता पत्नी, रेखा और भुवन, एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होकर आत्मदान की ओर प्रवृत्त होते हैं। इस परस्पर आत्मसमर्पण को नैतिकता की तराजू पर तोलने की उन्हें आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दोनों एक-दूसरे में विलीन होने में अपने जीवन की सिद्धि देखते हैं। और जब इस विलय में भुवन की सन्तुष्टि नहीं होती तो वह विरक्त होकर रेखा से विलग हो जाता है। भुवन के व्यक्तिवादी आचरण में समाज के विधि-निषेधों के प्रति उपेक्षा का भाव मानों साकार होकर प्रगटा है।

यशपाल के नायकों में अनास्था की पराकाष्ठा—इसी सम्बन्ध में जब हम यशपाल के नायकों की उद्भावना पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि उनके नायकों के मतानुसार समाज की प्रचलित नैतिक व्यवस्था जर्जर हो उठी है। विकृतियों और विषमताओं से परिपूर्ण वर्तमान व्यवस्था के बारे में यशपाल के नायकों का मन तिरस्कार से भरा हुआ है, अतएव, इन नैतिक मर्यादाओं में बूर्जुवा मनोवृत्ति की गन्ध पाते ही उनके नायकों का मन घृणा और विद्वेष से भर उठता है और इस सड़ी-गली व्यवस्था को यथाशीघ्र ध्वस्त करने की ओर वे प्रवृत्त होते हैं। 'दादा कामरेड' का नायक हरीश, और 'देशद्रोही' का नायक, डा० भगवानदास खन्ना, यद्यपि यशपाल के आदर्श नायकों के आदर्श प्रतीक हैं, तो भी, वे मुक्त भोग और स्वच्छन्द आचरण द्वारा समाज की वर्तमान नैतिक व्यवस्था पर चोट करने पर उतारू हैं। 'दादा कामरेड' का नायक, हरीश, शैलबाला के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित किए हुये है, तो 'देशद्रोही' का नायक, डा० भगवानदास खन्ना, साम्यवादी दर्शन का आधार लेकर राजाराम की पत्नी, चन्दा के साथ मुक्त-भोग में तनिक भी अनौचित्य नहीं देखता। हरीश और डा० खन्ना के चरित्र को देखकर यह कहा जा सकता है कि समाज के धार्मिक विश्वासों, परम्परागत नैतिक मूल्यों तथा प्राचीन जीवन आदर्शों के प्रति यशपाल का उपेक्षा-भाव, उनके नायकों की स्वच्छन्द-वृत्ति और मुक्त भोग में प्रकट हुआ है।

नायक के चरित्र-विकास की प्रवृत्ति—हिन्दी उपन्यास साहित्य में नायक की उद्भावना और विकास के उपर्युक्त विवेचन के उपरांत यही निष्कर्ष निकलता है कि नायक का विकास नैतिक आस्था से अनास्था की ओर, नैतिक अविश्वास की ओर, और सामाजिक अनुशासन से व्यक्ति के विद्रोह की ओर क्रमशः तीव्र गति

से अग्रसर होता हुआ प्रतीत होता है। प्रेमचन्द और प्रसाद के उपरान्त, हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकारों ने नायक के चरित्र में चिन्तन, दार्शनिकता और आत्म-विश्लेषण की प्रवृत्ति का अधिकाधिक मात्रा में समावेश किया है जिसका परिणाम यह हुआ कि इनके नायक समाज के प्रचलित नैतिक विश्वासों और आदर्शों को तर्क की कसौटी पर परखते और परीक्षण करते हैं। तर्क, युक्तियों और विश्लेषणात्मक बुद्धि के पैने औजारों द्वारा चीरफाड़ करने के उपरान्त इन नायकों को परम्परागत नैतिक विश्वासों और जीवनादर्शों में विविध प्रकार की असंगतियां और विषमतायें दिखायी देना स्वाभाविक था। इन विषमताओं का पर्दा-फाश होते ही नायकों के मन में बसी हुई आस्था, विश्वास, और श्रद्धा की भावना निराधार हो गयी और वे समाज के परम्परागत विश्वासों एवं आदर्शों के प्रति अपने हृदय में अनास्था, अविश्वास और अश्रद्धा के भाव भरने लगे। इस अश्रद्धा का ही यह परिणाम हुआ है कि आधुनिक काल तक आते-आते हिन्दी उपन्यास का नायक, समाज की नैतिक मर्यादाओं के प्रति उपेक्षा जताने के बाद, इनके प्रति खुला विद्रोह कर बैठा।

उपन्यास का खलनायक

खलनायक की उद्भावना का आधार—हिन्दी उपन्यास में नायक की उद्भावना और विकास पर विचार करने के उपरान्त, खलनायक की उद्भावना पर विचार करते हैं, तो उपन्यासकार का नैतिक चिन्तन और भी स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार उपन्यासकार ने नायक में अपने नैतिक आदर्शों का प्रक्षेपण करके उसके चरित्र का विकास किया है, उसी प्रकार उसने नैतिक लक्ष्यों की सिद्धि में बाधा पहुंचाने वाले विविध तत्वों और परिस्थितियों को अपनी रचना में खलनायक का चेहरा ओढ़ा कर प्रस्तुत किया है। ये बाधक तत्व अथवा परिस्थितियां दो प्रकार की हैं—बाहरी और भीतरी; अर्थात्, समाज के बाह्य नियमों, आस्थाओं और परम्पराओं से उत्पन्न अथवा मानव मन के भीतरी संघर्षों और कुण्ठाओं से उद्भूत। हिन्दी उपन्यास साहित्य के सामान्य स्वरूप-विकास का अनुसरण करते हुये, खलनायक के चरित्र का विकास भी बाहरी बाधाओं से शुरू होकर धीरे-धीरे भीतरी बाधाओं को आधार बनाने की ओर प्रवृत्त हुआ है।

प्रेमचन्द के खलनायक-सामाजिक कलुषता के प्रतीक—उदाहरण के लिए, प्रेमचन्द के उपन्यासों में खलनायक की उद्भावना को ही लें। प्रेमचन्द ने अपनी सुधारवादी मनोवृत्ति का अनुसरण करते हुए समाज ने अन्दर विद्यमान कुरीतियों, अन्धविश्वासों और सामाजिक विषमताओं को सुधारने का यत्न किया। किन्तु समाज की कालिमा दूर करने की इच्छा उत्पन्न करने के लिए सर्वप्रथम इस कलुषता के प्रति जनसाधारण के मन में घृणा का भाव उत्पन्न करना भी तो जरूरी है! इसी

आशय को व्यक्त करते हुए अंग्रेजों की एक उक्ति है—कुत्ते को मारने का सबसे सुगम उपाय यही है कि पहले उसे बदनाम कर दो—अर्थात्, कह दो कि पागल हो गया है। तदनुसार, प्रेमचन्द ने भी इन कुरीतियों के उन्मूलन के पूर्व जनसाधारण में इनके प्रति घृणा और तिरस्कार का भाव उत्पन्न करना—अर्थात् उन्हें बदनाम करना—जरूरी समझा। इस काम के लिए उन्हें खलनायक से बढ़कर उपयोगी पात्र और अन्य कोई नहीं जंचा। अतः, साहित्य में खलनायक की उद्भावना की प्राचीन परम्परा का उपयोग करते हुए, प्रेमचन्द ने समाज की कुरीतियों और विकृतियों को खलनायक का चेहरा ओढ़ाकर अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि समाज की जिस कुरीति को प्रेमचन्द सुधारना चाहते थे अथवा जिस विकृति को दूर करना चाहते थे, उसे खलनायक के रूप में पाठकों के सम्मुख पेश करके वे उसके प्रति तिरस्कार का भाव उत्पन्न कर सके। इस दृष्टि से उनके खलनायकों में समाज की गन्दगी पूंजीभूत हो गयी है और समाज की समस्त कलुषता, खलनायक के चरित्र में अंकित कर दी गयी है।

खलनायक की उद्भावना के पीछे निहित प्रेमचन्द के लक्ष्य को ध्यान में रखने के उपरान्त, उनके उपन्यासों के विविध खलनायकों की प्रकृति को पहिचानना सरल हो जाता है। उदाहरण के लिये, 'प्रतिज्ञा' के कमलानाथ को समाज की रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास का प्रतीक बनाकर प्रस्तुत किया गया है। तत्कालीन समाज में विधवा-विवाह के प्रति तिरस्कार की भावना, वस्तुतः, समाज के अन्धविश्वास तथा पुरानी रूढ़ियों से चिपटे रहने के मोह का परिणाम थी। अतः, समाज की इस रूढ़िवादिता और अन्धविश्वास का प्रतिनिधित्व करने वाला 'प्रतिज्ञा' का खलनायक, कमलानाथ, भी अमृतराय के सद्प्रयासों में विघ्न पहुंचाता है। उसकी चारित्रिक कुटिलता को चित्रित करने के लिए प्रेमचन्द ने उसे विधवा, पूर्णा पर डोरे डालते दिखाया है। इस प्रकार कमलानाथ के चरित्र की कुटिलता में समाज की रूढ़िवादिता से उत्पन्न विषमता एवं कलुषता का आभास देने के लिए प्रेमचन्द ने उसे खलनायक का रूप प्रदान किया है।

असामाजिक प्रवृत्तियों का उद्घाटन—समाज की अन्य विकृतियों, विषमताओं और असामाजिक प्रवृत्तियों का उद्घाटन करने के लिए प्रेमचन्द ने 'प्रेमाश्रम' में ज्ञानशंकर, 'निर्मला' में मुंशी तोताराम, 'रंगभूमि' में राजा महेन्द्र सिंह, 'गवन' में रमानाथ, 'कर्मभूमि' में धनीराम और 'गोदान' में राय साहब अमरपाल सिंह जैसे खलनायकों का सृजन किया है। 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर को उन्होंने धन की लिप्सा का प्रतीक बना कर प्रस्तुत किया है। ज्ञानशंकर में धन की लालसा इतनी बढ़ गई है कि इसके आगे उसमें नैतिक-अनैतिक अथवा औचित्य-अनौचित्य का विवेक हवा हो जाता है, बन्धु-प्रेम फीका पड़ जाता है, और दया, करुणा जैसे मानवीय गुणों का पूर्ण लोप हो जाता है। धन और सम्पत्ति का मोह उसे अपने भाई प्रेमशंकर से द्रोह

करने, अपने ससुर राय कमलानन्द की हत्या करने, गायत्री को भ्रष्ट करने तथा अपने असामियों पर अत्याचार करने को उकसाता है। इस प्रकार, प्रेमचन्द ने ज्ञानशंकर की दुष्टता के मूल स्रोत, अर्थात्-धन की पूजा, की ओर संकेत करके समाज के अन्दर विद्यमान दुष्टता एवं कुटिलता का उद्घाटन करना चाहा है।

समाज में नारी की दयनीय स्थिति और अनमेल विवाह से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों को चित्रित करने के लिए प्रेमचन्द ने 'निर्मला' में मुंशी तोताराम के चरित्र की उद्भावना की है। अधेड़ आयु में युवती से विवाह करने के फलस्वरूप मुंशी तोताराम अपनी पत्नी और युवा पुत्र में अवैध सम्बन्ध का संदेह कर बैठता है। यह संदेह उसके स्वभाव को कुटिल बना देता है और अपने दुष्ट आचरण के कारण वह अपने पुत्र, मंसाराम और पत्नी, निर्मला की मृत्यु के अतिरिक्त अपने घर के विनाश का कारण बन जाता है।

जिस प्रकार धन की अत्यधिक लालसा व्यक्ति को अनैतिक आचरण की ओर प्रवृत्त करती है, उसी प्रकार सामाजिक प्रतिष्ठा की अत्यधिक लालसा भी उसे नैतिक पतन की ओर ले जाती है। 'रंगभूमि' के राजा महेन्द्र सिंह को प्रेमचन्द ने सम्मान-प्राप्ति की झूठी लालसा के कारण पतित होते दिखाया है। ऊपरी टीम-टाम बनाए रखने के लिए राजा महेन्द्र सिंह हुक्कामों के तलुवे चाटता है; उन्हें खुश रखने के लिए सूरदास जैसे सात्विक व्यक्ति से दुश्मनी ठानता है, उस पर झूठा आरोप लगा कर उसे दण्ड देता है, और उसकी भूमि हथियाने के लिए हर सम्भव उपाय करता है। अंत में, सूरदास के पुतले को तोड़ने के प्रयास में स्वयं ही टूटे हुए पुतले के नीचे दब कर मर जाता है। राजा महेन्द्र सिंह का पूरा जीवन मान-प्रतिष्ठा की चाकरी करते बीता, किन्तु अंत में प्रतिष्ठा-प्राप्ति तो दूर, उसे नगरपालिका के प्रधानपद से त्याग-पत्र देना पड़ा।

झूठी प्रतिष्ठा और धन की लालसा के कारण 'गबन' का रमानाथ भी नैतिक पतन का मार्ग अपनाने को विवश हो जाता है। सरकारी रकम में गबन करने के उपरान्त उसका जीवन पतन की ओर द्रुतगति से बढ़ता है। अपनी जान बचाने के लिए वह पुलिस के हाथों का खिलौना बन जाता है और निरपराधों को मृत्युदण्ड दिलाने के लिए झूठी गवाही देता है। प्रेमचन्द ने ज्ञानशंकर, राजा महेन्द्र सिंह और रमानाथ के चरित्र में धन और प्रतिष्ठा की अत्यधिक कामना, और फलस्वरूप, उनके नैतिक पतन की झलक दिखा कर यही बताना चाहा है कि धन और झूठी मान-प्रतिष्ठा की प्राप्ति के मार्ग में इतनी अधिक रपटन है कि एक बार फिसलने पर व्यक्ति नैतिक पतन के गढ़े में गिर कर ही रुकता है।

प्रेमचन्द, 'गोदान' में किसी एक पात्र को खलनायक का चेहरा ओढ़ाने में असमर्थ हैं क्योंकि होरी के जीवन की आकांक्षाओं को धूल में मिलाने में रईस,

जमींदार, सूदखोर बनिये, बिरादरी के पंच, थानेदार और पटवारी—सभी का हाथ है। इस कारण उन्होंने जहां एक ओर किसान की गाढ़ी कमाई को चूसने वाले और जमींदारी प्रथा के प्रतीक, राय साहब अमरपाल सिंह को खलनायक के रूप में दिखाया है, वहां दूसरी ओर, मंगरू साह के रूप में किसान को चूसने वाले सूदखोर बनिये, झींगुरसिंह और पटेश्वरी के रूप में बिरादरी के पंच और नोखेराम के रूप में सरकारी अमलों की मनमानी और धांधली का चित्र खींचने के लिए सब को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। होरी को अपने जीवन में खलनायकों की इतनी बड़ी सेना के विरुद्ध अकेले ही लड़ना पड़ता है। इस बेजोड़ लड़ाई का अंत यद्यपि होरी की मृत्यु में होता है, किन्तु होरी की मृत्यु, अंततः, समाज के अंदर विद्यमान इन असंख्य विकृतियों और प्रतिगामी शक्तियों के चेहरों पर लगी सामाजिकता की नकली नकाब को हटाने में सफल हो जाती है।

प्रसाद द्वारा खलनायक की उद्भावना—खलनायक की उद्भावना में जयशंकर प्रसाद ने भी, प्रेमचन्द की पद्धति का अनुसरण करते हुए, समाज की कुरीतियों और विकृतियों को लेकर खलनायकों की रचना की है। 'कंकाल' में धार्मिक गुरू, देवनिरंजन और 'तितली' में बिगड़े हुए रईस, श्यामलाल, के रूप में एक ओर उन्होंने समाज में व्याप्त धार्मिक पाखंड को और दूसरी ओर सामाजिक विषमता को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। 'कंकाल' का देवनिरंजन, धार्मिक पाखंड का प्रतिनिधित्व करता हुआ अपने आचरण से समाज में अनैतिकता और अनाचार फैलाता है। धार्मिक गुरु के नकली वेष के नीचे उसका घिनौना रूप छिपा हुआ है। एक ओर किशोरी से उसका अवैध सम्बन्ध है तो दूसरी ओर यमुना की माता से भी वह पापाचार में रत है। ऐसे कपटी और पाखण्डी पात्र की दुष्टता का उद्घाटन करते हुए प्रसाद, अंततः, समाज में व्याप्त नैतिक विषमता और विकृति का उद्घाटन कर देते हैं। देवनिरंजन में समाज में व्याप्त पाखण्ड और कलुषता मानो साकार हो उठी है।

खलनायक की उद्भावना में परिवर्तन—प्रेमचन्द और प्रसाद के उपरान्त, हिन्दी उपन्यास में, खलनायक की उद्भावना के एक नए अध्याय का सूत्रपात होता है। अब तक समाज के अन्दर विद्यमान कुरीतियों और विकृतियों, अर्थात्—वाह्य तत्वों और परिस्थितियों, की सहायता से खलनायक का सृजन किया जाता था, किन्तु मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना में खलनायक की उद्भावना के लिए मानव के अन्तर्जगत् को आधार बनाया जाने लगा। वाह्य जगत् में फैली तरह-तरह की गंदगी के समान, मानव के अन्तर्मन में भी कामासक्ति, आत्मरति, आत्मकेन्द्रिकता तथा अहंता जैसे दुर्गुणों की भरमार है, जो कि उसे नैतिक पतन की ओर ठेलते रहते हैं। मानव की आन्तरिक गन्दगी के आधार पर खलनायकों की उद्भावना करने वालों में जैनेन्द्र कुमार का नाम अग्रगण्य है, अतः उनके उपन्यासों का इस दृष्टि से अध्ययन बहुत जरूरी है।

आन्तरिक कुटिलता का आधार—जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में खलनायकों की खोज करने पर सहसा पता चलता है कि उन्होंने जाने-पहचाने खलनायक का सृजन ही नहीं किया। नायक के मार्ग में रोड़ा अटकाने वाले अथवा उसके लिये विपदायें खड़ी करने वाले खलनायक के जिस जघन्य रूप से हम परिचित हैं, यदि वैसा खलनायक हमने जैनेन्द्र कुमार की रचनाओं में ढूँढ़ने का यत्न किया तो निराश होना पड़ेगा। वस्तुतः, जैनेन्द्र कुमार ने विषमता, दुष्टता और कुटिलता को बाहर ढूँढ़ने के बजाय मानव के मन के अन्दर ही ढूँढ़ा है, इसलिये खलनायक की अलग सृष्टि करने की उन्हें जरूरत नहीं पड़ी। उन्होंने अपने नायक के चरित्र के उज्ज्वल और कालिमामय, दोनों पक्षों का चित्रण किया है; इसलिए उनके उपन्यासों के नायक, खुद ही खलनायक भी बन बैठे हैं। उदाहरण के लिये 'परख' का सत्यधन, 'त्याग-पत्र' का प्रमोद, 'विवर्त' का जितेन और 'व्यतीत' का जयन्त, उपन्यास के नायक होने के साथ-साथ, उपन्यास के खलनायक भी हैं। जैनेन्द्र कुमार ने इन नायकों के चरित्र का उद्घाटन करते-करते उनके हृदय में बसे हुए अहंवाद और आत्मप्रेम को ही खलनायक का चेहरा ओढ़ा दिया है, इसलिये, वे एक ही पात्र में नायक और खलनायक का सृजन कर सके हैं। 'परख' का सत्यधन शुरू-शुरू में आदर्शवादिता, सरलता और त्याग की बातें करता है, किंतु धीरे-धीरे पता चलता है कि इस आदर्शवादी आचरण के नीचे धन और प्रतिष्ठा की लालसा का चोर छिपा बैठा है। वह अपने दिखावटी रूप के नीचे अपना असली, खलनायक का, रूप छिपाये बैठा है, अतः, थोड़ी-सी खरोंच लगते ही उसका ऊपरी आवरण तार-तार हो जाता है।

यही बात 'त्यागपत्र' के प्रमोद के बारे में भी है। अपनी बुआ, मृणाल के प्रति विशुद्ध प्रेम की दुहाई देने वाला प्रमोद जब उस परित्यक्ता और पतिता की तनिक भी सुध नहीं लेता, तो उसकी प्रेम-दुहाई पर सन्देह होने लगता है। तब प्रमोद के इस विपरीत-आचरण पर विचार करते ही यह ज्ञात हो जाता है कि वह भी अपने मन के अन्दर आत्म-प्रतिष्ठा एवं आत्मोन्नति की भावना का चोर छिपाये हुये है, और उस चोर के आदेश के अनुसार वह अपनी बुआ की पूर्ण उपेक्षा कर देता है। उसके मन में छिपे इस पाप का पता तब चलता है जब मृणाल की मृत्यु पर उसकी अन्तरात्मा उसे धिक्कारती है और उसके मन के कोने में छिपा बैठा खलनायक प्रकट हो जाता है।

खलनायक का पृथक् सृजन अनावश्यक—जैनेन्द्र कुमार के 'विवर्त' और 'व्यतीत' नामक उपन्यासों के नायकों के चरित्र की भी उपर्युक्त ढंग से उद्भावना हुई है, इसलिए इन उपन्यासों में खलनायक की पृथक् सृष्टि की आवश्यकता नहीं पड़ी। 'विवर्त' का नायक, जितेन, क्रान्ति का मार्ग अपनाते हुए लूटमार करने, डाका डालने और गाड़ी उलटने जैसे अपराध करता घूमता है। उसके चरित्र में ऐसी कौन सी गांठ उत्पन्न हो गयी है जो कि उससे ये सब अपराध करवाती है?

इस प्रश्न का उत्तर जैनेन्द्र कुमार ने यही दिया है कि धन के अभाव और असफल प्रेम ने ही उसके अन्दर सुषुप्त खलनायक को जगा दिया है। अपने मन की अशान्ति और कटुता को मार्ग देने के लिये वह अपराधी बन गया है और क्रान्तिकारी का सुनहरा आवरण ओढ़ कर अपनी कुटिल मनोवृत्ति को छिपाना चाहता है। जैनेन्द्र-कुमार ने जितेन के मन में पड़ी हुई इस गांठ को दर्शाने का यत्न किया है, और जैसे भुवन मोहिनी की करुणा और प्रेम से यह गांठ खुल जाती है, त्यों ही जितेन के मन में बसा खलनायक वहां ठहर नहीं सकता।

इसी प्रकार 'व्यतीत' का नायक, जितेन, आत्मविश्लेषण करते हुए अपने अन्दर विद्यमान आत्मरति और आत्मकेन्द्रिकता के चोर को खुद ही पकड़ लेता है। वह अपने जीवन में चन्द्री के साथ एकात्मता स्थापित करने में असमर्थ है, क्योंकि उसका अहं-प्रेम उसे दूसरे के जीवन मे विलीन होने से रोकता है। इसका फल यह होता है कि चन्द्री से विवाह करने पर भी उसे शान्ति नहीं मिलती। उसका अहं-प्रेम उसके जीवन में अशान्ति के बीज बो देता है, और अन्त में चन्द्री से पृथक् होकर और गैरिक वस्त्र धारण करके वह आत्मिक शान्ति प्राप्त करने का मार्ग अपनाता है।

खलनायक का अभाव—जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में खलनायक के अभाव का एक कारण यह भी है कि उनके उपन्यासों के अधिकांश पुरुष-पात्रों के चरित्र का गठन एक ऐसे दार्शनिक एवं आदर्शवादी धरातल पर हुआ है कि जिन कारणों को लेकर अन्य उपन्यासकार अपनी रचनाओं में रोचक खलनायकों का सृजन कर सके हैं, उनकी ओर जैनेन्द्र कुमार ने ध्यान तक नहीं दिया। उदाहरण के लिये, विवाहिता स्त्री के साथ पराये पुरुष के सम्बन्ध को लेकर उपन्यास में अच्छे-खासे खलनायक का सृजन किया जा सकता है। किन्तु जैनेन्द्र के पति-पात्र इतने गम्भीर और दार्शनिक सिद्ध हुए हैं कि वे पराये पुरुषों के साथ अपनी पत्नियों के अनैतिक सम्बन्धों की उपेक्षा ही नहीं करते, वरन् उन्हें ऐसा करने की खुली छूट भी दे देते हैं। श्रीकान्त अपनी पत्नी, सुनीता, को स्पष्ट शब्दों में आदेश देता है कि हरिप्रसन्न के मन की गांठ खोलने के लिए वह उसके सम्मुख आत्मार्पण कर दे। सुखदा और लाल के पारस्परिक आकर्षण को भली-भांति जानने पर, सुखदा के पति, कान्त, के माथे पर तनिक भी बल नहीं पड़ता। 'विवर्त' के बैरिस्टर नरेशचन्द्र के मन में अपनी पत्नी के प्रथम प्रेमी, जितेन के प्रति तनिक भी ईर्ष्या उत्पन्न नहीं होती, उल्टे वह चाहता है कि भुवन मोहिनी को सबका प्यार मिले। इसी प्रकार, जहां 'व्यतीत' के मिस्टर पुरी, अनिता को जयन्त के पास स्वयं ही छोड़ जाते हैं, ताकि किसी बहाने सन्तानोत्पत्ति हो जाये, वहां जयवर्द्धन भी अपनी प्रेमिका, इला, को इस बात की खुली छूट दे देता है कि यदि वह चाहे तो स्वामी चिदानन्द के पास जाकर रह सकती है।

इलाचन्द्र जोशी के खलनायक—खलनायक की उद्भावना करते समय इलाचंद्र जोशी ने भी जैनेन्द्र कुमार की पद्धति का अनुसरण किया है और उन्होंने खलनायक की अलग सृष्टि न करके, उपन्यास के नायक को ही खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। किन्तु एक ही पात्र में नायक और खलनायक के दो विविध रूपों के सयोग की जिस प्रणाली को इलाचद्र जोशी ने ग्रहण किया है, उसका मुख्य कारण यह है कि उन्होंने अपने उपन्यासों के नायकों के रूप में, दुर्बलचरित पात्रों को चुना है। ऐसे दुर्बलचरित नायकों की उद्भावना द्वारा वे मानव की दमित वासनाओं और उसकी पाशविक प्रवृत्तियों का उद्घाटन करना चाहते हैं। इस उद्भावना का अप्रत्यक्ष परिणाम यही हुआ है कि उनके दुर्बल स्वभाव के नायक अपनी पाशविक इच्छाओं के बहाव में तुरन्त बह जाते हैं और ऐसे-ऐसे दुष्कृत्य करने पर उतर आते हैं जो कि साधारण उपन्यास का एक खलनायक ही कर सकता है। उदाहरण के लिए 'लज्जा' का नायक डा० कन्हैयालाल, अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए लज्जा को फँसाने और अवसर आने पर उसे त्यागकर अन्य लड़कियों के साथ हेल-मेल बढ़ाने में किसी प्रकार की लज्जा अनुभव नहीं करता। विशुद्ध एवं निश्छल प्रेम की बात वह नहीं जानता ; उसे तो खलनायक के समान, प्रेम के भोगमय रूप से ही रुचि है।

दुर्बल चरित नायक में खलनायक की उद्भावना—इलाचंद्र जोशी ने 'संन्यासी' के नायक, नन्दकिशोर का जैसा चित्रण किया है, उसे देखते ही हठात् यह विचार आता है कि नन्दकिशोर तो किसी अच्छे से अच्छे, या कहें कि बुरे से बुरे, खलनायक से कम नहीं है। यही हाल 'पर्दे की रानी' के नायक इन्द्रमोहन का है। अपनी काम-पिपासा को शांत करने के लिए वह घृणित से घृणित काम कर सकता है। यदि पापाचार, दुष्टता, कुटिलता और अपराधी मनोवृत्ति के लक्षणों से किसी खलनायक की पहचान की जाती है तो इन्द्रमोहन के चरित्र को देखने पर यही कहना पड़ेगा कि वह सिर्फ खलनायक ही नहीं, खलनायकों का सिरमौर है।

नायक और खलनायक की मिलीजुली प्रवृत्तियों का आभास हमें इलाचंद्र जोशी के 'प्रेत और छाया' के नायक, पारसनाथ, तथा 'जिप्सी' के नायक नृपेन्द्र रंजन में भी मिलता है। समस्त स्त्री जाति से बदला लेने की भावना पारसनाथ के मन में ऐसा घर कर गयी है कि वह तीन युवतियों का जीवन नष्ट करने के उपरांत चौथी युवती को भी नरक के कुण्ड की ओर ढकेलना चाहता है। उसका समस्त चरित्र गंदगी में कुलबुलाते हुए कीड़े के समान है। उसे वेश्या की कमाई खाने में लज्जा नहीं और विश्वासघात करने में उसे मजा आता है। 'जिप्सी' का नृपेन्द्र रंजन भी, पारसनाथ जैसे कुटिल खलनायक की जाति का है जो कि मनिया को फँसाने के लिए हिप्नोटिज्म जैसे घृणित तरीकों का प्रयोग करता है, और बाद में

मनिया को छोड़कर शोभना के लिये दीवाना हो जाता है। पत्नीद्रोह अथवा मित्र-द्रोह जैसे जघन्य कृत्यों के प्रति उसकी सहज प्रवृत्ति है क्योंकि अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए वह किसी भी कर्म को अनैतिक नहीं समझता।

खलनायक के चरित्र का उत्कर्ष—प्रेमचन्द से लेकर इलाचद्र जोशी तक जिन खलनायकों की उद्भावना की गयी है, उनमें एक विशेषता अवश्य दिखायी देती है कि इनमें से अधिकांश खलनायक उपन्यास के अन्त में सदाचार की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं। उनका पहले का जीवन कैसा ही कुटिलतापूर्ण क्यों न रहा हो, किन्तु उपन्यास के अन्त तक पहुंचते-पहुंचते उनके में उत्कर्ष का संचार हो जाता है। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द ने 'प्रतिज्ञा' के कमलानाथ और 'प्रेमाश्रम' के ज्ञानशंकर, प्रसाद ने 'कंकाल' के देवनिरंजन, जैनेन्द्र कुमार ने 'विवर्त' के जितेन और 'व्यतीत' के जयत तथा इलाचंद्र जोशी ने 'सन्यासी' के नन्दकिशोर, 'पर्दे की रानी' के इन्द्रमोहन, 'प्रेत और छाया' के पारसनाथ और 'जिप्सी' के नृपेन्द्र रंजन के चरित्र के अन्त में उत्कर्ष दिखाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जीवन में कुटिल आचरण करते-करते वे ऊब गये हैं, और अपने पापमय आचरण से उन्हें इतनी घृणा हो गयी है कि वे अपना जीवन सुधारने का संकल्प कर लेते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि इनका स्वभाव कुटिल नहीं था, बस, इन्हें परिस्थितियों ने इतना मजबूर कर दिया कि न चाहते हुए भी इन्हें दुराचारी बनना पड़ा।

यशपाल के खलनायक—प्रतिक्रियावादी शक्तियों के प्रतीक—किन्तु यशपाल ने अपने उपन्यासों में जिन खलनायकों का सृजन किया है उनके रोम-रोम में कुटिलता समायी हुई है। पहली बात तो यही है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में प्रतिक्रियावादी शक्तियों को खलनायक का चोला पहनाया है। प्रतिक्रियावादी शक्तियों में पूंजीवादी व्यवस्था, धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक रूढ़ियां आती हैं, जो कि मानव के विकास को अवरुद्ध करने का संकल्प किए बैठी हैं। इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों के आधार पर जिन खलनायकों का सृजन किया जाएगा, वे यदि 'एक तो करेला और दूसरे नीम चढ़ा' की कहावत चरितार्थ न करे तो और कौन करेगा? यही कारण है कि यशपाल ने अपने उपन्यासों में जिन खलनायकों का सृजन किया है, उनके तो रोम-रोम में कुटिलता समायी हुई है और उनके जीवन मे उत्कर्ष की कदापि कल्पना नहीं की जा सकती।

उदाहरण के लिए, यशपाल ने अपने प्रथम उपन्यास 'दादा कामरेड' में शैल के पिता, ध्यानचंद को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। ध्यानचंद स्वय पूंजीपति है और अपने वर्ग के हितों की रक्षा के लिए कटिबद्ध है। उसका नैतिक चिंतन भी पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का समर्थक है। अतः, जब उसे पता चलता है कि शैलबाला हरीश का गर्भ धारण किए हुए है तो वह अपनी नेकनामी के डर से शैल

को घर से चली जाने का संकेत कर देता है। उसके पूंजीवादी हृदय में अपनी पुत्री के लिये कोई स्नेह नहीं। उसकी नैतिकता का आधार धन है, मानवता नहीं, तभी तो, शैलबाला की विपत् में उसकी सहायता करने के स्थान पर वह उसे दुत्कार देता है।

यशपाल ने 'देशद्रोही' में बद्री बाबू और राजाराम, 'पार्टी कामरेड' में कांग्रेसी-नेता भाया जी और 'मनुष्य के रूप' में बैरिस्टर जगदीश सहाय तथा मिस्टर हैदर जी सुतलीवाला को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। यशपाल ने प्रतिक्रियावादी शक्तियों में इण्डियन नेशनल कांग्रेस के नेताओं, समाज की नैतिक रूढ़ियों और पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थकों को लिया है। इसलिये उनकी रचनाओं में कम्युनिस्ट पार्टी की नीति का विरोध करने वाले कांग्रेसी नेताओं को अनिवार्य रूप से खलनायक के रूप में दिखाया गया है। 'देशद्रोही' के बद्री बाबू और 'पार्टी कामरेड' के भाया जी उनकी पहली श्रेणी के खलनायकों में से हैं। यशपाल ने कांग्रेसी नेता बद्री बाबू की समाज-सेवा के ढोंग, सरल एवं त्यागमय जीवन की आड़ में डा० खन्ना की पत्नी, राज, से रंगरेलियां मनाने और अंत में उससे विवाह करने की पोल खोलते हुये बद्री बाबू के चरित्र को कालिमा से पोत दिया है। इसी प्रकार, 'पार्टी कामरेड' के कांग्रेसी नेता, भाया जी, द्वारा गुण्डों की सहायता से कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं को तंग करने, कम्युनिस्ट पार्टी का दफ्तर जला डालने तथा बम्बई में नाविकों की मांगों के समर्थन में की जाने वाली हड़ताल को भंग करने जैसी घटनाओं का उल्लेख करके उसकी चरित्रगत दुष्टता का उद्घाटन किया है।

समाज की नैतिक रूढ़िवादिता और नैतिक खोखलेपन के प्रतीक के रूप में यशपाल ने 'देशद्रोही' के राजाराम और 'मनुष्य के रूप' के बैरिस्टर जगदीश सहाय जैसे खलनायकों की रचना की है। राजाराम को 'देशद्रोही' के प्रमुख खलनायक की पदवी देते हुये उन्होंने राजाराम द्वारा अपनी पत्नी, चन्दा, पर अत्याचार करने, और अन्त में डा० खन्ना को असहाय अवस्था में मरने के लिये अकेला छोड़ देने की घटनाओं का उल्लेख कर उसके हृदय की पशुता को मानों उघाड़ कर सबके सामने रख दिया है। यही स्थिति बैरिस्टर जगदीश सहाय की है जो अपनी कामवासना की तृप्ति के लिये सोमा को घर में रखैल के रूप में रखे हुये हैं और अपनी नेकनामी की रक्षा के लिये उसे निःसहाय अवस्था में बरकत के पंजे में फँस जाने के लिये दुत्कार देता है। सोमा उसके पांव की जूती के समान है, जो, तंग होने पर यदि पांव काटने लगे, तो तुरन्त ही उतार कर फेंक दी जा सकती है।

अन्त में यशपाल ने मार्क्सवादी चिन्तन का अनुसरण करते हुये 'देशद्रोही' में पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थक मि० हैदर जी सुतलीवाला को खलनायक के रूप में प्रस्तुत किया है। मि० सुतलीवाला का धन ही एकमेव ईश्वर है और उसकी आराधना के लिये वह अपनी पत्नी, मनोरमा, को पूंजीपति सेठ के पास मनोरंजन के

लिए भेजने को तैयार है और सोमा को अपने जाल में फँसाने के लिए सब तरह की मक्कारी करने को उद्यत है। नैतिकता और मानवता से उसका कोई सरोकार नहीं है, इसलिए धन की वेदी पर इन्हें बलिदान करने से उसे तनिक भी हिचक नहीं। ऐसे घोर खलनायक का उद्धार भला कहां ? अतः, यशपाल के अन्य खलनायकों के समान, हैदर जी सुतलीवाला भी दुष्टता, कुटिलता और कपटता को अपने रोम-रोम में बसाए हुए हैं, और मानवता तथा सभ्यता से सम्बद्ध नैतिक गुणों को मीलों दूर से नमस्कार कर पापाचार में रत है।

निष्कर्ष—हिन्दी उपन्यास साहित्य में खलनायक की उद्भावना की सामान्य प्रवृत्तियों के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त, यही कहना पड़ता है कि प्रत्येक उपन्यासकार ने खलनायक की उद्भावना करके उन कारणों अथवा परिस्थितियों का उद्घाटन करना चाहा है जो समाज में नैतिक गन्दगी फैलाने के लिए जिम्मेदार हैं। ये कारण समाज की बाह्य विकृतियों से तथा व्यक्ति की आन्तरिक कुटिलताओं से संबध रखते हैं, इसलिए अपनी-अपनी रुचि के अनुसार, प्रत्येक उपन्यासकार ने या तो सामाजिक कुरीति को अथवा व्यक्ति की असामाजिक प्रवृत्ति को खलनायक का चोला पहना कर उपन्यास में उपस्थित किया है। यहां उल्लेखनीय है कि प्रेमचन्द और प्रसाद के सामाजिक उपन्यासों में जहां सामाजिक कलुषता के आधार पर खलनायकों की पृथक् उद्भावना की गई है, वहां मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में मानव-मन की आन्तरिक कलुषता को आधार बना कर, उपन्यास के नायक में ही खलनायक के दर्शन करा दिए गए हैं और खलनायक की पृथक् उद्भावना की जरूरत नहीं पड़ी।

एक बात और। उपन्यास का नायक जहां अपने स्रष्टा के जीवनादर्शों को अपने आचरण में अभिव्यक्त करते हुए उपन्यासकार के भावात्मक पक्ष को प्रकट करता है, वहां उपन्यास का खलनायक भी अपने समाज-विरोधी आचरण द्वारा उपन्यासकार की अनैतिकता सम्बन्धी धारणाओं को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार नायक और खलनायक, दोनों मिल कर उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन को अपने-अपने ढग से व्यक्त करते हुए, उसके नैतिक आदर्शों और नैतिक मान्यताओं का पूरा-पूरा परिचय दे देते हैं।

उपन्यास की नायिका

उपन्यास में नायिका का स्थान—हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास का अध्ययन करते समय उपन्यास के नायक और खलनायक की उद्भावना के साथ-साथ उपन्यास की नायिका की उद्भावना का अध्ययन बहुत जरूरी है। उपन्यास के विविध पात्रों के महत्व की दृष्टि से, नायक की तुलना में, उपन्यास की नायिका को बहुधा गौण स्थान दिया जाता है। किन्तु, हिंदी उपन्यास के विकास-क्रम में नायिका के महत्व पर यदि विचार किया जाये तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि, नायक के

समान, नायिका के चरित्र के आधार पर उपन्यासों की रचना करने की भी एक सुस्पष्ट परम्परा है। जिस प्रकार उपन्यास का नायक उपन्यास-रचना पर पूरी तरह छाया रहता है और उपन्यास का कथानक, नायक के चारों ओर घूमता है, उसी प्रकार उपन्यास की नायिका भी उपन्यास-रचना का केन्द्र बनकर अनेक उपन्यासों में प्रकट हुई है, और, उपन्यास का कथानक, नायिका के चरित्र का उद्घाटन करते हुए, उसके चारों ओर घूमता है। इस कारण, उपन्यास में नायिका के गौण स्थान की बात कहना निराधार है। आधुनिक युग की नारियां पुरुषों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर जहां जीवन के अन्य क्षेत्रों में पदार्पण कर रही हैं, वहां उपन्यास का क्षेत्र उनके लिए अछूता कैसे रह सकता है ?

नायिका के महत्व का कारण—हिन्दी उपन्यास में नायिका को नायक के समकक्ष खड़ा करने की प्रवृत्ति का मूलस्रोत यदि खोजने की चेष्टा की जाये तो पता चलेगा कि ज्यों ही उपन्यासकार ने नारी की उपेक्षित स्थिति पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करना शुरू किया, त्यों ही, भारतीय नारी की दयनीय स्थिति, उसके दुख और सन्ताप की ओर उसका ध्यान गया। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि वह नारी की दयनीय स्थिति के सुधार की ओर अग्रसर हुआ, और उसने नारी की प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करने वाली रूढ़ियों को ध्वस्त करते हुए नारी को पुरुष के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया। उपन्यासकार मानों जताना चाहता था कि समाज द्वारा नारी की दयनीय स्थिति की उपेक्षा करना एक नैतिक अपराध है, तथा नारी को बंधन में जकड़ने वाली जो सामाजिक रूढ़ियां हैं, वे समाज के माथे पर कलंक के समान हैं।

प्रेमचन्द की नायिकायें—हिंदी उपन्यास-साहित्य में नारी को पुरुष के समान महत्व देकर, जनसाधारण का ध्यान उसकी ओर खींचने के लिए, सर्वप्रथम, प्रेमचंद ने प्रयास किया। उन्होंने जहाँ समाज के अन्य उपेक्षित वर्गों की वकालत कर समाज की नैतिक चेतना को उद्बुद्ध किया, वहां नारी की उपेक्षित एवं दयनीय अवस्था के प्रति भी जनसाधारण की नैतिक चेतना को जागृत किया। इस उद्बोधन के लिए उन्होंने एक ओर नारी की दयनीय स्थिति, उसके कष्ट और उसकी विपत्तियों पर प्रकाश डालते हुए उसके यथार्थवादी रूप का उद्घाटन किया, और दूसरी ओर, समाज में नारी के वन्दनीय रूप की आराधना करते हुए उसके आदर्शवादी स्वरूप को समाज के सम्मुख किया। इस प्रकार, प्रेमचन्द के नारी-पात्रों में यथार्थ और आदर्श, दोनों का समन्वय है। उन्होंने भारतीय नारी की दयनीय स्थिति का चित्रण करते-करते उसकी सहनशीलता, उसके अपार धैर्य और उसकी अनन्त करुणा का चित्रण किया है। अत्याचार और उपेक्षा सहन करने पर भी उसकी आंतरिक सात्विकता और तेजस्विता नष्ट नहीं हुई है। उनकी नायिकाओं के अन्तस्तल में धैर्य करुणा, सहनशीलता और आदर्शवादिता का स्फुल्लिंग छिपा बैठा है जो कि हवा का

एक झोंका लगते ही धधक उठता है। यही कारण है कि प्रेमचन्द के उपन्यासों की नायिकायें सात्विकता और सतीत्व की सजीव मूर्तियाँ हैं और वे समाज के नैतिक आदर्शों का पालन करने में तनिक भी नहीं घबरातीं।

आदर्शवादी चित्रण—प्रेमचन्द ने सात्विकता, तेजस्विता और कर्त्तव्य-परायणता जैसे आदर्शवादी आधार पर प्रायः सभी नायिकाओं की उद्भावना की है। किन्तु, उनकी नायिकाओं के चरित्र की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इनका चरित्र सामान्य धरातल से उठकर आदर्शवाद के उच्च-धरातल की ओर बढ़ता जाता है। इसलिए ये नायिकायें, स्थिर न होकर, गतिशील स्वभाव की हैं। वे अपने जीवन का उत्तरोत्तर विकास करती जाती हैं और इस कारण उनके चरित्र में सजीवता, गति, और सप्राणता का संचार हो जाता है। उदाहरण के लिए, 'प्रतिज्ञा' की नायिका प्रेमा, 'सेवासदन' की सुमन, 'प्रेमाश्रम' की श्रद्धा, 'रंगभूमि' की सोफिया सेवक, 'कायाकल्प' की रानी देवप्रिया, 'गबन' की जालपा, 'कर्मभूमि' की सुखदा और 'गोदान' की नायिका मिस मालती, सभी के चरित्र में आदर्शवाद की ओर अग्रसर होने की प्रवृति है। 'प्रतिज्ञा' की नायिका प्रेमा, यद्यपि अमृतराय से प्रेम करती है, किन्तु दाननाथ के साथ विवाह हो जाने पर वह अपना सम्पूर्ण स्नेह अपने पति के चरणों में अर्पित कर देती है। उसके मानस-चक्षुओं के सम्मुख सतीत्व का ज्वलन्त आदर्श सदैव विद्यमान है और अपने पति के दुष्कृत्यों का विरोध करते हुए भी, उसके प्रति अटूट भक्ति और श्रद्धा का भाव हृदय में धारण किये हुये हैं।

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' की नायिका, सुमन के नैतिक उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण चरित्र का उद्घाटन करने में अपनी कला का अद्भुत चमत्कार दिखाया है। उन्होंने सुमन को वेश्या-जीवन के नरक-कुण्ड में गिराकर, उपन्यास के अन्त में उसके चरित्र का जैसा उत्कर्ष दिखाया है, उससे सुमन के समस्त पाप धुल जाते हैं। सुमन जैसी विकासोन्मुख और सजीव नायिकायें हिन्दी उपन्यास में विरली ही दिखायी देंगी, जो कि नैतिक पतन के गहरे से गहरे गर्त में गिरकर भी अपने जीवन का उन्नयन करने की सामर्थ्य रखती हैं।

भारतीय नारी के आदर्श की प्रतिष्ठा—अपने उपन्यासों की नायिकाओं की उद्भावना आदर्शवादी धरातल पर करते समय प्रेमचन्द ने भारतीय आदर्शों के अनुरूप ही अधिकांश नायिकाओं के चरित्र गढ़े हैं। उदाहरणार्थ, 'प्रेमाश्रम' की नायिका श्रद्धा, भारतीय नारी के सतीत्व और पति-प्रेम के आदर्श की जीती-जागती प्रतिमा है। प्रेमशंकर के विदेश चले जाने पर वह उसी का नाम जपती रहती है। अन्त में, धार्मिक अन्धविश्वासों पर उसका पति-प्रेम विजय पा लेता है और अपना 'श्रद्धा' नाम सार्थक करती हुई वह पति के सेवा-कार्य में हाथ बटाती है। इसी प्रकार, 'रंगभूमि' की नायिका सोफ़िया सेवक, विनय के प्रेम के आगे अपना परिवार और धर्म

तक त्यागने को उद्यत हो जाती है। उसका प्रेम सच्चा है, इसलिए विनय की मृत्यु होने पर वह भी आत्महत्या करके अपनी इहलीला को समाप्त कर देती है। सोफिया के विशुद्ध प्रेम का आदर्श पालन करते हुये 'कायाकल्प' की नायिका, रानी देवप्रिया, अपने पति कुँवर महेन्द्र, के मिलन की चिर प्रतीक्षा में तपश्चर्या करती रहती है। रानी देवप्रिया के पातिव्रत्य का आदर्श उसे वासना के कीचड़ से निकालकर वासना-रहित, विशुद्ध प्रेम का रसास्वादन करा देता है और वह भोगमय जीवन को तिलांजलि देकर त्यागमय जीवन अपनाती है।

प्रेमचन्द ने अन्य आदर्शवादी नायिकाओं के समान, 'गबन' की जालपा, 'कर्मभूमि' की सुखदा, और 'गोदान' की नायिका, मिस मालती को क्रमशः आदर्श-पूर्ण जीवन की ओर अग्रसर होते दिखाया है। 'गबन' की नायिका, जालपा, का आभूषण-प्रेम उसके पति, रमानाथ को अनैतिक आचरण के लिए प्रवृत्त करता है। अपनी आभूषण-लालसा से होने वाले दुष्परिणामों को देख वह सरल एवं त्यागमय जीवन अपनाती है। इस प्रकार, अपने सरल एवं स्फूर्तिप्रद जीवन से रमानाथ को पाप की दलदल से निकालकर वह उसके जीवन का सकल कलमष धो डालती है। जालपा की तरह 'कर्मभूमि' की सुखदा, भोगविलास का परित्याग कर कठोर एवं तपश्चर्यापूर्ण जीवन अपनाती है और अपने त्याग एवं कर्त्तव्यपरायणता से अपने पति, अमरकांत का हृदय जीत लेती है। यही हाल 'गोदान' की मिस मालती का है। तितली के भोगमय जीवन से ऊपर उठकर वह मधुमक्खी बन जाती है, और अपने त्याग एवं सेवापरायण जीवन से मिस्टर मेहता को प्रेरणा देती हुई आजीवन सेवा का व्रत धारण करती है।

संयम व त्याग का आदर्श—नायिकाओं के उपर्युक्त आदर्शवादी जीवन की सामान्य रूपरेखा पर दृष्टि डालते ही यह ज्ञात हो जाता है कि प्रेमचन्द ने त्याग, सेवा, विशुद्ध प्रेम और पातिव्रत्य के उच्चादर्शों की सहायता लेकर अपने उपन्यासों की नायिकाओं का सृजन किया है। उच्चादर्शों से स्फूर्ति प्राप्त करने वाली इन नायिकाओं के जीवन में किसी प्रकार का असंयम अथवा उच्छृंखलता नहीं है और सात्विक एवं त्यागमय जीवन व्यतीत करती हुई वे अपने व्रत पर दृढ़ हैं।

प्रसाद की नायिकाओं का आदर्श-आचरण—प्रेमचन्द के उपरान्त जब हम जयशंकर प्रसाद की नायिकाओं के चरित्र पर विचार करते हैं तो यही ज्ञात होता है कि उन्होंने भी अपनी नायिकाओं के चरित्र की उद्भावना, आदर्शवाद के आधार पर की है। त्याग, सेवा और पातिव्रत्य धर्म पर दृढ़, प्रसाद के उपन्यासों की नायिकायें अपने आचरण द्वारा आदर्श भारतीय नारी का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। 'कंकाल' की तारा और 'तितली' की बंजो अपने जीवन में जिस त्याग एवं निष्कपट प्रेम का परिचय देती हैं, वह किसी भी आदर्श भारतीय रमणी के त्याग और प्रेम

से कम नहीं है। मंगल देव द्वारा तिरस्कृत होने पर तारा के लिये पापमय जीवन अपनाना कोई अनोखी बात न होती, किन्तु उसके सम्मुख भारतीय नारी के आदर्श की झांकी है, इसलिए सब प्रकार की यातनायें सहना उसे स्वीकार है, किन्तु स्त्रियोचित धर्म छोड़ना उसे मंजूर नहीं। मंगल देव की देखा-देखी वह भी विजय बाबू द्वारा प्रस्तुत विवाह-प्रस्ताव स्वीकार कर सकती थी, किन्तु पति द्वारा परित्यक्ता नारी के धर्म का पालन करते हुए वह अपने सत् से गिरती नहीं।

पातिव्रत्य और आदर्श गृहिणी का धर्म निभाते हुए 'तितली' की बंजो, अपने पति, मधुबन, की अनुपस्थिति में घर को अच्छी तरह सम्भालती है। अपने तेजस्वी और त्यागमय जीवन से औरों को प्रेरणा देती हुई वह अनाथ बालिकाओं के पालन-पोषण और शिक्षा का प्रबन्ध करती है। बंजो का संयम और उसकी निष्ठा सराहनीय है, और अपने कर्त्तव्यपरायण जीवन से वह आदर्श भारतीय रमणी का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

वृन्दावन लाल वर्मा की नायिकाओं में भारतीय आदर्शों की झलक—जिन भारतीय आदर्शों के सहारे प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद ने अपनी नायिकाओं के चरित्र की उद्भावना की है, प्रायः उन्हीं आदर्शों की रेखाओं से वृन्दावन लाल वर्मा ने भी अपने ऐतिहासिक उपन्यासों की नायिकाओं के चित्र अंकित किये हैं। 'विराटा की पद्मिनी' की कुमुद, निश्छल प्रेम का आदर्श पालन करते हुये आत्मोत्सर्ग कर देती है। उसने प्रेम और आत्म-बलिदान का पाठ पढ़ा है, इसलिए उसे अपना सतीत्व, प्राण से अधिक प्यारा है। और कुमुद ही क्यों, उनकी सभी नायिकायें त्याग, आत्म-बलिदान, शौर्य और निश्छल प्रेम का आदर्श अपने सम्मुख रखते हुए, इस आदर्श से जो भर भी विचलित नहीं होतीं। वृन्दावन लाल वर्मा ने अपने अधिकांश उपन्यासों में, भारतीय नारी के आदर्शमय जीवन की झाँकी देने के लिये, इन उपन्यासों के आधार के रूप में बुन्देलखण्ड के प्राचीन इतिहास की किसी न किसी तेजस्वी नारी की जीवन-गाथा को लिया है। उदाहरण के लिये, उनका 'झांसी की रानी' नामक उपन्यास महारानी लक्ष्मीबाई के तेजस्वी एवं शौर्यपूर्ण जीवन की गाथा पर आधारित है। भारतीय स्वातन्त्र्य संग्राम में अपने देशवासियों का नेतृत्व करते हुए रानी लक्ष्मीबाई निज जीवन की आहुति दे डालती है। भारतीय नारी के जिस त्यागमय जीवन का आदर्श उन्होंने झांसी की रानी में प्रस्तुत किया है उससे भारत के सभी नर-नारी अनन्त काल तक स्फूर्ति ग्रहण करते रहेंगे।

इसी प्रकार तेजस्वी, त्यागमय और शौर्यपूर्ण जीवन के आदर्श को मूर्त्त रूप प्रदान करने वाली 'कचनार' की नायिका, कचनार, राव दिलीप सिंह को पुनः राजसिंहासन दिलाने के लिये सन्यास-धर्म की दीक्षा ले लेती है। 'मृगनयनी' की निन्नी भी अपने पति, राजा मानसिंह तोमर, को अपने त्यागमय जीवन से प्रेरणा देते हुये उसे ग्वालियर राज्य के उत्तरोत्तर विकास के उपाय सुझाती है।

नायिका की उद्भावना में परिवर्तन—प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद और वृन्दावन लाल वर्मा ने अपनी रचनाओं की नायिकाओं के चरित्र-चित्रण से भारतीय नारी के जिन श्रेष्ठ नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा करनी चाही है, उन आदर्शों के प्रति मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने ध्यान नहीं दिया। जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' प्रभृत्ति हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकारों ने तो इन आदर्शों की पूर्ण उपेक्षा करते हुए जिन नायिकाओं की उद्भावना की है, उनमें संयम, पातिव्रत्य और सात्विकता जैसे नारी सुलभ नैतिक गुणों के स्थान पर असंयम, उच्छृङ्खलता और मुक्त भोग की प्रवृत्तियां मुखर हो उठी हैं। इन उपन्यासकारों ने अपनी नायिकाओं को नायक से कम महत्व नहीं दिया और स्त्रियों के समान-अधिकारों की दुहाई देते हुए उनमें भी पुरुषोचित स्वेच्छाचार की प्रवृत्तियों का समावेश कर दिया है।

जैनेन्द्र कुमार की नायिकाओं की स्वच्छन्दता—नायिका के चरित्र की उद्भावना में इस क्रान्तिकारी परिवर्तन के चिह्न हमें जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों में दिखायी देते हैं। उन्होंने अपने अधिकांश उपन्यासों की रचना, नायिकाओं के चरित्र के आधार पर की है। इतना ही नहीं, इन नायिकाओं के चरित्र की प्रायः उन्हीं प्रवृत्तियों का उन्होंने प्रमुख रूप से उद्घाटन किया है जिनसे कि इनकी स्वच्छन्द प्रकृति, नैतिक मर्यादाओं की उपेक्षा और इनका प्रगल्भ स्वभाव उभर आया है। उदाहरण के लिए, उनके उपन्यासों की विविध नायिकाओं—सुनीता, मृणाल, कल्याणी, सुखदा, भुवनमोहिनी, अनिता और इला, में से किसी को भी लें, सबके अन्दर समाज की नैतिक मर्यादाओं की अवहेलना करने की प्रवृत्ति तुरन्त दिखायी पड़ जाती है। इन नायिकाओं के स्वेच्छाचार को जैनेन्द्र कुमार ने एक अद्भुत आदर्श-पालन के रूप में यद्यपि प्रस्तुत करना चाहा है, तो भी यह निर्विवाद है कि ये नायिकायें समाज की बँधी-बँधाई लीक का पालन करने को तनिक भी उत्सुक नहीं हैं, और अपने आचरण का औचित्य अथवा अनौचित्य नापने के उनके नैतिक प्रतिमान, समाज के प्रचलित प्रतिमानों से सर्वथा भिन्न हैं।

स्वैराचार मिश्रित आदर्शवाद—उदाहरणार्थ, 'सुनीता' उपन्यास की नायिका, सुनीता, प्रेम-दीवानी मीरा के मन की व्यथा समझने की चेष्टा करते हुए स्वयं भी हरिप्रसन्न के प्रति आकृष्ट हो जाती है। इतना ही नहीं, हरिप्रसन्न के मन में पड़ी हुई काम-अभुक्ति की गांठ को खोलने के लिए वह आत्मार्पण करने को उद्यत है। इस पर जब उसके पति की ओर से इसी आशय का आदेश उसे मिलता है तो हरिप्रसन्न के सम्मुख विवस्त्र होने में वह सकुचाती नहीं। सुनीता का यह विचित्र आचरण, समाज के प्रचलित नैतिक प्रतिमानों की दृष्टि से अनाचार ही कहा जायेगा, किन्तु कर्त्तव्य-पालन की आड़ में इस अनाचार को भी आदर्शवादिता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

सुनीता की आदर्शवादिता का अनुसरण करते हुये, 'त्यागपत्र' की नायिका, मृणाल, शरीर-दान में भी सती के धर्म के पालन का ध्यान रखती है; एक के बाद अनेक पुरुषों को अपना शरीर सौंपने के बाद भी वह अपने आपको सती समझती है। अनाचार और सतीत्व का यह अद्भुत संयोग 'कल्याणी' की नायिका, कल्याणी, भी सम्भव कर दिखाती है। वह अपने पति के घर से तीन-चार दिन तक गायब रहने के उपरान्त लौट आती है और पति को परमेश्वर समझती हुई उसकी मार को सहर्ष सह लेती है। जनसाधारण के मतानुसार कल्याणी का स्वैराचार भले ही नैतिक व्यवस्था के प्रतिकूल हो, किन्तु इस स्वच्छन्द आचरण के बावजूद वह अपने आपको पतिव्रता ही समझती है।

जैसा कि पहले कहा गया है, जैनेन्द्र कुमार की प्रायः सभी नायिकायें समाज की नैतिक मर्यादाओं की अवहेलना में किसी प्रकार की अनैतिकता नहीं देखतीं। न जाने उनके अन्दर पर-पुरुष के प्रति ऐसा कौन सा तीव्र आकर्षण है जो कि उन्हें बरबस अनाचार की ओर खींचता है। उनके हृदय में उठने वाले बवण्डर को वे ही जानें, किन्तु प्रकट में उनका आचरण नैतिकता की सभी सीमायें तोड़कर, स्वैराचार का रूप धारण कर लेता है। उनके 'सुखदा' उपन्यास की नायिका, सुखदा, अपने पति से विरक्त होकर मिस्टर लाल के प्रति समर्पित है, तो 'विवर्त' की नायिका, भुवनमोहिनी, अपने प्रथम प्रेमी जितेन पर पूरी तरह न्यौछावर है। इसी प्रकार, 'व्यतीत' की नायिका, अनिता, भी जयन्त की ओर आकृष्ट है और उसके सम्मुख आत्म-समर्पण करने में स्त्री-सुलभ लज्जा का पूर्ण परित्याग कर देती है। इन सभी नायिकाओं की प्रगल्भता और पर-पुरुष को अपनी ओर आकृष्ट करने की धृष्टता, बस देखने लायक है। 'जयवर्द्धन की नायिका, इला, भी जब मिस्टर हूस्टन के सम्मुख अपने गोप्य प्रेम-रहस्यों का वर्णन करने लगती है तो उसकी नारी-सुलभ लज्जा हवा हो जाती है।

इलाचन्द्र जोशी की दुस्साहसी नायिकायें—जैनेन्द्र कुमार की परम्परा का अनुसरण करते हुये इलाचन्द्र जोशी ने भी अपनी नायिकाओं के चरित्र की उद्भावना एक विचित्र नैतिक दुस्साहस के आधार पर की है। इन नायिकाओं में स्त्री-सुलभ लज्जा के स्थान पर पुरुषोचित धृष्टता की मात्रा अधिक है, इसलिये वे स्वयं आगे बढ़ कर पराये पुरुष को आमन्त्रित करती हैं। यद्यपि उनके इस प्रगल्भ आचरण को इलाचन्द्र ने उपन्यास के अंत में आदर्शवादिता में परिणत कर दिया है, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि ये नायिकायें इतनी अधिक दुस्साहसी हैं कि समाज की नैतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करने में वे तनिक भी संकोच नहीं करतीं।

धृष्टता और प्रगल्भता—उदाहरण के लिये, उनके 'लज्जा' उपन्यास की नायिका की धृष्टता देखने लायक है। डा० कन्हैयालाल को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये वह विचित्र मुद्रायें बनाती है, बीमारी का बहाना करती है, और घर

के बन्धनों की अवहेलना करते हुये अभिसारिका बन जाती है। यही प्रगल्भता 'सन्यासी' की नायिका, शान्ति, में प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। वह नन्दकिशोर को अपनी चेष्टाओं से आमन्त्रित करती है और स्वयं ही उसके सम्मुख कहीं अन्यत्र चलने का प्रस्ताव रखती है। 'पर्दे की रानी' की नायिका, रंजना, और 'प्रेत और छाया' की नायिका, मंजरी, भी तो किसी बात में पीछे नहीं है। वेश्या माता के संस्कारों के कारण रंजना, इन्द्र मोहन को मोहित करने के लिये जाल फैलाती है और न चाहते हुये भी अपनी सखी, शीला, की हत्या का कारण बनती है। अपने रूप के जादू से इन्द्र मोहन को मोहित कर वह अपने अनिष्ट का स्वयं ही सामान जुटाती है। इसी प्रकार, 'प्रेत और छाया' की मंजरी, धनाभाव के कारण, अपना शरीर बेचने से हिचकती नहीं। जिस अनाचारपूर्ण पथ पर वह पांव रखती है, उसकी परिणति मंजरी के वेश्या-जीवन में ही होती, किन्तु पारसनाथ का सहारा मिल जाने पर वह सँभल जाती है।

इलाचन्द्र जोशी ने 'मुक्तिपथ' की नायिका, सुनन्दा, 'जिप्सी' की मनिया को यद्यपि अन्य नायिकाओं के समान, स्वेच्छाचारी रूप में प्रस्तुत नहीं किया, तो भी पतिव्रता भारतीय नारी के चिन्ह उनमें नहीं मिलते। पुरुषों के समकक्ष खड़ी होकर वे भी समानता का दावा करती हैं। और अवसर आने पर वे पुरुष-वर्ग की आजन्म चाकरी करने को तैयार नहीं। 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा में आत्मनिर्भरता और तेजस्विता कूट-कूट कर भरी हुई है, इसलिए, वह राजीव का साथ छोड़ कर अपना पथ स्वयं निर्धारित करती है। इसी प्रकार, 'जिप्सी' की मनिया अपने पति, नृपेन्द्र रंजन, की स्वेच्छाचारिता सहन करने को तैयार नहीं, और उसे त्याग कर अपना पृथक् मार्ग चुनती है।

'अज्ञेय' की स्वेच्छाचारी नायिकायें—जैनेन्द्र कुमार और इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों की नायिकाओं में नैतिक स्वेच्छाचारिता की प्रवृत्ति बढ़ते-बढ़ते 'अज्ञेय' और यशपाल की रचनाओं में चरम सीमा को पहुंच गई है। 'अज्ञेय' के 'शेखर : एक जीवनी' तथा 'नदी के द्वीप' की नायिकाओं—शशि और रेखा—में नैतिक मर्यादाओं के अतिक्रमण की प्रवृत्ति का तुरन्त पता चल जाता है। शेखर के प्रति शशि का सख्य भाव बढ़ते-बढ़ते, आत्मसमर्पण तक जा पहुंचता है। अपनी मौसी के लड़के, शेखर, के प्रति शशि का यह आकर्षण, समाज की प्रचलित नैतिक व्यवस्था के प्रतिकूल होने पर भी, वह अपने आपको रोकने में असमर्थ है। पति द्वारा घर से निकाल दिए जाने पर वह शेखर का सहरा लेती है, और लोक-निन्दा की तनिक भी परवाह नहीं करती।

'अज्ञेय' के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' की रेखा, भुवन के आकर्षण के सम्मुख अपने आपको बेबस पाती है। विवाहिता होने पर भी वह भुवन के प्रति समर्पित होने में अपने जीवन की सिद्धि देखती है, अपने आपको 'फुलफिल्ड' समझती

है। भुवन के साथ अवैध सम्बन्ध स्थापित करने और मुक्त भोग की ओर प्रवृत्त होने से उसके हृदय में किसी प्रकार की ग्लानि का भाव उत्पन्न नहीं होता और न ही समाज की नैतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण करने में उसे किसी प्रकार का संकोच होता है। अपने मन की मौज के आगे रेखा के लिए, समाज के नैतिक विधि-निषेधों का कोई अस्तित्व नहीं, वरन् इस मुक्त भोग को नियति के आदेश के रूप में वह शिरोधार्य करती है।

यशपाल की विद्रोही नायिकायें—यशपाल तक पहुंचते-पहुंचते नायिकाओं के चरित्र की उद्भावना का आधार, समाज की नैतिक मर्यादाओं की उपेक्षा से बढ़ कर, इनके प्रति खुले विद्रोह तक आ पहुंचा है। इस कारण, यशपाल के उपन्यासों की नायिकायें समाज की नैतिक व्यवस्था पर खुले-आम चोट करती हुई स्वेच्छाचार में रत हैं। उदाहरणार्थ, 'दादा कामरेड' की शैलबाला, राबर्ट और हरीश के साथ प्रेमालाप करने में किसी प्रकार की झिझक अनुभव नहीं करती। हरीश के सामने तो वह इतनी खुल गई है कि उसके सम्मुख विवस्त्र होने और उसकी शारीरिक भूख मिटाने में उसके मन में वैसी ही सन्तोष की भावना उदित होती है, जैसी कि किसी कर्तव्य-पालन के उपरान्त उपजती है। यही हाल 'देशद्रोही' की चन्दा का है। डा० भगवानदास खन्ना के प्रति उसका अनुराग, गृहस्थ के नैतिक बन्धनों और पातिव्रत्य धर्म की मर्यादाओं से विद्रोह का रूप धारण करता हुआ, उसे मनमाना आचरण करने की खुली छूट दे देता है। 'पार्टी कामरेड' की नायिका, गीता भी लोकलाज को तिलांजलि देकर पार्टी के हित को नैतिकता की कसौटी समझ बैठी है। अतः, पार्टी के कार्य के लिए वह पद्मलाल भावरिया जैसे बदमाश के साथ सम्बन्ध बढ़ाने से झिझकती नहीं।

यशपाल ने अपनी रचनाओं में नायिका की उच्छृंखलता को सबसे अधिक छूट 'मनुष्य के रूप' में दी है। इस उपन्यास की नायिका, सोमा के चरित्र की उद्भावना देखने योग्य है। व्यभिचार और अनाचार के चक्कर में फँसी हुई सोमा के नैतिक पतन का मूल कारण, यशपाल ने नारी की परतन्त्र स्थिति में देखा है, इसलिए पुरुष का आश्रय प्राप्त करने के लिए वह अपना शरीर अर्पित करती घूमती है। धनसिंह, जगदीश सहाय, बरकत, बिहारी और मिस्टर सुतलीवाला जैसे अनेक पुरुषों के आश्रय का मूल्य अपने शरीर-दान से चुकाते हुए वह अपने नरक का स्वयं ही कारण बनती है। किन्तु सोमा के अनैतिक आचरण को परिस्थिति-जन्य बताकर, यशपाल ने इस अनाचार के लिए सोमा के बजाय समाज की पूंजीवादी व्यवस्था को दोषी ठहराया है।

नायिका और नायक की उद्भावना में समानता—उपन्यासकार की नैतिक मान्यताओं के अनुसार नायिका के चरित्र की उद्भावना और विकास के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, और

वृन्दावन लाल वर्मा की रचनाओं में नायिका के जिस आदर्श-चरित्र के हमें दर्शन होते हैं, उस आदर्श-पालन का जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' और यशपाल प्रभृति उपन्यासकारों की नायिकाओं में पूर्ण लोप हो जाता है। इस दृष्टि से हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नायक और नायिका के चरित्र की उद्भावना और विकास प्रायः एक जैसा हुआ है। नायक के समान, नायिकायें भी धीरे-धीरे नैतिक आस्था से अनास्था की ओर, विश्वास से अविश्वास की ओर, और अनुशासन से अवहेलना की ओर बढ़ती जाती हैं। नायिका के चरित्र में इस आमूल परिवर्तन का मुख्य कारण उपन्यासकार का जीवन-दर्शन है, क्योंकि वह भी तो परम्परागत नैतिक आदर्शों के प्रति विरक्त होता हुआ समाज की वर्तमान नैतिक विषमता को दूर करने के उपाय ढूंढ़ते हुये कहीं तो नये नैतिक आदर्शों का सृजन करने की ओर प्रवृत्त हुआ है और कहीं नैतिक स्वच्छन्दता अथा मुक्त भोग में ही इस विषमता को दूर करने का उपाय ढूंढ़ता है।

उपन्यास के गौण पात्र

गौण पात्रों की उद्भावना का लक्ष्य—उपन्यास के नायक, खलनायक तथा नायिका की उद्भावना पर विचार करने के उपरांत, उपन्यास में गौण पात्रों के सृजन पर विचार करना अब बाकी है। हिन्दी उपन्यास में गौण-पात्रों की उद्भावना करते समय हिन्दी के प्रसिद्ध उपन्यासकारों ने अपने सम्मुख तीन लक्ष्य रखे हैं। पहला है, समाज के सर्वांगीण जीवन का चित्रण करना; और, इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उपन्यासकार ने समाज के विविध वर्गों और स्तरो से पात्रों का चयन किया है। दूसरा लक्ष्य है, गौण पात्रों की सहायता से अपने विविध जीवनादर्शों को मूर्त्त करना है। अकेले नायक अथवा नायिका के जीवन में अपने समस्त जीवनादर्शों का समावेश असम्भव देख, उपन्यासकार ने अपने विविध जीवनादर्शों के आधार पर अनेक गौण पात्रों की उद्भावना की है। गौण पात्रों की उद्भावना का तीसरा लक्ष्य है, नायक अथवा नायिका के चरित्र के विविध पहलुओं पर प्रकाश डालना। जिस प्रकार उपन्यासकार, कथानक के उतार-चढ़ाव से अपने नायक अथवा नायिका को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में डालकर उसके चरित्र के विविध पहलुओं का उद्घाटन करता है, उसी प्रकार उसने तरह-तरह के गौण पात्रों की उद्भावना से अपने प्रमुख पात्र के समूचे जीवन पर प्रकाश डालना चाहा है।

हिन्दी उपन्यास में गौण पात्रों की उद्भावना और उनका विकास, उपर्युक्त तीन लक्ष्यों के अनुसार हुआ है। प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद और वृन्दावनलाल वर्मा ने समाज के समग्र जीवन को चित्रित करने तथा पात्रों के आचरण के माध्यम से अपने विशिष्ट जीवनादर्शों की स्थापना के लिए गौण पात्रों की उद्भावना की है। इन सभी उपन्यासकारों की रचनाओं के आधार पर, पृथक्-पृथक् उदाहरण देने का

यदि प्रयास किया जाये तो यह परिच्छेद बहुत फैल जाएगा। अतः, समय और स्थानाभाव के कारण इनमें से किसी एक उपन्यासकार की एकाध रचना का अध्ययन करना ही पर्याप्त होगा। सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों में गौण पात्रों के सृजन के उपर्युक्त पहले दो लक्ष्यों को ध्यान में रखकर, इसके आगे प्रेमचन्द के 'सेवा-सदन' उपन्यास का अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में गौण पात्रों की उद्भावना से ग्रामीण और शहरी, पढ़े-लिखे और अनपढ़, सम्भ्रान्त और पतित, आदि विविध वर्गों के जीवन के चित्रण के अतिरिक्त, समाज के विविध रीति-रिवाजों, रूढ़ियों और परम्पराओं का चित्र भी खींचना चाहा है। इस कारण, उनकी इस रचना में गौण पात्रों की उद्भावना द्वारा सभी वर्गों और समाज के सभी पहलुओं को चित्रित करने का प्रयास किया गया है। उनके इस उपन्यास में थानेदार कृष्णचन्द्र और उनके रिश्तेदार उमानाथ, गांव के जमींदार मदनसिंह और उनके पुत्र सदनसिंह, नगरपालिका के चेयरमैन सेठ बलभद्रदास; वकील वर्ग के डा० श्यामाचरण, शाकिर बेग और शरीफ हसन; व्यापारी वर्ग के पं० दीनानाथ तिवारी, मुन्शी अब्दुलवफा और ठेकेदार, लाला भगत-राम; कालेज के अध्यापक, रमेश दत्त और 'जगत' के सम्पादक प्रभाकर राव; वेश्या-वर्ग की भोली, आदि ३०-४० गौण पात्रों की रचना की गयी है।

समाज जीवन के चित्रण के अतिरिक्त, जब प्रेमचन्द अपने जीवन-दर्शन के अनुरूप कुछ विशिष्ट नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा करने लगते हैं, तब भी उन्हें गौण पात्रों की सहायता लेनी पड़ी है। उन्होंने विट्ठलदास के रूप में निष्काम सेवा का आदर्श प्रस्तुत किया है तो गजाधर पाण्डे के चरित्र-चित्रण द्वारा पाप के प्रायश्चित की रचनात्मक विधि का उल्लेख किया है। सदनसिंह के चरित्र की उद्भावना से उन्होंने युवक-वर्ग के पतन और उत्कर्ष का उदाहरण प्रस्तुत किया है, तो समुद्रा के जीवन के उदाहरण के पतिपरायण एवं आदर्श गृहिणी का आदर्श सामने रखा है।

इसी प्रकार, गौण पात्रों की उद्भावना की दृष्टि से हम वृन्दावन लाल वर्मा के पात्रों का अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि उन्होंने भी तत्कालीन समाज के जीवन का व्यापक चित्र खींचने के लिये काफी संख्या में गौण पात्रों का सृजन किया है। उदाहरण के लिये, 'विराटा की पद्मिनी' में उन्होंने मुख्य पात्रों के अतिरिक्त, लोचनसिंह, जनार्दन शर्मा, हकीम आगा, नरपति सिंह, रामदयाल, सबदल सिंह, अलिमर्दन, कालेखान, गोमती, छोटी रानी और बड़ी रानी जैसे अनेक गौण पात्रों की उद्भावना की है। वह युग लड़ाई-भिड़ाई और राजसिंहासन के लिए षड्यन्त्रों का था, इसलिए वृन्दावन लाल वर्मा ने तदनुसार रामदयाल, अलिमर्दन, कालेखां जैसे लड़ाकू, चालाक गौण पात्रों के अतिरिक्त, लोचनसिंह, हकीम आगा और जनार्दन शर्मा जैसे राजसेवा के दत्तचित्त और ईमानदार पात्रों की उद्भावना से तत्कालीन

समाज में शौर्य और सच्चाई से परिपूर्ण जीवन के आदर्श की प्रतिष्ठा करनी चाही है।

किन्तु जब मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में गौण पात्रों की उद्भावना पर दृष्टि जाती है, तो ज्ञात होता है कि सामाजिक अथवा ऐतिहासिक उपन्यासों में गौण-पात्रों की जितनी भीड़ है, उतनी मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में नहीं। इसका एक कारण तो यह है कि इन उपन्यासकारों ने समाज के विस्तृत जीवन का चित्र खींचने की अपेक्षा, एक ही पात्र के अन्तर्जीवन के चित्रण की ओर ध्यान दिया है। इसलिए, उनकी रचनाओं में गौण पात्रों की संख्या बहुत थोड़ी है। इसके अतिरिक्त, इन पात्रों की सहायता से उन्होंने अपने प्रमुख पात्र के अन्तर्जीवन पर विविध कोणों से प्रकाश डालने के अतिरिक्त, इनका अधिक उपयोग नहीं किया।

उदाहरणार्थ, जैनेन्द्र कुमार ने अपनी रचनाओं में, प्रमुख पात्र के अतिरिक्त, दो-तीन गौण पात्रों से अधिक पात्र इकट्ठा नहीं किये। पात्रों की स्वल्पता की दृष्टि से जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के लिये, 'परख' में गरिमा, भगवद्दयाल और होशियार बहादुर जैसे तीन गौण पात्रों से काम चल गया है, तो 'व्यतीत' में मिस्टर पुरी, डा० कपिल, सुमिता, बुधिया आदि पांच-छः गौण पात्रों की उद्भावना ही पर्याप्त है। विपरीत इसके, इलाचन्द्र जोशी ने पात्रों के अन्तर्जीवन पर विविध कोणों से प्रकाश डालने के लिए अनेक गौण-पात्रों का सृजन किया है। उदाहरण के लिए, 'जिप्सी' नामक उपन्यास में उन्होंने जिप्सी लड़की मनिया, के चरित्र का क्रमिक विकास दिखाने के लिये अनेक गौण पात्रों की रचना की है। मनिया के प्रारम्भिक जीवन की झांकी देने के लिए उन्होंने भवानी, सनोवरिया चाची, चिनारिया भौजी और सितारिया जीजी जैसे जिप्सी पात्रों की उद्भावना की है, तो उसके व्यक्तित्व का क्रमिक विकास दिखाने के लिए मिसेज रालिसन, सिल्विया, जूलिया और फादर जेरेमिया जैसे पढ़े-लिखे और सुसंस्कृत पात्रों की रचना की है। मनिया के जीवन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष का परिचय देने और उसके विकासोन्मुख जीवन की झलक देने के लिये वीरेन्द्र कुमार और शोभना का सृजन किया गया है। अन्त में, मनिया के जीवन का चरमोत्कर्ष दिखाने के लिए शशांक मोहन सेन, कन्हाई लाल और निशीथ जैसे सेवापरायण पात्रों की उद्भावना की गई है। ये विभिन्न पात्र मानों मनिया के जीवन के क्रमिक विकास की विविध मंजिलें हैं जिन्हें पार करने के साथ-साथ वह अपने जीवन का उत्तरोत्तर विकास करती जाती है।

गौण पात्रों की उद्भावना से 'अज्ञेय' ने भी, इलाचन्द्र जोशी के समान, अपने प्रमुख पात्र के जीवन के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उनके 'शेखर : एक जीवनी' नामक उपन्यास में विविध गौण-पात्रों की योजना इसी लक्ष्य के अनुरूप हुई है। किन्तु जब हम यशपाल के राजनैतिक उपन्यासों में गौण पात्रों की उद्भावना

पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि उन्होंने सामाजिक अथवा ऐतिहासिक उपन्यासों की परम्परा का अनुसरण करते हुये अपनी रचनाओं में गौण-पात्रों की भीड़ इकट्ठा कर ली है। इन गौण पात्रों की सहायता से यशपाल ने जहां एक ओर समाज की विषमताओं और नैतिक विकृतियों का चित्रण किया है, वहां दूसरी ओर उन्होंने अपने मार्क्सवादी जीवन-दर्शन के अनुसार कुछ विशिष्ट जीवन-आदर्शों की प्रतिष्ठा करने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष—हिन्दी उपन्यास-साहित्य में नायक, खलनायक, नायिका तथा गौण पात्रों की उद्भावना और विकास का एक संक्षिप्त विवेचन करने का अब तक प्रयास किया गया है। इस विवेचन के आलोक में यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक उपन्यासकार ने इन विविध पात्रों की उद्भावना अपने जीवन-आदर्शों और अपने नैतिक विश्वासों के अनुरूप की है, इसलिए, इन पात्रों के आचरण में रचयिता का नैतिक चिन्तन स्पष्ट झलकता है। भिन्न-भिन्न विचारधाराओं और जीवनादर्शों को अपने चिन्तन में स्थान देने के कारण हिन्दी के उपन्यासकार समाज की नैतिक व्यवस्था और नतिक मर्यादाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। अतः, अपने चिन्तन के अनुरूप अपने उपन्यासों के विविध पात्रों की उद्भावना के माध्यम से, इन्होंने समाज की नैतिक व्यवस्था में जहां-तहां सुधार और संशोधन प्रस्तुत किये हैं अथवा इसके प्रति विद्रोह व्यक्त किया है।

प्रस्तुत परिच्छेद में हिन्दी उपन्यास के नायक, खलनायक, नायिका तथा गौण पात्रों के स्वरूप-विकास पर नैतिक दृष्टिकोण से विचार करने के उपरांत, अब अगले परिच्छेद में समाज की नैतिक व्यवस्था एवं आदर्श में होने वाले क्रमिक परिवर्तन के आलोक में हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-विकास की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार किया जायेगा।

५

हिन्दी उपन्यास के विकास पर नैतिक परिवर्तन का प्रभाव

पिछले तीन परिच्छेदों में उपन्यास-रचना में उपन्यासकार के जीवन-दर्शन की अभिव्यक्ति के आधार पर हिन्दी उपन्यास के क्रमिक विकास का अध्ययन प्रस्तुत करने का यत्न किया गया था। इस अध्ययन के फलस्वरूप हमने यह देखा है कि किस प्रकार उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन ने उपन्यास-रचना के विविध पहलुओं को प्रभावित किया है और परम्परा की पुरानी लीक निकाल कर, इसे भावी विकास के राजपथ पर ला खड़ा किया है। उपन्यास-रचना के माध्यम से मानव-जीवन की व्याख्या करने का व्यापार ही कुछ ऐसा अनोखा है कि उपन्यासकार को अपने संपूर्ण चिन्तन सहित अपनी रचना में उपस्थित होना पड़ा है। इस उपस्थिति के कारण औपन्यासिक रचना तो अन्ततः उसके जीवन-दर्शन की सरस एवं कथात्मक प्रतिमूर्ति मात्र बनकर रह गयी है; उसके चिन्तन को ईमानदारी से अभिव्यक्त करने के प्रयास में स्वयं ही तदनुसार ढल कर रह गयी है।

व्यक्तिपरक और वस्तुपरक अध्ययन—उपन्यासकार के चिन्तन को ध्यान में रखते हुए हिन्दी उपन्यास के विकास का जो अध्ययन अब तक किया गया है, उसे, दार्शनिक भाषा में, 'व्यक्तिपरक' की संज्ञा दी जाती है। किन्तु, इसके विकास की समुचित जानकारी प्राप्त करने के लिये हमें 'वस्तुपरक' अध्ययन भी करना होगा—अर्थात्, अब यह देखना होगा कि जिस प्रकार उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन ने उपन्यास के विकास को प्रभावित किया है, तो उसी प्रकार, क्या समाज की प्रचलित नैतिक व्यवस्था ने भी उपन्यास के विकास को प्रभावित किया है? समाज की नैतिक व्यवस्था कोई स्थिर चीज तो है नहीं, वरन्, यह तो जीवित होने के कारण

गत्यात्मक है। इसलिए, समाज की गत्यात्मक नैतिक व्यवस्था ने, उपन्यासकार के नैतिक चिंतन के समान, उपन्यास-रचना को किस प्रकार प्रभावित किया है, यह देखना अवशिष्ट है। समाज की नैतिक व्यवस्था के दृष्टिकोण से किया जाने वाला यह अध्ययन, 'वस्तुपरक' कहलाता है, अतः, प्रस्तुत परिच्छेद में इसी दृष्टिकोण के अनुरूप हिन्दी उपन्यास के विकास का अध्ययन करने का यत्न किया गया है।

वस्तुपरक अध्ययन का महत्व—हिन्दी उपन्यास के विकास का 'वस्तुपरक' अध्ययन इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि जहाँ उपन्यास-साहित्य उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन को झलकाता है, वहां इसमें समाज की नैतिक व्यवस्था भी तो झलकती है। साथ ही, जिस प्रकार उपन्यास-रचना में उपन्यासकार के नैतिक चिंतन की अभिव्यक्ति उपन्यास के अंग-प्रत्यंग को प्रभावित करती है, उसी प्रकार समाज की नैतिक व्यवस्था की अभिव्यक्ति भी तो उपन्यास-रचना के समस्त पहलुओं पर अपनी छाप डाल देती है। इसलिए उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन के उतार-चढ़ाव को ध्यान में रखकर जहां उपन्यास के विकास का 'व्यक्तिपरक' अध्ययन नितान्त आवश्यक है, वहां समाज की नैतिक व्यवस्था में परिवतन अथवा मोड़-तोड़ को ध्यान में रखते हुये उपन्यास के विकास का 'वस्तुपरक अध्ययन' भी बहुत जरूरी है। ये दोनों—व्यक्तिपरक और वस्तुपरक—अध्ययन एक दूसरे के पूरक हैं, इसी कारण व्यक्तिपरक के उपरान्त, अब हमें वस्तुपरक अध्ययन की ओर अग्रसर होना है।

नैतिक व्यवस्था की गत्यात्मकता—जैसा कि पहले कहा गया है, समाज की नैतिक व्यवस्था कोई स्थिर अथवा जड़ वस्तु नहीं है; यह तो सजीव होने के कारण गत्यात्मक है, परिवर्तनशील है। समाज की नैतिक व्यवस्था अन्ततः, समाज की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, पारिवारिक तथा शैक्षणिक संस्थाओं से सम्बन्धित विविध नियमों, मर्यादाओं और परम्पराओं का समुच्चय है; इसका अपना कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। इसलिए, ज्यों-ज्यों देशकालानुसार समाज की विविध संस्थाओं का बाहरी रूप बदलता जाता है, त्यों-त्यों इन संस्थाओं से सम्बद्ध नियम, मर्यादायें और परम्परायें भी बदलती जाती हैं। समाज की समूची व्यवस्था परिवर्तनशील है, इसके नियम परिवर्तनशील हैं; इस कारण समाज की नैतिक व्यवस्था को गत्यात्मकता कहा गया है। इसका तात्पर्य यही है कि समाज के बाहरी रूप की भांति इसका संचालन करने वाले विविध विधि-नियम—अर्थात् इसका भीतरी अथवा नैतिक स्वरूप भी, देशकालानुसार, परिवर्तित होता रहता है। समाज की नैतिक व्यवस्था में गत्यात्मकता का होना, वस्तुतः, समाज की सजीवता का लक्षण है, इसका प्राण है। जिस समाज ने रूढ़िवादिता को पकड़े रखा और देशकालानुसार अपनी नैतिक व्यवस्था में परिवर्तन नहीं होने दिया, उसका इतिहास में, प्राचीन विलुप्त ग्रन्थों के समान, उल्लेख मात्र ही अवशेष बचा है; रूढ़िवादिता की नागफांस ने मानों उसके विकास का गला घोंटकर उसकी गत्यात्मकता, उसका प्राण ही हर लिया।

अतः, जब हम हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास का वस्तुपरक अध्ययन करने की ओर प्रवृत्त होते हैं, तो हमें भारतीय समाज की गत्यात्मकता को सदैव ध्यान में रखना होगा। हमारे समाज की नैतिक व्यवस्था की यह विशेषता रही है कि इसने रूढ़ियों की जकड़ को जब-तब तोड़कर अपना विकास-पथ निर्बाध बनाये रखा है। पोखरे के बन्द और रुके हुये पानी के समान सड़ने और बदबू देने के बजाय, हमारे समाज की नैतिक व्यवस्था ने मानों पाताल फोड़कर स्वच्छ और निर्मल जल की धारा सदैव बहायी है। भागीरथी की उछलती-कूदती धारा के वेग के सामने समाज की पुरानी रूढ़ियाँ और निर्जीव नैतिक आदर्श टिक नहीं पाये हैं, अपितु, सगर के पुत्रों को जीवन-दान देने वाली इस वेगवती एवं जीवनदायिनी सुर-नदी ने नयी-नयी मर्यादाओं और नैतिक आदर्शों की सृष्टि कर समाज-जीवन की धूसर, परती भूमि को जब-तब सुजला-सुफला और शस्य-श्यामला बना दिया है।

उपन्यास में नैतिक गत्यात्मकता का चित्रण—भारतीय समाज की नैतिक व्यवस्था और नैतिक मर्यादाओं की उपर्युक्त गत्यात्मकता एवं परिवर्तनशीलता के दर्शन हमें हिन्दी उपन्यास-साहित्य में सर्वत्र होते हैं। 'परीक्षागुरु' के लेखक, लाला श्रीनिवासदास से लेकर प्रेमचन्द तक का उपन्यास-साहित्य समाज की जिस नैतिक स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है, उसमें रूढ़िवादिता का ही प्राधान्य है। प्रेमचन्द-युग के प्रारम्भ से पूर्व विविध सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं ने पुनर्जागरण का शंख फूंक दिया था, और इस जागरण के चिह्न हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में स्पष्ट दिखायी देते हैं। उनके सुधारवादी उपन्यासों में पुराने रूढ़ि-बन्धनों को तोड़ने और समाज में नयी नैतिक चेतना के उदित होने की झलक हमें दिखायी देती है। प्रेमचन्द के उपरान्त समाज की नैतिक व्यवस्था में जिस तेजी के साथ परिवर्तन हुआ, वह जैनेन्द्रकुमार, जोशी, 'अज्ञेय' और यशपाल के मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक उपन्यासों में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित है। किन्तु, हिन्दी का उपन्यास-साहित्य समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन का दर्पण होने के साथ-साथ यह स्वयं भी इस परिवर्तन से प्रभावित हुआ है। यहां पर यह निःसंकोच होकर कहा जा सकता है कि हिन्दी-उपन्यास-साहित्य, समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन से जीवन रस पाकर विकसित ही नहीं हुआ, इसके विकास की भावी प्रवृत्तियों के बीज भी इस परिवर्तन में छिपे हुए हैं। अतएव, उपन्यास-साहित्य के विकास पर इस परिवर्तन ने जो प्रभाव डाला है, उसके अध्ययन के पूर्व, जो कि प्रस्तुत परिच्छेद का विषय है, हमें समाज की नैतिक व्यवस्था में परिवर्तन उत्पन्न करने वाले कारणों, और उपन्यास-साहित्य में इस परिवर्तन के चित्रण पर विचार करना होगा। अतः, सर्वप्रथम, नैतिक परिवर्तन के कारणों को ही लें।

नैतिक व्यवस्था में परिवर्तन के कारण

परिवर्तन के द्विविध कारण—समाज की नैतिक व्यवस्था के अंतर्गत नैतिक

नियम और मर्यादा, मत और विश्वास, तथा मूल्य और आदर्श आते हैं। नैतिक व्यवस्था के इस बाह्य स्वरूप पर एक दृष्टि डालते ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि यह नैतिकता, अन्ततः, समाज व्यवस्था पर निर्भर करती है। इस नैतिकता का यदि अस्तित्व है तो समाज-व्यवस्था की पूर्व-कल्पना को लेकर ही; इसका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः, ज्यों-ज्यों समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होता जायेगा, त्यों-त्यों इसकी नैतिक व्यवस्था भी बदलती जायेगी। किन्तु, यहां यह उल्लेखनीय है कि नैतिकता और समाज-व्यवस्था में कार्य-कारण जैसा ही एकमात्र सम्बन्ध नहीं—अर्थात्, ऐसा नहीं कि समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होने के उपरान्त ही समाज की नैतिकता में परिवर्तन होता हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाज की नैतिक मान्यताओं में परिवर्तन पहले हो जाता है और समाज-व्यवस्था में बाद में परिवर्तन होता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि कहीं नैतिकता समाज-व्यवस्था की अनुगामिनी बन जाती है और कहीं समाज-व्यवस्था नैतिकता की अनुगामिनी बन जाती है—अर्थात्, कहीं नैतिकता कार्य होती है और कहीं कारण होती है। इसलिये समाज की नैतिक व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था में उपर्युक्त द्विविध पारस्परिक सम्बन्ध के अनुरूप, नैतिकता में परिवर्तन के दो ही कारण हैं—एक तो समाज-व्यवस्था में परिवर्तन के कारण, और दूसरे स्वयं नैतिक मूल्यों में परिवर्तन के कारण। इन दो कारणों में से, समाज-व्यवस्था में परिवर्तन से होने वाले कारणों पर पहले विचार करें।

समाज-व्यवस्था में परिवर्तन—जब समाज के नैतिक आदर्श और नैतिक मान्यतायें, समाज-व्यवस्था की अनुगामिनी बन जाती हैं तो ज्यों-ज्यों समाज-व्यवस्था बदलती है, समाज की नैतिकता भी, इसका अनुसरण करते हुए बदलने लगती है। देखा जाए तो हमें भारतीय समाज-व्यवस्था में होने वाले क्रान्तिकारी परिवर्तनों का आभास इस बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से मिलना शुरू होता है। समाज-व्यवस्था में औद्योगीकरण, यातायात के साधनों के प्रसार के कारण जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, उनका विशद् विवेचन करने का काम तो समाज-शास्त्र का है, किन्तु यहां पर इतना कहना यथेष्ट होगा कि इन आर्थिक और यातायात विषयक कारणों ने समाज-व्यवस्था को बदलने में बहुत योग दिया है। अब तक हमारी समाज-व्यवस्था मानों बन्द-डिब्बे के समान थी—अपने-आपमें सिमटी हुई और अन्य प्रभावों से अछूती। किन्तु उद्योग और यातायात की वृद्धि के फलस्वरूप समाज के इस बँधे-बँधाए ढांचे में परिवर्तन होना अनिवार्य हो गया। बीसवीं शताब्दी से पूर्व समाज की आर्थिक व्यवस्था रईस-जमींदारों, सेठ-साहूकारों के प्राधान्य के कारण सामन्ती व्यवस्था के अधिक निकट थी। किन्तु उद्योग की वृद्धि ने इस सामन्ती अर्थ-व्यवस्था के क्रमिक ह्रास को सम्भव बनाते हुए पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की नींव डाली। अर्थ-व्यवस्था में होने वाले इस परिवर्तन ने समाज की नैतिक मान्यताओं में किस

ढंग से परिवर्तन किया है, इसका एक उदाहरण तो यही है कि जहां सामन्ती अर्थ-व्यवस्था में स्वामी-भक्ति को नौकर के नैतिक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया जाता था, वहां पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में स्वामी के आदेश का उल्लंघन करने में, अर्थात्, हड़ताल करने में, किसी प्रकार की अनैतिकता अथवा कर्तव्य-च्युति नहीं समझी जाती। सामन्ती अर्थ-व्यवस्था में नौकर के अधिकार नाम की कोई चीज नहीं थी, किन्तु पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में, श्रमिकों के अधिकारों को स्वीकार करने पर, हड़ताल द्वारा इन अधिकारों की रक्षा को सर्वथा नैतिक माना जाने लगा है।

उद्योग की वृद्धि के कारण समाज की अर्थ-व्यवस्था में जो मूलभूत परिवर्तन आ गया है, उससे समाज की नैतिक-व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभाव का तो ऊपर एक ही उदाहरण दिया गया है। इस आर्थिक परिवर्तन ने जीवन के रहन-सहन का सामान्य स्तर उठा कर जीवन की आवश्यकताओं को इतना बढ़ा दिया है कि सरल और सादे जीवन का नैतिक आदर्श धुंधला पड़ता जा रहा है और कल की विलासिता आज की आवश्यकता बनती जा रही है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध पर इस आर्थिक परिवर्तन का प्रभाव इस रूप में पड़ा है कि चारदीवारी में बन्द रह कर और पातिव्रत्य-धर्म का पालन करने में अपने जीवन की सिद्धि देखने वाली कल की नारी, आज आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने की ओर प्रवृत्त हो रही है। नारी की स्वतन्त्र होने की कामना और पुरुष के समकक्ष दर्जा प्राप्त करने की चाहना को अब अनैतिक नहीं कहा जाता।

इसी प्रकार, यातायात के प्रसार ने डिब्बे में बन्द और वर्णाश्रम के बन्धनों में जकड़ी समाज-व्यवस्था के बन्धन ढीले कर दिए हैं। यातायात की वृद्धि ने समस्त देश को इतना समीप ला दिया है कि पचायत और बिरादरी की सीमाबद्धता समाप्त होती जा रही है। इतना ही नहीं, यातायात के प्रसार और उद्योगीकरण के फलस्वरूप आबादी के स्थानान्तरण ने समाज की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था को इस हद तक बदल दिया है कि छुआछूत की भावना, जो कि पहले वर्ण-व्यवस्था की रीढ़ के समान थी, आज अनैतिक समझी जाती है। वर्ण-व्यवस्था के ह्रास ने सामाजिक मर्यादाओं और बन्धनों की अवहेलना को इतना प्रोत्साहन दिया है कि जिन सामाजिक मर्यादाओं के पालन को पहले नैतिक कह कर सराहा जाता था, आज प्रगतिवाद के नाम पर उनके पालन को अनैतिक कहा जाता है। वर्ण-व्यवस्था के ह्रास ने समाज के विभिन्न वर्णों के परम्परागत पारस्परिक सम्बन्धों को एक नए ही रूप में प्रस्तुत करते हुए सब वर्णों की समानता को नैतिक आदर्श के नाते स्वीकार किया है और वर्ण की श्रेष्ठता का दावा हास्यास्पद बन कर रह गया है।

विविध विचारधाराओं का प्रभाव—समाज-व्यवस्था को बदलने वाले आर्थिक और यातायात सम्बन्धी उपर्युक्त दो प्रमुख कारणों का उल्लेख यहां पर यह बताने के लिए किया गया है कि समाज की नैतिक व्यवस्था, समाज-व्यवस्था में होने वाले

परिवर्तनों से प्रभावित होकर, काफी बदली है। किन्तु, नैतिक व्यवस्था के बदलने में सामाजिक परिवर्तन के अतिरिक्त, विविध विचार-धाराओं का भी काफी हाथ रहा है। इन विचार-धाराओं अथवा वादों ने प्रचलित नैतिक आदर्शों, मान्यताओं और मूल्यों के मुकाबले में नये नैतिक आदर्श, मान्यता तथा मूल्य प्रस्तुत कर, समाज की नैतिक चेतना का विकास किया है। इस विकास का एक रूप यह रहा है कि समाज के नैतिक आदर्शों का पहले भले ही विरोध क्यों न किया गया हो, किन्तु, अन्त में इनमें से अनेक आदर्शों और मान्यताओं को स्वीकार कर इन्हें नैतिक व्यवस्था में स्थान दे दिया गया है।

तीन प्रमुख विचारधारायें—भारतीय समाज के नैतिक चिन्तन पर सीधा प्रभाव डालने वाले मुख्यतः तीन वाद हैं—गांधीवाद, फ्रायडवाद और मार्क्सवाद। इन तीनों वादों ने नैतिकता की अलग-अलग व्याख्या की है, इसलिए, इनके अनैतिक आदर्श और नैतिक मूल्य एक-दूसरे से भिन्न हैं। समाज की नैतिकता पर इन तीनों वादों के प्रभाव का संक्षिप्त उल्लेख करना जरूरी इसलिये है, क्योंकि इन तीनों वादों ने समाज की नैतिक व्यवस्था को प्रभावित करने के उपरांत हिन्दी उपन्यास के विकास को भी, जो कि मानव-जीवन के कथात्मक गद्य के रूप में अन्ततः इस व्यवस्था की साहित्यिक व्याख्या है, प्रभावित किया है। इनमें से गांधीवाद को पहले लें।

गांधीवाद—इस शताब्दी में भारतीय समाज के नैतिक चिन्तन को प्रभावित करने वाला विचार-प्रवाह, गाँधीवाद है। और पहला ही नहीं, प्रभाव की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि अन्य विचार-प्रभावों की तुलना में, समाज के नैतिक चिंतन को गांधीवाद ने सब से अधिक प्रभावित किया है। इसका एक कारण तो यह है कि जहां अन्य विचार-प्रवाहों ने भारत के बाहर जन्म लिया, वहां गांधीवाद भारत में ही जन्मा और भारत के पुरातन नैतिक चिन्तन से जीवन-रस प्राप्त करके पुष्ट हुआ है। दूसरे शब्दों में, गांधीवाद भारत के प्राचीन नैतिक चिन्तन का आधुनिक संस्करण है; परम्परागत नैतिक आदर्शों की आधुनिक व्याख्या है। गांधीवाद के नैतिक आदर्श और नैतिक मर्यादायें, परम्परा-विच्छिन्न न होकर, प्राचीन परम्परा को आगे बढ़ाने वाले हैं, इसलिये अन्य विचार-धाराओं के नैतिक आदर्शों की अपेक्षा गांधीवादी आदर्श भारतीय समाज को अधिक ग्राह्य हैं।

भारतीय चिन्तन का आधार—भारत के परम्परागत चिन्तन से उद्भूत गांधीवाद दर्शन ने नये नैतिक आदर्शों की सृष्टि के चक्कर में न पड़कर, पुरातन आदर्शों को नये चोले में प्रकट किया है। धार्मिकता और आध्यात्मिकता इस चिंतन के आधार हैं, अहिंसा और सत्याग्रह इसके साधन हैं, और शान्ति स्थापन एवं सुख की वृद्धि इसके लक्ष्य हैं। गांधीवादी दर्शन का मूलाधार मानववाद है, इसलिये

इनके नैतिक आदर्शों की उद्भावना मानव के हित को ध्यान में रखकर की गयी है। गांधीवाद ने प्रेम, सेवा और त्याग जैसे नैतिक आदर्शों की पुनःस्थापना कर भारत के पुरातन नैतिक चिन्तन और नैतिक मर्यादाओं के पालन पर जोर दिया है।

किन्तु पुरातन जीवनादर्शों के नव-निर्माण पर सर्वाधिक आग्रह करते हुए गांधीवाद ने समाज की वर्तमान नैतिक व्यवस्था के प्रति उपेक्षा जतायी हो—ऐसी बात नहीं। वरन्, इन पुरातन जीवनादर्शों के अनुरूप ही गांधीवाद ने समाज की वर्तमान नैतिक विषमताओं और सामाजिक कुरीतियों को सुधारने की योजना प्रस्तुत की है। उदाहरण के लिए, समाज में व्याप्त छुआ-छूत की भावना को अनैतिक बताते हुए गांधीवाद ने मानव-मात्र में ईश्वर का अंश देखा है। छुआ-छूत तो, गांधीवाद के अनुसार, पापमूलक वृत्ति है, सरासर अनैतिक है। इसी प्रकार, जीव-मात्र में परमात्मा के दर्शन करते हुये गांधीवाद ने अहिंसा और प्रेम को मानव का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य माना है। गांधीवाद ने हिंसा और क्रोध को इसीलिये निन्द्य ठहराया है, क्योंकि इन प्रवृत्तियों के मूल में मानव की उपेक्षा का भाव निहित है।

नैतिक परिवर्तन का आग्रह—गांधीवाद ने समाज के नैतिक चिन्तन पर इस रूप में प्रभाव डाला है कि इसने समाज-व्यवस्था में विद्यमान रूढ़ियों और कुरीतियों को दूर करने के लिये, घृणा के बजाय प्रेम को प्रमुखता दी है और सत्याग्रह तथा हृदय-परिवर्तन पर आधारित एक अनुपम जीवन-प्रणाली की उद्भावना की है। भारतीय समाज के लिये गांधीवादी जीवन-प्रणाली बहुत परिचित-सी है, क्योंकि इस दर्शन ने भारत के परम्परागत चिन्तन के अनुरूप ही वर्तमान नैतिक विषमताओं को दूर करने का प्रयास किया है। इस परम्परागत चिन्तन को आधार बनाने के कारण जहां एक ओर गांधीवाद ने भारतीय समाज के नैतिक आदर्शों को अधिक मुखरित किया है, वहां साथ ही यह बात भी उतनी ही प्रकट है कि गांधीवाद में पुरातन जीवनादर्शों पर सर्वाधिक आग्रह होने के कारण यदि कोई इस में नये जीवन-सिद्धांत अथवा नैतिकता की नयी व्याख्या ढूंढ़ने का प्रयास करे तो निराशा ही उसके हाथ लगेगी। गांधीवाद तो मूलतः, भारत के प्राचीन नैतिक चिन्तन का आधुनिक संस्करण है। थोड़े-बहुत संशोधन एवं परिवर्धन के अतिरिक्त इसने भारत के परम्परागत चिंतन में अधिक हेर-फेर नहीं की।

फ्रायडवाद—भारत के परम्परागत चिन्तन से जीवन-रस प्राप्त करने के कारण भारतीय समाज को गांधीवादी दर्शन में किसी प्रकार का वैपरीत्य अथवा वैचित्र्य दिखायी नहीं देता। किन्तु यह बात फ्रायडवाद अथवा मार्क्सवाद जैसे अन्य वादों के बारे में सत्य नहीं है। इसका एक कारण तो यही है कि फ्रायडवाद अथवा मार्क्सवाद का जन्म भारत के बाहर हुआ है, इसलिये ये दोनों वाद भारत के परम्परागत नैतिक चिन्तन के विरुद्ध जा पड़ते हैं। इन दोनों विचार-प्रवाहों ने

नैतिकता की जो व्याख्या की है वह भारत की परम्परागत व्याख्या से मेल नहीं खाती। उदाहरण के लिये, फ्रायडवाद ने मानव-जीवन की व्याख्या करते समय अन्तःप्रचेतना को मूलाधार बनाया है और मानव के अंतस्तल में छिपी बैठी अहंता, भय और सेक्स की मूल प्रवृत्तियों को मानव-जीवन की प्रेरक शक्ति माना है। फ्रायडवाद ने मानव-जीवन के मूल में इन तीन प्रवृत्तियों का अस्तित्व स्वीकार कर इनके दमन को अनुचित तथा अनिष्टकर ठहराया है। फ्रायडवाद के अनुसार इन प्रवृत्तियों का दमन, मानव के असामाजिक अथवा अनैतिक आचरण को जन्म देता है, अतः, इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों की तुष्टि को सर्वथा नैतिक मानते हुए इसने इन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखा। भारतीय चिन्तन ने व्यक्ति के लिये आत्मसंयम और चित्त-शुद्धि के जो नैतिक कर्त्तव्य माने हैं उनका, फ्रायडवाद के अनुसार, कोई वैज्ञानिक महत्व नहीं है। उल्टे, मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के दमन में फ्रायडवाद को अनेक मानसिक व्याधियों और असामाजिक आचरण की प्रवृत्तियां उपजती नजर आती हैं, इसलिये भूख-प्यास जैसे अन्य शारीरिक संवेगों के समान, फ्रायडवाद ने काम-तृप्ति को भी स्वास्थ्यकर तथा नैतिक माना है।

नैतिकता की नयी व्याख्या—मानव मन की मूल प्रवृत्तियों के दमन की अपेक्षा, इनकी तुष्टि को नैतिक मानने के कारण, फ्रायडवाद ने नैतिक आदर्शों और नैतिक मूल्यों की जो व्याख्या की है, वह भारत के परम्परागत नैतिक चिन्तन और नैतिक आदर्शों के सर्वथा विपरीत है। फ्रायडवाद के अनुसार नैतिकता का आधुनिक स्वरूप निषेधात्मक है और यह मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करता है। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को खुली छूट देने में फ्रायडवाद का आशय यही है कि नैतिकता का आधार भावात्मक रहे, निषेधात्मक न हो। इसलिये गाँधीवाद ने संयम, आत्म-शुद्धि जैसे जिन परम्परागत नैतिक आदर्शों की सराहना की है, उन्हें निषेधात्मक मानकर फ्रायडवाद ने उन्मुक्त भोग और आचरण-स्वातन्त्र्य को सर्वथा नैतिक माना है।

नैतिकता की उपर्युक्त फ्रायडीय व्याख्या से एक लाभ यह अवश्य हुआ है कि इसने परम्परागत नैतिक आदर्शों के सूक्ष्म विश्लेषण एवं मूल्यांकन की आलोचनात्मक प्रवृत्ति को जन्म दिया है। जिस उन्मुक्त आचरण को, अनैतिक और पापमूलक बताकर, इसकी तीव्र भर्त्सना की जाती थी, अब ऐसे स्वच्छन्द आचरण के प्रति उतनी कठोरता की भावना धीरे-धीरे कम होती जा रही है। फ्रायडवाद ने नैतिकता का मनोवैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करने का यत्न किया है, इस कारण, इसकी युक्तियों और तथ्यों को कोरी कल्पना कहकर इनकी पूर्ण उपेक्षा करना संभव नहीं है। और कुछ हो न हो, इसका इतना प्रभाव तो अवश्य हुआ है कि फ्रायडीय दृष्टिकोण के प्रति सहिष्णुता का भाव रखते हुए समाज के नैतिक चिन्तन ने परम्परागत नैतिक आदर्शों और मूल्यों तथा बदलती हुई सामाजिक व्यवस्था के

बीच बढ़ती हुई खाई को पाटने का प्रयास किया है। इस प्रयास का कुछ-कुछ आभास हमें जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा 'अज्ञेय' की रचनाओं में मिलता है।

मार्क्सवाद—फ्रायडवाद ने अन्तश्चेतना का आधार लेकर नैतिकता की व्याख्या करने का यत्न किया है तो मार्क्सवाद, समाज की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर, नैतिक-व्यवस्था के विश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुआ है। एक ओर फ्रायडवाद ने मानव की मूलभूत प्रवृत्तियों को उसके आचरण का प्रेरक माना है, तो दूसरी ओर, मार्क्स-वाद का कहना है कि समाज की नैतिक-व्यवस्था उसकी आर्थिक व्यवस्था पर निर्भर है, और, ज्यों-ज्यों समाज की आर्थिक व्यवस्था बदलती जायेगी, त्यों-त्यों इसकी नैतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन आता जायेगा। नैतिक व्यवस्था का उद्देश्य है, किसी वर्ग विशेष के आर्थिक हितों की रक्षा करना, इसलिये सामन्ती आर्थिक व्यवस्था में नैतिकता की रूपरेखा का निर्धारण सामन्तों के हित करेंगे, पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में नैतिकता की रूपरेखा का निर्धारण सामन्तों के हित करेंगे, पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में पूंजीपतियों के हित और श्रमिकों की आर्थिक व्यवस्था में श्रमिकों के हित करेंगे। इस प्रकार मार्क्सवाद के अनुसार, नैतिक व्यवस्था और नैतिक आदर्श तो आर्थिक व्यवस्था के अनुरूप ढलते हैं।

आर्थिक दृष्टिकोण से नैतिकता की व्याख्या—समाज की वर्तमान आर्थिक व्यवस्था को परिवर्तनशील मानने के कारण, मार्क्सवाद, समाज की प्रचलित नैतिक-व्यवस्था को भी अन्तिम नहीं मानता। समाज की भावी आर्थिक व्यवस्था का चित्र सामने रखकर मार्क्सवाद ने तदनुसार ही नैतिकता की रूपरेखा निर्धारित करने का यत्न किया है। मार्क्सवाद का विश्वास है कि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था समाप्त होकर अन्त में श्रमिकों का एकाधिपत्य स्थापित होगा, इसलिए, श्रमिकवर्ग के अधिनायक-वाद को सम्भव बनाने वाला प्रत्येक कृत्य नैतिक है और पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थन करने वाला प्रत्येक कृत्य अनैतिक। इस दृष्टि से वर्ग-संघर्ष को सर्वथा नैतिक मानते हुए मानते हुए मार्क्सवाद ने पूंजीवाद का उन्मूलन करने वाले प्रत्येक कार्य को भी नैतिक माना है। भारतीय समाज के परम्परागत नैतिक चिन्तन में अहिंसा और असत्य की निन्दा की गयी है, किन्तु मार्क्सवादी चिन्तन में पूंजीवाद का नाश करने वाला कृत्य, चाहे वह कैसा ही हिंसात्मक अथवा असत्यमूलक क्यों न हो सर्वथा नैतिक है।

मार्क्सवाद ने समाज की वर्तमान नैतिक व्यवस्था के प्रति श्रद्धा जताते हुए इसे महाजनी अथवा बूर्जवा नैतिक व्यवस्था की संज्ञा दी है—महाजनी, इसलिए क्योंकि इसका एकमेव लक्ष्य है, महाजनी अर्थ-व्यवस्था का समर्थन करना। इस नये दृष्टिकोण का यह परिणाम हुआ है कि जहां प्रचलित नैतिक व्यवस्था में धर्म और आध्यात्मिकता को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, वहां मार्क्सवाद ने धार्मिक कृत्यों औ

आध्यात्मिक मापदण्डों की खिल्ली उड़ाते हुए धार्मिक विश्वास को अफीम के नशे से तुलना दी है। मार्क्सवाद के सम्मुख एकमेव श्रेय है—श्रमिकों और सर्वहारा के जीवन का उन्नयन, और इस श्रेय-साधन के मार्ग में धर्म और आध्यात्मिकता को उसने बाधा ही माना है। समाज की इतर नैतिक मान्यतायें चूंकि महाजनी अर्थ-व्यवस्था की समर्थक हैं, इसलिये मार्क्सवाद ने इन मर्यादाओं की अवहेलना को सर्वथा उचित बताया है।

नैतिक चिन्तन पर प्रभाव—फ्रायडवाद और मार्क्सवाद ने अपने-अपने चिंतन के अनुरूप नैतिकता की जो व्याख्या की है, उसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। इन व्याख्याओं पर एक नजर डालते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तश्चेतना अथवा अर्थ-व्यवस्था को आधार मानकर नैतिकता की जो व्याख्यायें की गई हैं, वे भारतीय समाज के परम्परागत नैतिक चिन्तन के सर्वथा विरुद्ध हैं। भारत के पुरातन नैतिक मूल्यों और आदर्शों के साथ इन नये नैतिक मूल्यों और आदर्शों का टकराव होना स्वाभाविक है। किन्तु, इस पर भी, नैतिकता सम्बन्धी फ्रायडीय अथवा मार्क्सवादी व्याख्या में कुछ न कुछ सत्य है और वे समाज में व्याप्त नैतिक विषमता का अपने ढंग से उद्घाटन करती हैं, इसलिये समाज के नैतिक चिन्तन को इन व्याख्याओं के प्रति तिरस्कार का भाव छोड़कर सहिष्णुता का भाव अपनाना पड़ा है। यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार परिस्थितिजन्य कारणों से समाज-व्यवस्था में, और फलस्वरूप नैतिक व्यवस्था में परिवर्तन आना शुरू हुआ, उसी प्रकार गांधीवाद, फ्रायडवाद और मार्क्सवाद जैसे विचार-प्रवाहों ने भी समाज के नैतिक आदर्शों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन लाकर सामाजिक रूढ़ियों की जकड़ को ढीला करना शुरू किया और, अन्त में, इसका प्रभाव समाज-व्यवस्था पर पड़ा। इस प्रकार, नैतिकता सम्बन्धी नयी धारणायें अब समाज-व्यवस्था में परिवर्तन का कारण बनती जा रही है—यह नहीं कि ये समाज-व्यवस्था की अनुगामिनी मात्र हों—अर्थात्, कार्य ही बनी रहें।

हिन्दी उपन्यास में नैतिक परिवर्तन का चित्रण

हिन्दी उपन्यास के विकास पर नैतिक परिवर्तन के प्रभाव का अध्ययन करने के लिए प्रस्तुत परिच्छेद में नैतिक परिवर्तन के कुछ प्रमुख कारणों पर विचार किया जा चुका है। इस अध्ययन का यह पहला चरण था। इस अध्ययन के दो चरण और हैं—हिन्दी उपन्यास में नैतिक परिवर्तन का चित्रण तथा इस परिवर्तन का हिंदी उपन्यास के विकास पर प्रभाव। इस प्रकार, अब तक केवल पहला चरण रा हुआ है और दो चरण अभी शेष हैं। अगला चरण हिन्दी उपन्यास में नैतिक परिवर्तन के चित्रण का है, अतः, इसके आगे इसी पर विचार किया गया है।

नैतिक परिवर्तन के विविध पहलू—विश्व के इतर उपन्यास-साहित्यों के समान, हिन्दी उपन्यास ने भी मानव जीवन की व्याख्या करने के प्रयास में समाज

के अन्दर होने वाले सामाजिक एवं नैतिक परिवर्तन को अपनी रचना का आधार बनाया है। इस साहित्य ने यद्यपि समाज के राजनैतिक और आर्थिक पक्ष को चित्रित करने का यत्न किया है, तो भी इसका सबसे अधिक आग्रह सामाजिक और नैतिक परिवर्तन पर रहा है और इनका बहुत बारीकी से चित्रण किया गया है। समाज के नैतिक परिवर्तन को समाज की विविध व्यवस्थाओं में होने वाले परिवर्तन के सन्दर्भ में अच्छी तरह समझा जा सकता है, इसलिये नैतिक परिवर्तन की बात कहते ही हमें धर्म-भावना, वर्णाश्रम, परिवार, विवाह, प्रेम आदि समाज की प्रमुख व्यवस्थाओं में होने वाले परिवर्तन पर विचार करना होगा। हिन्दी उपन्यास ने इस परिवर्तन के उपर्युक्त पहलुओं का बहुत कुशलता से चित्रण किया है, अतः नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन को समझने के लिए हमें सामाजिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन पर भी विचार करते हुए आगे बढ़ना होगा। तदनुसार इसके आगे सामाजिक व्यवस्था में होने वाले विविध परिवर्तनों में से धर्म-भावना में होने वाले परिवर्तन को पहले लिया गया है।

धर्म-भावना—भारतीय समाज-व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन पर विचार करने के पूर्व हमें इस व्यवस्था के मूलाधार, अर्थात्, धर्म-भावना पर विचार करना होगा। भारतीय समाज ने धर्म को सदैव शीर्षस्थान दिया है और इसे समाज-व्यवस्था के नियन्ता के रूप में स्वीकार किया है। हिन्दी उपन्यास में धर्म-भावना के चित्रण की दृष्टि से जब हम विचार करते हैं, तो यह सहसा पता चलता है कि प्रेमचन्द की रचनाओं से लेकर आज तक की रचनाओं में धर्म-भावना अथवा धार्मिकता के बारे में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गया है। इस परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्ति बाह्याचरण की पवित्रता के बजाय आन्तरिक शुद्धता और धार्मिक अन्धविश्वास के बजाय धार्मिक चेतना की ओर रही है। हिन्दी उपन्यास ने धर्म-भावना में होने वाले इस परिवर्तन को ज्यों का त्यों और बड़ी कुशलता से चित्रण किया है।

प्रेमचन्द द्वारा धार्मिक पाखण्ड का चित्रण—उदाहरण के लिए, प्रेमचन्द और जयशंकर प्रसाद ने अपनी रचनाओं में धर्म के बाह्यरूप—अर्थात्, स्नान-ध्यान, पूजा-पाठ को चित्रित करते हुए धर्म के वाह्याडम्बर और पाखण्ड की तीव्रालोचना की है। 'सेवासदन' में धार्मिक पाखंड की पोल खोलते हुए गजाधर कहता है—'तो तुमने उन लोगों के बड़े-बड़े तिलक छापे देख कर ही उन्हें धर्मात्मा समझ लिया? आज-कल धर्म तो धूर्तों का अड्डा बना हुआ है। इस निर्मल सागर में एक से एक मगर-मच्छ पड़े हुए हैं। भोले-भाले भक्तों को निगल जाना उनका काम है। लम्बी-लम्बी जटाएँ, लम्बे-लम्बे तिलक छापे और लम्बी-लम्बी दाढ़ियां देख कर लोग धोखे में आ जाते हैं, पर वह सब के सब महापाखंडी, धर्म के उज्ज्वल नाम को कलंकित करने वाले, धर्म के नाम पर टका कमाने वाले, भोग विलास करने वाले पापी हैं। भोली का आदर-सम्मान, उनके यहां न होगा, तो किसके यहां होगा?'

प्रेमचन्द ने तत्कालीन धार्मिक अन्धविश्वासों का एक चित्र 'प्रेमाश्रम' की श्रद्धा के मानसिक द्वन्द्व के चित्रण द्वारा प्रस्तुत किया है—'धर्म पैरों को बढ़ने न देता था। प्रेम उन्मत्त तरंग की भाँति बार-बार उमड़ता था, पर धर्म की शिलाओं से टकराकर लौट आता था। एकबार वह अधीर होकर चली कि प्रेमशंकर का हाथ पकड़ कर ले आऊँ, द्वार तक आई. पर आगे न बढ़ सकी। धर्म ने ललकार कर कहा—प्रेम नश्वर है, निस्सार है, कौन किसका पति और किसकी पत्नी ? यह सब मायाजाल है, मैं अविनाशी हूं, मेरी रक्षा करो। श्रद्धा स्तम्भित हो गई। मन में स्थिर किया जो स्वामी सात समुन्दर पार चला गया, वहां न जाने क्या खाया, क्या पिया, न जाने किसके साथ रहा, अब उससे मेरा क्या नाता ?'[1]

और केवल हिन्दू धर्म के पाखंड को ही नहीं, प्रेमचन्द ने अन्य धर्मों के वाह्याडम्बर और धार्मिक संकीर्णता पर भी तीव्र कटाक्ष किए हैं। प्रेमचन्द को धर्म के स्वांग से घृणा थी। 'रंगभूमि' की नायिका, सोफिया सेवक, के उद्‌गार से अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है—'धर्म के विषय में मैं कर्म को वचन के अनुरूप ही रचना चाहती हूं। चाहती हूं, दोनों से एक ही स्वर निकले, धर्म का स्वांग भरना मेरी क्षमता से बाहर है। आत्मा के लिए मैं सारे संसार के सारे दुख झेलने को तैयार हूं'''अगर यही मान लूं कि मेरे लिए चारों तरफ से द्वार बन्द है, तो भी मैं आत्मा को वेचने की अपेक्षा भूखों मर जाना कहीं अच्छा समझती हूं।'[2]

तत्कालीन समाज में धर्म और कर्म में जो विषमता व्याप्त थी, उसका चित्रण करते हुए प्रेमचन्द ने 'कर्मभूमि' में लाला समरकान्त के मिथ्या धर्माचरण का वर्णन किया है—'समरकान्त का व्यावहारिक जीवन उनके धार्मिक जीवन से बिल्कुल अलग था। व्यवहार और व्यापार में वह धोखा-धड़ी, छल-प्रपंच, सब कुछ क्षम्य समझते थे। व्यापार-नीति में सन या कपास में कचरा भर देना, घी में आलू या घुइयां गवड़ देना, औचित्य से बाहर न था, पर बिना स्नान किए वह मुंह में पानी न डालते थे। इन चालीस वर्षों में ऐसा शायद ही कोई दिन हुआ हो कि उन्होंने संध्या समय की आरती न ली हो और तुलसीदल माथे पर न चढ़ाया हो। एकादशी को बराबर निर्जल व्रत रखते थे। सारांश यह कि उनका धर्म आडम्बर मात्र था, जिसका उनके जीवन से कोई प्रयोजन न था।'[3]

प्रसाद द्वारा झूठी धार्मिकता का चित्रण—प्रेमचन्द के समान, जयशंकर प्रसाद ने भी धर्म की जर्जरावस्था के चित्रण के साथ-साथ मिथ्या-धर्म के असली रूप को प्रकट किया है। 'कंकाल' में उन्होंने विजय के मुख से कहलवाया है—'यही तो इस पुण्य-धर्म का दृश्य है। क्यों मंगल ! क्या और भी किसी देश में इस प्रकार का धर्म-संचय होता है। जिन्हें आवश्यकता नहीं उनको बिठा कर आदर से भोजन कराया

---

१. 'प्रेमाश्रम' २. 'रंगभूमि'। ३. 'कर्मभूमि'

जाए, केवल इस आशय से कि परलोक में वे पुण्य-संचय का प्रमाण-पत्र देंगे, साक्षी देंगे और इन्हें, जिन्हें पेट ने सता रखा है, जिनको भूख ने अधमरा बना दिया है, जिनकी आवश्यकता नंगी होकर वीभत्स नृत्य कर रही है—वे मनुष्य कुत्तों के साथ झूठी पत्तलों के लिए लड़ें, यही तो तुम्हारे धर्म का उदाहरण है।'[1]

धार्मिकता के इस नकली रूप के विरुद्ध न केवल प्रेमचन्द ने बल्कि प्रसाद ने भी आवाज उठाई। प्रसाद ने 'कंकाल' में मंगलदेव के मुख से कहलवाया है—'मैं आर्य-समाज का विरोध करता था—मेरी धारणा थी कि धार्मिक समाज में कुछ भीतरी सुधार कर देने से काम चल जाएगा; किन्तु गुरुदेव! यह आपका शिष्य मंगल आप ही की शिक्षा से आज यह कहने का साहस करता है कि परिवर्तन आवश्यक है। एक दिन मैंने अपने मित्र विजय का इन्हीं विचारों के लिए विरोध किया था। पर नहीं, अब मेरी यह धारणा दृढ़ हो गई है कि इस जर्जर धार्मिक समाज में जो पवित्र हैं—वे अलग पवित्र बने रहें, मैं उन पतितों की सेवा करूं जिन्हें ठोकरें लग रही हैं, जो बिलबिला रहे हैं।'[2]

आन्तरिक शुद्धता पर जोर—प्रेमचन्द और प्रसाद ने धार्मिक आडम्बर पर कटाक्ष करते हुए हृदय की शुद्धता पर जोर दिया है, और यही बात जैनेन्द्र कुमार की रचनाओं में भी हमें दिखाई देती है। जैनेन्द्र कुमार ने हृदय की पवित्रता और सच्चाई को धार्मिक आचरण की मुख्य कसौटी माना है। हृदय यदि सच्चा है, तो व्यक्ति की प्रवृत्ति धार्मिक होगी, भले ही उसका आचरण प्रचलित धार्मिक मर्यादाओं के विपरीत दिखाई दे। उन्होंने 'त्यागपत्र' की नायिका, मृणाल, के आचरण को उपर्युक्त कसौटी से परखा है। अपने अनैतिक आचरण की सफाई देते हुए वह कहती है—'···सच्चरित्र दीखने वाला व्यक्ति यहाँ नहीं टिक सकता। उसे मज्जा-मज्जा तक सच्चा होना होगा, तभी खैरियत है। जो बाहर हो, वही भीतर हो। भीतर पशु हो तो इस जलवायु में आकर बाहर की मनुष्यता एक क्षण नहीं ठहरेगी। मनुष्य हो, तो भीतर तक मनुष्य होना होगा। कलईवाला सदाचार यहां खुल कर उघड़ रहता है। यहां खरा कंचन ही टिक सकता है, क्योंकि उसे जरूरत ही नहीं कि वह कहे कि मैं पीतल नहीं हूं। यहां कचन की मांग नहीं है, पीतल से घबराहट नहीं है।···सच्चे कंचन की पक्की परख यहीं होगी। यह यहां की कसौटी है। मैं मानती हूं कि जो इस कसौटी पर खरा हो सकता है, वही खरा है। और वही प्रभु का प्यारा हो सकता है।'[3]

जैनेन्द्र कुमार और धर्म-भावना—जैनेन्द्र कुमार ने एक ओर सत्यता को धर्म का आधार माना है तो दूसरी ओर मानव-प्रेम और सेवाभाव को भी इसका आवश्यक अंग माना है। 'कल्याणी' की नायिका, कल्याणी की धार्मिक मनोवृत्ति का

---

१. 'कंकाल' २. वही। ३. 'त्यागपत्र'।

वर्णन करते हुये वकील साहब की पत्नी कहती है—'जब से मन्दिर बना है, उनकी आमदनी तब से बराबर बढ़ती जा रही है। अब उन्हें अपने सुख-दुख की परवाह बिल्कुल नहीं रहती। कहती है कि स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहने लगा है। सबेरे चार बजे उठ जाती है और आरती-पूजा का वक्त निकालकर बाकी दिन काम में लगी रहती हैं। किसी रोगी और भिखारी को वापिस नहीं करती। खुद तो कभी फीस की बात करती ही नहीं; लेकिन अगर उन्हें मालूम हो जाता है कि डाक्टर साहब ने या किसी असिसस्टेंट ने फीस के बारे में आग्रह कर रखा है और कोई रोगी निराश होकर लौटा है तो वह दो-दो रोज के लिये खाना छोड़ बैठती है। कहती है कि मेरा जगन्नाथ तो सब यही है। घटघट में वही है। तब किसी को घर से निराश लौटाकर मैं दाना मुंह में डालूं, तो मेरा जगन्नाथ मुझे क्या कहेगा? क्या वह नारायण तब कहेगा नहीं कि क्यों री, ऐसी ही तेरे यहां मेरी पूजा होती है? नर के अनादर में कहीं नारायण की पूजा है?'[1]

जैनेन्द्र कुमार ने धर्म के बाहरी आडम्बर की अपेक्षा हृदय की पवित्रता को धार्मिकता की कसौटी मानते हुये अहंभाव और आत्मतुष्टि की भावना को अधार्मिक और फलस्वरूप, अनैतिक माना है। इसी अहंभाव के प्राधान्य के कारण उनके 'सुखदा' उपन्यास की नायिका, सुखदा, 'विवर्त' का जितेन और 'व्यतीत' का जयन्त, अपने मन में ग्लानि का अनुभव करते हैं, और आत्मरति प्रधान अपने जीवन के कारण उन्हें पश्चाताप होता है। जैनेन्द्र कुमार ने मन की पवित्रता और सहृदयता को सर्वोपरि माना है, इसलिये प्रकट में अनैतिक आचरण करने वाली 'त्यागपत्र' की मृणाल और 'सुनीता' की नायिका, सुनीता, अपने आप में आश्वस्त हैं, उनका हृदय उन्हें कचोटता नहीं। धार्मिकता को जैनेन्द्र कुमार हृदय की चीज मानते हैं, इसलिये हृदय शुद्ध हो तो फिर किसी बात का डर नहीं।

धर्म-भावना की उपेक्षा—जैनेन्द्र कुमार के उपरांत, हमें इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' अथवा यशपाल की रचनाओं में धार्मिक दृष्टिकोण से मानव-आचरण की विवेचना नहीं मिलती। धार्मिकता का मूल स्रोत श्रद्धा-भाव है, किन्तु, इन उपन्यासकारों की रचनाओं में बुद्धिवाद के प्राधान्य, मनोविश्लेषणात्मक प्रणाली के प्रचलन तथा मार्क्सवादी चिन्तन के कारण श्रद्धा-भाव की चीरफाड़ करने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है। तर्कों और युक्तियों के आगे श्रद्धा-भाव टिक नहीं सकता, इस कारण, इन उपन्यासकारों ने नैतिकता की व्याख्या करते समय श्रद्धा-भाव, और फलस्वरूप धार्मिकता को ताक में रखकर, अन्तश्चेतना अथवा आर्थिक व्यवस्था को ही प्रमुखता दी है। मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से लिखे जाने वाले इन उपन्यासों में धार्मिकता और श्रद्धा के प्रति उपेक्षा-भाव ही अधिक है। इसलिये, जैनेन्द्र कुमार

---

१. 'कल्याणी'।

की कृतियों में धर्म और धार्मिकता के बारे में भले ही थोड़ा-बहुत विवेचन मिल जाये, किन्तु इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' और यशपाल की रचनाओं में यह विवेचन प्रथम तो मिलता ही नहीं, और दूसरे, यदि कहीं थोड़ा-बहुत मिलता भी है तो वह सरासर असंगत प्रतीत होता है।

वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था और सामाजिक नैतिकता—समाज में व्याप्त धार्मिकता और धर्माचरण सम्बन्धी धारणाओं में जो परिवर्तन धीरे-धीरे हुआ है, और यह परिवर्तन हिन्दी उपन्यास में जिस भांति प्रतिबिम्बित हुआ है, इसकी एक झलक दिखाने का प्रयास करने के उपरान्त, अब समाज की वर्ण-व्यवस्था में होने वाले क्रमिक परिवर्तन पर विचार करना है। हमारे समाज का सम्पूर्ण ढांचा इस वर्ण-व्यवस्था पर टिका हुआ है और वर्णाश्रम धर्म के नाम पर जिन नियमों की उत्पत्ति हुई है, उन्हें सामाजिक नैतिकता के नाम से पुकारा जा सकता है। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार समूचे समाज को चार वर्णों में विभक्त कर, प्रत्येक वर्ण के विविध धर्मों, अर्थात् कर्त्तव्यों की रूपरेखा खींच दी गई है और प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा की गयी है कि वह अपने वर्णानुसार धर्म का पालन करते हुए समाज-व्यवस्था को बनाये रखे। किन्तु कर्त्तव्यों के विभाजन के लिए रची गयी इस वर्ण-व्यवस्था में, समय के परिवर्तन के साथ, कुछ कुप्रथायें और कुरीतियां भी घुस गयी हैं। इन कुप्रथाओं में सबसे प्रमुख हैं अस्पृश्यता, बिरादरी से बहिष्कार, ऊँच-नीच का भेद आदि। इन्हें देखकर यह कहा जा सकता है कि समाज में सुव्यवस्था के लिये रची जाने वाली वर्ण-व्यवस्था, कालान्तर में सामाजिक विषमता का कारण बन गयी है।

वर्ण-व्यवस्था की कठोरता का चित्रण—किन्तु, अस्पृश्यता और छुआ-छूत जैसी कुप्रथायें चूंकि वर्ण-व्यवस्था की कठोरता से ही जीवन-रस प्राप्त करती हैं, इसलिए वर्ण-व्यवस्था में शिथिलता आने के साथ-साथ ये कुप्रथायें भी विलीन होती जा रही हैं। और मजे की बात यह है कि वर्ण-व्यवस्था में आने वाली यह क्रमिक शिथिलता, हिन्दी उपन्यास में पूरी तरह चित्रित है। 'प्रेमाश्रम' में विदेश से लौटने वाले प्रेमशंकर को बिरादरी द्वारा प्रायश्चित का दण्ड देना इसी वर्ण-व्यवस्था की कठोरता का सूचक है। इस कठोरता के प्रति विद्रोह करते हुए प्रेमशंकर अपनी पत्नी, श्रद्धा से कहता है—'क्या तुम्हें विश्वास है कि कई नदियों में नहाने से, कई लड़कियों के जलाने से, घृणित वस्तुओं के खाने से, ब्राह्मणों को खिलाने से मेरी अपवित्रता जाती रहेगी? खेद है, कि तुम इतनी विवेकशील होकर इतनी मिथ्यावादिनी हो।...मुझसे वह काम करने को कहती हो, जो मेरे सिद्धान्त और मेरे विश्वास के सर्वथा विरुद्ध है। मेरा मन इसे कदापि स्वीकार नहीं करता कि विदेश-

यात्रा कोई पाप है। ऐसी दशा में प्रायश्चित की शर्त लगाकर तुम मुझ पर बड़ा अन्याय कर रही हो।'[1]

छुआछूत की भर्त्सना—छुआ-छूत की दुर्भावना की भर्त्सना करते हुये 'कायाकल्प' में मनोरमा मुन्शी वज्रधर से कहती है—'मेरी राय अगर पूछते हैं तो जाकर चुपके से बहू के हाथ का खाना पकवा कर खाइये। दिल से यह भाव बिल्कुल निकाल डालिये कि वह नीची है और आप ऊँचे हैं। इस भाव का लेश भी दिल में न रहने दीजिये। जब वह आपकी बहू हो गयी, तो बहू समझिए। अगर यह छूत-छात का बखेड़ा खड़ा करना था तो बहू को लाना ही न चाहिए था। आपकी बहू रूप-रंग में व शील-गुण में किसी से कम नहीं। मैं तो कहती हूं कि आपकी बिरादरी-भर में ऐसी एक भी स्त्री न होगी। अपने भाग्य को सराहिये कि ऐसी बहू पायी। अगर खान-पान का ढोंग करना था तो जाकर कीजिये। मैं इस विषय में बाबू जी से कुछ नहीं कह सकती। कुछ कहना ही नहीं चाहती। वह वही कर रहे हैं जो इस दशा में उन्हें करना चाहिये।'[2] ऊँच-नीच को वर्ण के बजाय कर्मानुसार मानते हुए 'गबन' की जालपा भी देवीदीन की श्रेष्ठता की सराहना करते हुए कहती है—'खटिक हों या चमार हों; लेकिन हम से और तुम से सौगुने अच्छे हैं। एक परदेशी आदमी को छै महीने तक अपने घर में ठहराया, खिलाया पिलाया। हम में है इतनी हिम्मत ? यहां तो कोई मेहमान आ जाता है, तो वह भी भारी हो जाता है। अगर यह नीच है, तो हम इससे कहीं नीच हैं। मैं उस चमार को उस पण्डित से अच्छा समझूंगी जो हमेशा दूसरों का धन खाया करता है।'[3]

वर्ण-व्यवस्था की कठोरता से उपजी ऊँच-नीच और छुआ-छूत की कुप्रथा का चित्र यदि हमें प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलता है, तो इस कुप्रथा को दूर करने के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों के संकेत भी उनकी रचनाओं में मिलते हैं। 'कर्मभूमि' का अमरकान्त चमारों में जाकर रहने लगता है और उनके उद्धार के उपाय करता है। इसी प्रकार शान्तिकुमार भी अछूतों को मन्दिर प्रवेश के लिए ललकारते हुए कहता है—'मन्दिर किसी आदमी या समुदाय की चीज नहीं है। वह हिन्दू-मात्र की चीज है। यदि तुम्हें कोई रोक सकता है तो उसकी जबरदस्ती है। मत टलो उस मन्दिर के द्वार से चाहे तुम्हारे ऊपर गोलियों की वर्षा ही क्यों न हो। तुम जरा-जरा सी बात के पीछे अपना सर्वस्व गंवा देते हो, यह तो धर्म की बात है और धर्म हमें जान से ज्यादा प्यारा होता है। धर्म की रक्षा सदा प्राणों से हुई है और प्राणों से होगी।'[4]

जयशंकर प्रसाद ने भी छुआ-छूत और ऊँच-नीच के उन्मूलन की आवश्यकता

---

१. 'प्रेमाश्रम'। २. 'कायाकल्प'।
३. 'गबन'। ४. 'कायाकल्प'।

जताते हुये 'कंकाल' में स्वामी कृष्ण शरण के मुख से कहलवाया है—'वर्ण-भेद, सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिये बना, किन्तु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, वह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा, गुणकर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, अभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गयी। उसके व्यक्तिगत परीक्षात्मक निर्वाचन के लिए, वर्णों के शुद्ध वर्गीकरण के लिये, वर्तमान अतिवाद को मिटाना होगा।'[1] इस अतिवाद की व्यर्थता सिद्ध करते हुए 'कंकाल' में मंगलदेव और मुसलमान गूजर कन्या गाला के तथा 'तितली' में इन्द्रदेव और अंग्रेज युवती शैला के अन्तर्जातीय विवाह का प्रसंग आया है।

वर्ण-व्यवस्था में शिथिलता—प्रेमचन्द और प्रसाद के सामाजिक उपन्यासों में वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न होने वाली बुराइयों के उल्लेख के अतिरिक्त इन्हें दूर करने के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों का संकेत अवश्य मिलता है, किन्तु जब हम जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी तथा यशपाल की रचनाओं की ओर दृष्टि डालते हैं तो वर्ण-व्यवस्था की कठोरता मानों लुप्त हो गयी प्रतीत होती है। प्रेमचन्द-युग में जो अस्पृश्यता की भावना धर्माचरण का अङ्ग बन गयी थी, वह अब धीरे-धीरे अधार्मिक तथा अनैतिक समझी जाने लगी है। उदाहरण के लिए, 'कल्याणी' में सब वर्णों और जातियों के प्रति कल्याणी के समभाव का एक चित्र है—'सायं-प्रातः जगन्नाथ जी की आरती होती है। आरती वह खुद करती है जिसमें अपनी बनायी कविता पढ़ती है। घर के नौकर-चाकर, बाल-बच्चे और पति, सब शामिल होते हैं। जिस दिन पति नाहक अनुपस्थित होते हैं, उस दिन खाना छोड़कर पत्नी प्रायश्चित करती है। मन्दिर के कमरे में भेद-भाव नहीं रखा जाता। मेहतरानी को कई बार साग्रह शाम की आरती में शामिल किया गया और उसी थाली में से प्रसाद मिला है। नीचे रहने वाली एक मुसलमान सईस की पत्नी तो अक्सर शाम को आरती में साथ होती है। अमीर-गरीब का भेद तो है ही नहीं।'[2]

वर्ण व्यवस्था की अवहेलना—वर्ण-व्यवस्था से उत्पन्न अहंभाव और अभिजात्य कुल के अभिमान की व्यर्थता दिखाते हुए इलाचन्द्र जोशी ने 'जिप्सी' में नृपेन्द्र रंजन और मनिया के विवाह की घटना ली है। मनिया के रूप के मोह में पड़कर नृपेन्द्र रंजन धर्म-परिवर्तन कर ईसाई हो जाता है। धर्म-परिवर्तन अथवा वर्ण-व्यवस्था की अवहेलना में उसे कोई बुराई नहीं दिखायी देती और न ही समाज के कठोर शासन का उसे डर है। इसी प्रकार 'जहाज का पंछी' का नायक तो वर्ण-व्यवस्था से मानों खिलवाड़ करता प्रतीत होता है। छूआ-छूत और ऊँच-नीच का अस्तित्व उसे मान्य नहीं है, इसलिये कभी तो वह करीम-चाचा के पास रहकर तरह-तरह के व्यंजन

---

१. 'कंकाल'।   २. 'कल्याणी'।

बनाने की कला सीखता है, कभी प्यारे नामक धोबी के पास नौकरी करता है और कभी मिस साइमन के चकले में खाना बनाने पर नौकर हो जाता है।

अन्त में जब हम यशपाल की रचनाओं तक आते हैं तो वर्ण-व्यवस्था की कठोरता और छुआ-छूत की बुराई दम तोड़ देती है। यशपाल ने वर्ण-व्यवस्था को सामाजिक अत्याचार के रूप में देखा है और इस व्यवस्था की अवहेलना को प्रगतिवादी चिन्तन का प्रतीक माना है। मार्क्सवादी चिन्तन में समाज के दो ही वर्ग और दो ही जातियां मानी गयी हैं—शोषक और शोषित। इनके अलावा और किसी प्रकार की जाति-पांति को अमान्य ठहराते हुए मार्क्सवाद ने ऊँच-नीच अथवा छुआ-छूत को समाज की प्रगति के बाधक के रूप देखा है और इसके उन्मूलन की बात कही है। उदाहरणार्थ, यशपाल के 'दादा कामरेड' में धर्म अथवा जाति के आधार पर भेदभाव का तनिक भी संकेत नहीं मिलता। राबर्ट और शैल, अथवा हरीश और अख्तर का धर्म भिन्न-भिन्न होने पर भी, परस्पर मिलन में किसी प्रकार की रुकावट उत्पन्न नहीं करता। कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्त्ता, वर्ण अथवा धार्मिक अन्धविश्वासों की संकीर्णता से ऊपर उठकर आचरण करते हैं। 'देशद्रोही' का नायक, डा० भगवानदास खन्ना गजनी में अब्दुल्ला सौदागर की लड़की, नर्गिस, से विवाह कर लेता है, और अन्त में कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता के नाते मुसलमान का वेष और नाम धारण कर भारत लौट आता है। वर्ण अथवा जाति की श्रेष्ठता की भावना उसे छू तक नहीं गयी। इसी प्रकार, 'मनुष्य के रूप' में हिन्दू युवती, मनोरमा के साथ पारसी युवक, हैदरजी सुतलीवाला के विवाह का उल्लेख कर यशपाल ने समाज के ऐसे वर्ग का चित्र खींचा है जो वर्ण-व्यवस्था की रत्ती-भर भी परवाह नहीं करता।

हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में वर्ण-व्यवस्था की क्रमिक शिथिलता का जो आभास मिलता है, उसका ऊपर विवेचन किया गया है। इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रेमचन्द से लेकर यशपाल तक के उपन्यासों में समाज की वर्ण-व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली क्रमिक शिथिलता की प्रवृत्ति स्पष्ट झलकती है। प्रेमचन्द की रचनाओं में इस व्यवस्था की कठोरता तथा इससे उत्पन्न होने वाली कुप्रथाओं को दूर करने की हलचल का सकेत मिलता है, किन्तु यशपाल की रचनाओं तक आते-आते ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में वर्ण-व्यवस्था की कठोरता उतनी नहीं रही, और समाज में चलने वाला सुधारवादी आन्दोलन सफल होता जा रहा है। भारतीय समाज की वर्ण-व्यवस्था में होने वाले इस परिवर्तन को हिन्दी उपन्यास ने जिस ईमानदारी से चित्रित किया है उससे यह उक्ति चरितार्थ हो जाती है कि 'साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है': साहित्य में युग झलकता है; युग विशेष का पूरा-पूरा रेकार्ड इसमें सुरक्षित रहता है। इस अर्थ में, साहित्य और इतिहास के क्षेत्र में भिन्नता होते हुए भी, दोनों समान लक्ष्य की पूर्ति करते हैं।

नारी की स्थिति

नैतिकता और यौन सम्बन्ध—समाज की नैतिक व्यवस्था की सामान्य रूप-रेखा पर दृष्टि डालने पर यह ज्ञात होता है कि जहां एक ओर नैतिकता का सम्बन्ध समाज के विविध नियमों के पालन तथा सदाचार से है, वहां दूसरी ओर इसका सम्बन्ध नारी-पुरुष के यौन-सम्बन्धों से भी है। किन्तु यह उल्लेखनीय है कि जब हम नैतिकता की बात कहते हैं तो उससे नारी-पुरुष के यौन सम्बन्धों की ध्वनि अधिक निकलती है और नियम-पालन की कम। इसका मुख्य कारण यहीं है कि 'नैतिकता' शब्द समाज की प्रचलित यौन-व्यवस्था को लेकर ही अधिक प्रयुक्त होता है, इसलिए, नैतिकता और समाज की यौन-व्यवस्था, प्रायः समानार्थी शब्द बन गये हैं। यह समानता यहां तक बढ़ गयी है कि समाज के नैतिक मूल्यों और नैतिक धारणाओं की कल्पना करते ही समाज में नारी-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों—अर्थात् यौन-व्यवस्था का ध्यान पहले आता है। समाज ने नैतिक व्यवस्था के नाम पर नारी और पुरुष के परस्पर आकर्षण तथा यौन सम्बन्धों को विवाह-प्रथा द्वारा बांधने का यत्न किया है। अतः, समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के बारे में विचार करते समय हमें भी समाज में नारी की स्थिति, नारी और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण—अर्थात् प्रेम, और दोनों के यौन सम्बन्धों के नियमन—अर्थात् विवाह, के बारे में विचार करना होगा। इन तीन बातों में से समाज में नारी की स्थिति पर पहले विचार करना होगा, क्योंकि नैतिक व्यवस्था के शेष दो तत्व बहुत हद तक समाज में नारी की स्थिति पर निर्भर हैं।

प्रेमचन्द और नारी-समस्या—प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन समाज के इतर पीड़ित वर्गों की वकालत करते समय नारी की दयनीय स्थिति की ओर ध्यान दिया है। उन्होंने नारी-जति की समस्याओं को विविध पहलुओं से देखा और अपनी रचनाओं में इन समस्याओं का सजीव चित्रण किया। यही कारण है कि विधवा-विवाह, नारी-शिक्षा, दहेज-प्रथा, अनमेल-विवाह, पतिव्रत धर्म, मर्यादा-पालन, समान अधिकार की मांग जैसे विविध प्रश्नों और समस्याओं को लेकर उन्होंने तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति का पूरा-पूरा चित्र खींच दिया है।

प्रेमचन्द के चित्रण में एक विशेषता यह है कि उन्होंने नारी की दयनीय स्थिति के यथार्थ-चित्रण के साथ-साथ उसके उज्ज्वल रूप की झलक भी दिखायी है। भारतीय नारी के उज्ज्वल रूप का वर्णन करते समय प्रेमचन्द ने उसे पतिपरायण तथा त्याग, सेवा, सहिष्णुता, और आत्मोत्सर्ग जैसे उज्ज्वल आदर्शों के अनुसार आचरण करने वाली सती के रूप में दिखाया है। उन्होंने नारी की दीनता और साथ ही साथ, उसकी भव्यता का चित्र खींचकर, तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति का पूरा चित्रण कर दिया है।

भव्यता और दीनता का चित्रण—उदाहरण के लिए, प्रेमचन्द ने 'सेवासदन' में एक ओर आदर और सत्कार न मिलने के कारण सुमन के पतन की कहानी कही है तो दूसरी ओर नारी जाति के मर्यादा-पालन की सराहना करते हुए विट्ठलदास के मुख से कहलाया है—'सुमन, तुम सच कहती हो, बेशक हिन्दू जाति अधोगति को पहुंच गयी, और अब तक वह कभी की नष्ट हो गयी होती, पर हिन्दू स्त्रियों ने अभी तक उसकी मर्यादा की रक्षा की है। उन्हीं के सत्य और सुकीर्ति ने उसे बचाया है। केवल हिन्दुओं की लाज रखने के लिए लाखों स्त्रियां आग में भस्म हो गयी हैं। यही वह विलक्षण भूमि है जहां स्त्रियां नाना प्रकार के कष्ट भोगकर, अपमान और निरादर सहकर, पुरुषों की अमानुषीय क्रूरताओं को चित्त में न लाकर हिन्दू जाति का मुख उज्ज्वल करती थीं। यह साधारण स्त्रियों का गुण था और ब्राह्मणियों का तो पूछना ही क्या ? पर शोक है कि वही देवियां इस भांति मर्यादा का त्याग करने लगीं।'[1]

भारतीय नारी का धर्म उसके आत्मोत्सर्ग और उसकी पति-भक्ति में निहित मान कर 'निर्मला' की नायिका, निर्मला, भी अनमेल-विवाह को सहन करती है। उसकी मानसिक स्थिति का वर्णन करते हुये प्रेमचन्द ने लिखा है—'उसने अपने मन को इस विचार से समझाया था कि यह मेरे पूर्व कर्मों का प्रायश्चित है। कौन प्राणी ऐसा होगा जो इस दशा में बहुत दिन जी सके ? कर्तव्य की वेदी पर उसने अपना जीवन और उसकी सारी कामनायें होम कर दी थीं। हृदय रोता रहता था पर मुख पर हँसी का रंग भरना पड़ता था। जिसका मुंह देखने को जी न चाहता था, उसके सामने हँस-हँस कर बातें करनी पड़ती थीं। जिस देह का स्पर्श उसे सर्प के शीतल स्पर्श के समान लगता था, उससे आलिंगित होकर उसे जितनी घृणा, जितनी मर्म-वेदना होती थी उसे कौन जान सकता है ? उस समय उसकी यही इच्छा होती थी कि धरती फट जाय और उसमें समा जाऊँ।'[2]

त्याग, पति-भक्ति और मर्यादा-पालन का आदर्श—प्रेमचन्द ने अपनी रचनाओं में नारी के भव्य रूप का सर्वत्र गुणगान किया है। भारतीय नारी द्वारा पति-भक्ति और मर्यादा-पालन जैसे परम्परागत आदर्शों के पालन पर आग्रह करते हुये 'रंगभूमि' की रानी जाह्नवी अपनी बेटी, इन्दु, से कहती है—'हां, उन्हें इसका अख्तियार है (जरा-जरा-सी बात न मानें)। मुझे लज्जा आती है कि मेरे उपदेशों का तुम्हारे ऊपर जरा भी असर नहीं हुआ। मैं तुम्हें पति-परायणा सती देखना चाहती हूं, जिसे अपने पुरुष की आज्ञा या इच्छा के सामने अपने मानापमान का जरा भी विचार नहीं होता। अगर वह तुम्हें सिर के बल चलने को कहें, तो भी तुम्हारा धर्म है कि सिर के बल चलो। तुम इतने ही में घबरा गई।।'[3]

---

१. 'सेवासदन' २. 'निर्मला' ३. 'रंगभूमि'।

मर्यादा-पालन को नारी का प्रथम कर्तव्य बताते हुये, 'कायाकल्प' का चक्रधर, राजा विशाल सिंह की पत्नी, रोहिणी, से कहता है—'जिस तरह रण से भागते हुये सिपाही को देख कर लोगों को उससे घृणा होती है—यहां तक कि उसका वध कर डालना भी पाप नहीं समझा जाता, उसी तरह कुल में कलंक लगाने वाली स्त्रियों से भी सब को घृणा हो जाती है और कोई उनकी सूरत तक नहीं देखना चाहता। हम चाहते हैं कि सिपाही गोली और आग के सामने अटल खड़ा रहे। उसी तरह हम यह भी चाहते हैं कि स्त्री सब कुछ झेल कर अपनी मर्यादा का पालन करती रहे। हमारा मुंह हमारी देवियों से उज्ज्वल है और जिस दिन हमारी देवियां इस भांति मर्यादा की हत्या करने लगेंगी, उसी दिन हमारा सर्वनाश हो जायेगा।'[1]

नारी में प्रेम, सहिष्णुता, धैर्य के गुणों के आधार पर 'गोदान' के मिस्टर मेहता नारी के स्वभाव की व्याख्या करते हुये कहते हैं—'स्त्री पृथ्वी की भांति धैर्यवान है, शान्ति सम्पन्न है, सहिष्णु है। पुरुष में नारी के गुण आ जाते हैं तो वह महात्मा बन जाता है। नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा हो जाती है। पुरुष–आकर्षित होता स्त्री की ओर, जो सर्वांश में स्त्री हो।···मैं आपसे किन शब्दों में कहूं कि स्त्री मेरी नजरों में क्या है। संसार में जो कुछ सुन्दर है, उसी की प्रतिमा मैं स्त्री कहता हूं। मैं उससे यह आशा रखता हूं कि मैं उसे मार ही डालूं तो भी प्रतिहिंसा का भाव उसमें न आये, अगर मैं उसकी आंखों के सामने किसी स्त्री को प्यार करूं, तो भी उसकी ईर्ष्या न जागे।'[2] इतना ही नहीं, मिस्टर मेहता ने नारी को पुरुष से श्रेष्ठ दर्जा देते हुये कहा है—'स्त्री-पुरुष से उतनी ही श्रेष्ठ है जितना कि प्रकाश अँधेरे से। मनुष्य के लिये क्षमा और त्याग और अहिंसा जीवन के उच्चतम आदर्श हैं। नारी इस आदर्श को प्राप्त कर चुकी है। पुरुष धर्म और अध्यात्म और ऋषियों का आश्रय लेकर उस लक्ष्य पर पहुंचने के लिये सदियों से जोर मार रहा है, पर सफल नहीं हो सका। मैं कहता हूं, उसका सारा अध्यात्म और योग एक तरफ और नारियों का त्याग एक तरफ।'

प्रसाद और नारी-समस्या—प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में नारी की दयनीय स्थिति के चित्रण के साथ-साथ उसके भारी उत्तरदायित्व का जैसा चित्रण किया है, लगभग उसी प्रकार का चित्रण जयशंकर प्रसाद के उपन्यासों में भी मिल जाता है। समाज में नारी की करुणापूर्ण स्थिति का उल्लेख करते हुये 'कंकाल' की घंटी कहती है—'हिन्दू स्त्रियों का समाज ही कैसा है, उसमें कुछ अधिकार हो तब तो उसके लिये कुछ सोचना-विचारना चाहिये। और, जहां अन्ध-अनुसरण करने का आदेश है, वहां प्राकृतिक, स्त्री-जनोचित प्यार कर लेने का जो हमारा नैसर्गिक अधिकार है—जैसा कि घटनावश प्रायः स्त्रियां किया करती हैं—उसे क्यों छोड़ दूं ? यह कैसे

---

१. 'कायाकल्प' २. 'गोदान' ३. वही।

हो, क्या हो, और क्यों हो—इसका विचार पुरुष करते हैं। वे करें, उन्हें विश्वास बनाना है, कौड़ी-पाई लेना रहता है—और स्त्रियों को भरना पड़ता है। तब इधर-उधर देखने से क्या। 'भरना है'—यही सत्य है, उसे दिखावे के आदर से ब्याह करके भरा लो या व्यभिचार कह कर तिरस्कार से।'[1] इसी भाव को व्यक्त करते हुये किशोरी कहती है—'स्त्री कुछ नहीं है, केवल पुरुषों की पूंछ है। विलक्षणता यही है कि वह पूंछ कभी-कभी अलग भी रख दी जा सकती है।'[2]

नारी की उपर्युक्त असहाय अवस्था का दिग्दर्शन करने के साथ-साथ प्रसाद ने उसके भव्य रूप की झांकी भी दी है। भारतीय नारी में आत्म-समर्पण के भाव को उसका जन्मजात गुण बताते हुये, 'तितली' में बंजो कहती है—'बहन ! तुम कहीं भूल तो नहीं कर रही हो ? तुम धर्म के बाहरी आवरण से अपने को ढक कर हिन्दू स्त्री बन गई हो सही, किन्तु उसकी संस्कृति की मूल शिक्षा भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी साधना का प्राण है। इस मानसिक परिवर्तन को स्वीकार करो।'[3]

नारी का तेजस्वी और साहसी रूप—भारतीय नारी की तत्कालीन सामाजिक स्थिति और उसके जीवनादर्शों को अपनी रचनाओं में चित्रित करने के अतिरिक्त प्रेमचन्द और प्रसाद ने उसे सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष करते दिखाया है। उन्होंने नारी के अबला रूप को ही नहीं लिया, वरन् उसके अन्तस्तल में छिपे हुए तेज को भी प्रकट किया है। अवसर आने पर निःसहाय नारी, सबला का रूप भी धारण कर सकती है और अपने अधिकारों के लिये लड़ सकती है, इस बात को अभिव्यक्त करते हुए, 'प्रतिज्ञा' की पतिपरायणा और पति में भक्ति रखने वाली प्रेमा का वर्णन है—'उसकी सारी करुणा, सारी कोमलता, सारी ममता, उसे अमृतराय को जलसे में जाने से रोकने के लिये उनके घर जाने की प्रेरणा करने लगी। उसका स्त्री-सुलभ संकोच एक क्षण के लिए लुप्त हो गया। एक बार भय हुआ कि दाननाथ को बहुत बुरा लगेगा; लेकिन उसने इस विचार को ठुकरा दिया। तेजमय गर्व से उसका मुख उद्दीप्त हो उठा—'मैं किसी की लौंडी नहीं हूं—किसी के हाथ अपनी धारणा नहीं बेची है—प्रेम पति के लिये है, पर भक्ति सदा अमृतराय के साथ रहेगी।'[4]

इसी प्रकार, 'रंगभूमि' की इन्दु भी अपने पति के आचरण से त्रस्त होकर, पति के प्रति अभक्ति का भाव मन में धारण करने पर विवश हो जाती है, पति के प्रति मानसिक संघर्ष में व्यस्त होकर वह सोचती है—'कहीं राजा साहिब वास्तव में सूरदास को अपराधी समझते हों, तो मुझे जरूर आड़े हाथों लेंगे। खैर होगा, मैं इतना दबना भी नहीं चाहती। मेरा कर्त्तव्य है

---

१. 'कंकाल' २. वही; ३. 'तितली' ४. 'प्रतिज्ञा'

सत्कार्य में उनसे दबना। अगर कुविचार में पड़कर वह प्रजा पर अत्याचार करने लगे, तो मुझे उनसे मतभेद रखने का पूरा अधिकार है। बुरे कामों में उनसे दबना मनुष्य के पद से गिर जाना है। मैं पहले मनुष्य हूं, पत्नी, माता, बहन, बेटी पीछे।'[1] यही हाल 'गबन' की जालपा का है। अपने पति, रमानाथ को उसके नैतिक पतन पर धिक्कारते हुए कहती है— झूठी गवाही, झूठे मुकद्दमे बनाना और पाप का व्यापार करना ही तुम्हारे भाग्य में लिखा गया। जाओ शौक से जिन्दगी के सुख लूटो। मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था और आज फिर कहती हूं कि मेरा तुमसे कोई नाता नहीं। मैंने समझ लिया कि तुम मर गये। तुम भी समझ लो कि मैं मर गयी। बस, जाओ। मैं औरत हूं। मगर कोई धमकाकर मुझसे पाप कराना चाहे, तो चाहे उसे न मार सकूँ, अपनी गर्दन पर छुरी चला दूंगी। क्या तुममें औरत के बराबर भी हिम्मत नहीं है?'[2]

नारी के अन्तस्तल में छिपे इस तेजपुंज को प्रसाद ने भी अपनी रचनाओं में प्रकट किया है। 'कंकाल' की घंटी अपने भावी जीवन की रूपरेखा खींचते हुये प्रतिज्ञा करती है—'स्त्रियों को स्वयं घर-घर जाकर अपनी दुखिया बहनों की सेवा करनी चाहिये। पुरुष उन्हें उतनी ही शिक्षा और ज्ञान देना चाहते हैं जितना उनके स्वार्थ में बाधक न हो। घरों के भीतर अन्धकार है। धर्म के नाम पर ढोंग की पूजा है, और शील तथा आचार के नाम पर रूढ़ियों की। बहनें आचार के परदे में छिपायी गयी है, उनकी सेवा करूंगी।'[3] इसी तेजस्विता को प्रकट करते हुए 'तितली' की नायिका, तितली, भी अपने पांव पर खड़ी होकर अनाथों और असहायों को सहारा देती है, तितली के इस स्वावलम्बी स्वभाव के बारेमें इन्द्रदेव मन में सोचते हैं—'तितली? यही तो है, एक दिन मेरे साथ इसी के विवाह का प्रस्ताव हुआ था। उस समय मैं हंस पड़ा था, सम्भवतः, मन ही मन। आज अपनी दुर्बलता में, अभावों और लघुता में, दृढ़ होकर खड़ी रहने में यह कितनी तत्पर है। यही तो हम खोज रहे थे न। मनुष्य गिरता है। उसका अन्तिम पक्ष दुर्बल है—सम्भव है कि वह इसीलिये मर जाता है। परन्तु...परन्तु जितने समय तक वह ऐसी दृढ़ता दिखा सके, अपने अस्तित्व का प्रदर्शन कर सके, उतने क्षण तक क्या जिया नहीं? मैं तो समझता हूं कि उसके जन्म लेने का उद्देश्य सफल हो गया। तितली वास्तव में महीयसी है, गरिमामयी है।'[4]

जैनेन्द्र कुमार और नारी का दोरंगा रूप—प्रेमचन्द और प्रसाद की रचनाओं में नारी के अबला और सबला, दोनों रूपों का जो चित्र अंकित किया गया है, वह जैनेन्द्र कुमार की रचनाओं में निराले ढंग से प्रकटा है। जैनेन्द्र कुमार ने नारी पात्रों को परम्परागत नैतिक आदर्शों की लीक पर ही चलते हुए नहीं दिखाया, अपितु,

---

१. 'रंगभूमि'   २. 'गबन'   ३. 'कंकाल'   ४. 'तितली'।

उन्हें अपने लिये नये नैतिक आदर्शों की सृष्टि करते भी दिखाया है। नये और पुराने आदर्शों के समन्वय के कारण जैनेन्द्र कुमार ने नारी का जो रूप चित्रित किया है, उनके नारी पात्रों में परस्पर विरोधी प्रवृत्तियां दिखायी देती हैं। वे पत्नी भी हैं, और नारी भी, वे समर्पित भी हैं और स्वेच्छाचारी भी। एक ओर पतिव्रत धर्म पालन करते हुये वे पति के प्रति समर्पित हैं तो दूसरी ओर पर-पुरुष का आकर्षण उन्हें ऐसा खींच लेता है कि वे अपने प्रेमियों को निराश नहीं करती। जैनेन्द्र कुमार के नारी-पात्रों में इन परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियों की छटा, बस देखने लायक है। उदाहरण के लिये 'सुनीता' की नायिका, सुनीता का जहां एक ओर पतिपरायण रूप है, वहां दूसरी ओर वह नारी के सहज कर्त्तव्य के प्रति भी सजग है; पत्नी के कर्त्तव्य का पालक करते समय नारी के कर्त्तव्य के प्रति उदासीन नहीं रह सकती। इसलिये, अपने पति के मित्र, हरिप्रसन्न के जीवन को प्रयोजनपूर्ण बनाने को अपना कर्त्तव्य समझते हुये वह सोचती है—'स्त्री फिर किस लिए है, यदि पुरुष को प्रयोजन-दान, फल-दान में नियोजित नहीं करती ? क्या स्त्री इसलिए है कि पुरुष को अपने से निरपेक्ष रहने दे और महाप्रकृति को वन्ध्या ? क्योंकि दुनिया को रेगिस्तान नहीं होना है, क्योंकि उसको लहलहाकर हरियाली हो उठना है, इसलिये क्या पुरुषों के इस जगत में विधाता ने हम स्त्रियों को नहीं रचा है ?—नहीं, नहीं, हरिप्रसन्न यों खुला ही खुला, छूटा ही छूटा, एक ही एक कैसे रहने दिया जायेगा ?'[1]

मर्यादा का पालन और अतिक्रमण—पुरुष के प्रति कर्त्तव्य भावना से अभिभूत सुनीता, पत्नी के, और साथ ही साथ नारी के कर्त्तव्यों को निभाने से चूकती नहीं। पातिव्रत्य धर्म की मर्यादाओं का अतिक्रमण करते हुए वह नारी के कर्त्तव्य की पूर्ति करने के लिए तत्पर हो जाती हैं। जैनेन्द्रकुमार ने उसकी मानसिक स्थिति का वर्णन किया है—'अपने कमरे में आकर उसने श्रीकान्त के चित्र की सहायता से अपने को विश्वास से भरपूर भरा। विश्वास से भरी समन्दर के जल पर वह उतराती ही रहे। उस विश्वास में कहीं छिद्र न रहे कि जिसमें से पानी भर पर पड़े। श्रीकान्त का आदेश तो उसके पत्र द्वारा उसे प्राप्त हुआ ही है। फिर उसके पालन में हिचक कैसी ? उसका मूल्य चुकाने में संकोच कैसा ? हरिप्रसन्न जहां ले जाना चाहता है वहां ही ले जाये। अपनी श्रद्धा को साथ लेकर वह तो अभय बन गयी है, फिर कहां रह गया है उसके लिए भय का स्थल।'[2]

पति की भक्ति और पर-पुरुष के प्रेम में सामंजस्य उत्पन्न करने का एक और चित्र 'त्यागपत्र' में है। पति द्वारा परित्यक्ता होने पर मृणाल अपने को लांछिता नहीं समझती, अपितु, पति से अलग होकर पराये पुरुष के साथ रहने पर भी उसका

---

१. 'सुनीता' २. वही।

सतीत्व कायम है। अपने आचरण को सर्वथा नैतिक बताते हुए वह कहती है–'पति को मैंने नहीं छोड़ा। उन्होंने ही मुझे छोड़ा है। मैं स्त्री-धर्म को पतिव्रत धर्म ही मानती हूं। उसका स्वतन्त्र धर्म मैं नहीं मानती। क्या पतिव्रता को यह चाहिए कि पति उसे नहीं चाहता तब भी वह अपना भार उस पर डाले रहे? वह मुझे नहीं चाहते, यह जान कर मैंने उनकी आंखों के आगे से हट जाना स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा–'मैं तेरा पति नहीं हूं। तब मैं किस अधिकार से अपने को उन पर डाले रहती? पतिव्रता का यह धर्म नहीं है।'[1]

सतीत्व और स्त्रीत्व का समन्वय–जैनेन्द्र कुमार के अधिकांश नारी-पात्र अपने जीवन में नारी के आदर्शों के साथ-साथ पति-भक्त के आदर्श को शीर्षस्थान दिये हुए हैं। स्वेच्छाचारी होते हुए भी, ये पतिपरायणा हैं। पति के चरणों में न्यौछावर होने की कामना रखने वाली 'कल्याणी' की उन्मुक्त नायिका के उद्‌गार हैं—स्त्री को सीखना होगा वही सनातन सतीत्व। वही उसकी चरम और एकान्त साधना है, वही उसका धर्म। उसका अलग स्वरूप कुछ न रहे, सब पति में खो जाये। स्मरण रहे कि पति व्यक्ति नहीं है, वह प्रतीक है। इससे सती को यह सोचने का अधिकार नहीं कि पति सदोष हो सकता है। अपंग हो, विकलांग हो, जैसा हो, पति पति है। पति देवता है। स्मरण रहे कि वह देवता अपने आप में नहीं, सतीत्व की महिमा के प्रभाव से ही वह देवता है। इसलिये व्यक्ति रूप में सदेह बन कर पति के स्थान में चाहे जो हो, कैसा भी वह अपूर्ण हो, सती उसको भी देवता बना सकती है।'[2]

जैनेन्द्र कुमार ने समाज में नारी की स्थिति का चित्रण करते हुए नारी के स्वाभाविक धर्म तथा नैतिकता द्वारा आरोपित धर्मों की ओर ध्यान दिया है। इसलिए कहीं-कहीं उन्होंने स्त्री के सती रूप को प्रमुखता देते हुए उसके पतिव्रत धर्म का वर्णन किया है तो कहीं उसके नारी रूप को प्रमुखता देते हुए उसकी प्रगल्भता का उल्लेख किया है। 'सुखदा' की नायिका, सुखदा, लाल के प्रति अपने सहज आकर्षण का विश्लेषण करते हुए कहती है—स्त्री का यह क्या हाल है? ......पुरुष उसे लेने उसकी ओर आता है, तब वह उसे इतना समझती है कि समझ को कुछ बाकी नहीं रहता, कुछ चुनौती नहीं रहती। पर जब वह नहीं आता उसमें, बल्कि या तो उसे लांघकर या उससे लौटकर जाता वह कहीं किसी अनबूझ में है, वहां जहां उसे कुछ पकड़ने को मिलता ही नहीं, तब स्त्री को एक-साथ क्या हो जाता है? जैसे इस असह्य अपमान की बराबरी करने का उसका सारा मान एक ही साथ आकर पलड़े में झुक पड़ने को आतुर हो जाता हो? उस अनबूझ की तरफ बढ़ते पुरुष का पीछा करके एक बार तो उसका मुँह अपनी ओर कर देखने की आन पर जैसे वह प्राणपण से तुल जाती है। जब कहीं कुछ उसके लिए नहीं रह जाता। न कहीं

---

१. त्यागपत्र'।   २. कल्याणी।

वर्जन रहता है, न पाप रहता है, न समाज रहता है। तब अपने में वह रह नहीं पाती अपने को अतिक्रमण उसे करना ही पड़ता है।'[1]

प्रेम की स्वीकृति का आदर्श—नारी और पत्नी के दो परस्पर विरोधी कर्त्तव्यों के बीच समझौता करने के लिए जैनेन्द्र कुमार के सभी नारी पात्र उत्सुक हैं। इस समझौते को नारी का सहज धर्म बताते हुए, 'विवर्त' की तिन्नी कहती है—'बहन ! पुरुषों की और बात है। वे तो प्रेम के लिए हैं नहीं, पर हम स्त्रियां, हम स्त्रियां प्रेम को स्वीकार नहीं करेंगी तो कहां जायेंगी ?'

मोहिनी आश्चर्य से तिन्नी को देखते हुए बोली—'क्या बहकी-सी कह रही हो, तिन्नी ?'

'देख लो बहन ! हम लोगों के पति भी होते हैं परमेश्वर भी होते हैं, पति को परमेश्वर भी मानने को कहा गया है। क्या यह सब इसलिए नहीं है कि प्रेम का अस्वीकार हमारा धर्म नहीं है। तुम क्यों उनके प्रेम को सीधे स्वीकार नहीं कर सकीं ? विवाहिता थीं तो···।'[2]

अर्थात् नारी और पत्नी के ऊपर से परस्पर विरुद्ध दीखने वाले दोनों कर्त्तव्य, मूलतः एक ही हैं। प्रेम की स्वीकृति चाहे वह पति का हो अथवा पर-पुरुष का, स्त्री का सहज धर्म है और इस धर्म के पालन में किसी प्रकार का अनाचार नहीं है। जैनेन्द्र कुमार ने नारी और पत्नी के परस्पर-विरोधी आचरण में इसी आधार पर सामंजस्य स्थापित किया है और अनाचार अथवा स्वैराचार के दूषण से उसकी रक्षा करते हुए उसे स्वच्छन्द विचरण की छूट दी है।

पतिपरायणता और पतिभक्ति के प्राचीन आदर्शों की कठोरता में जो अलक्ष्य परिवर्तन धीरे-धीरे प्रेमचन्द और प्रसाद की रचनाओं में दिखाई पड़ता है, वह जैनेन्द्रकुमार तक आते-आते अधिक स्पष्ट रूप धारण कर गया है। स्त्री के पत्नी-रूप के साथ-साथ उसके नारी रूप को भी महत्व दिया जाने लगा है, अर्थात्, नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और उसके स्वत्व की रक्षा की बात उठने लगी है। अब नारी पुरुष के अधीन और उसकी अनुगामिनी न बनकर, उसके समकक्ष आ खड़ी हुई और अपनी स्वतन्त्र सत्ता की मांग करने लगी है; पतिपरायणता और मर्यादा-रक्षा के उत्तरदायित्व से छुट्टी पाते हुये अब वह भी अपने स्वतन्त्र जीवन-यापन की ओर प्रवृत्त होने लगी है।

नारी की स्वतन्त्र सत्ता का विकास—जैनेन्द्र कुमार की रचनाओं के बाद जब हम इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि नारी में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व की सुषुप्त चेतना उत्तरोत्तर जागृत हो रही है, और वह पुरुष के कठोर शासन के नीचे दबी रहने को तैयार नहीं है। 'प्रेत और छाया' की

---

१. 'सुखदा'। २. 'विवर्त'।

मंजरी, नारी के ऊपर किए जाने वाले अत्याचारों का उल्लेख कर पारसनाथ को धिक्कारती है—'तुम उसी सनातन पुरुष-समाज के नवीन प्रतिनिधि हो जिसने युगों से नारी को छल से ठगकर, बल से दबाकर, विनय से बहकाकर और करुणा से गला कर उसे हाड़-मांस की बनी निर्जीव पुतली का रूप देने में कोई बात उठा नहीं रखी है। पर याद रखो, विश्वव्यापी क्रान्ति के इस युग में आततायी और कामाचारी पुरुष-जाति की सत्ता अब निश्चित रूप से मूलतः ढहने को है, और युगों से दलित नारी-जाति आज तक अपनी छायात्मकता के भीतर भी शक्ति का जो महाबीज सुरक्षित रखे हुए थी उसके विस्फोट को दबाने की सार्थकता अब ब्रह्मा में भी नहीं रह गयी है।'[1]

पुरुष के साथ समानता का दावा—नारी के अंदर की यह सुषुप्त चेतना अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा तक ही सीमित न रहकर, 'मुक्तिपथ' में विश्व की परिचालन-शक्ति को अपने हाथों में लेने की कल्पना करने लगी है। 'मुक्तिपथ' की नायिका, सुनन्दा, के शब्द हैं—'नारी के भीतर नारीत्व की परिपूर्ण चेतना—विभिन्न राष्ट्रों के पुरुष नियामकों द्वारा कूट उपायों से थोपी गयी किसी भी विविशता से रहित मूलतः स्वतन्त्र सत्ता की भावना अभी तक जग नहीं पायी है, उसे जगने ही नहीं दिया जा रहा है। विश्व-व्यापी मानवीय स्वतन्त्रता और समता के महान् आदर्श की कल्पना करने पर भी पुरुष मूल शक्ति को केवल अपने ही हाथों में लिये रहने का स्वप्न देख रहा है। यह कल्पना ही न तो उसके सचेतन मन में, न अंतर्मन में जग पाती है कि नारी को भी विश्व मानव की परिचालन की मूल शक्ति की बागडोर अपने हाथों में ले लेने का उतना ही अधिकार है जितना कि वह अपने लिए महसूस करता है।'[2]

इसी प्रकार, पुरुषों के समान पूरे अधिकार प्राप्त करने के लिये नारी को ललकारते हुए, 'जहाज का पंछी' में कहा गया है—'आज भारतीय नारी के उत्तरदायित्व और कर्त्तव्यों का बोझ बहुत बढ़ गया है। पुरुष परिचालित समाज की घोर विश्रृंखला देखकर मैं निश्चित रूप से इस परिणाम पर पहुंची हूं कि यदि आज मातृ-जाति अपनी भीतरी शक्ति का पूरा अनुभव करते हुये युगों की दासता के विरुद्ध संगठित विद्रोह करके उठ खड़ी हो और सामाजिक नियंत्रण तथा राजनैतिक शासन की बागडोर पुरुषों के हाथों से लेकर अपने हाथों में ले सकने की समर्थता प्राप्त कर सके तो मुझे पूरा विश्वास है कि पूर्ण मानव-समाज का नक्शा ही एकदम बदल जाये और युग-युगों से केन्द्रच्युत मानवता मंगलमयी मातृछाया के नीचे जड़ से लेकर चोटी तक एक अपूर्व सुन्दर सुसामंजस्यपूर्ण सयोजन के सूत्र में बंध जाये।'[3]

स्वेच्छाचरण और समर्पण का भाव—इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों की नारियां

---

१. 'प्रेत और छाया'। २. 'मुक्तिपथ'। ३. 'जहाज का पंछी'।

अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए पुरुष-वर्ग के साथ लड़ाई ठानने को तैयार हैं और परम्परागत मर्यादाओं की रक्षा की लाक से परे हटती हुई अपना स्वतन्त्र पथ अपनाने की ओर प्रवृत्त हैं। विपरीत इसके, 'अज्ञेय' के नारी-पात्र स्वेच्छाचरण और परम्परागत नैतिक मर्यादाओं का उल्लंघन करने पर भी पुरुष में परिपूर्णता लाने के लिए अपने आपको मिटाने को तत्पर है। 'शेखर : एक जीवनी' की नायिका, शशि अपने पति को छोड़कर शेखर की शरण में आती है तो एक निश्चित लक्ष्य को लेकर ही; वह अपने जीवन-दान द्वारा शेखर के जीवन को विकसित करने की चाहना से प्रेरित है। उसका कथन है—'स्त्री हमेशा से अपने को मिटाती आयी है। ज्ञान उसमें संचित है, जैसे धरती में चेतना संचित है। पर बीज अंकुरित होता है तो धरती को फोड़कर; धरती अपने-आप नहीं फूलती-फलती। मेरी भूल हो सकती, है, पर मैं इसे अपमान नहीं समझती कि सम्पूर्णता और पुरुष की प्रगति में स्त्री माध्यम है—और यही एक माध्यम है। धरती-धरती ही है, पर वह भी समान स्रष्टा है; क्या हुआ अगर उसके लिये सृजन पुलक और उन्माद नहीं, क्लेश और वेदना है···? मैं अपने को मिटा नहीं रही—जिस शेखर को मैं देखती हूं, उसके बनाने में मेरा बराबर का साझा होगा, इसलिये लेने-देने का कोई सवाल नहीं है; और तुम्हारा यह झिझकना और कृतज्ञता जताना ही अपमान है।'[1]

'नदी के द्वीप' की रेखा भी अपने आपको भुवन के लिए मिटाते हुए कहती है—'निराश मत होओ, भुवन अपने जीवन को परास्त-भाव से नहीं, स्रष्टा-भाव से ग्रहण करो; एक विशाल पैटर्न है जो तुम्हें बुनना है; तुम्हारी प्रत्येक अनुभूति उसका एक अंग है, प्रत्येक व्यथा एक-एक तार—लाल, सुनहली, नीला, मैं—मैं भी उसी ताने-बाने के तारों का पुंज हूं—तुम्हारे जीवन-पट का एक छोटा-सा फूल। मेरे बिना वह पैटर्न पूरा न होता, लेकिन मैं उस पैटर्न का अन्त नहीं हूं—मैं इसमें सुखी हूं कि मैंने भी उसमें थोड़ा-सा रंग दिया है–शायद थोड़े-थोड़े कई रंग···सब उज्ज्वल नहीं हैं, लेकिन कुल मिलाकर यह फूल कभी अप्रीतिकर या तुम्हारे पैटर्न में बेमेल नहीं होगा यही मानती हूं। मेरा आशीर्वाद लो, भुवन, और आगे बढ़ो, जहां भी तुम जाओ, जो भी करो, मेरा प्यार और आशीर्वाद तुम्हारे साथ है। मेरा विश्वास तुम में अडिग है।'[2]

नारी का विद्रोही रूप–'अज्ञेय' के नारी पात्रों में समर्पण का जो भाव है, वह यशपाल की रचनाओं में नहीं मिलता। यशपाल के उपन्यासों में नारी श्रद्धा और विश्वास को त्यागकर अपने समान अधिकारों की पुनः रट लगाने लगी है। समाज की परम्परागत मर्यादाओं में उसे पुरुष के प्रभुत्व की गन्ध आने लगी है, इसलिए इन मर्यादाओं को चुनौती देते हुये वह घर की चारदीवारी में बन्द नहीं रहना चाहती। इसी भाव को व्यक्त करते हुए 'दादा कामरेड' की यशोदा अपने पति, अमरनाथ से कहती है—

१. 'शेखर : एक जीवनी' २. 'नदी के द्वीप'।

'स्त्रियों पर पुरुषों को सदा ही अविश्वास रहता है···कोई यों ही उँगली उठाये या बातें बनाये तो उसके लिए क्या किया जा सकता है।······आप पहले कांग्रेस में काम करने वाली देवियों की प्रशंसा करते थे······यदि मुझमें ही आपने कोई खास बात देखी हो तो मुझे बताइये······शेष आप यह चाहें कि दूसरों की स्त्रियां कांग्रेस का काम करें परन्तु मैं न करूं तो मुझमें ही कोई दोष है, आप मेरा दोष बताइये। इज्जत तो सभी की एक-सी है···यदि आप समझते हैं, स्त्रियां इस विश्वास के योग्य नहीं कि वे घर से बाहर निकल सकें तो घर में ही उसका क्या विश्वास है··यदि आपको मुझ पर विश्वास नहीं है तो कहिये।'[1]

यशपाल ने समाज में स्त्री की परतन्त्र स्थिति की ओर संकेत करते हुए, 'देशद्रोही' के डा० खन्ना के मुख से कहलवाया है—'चांद, स्त्री की स्थिति ही समाज में ऐसी है। जब तक उसे जीवन के साधन जुटाने का स्वतन्त्र अवसर और अधिकार नहीं, उसकी स्वतन्त्रता, प्रेम और आचार, सब पुरुष का खिलौना है। तुमने अपना-आप बलिदान कर सब सहा, अब उसके प्रति विद्रोह भी करो तो क्या कर सकती हो ? जब तक जीवन के संघर्ष में अपने पैरों पर खड़े होने का साधन तुम्हारे पास न हो।'[2] नारी को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी देखने के पीछे वस्तुतः यही भाव है कि स्त्री अपने व्यक्तित्व का स्वयं विकास करे और पुरुष की अनुचर-मात्र बनकर न रह जाए। पातिव्रत्य धर्म में यशपाल ने स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व का ह्रास देखा है, इसलिए भारतीय नारी की तुलना 'पालतू पशु' से करते हुए, वह चन्दा का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—'इस प्रकार का मतभेद या पति के व्यवहार में रुखाई अनुभव कर चन्दा बारह-वर्ष तक अपने आपको गृहस्थ-जीवन में साधती आयी थी। वह घर के बाग की बेल थी और पति माली। पति की पसन्द के प्रतिकूल फूट पड़ने वाली, स्वभाव और प्रवृत्ति की कोंपलों को छांट दिया जाता पर नयी फूट पड़तीं। नयी फूटती रहने वाली कोंपलों को काट-छांट कर पति की पसन्द और गृहस्थ की परि-स्थितियों के अनुकूल शाखाओं को बढ़ाना ही स्त्री के जीवन का क्रम है। चन्दा भी यह विश्वास करती आयी थी, इसलिए उसकी अपनी स्वाभाविकता उसके सामने अपराध होकर वह बेबस हो जाती। कभी उसे अनुभव होता, स्त्री होना ही अपराध है।'[3]

नारी में स्वत्व चेतना का विकास—प्रेमचन्द से लेकर यशपाल तक की रचनाओं में समाज में नारी की स्थिति जिस रूप में प्रतिबिम्बित हुई है, उसका उप-र्युक्त विवेचन करने के उपरान्त, यह कहा जा सकता है कि भारतीय नारी ने घर की चारदीवारी से निकलकर उन्मुक्त वायु में सांस लेना शुरू किया है। उसमें नये कर्त्तव्यों, और नये अधिकारों की चेतना जागृत हुई है, इसलिए वह पुरुष की पिछ-

---

१. 'दादा कामरेड'। २.' देशद्रोही'। ३. वही।

लग्गू न रहकर अब उसके समकक्ष आने का साहस करने लगी है। अब नारी में भी अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास, आर्थिक स्वावलम्बिता तथा अपने अधिकारों की रक्षा का भाव जागृत होने लगा है। नारी अबला रहना पसन्द नहीं करती, अपितु सबला और स्वावलम्बी बनकर पुरानी मर्यादाओं की घेरेबन्दी से बाहर निकलकर अपने जीवन की सिद्धि एवं सम्पूर्ति की बातें सोचने लगी है।

समाज में नारी की स्थिति में जो क्रमिक परिवर्तन हुआ है उसका प्रभाव नारी और पुरुष के आपसी सम्बन्धों पर भी पड़ा है। इन सम्बन्धों में नारी और पुरुष का एक-दूसरे के प्रति आकर्षण—अर्थात्, प्रेम तथा सामाजिक जीवन को कायम रखने के लिए दोनों का मिलकर जीवन व्यतीत करना—अर्थात्, विवाह, ये दो संबंध प्रमुख हैं। समाज की नैतिक-व्यवस्था का प्रधान लक्ष्य नारी और पुरुष के उपर्युक्त दोनों प्रकार के सम्बन्धों को नियमित करने का है, अतः, इन दोनों प्रकार के संबंधों की विवेचना करने के लिए नारी और पुरुष के परस्पर आकर्षण—अर्थात्, प्रेम-भावना पर पहले विचार किया गया है।

प्रेम-भावना

प्रेम का उदात्त रूप और नैतिकता—प्रेमचन्द ने नारी और पुरुष के परस्पर आकर्षण, अर्थात्, प्रेम के उज्ज्वल पक्ष को चित्रित किया है। उन्होंने प्रेम को वासनामूलक न कहकर इसे जीवन के उन्नायक के रूप में देखा है; इसलिए प्रेम सम्बन्धी उनकी धारणायें समाज की नैतिक व्यवस्था के साथ टकराने के बजाय, इस व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ बनाने की ओर अग्रसर हैं। उदाहरण के लिए, 'प्रतिज्ञा' की नायिका, प्रेमा, की प्रेम-भावना को कर्त्तव्य के अधीन बताते हुए अमृतराय का कथन है—'यह शंका हो सकती है कि प्रेमा को तुमसे प्रेम न हो, लेकिन ऐसी शंका करना ही प्रेमा के प्रति घोर अन्याय है। वह कुल-प्रथा पर मर-मिटने वाली, सच्ची आर्य रमणी है। उसके प्रेम का अर्थ ही है पतिप्रेम। प्रेम का दूसरा कोई रूप वह जानती ही नहीं और न शायद जानेगी। मुझसे उसे इसीलिए प्रेम था कि वह मुझे अपना भावी पति समझती थी। बस उसका प्रेम उसके कर्त्तव्य के अधीन है।'[1]

पुरुष के प्रेम को वरदान के रूप में स्वीकार करते हुये 'रंगभूमि' की सोफिया सेवक कहती है—'लज्जा की बात नहीं है। वह मुझे प्रेम के योग्य समझते हैं, यह मेरे लिए गौरव की बात है। ऐसे साधु-प्रकृति, ऐसे त्याग-मूर्ति, ऐसे सदुत्साही पुरुष की प्रेमपात्री बनने में लज्जा नहीं। अगर प्रेम-प्रसाद पाकर किसी युवती को गर्व होना चाहिए तो वह युवती मैं हूं। यही वरदान था, जिसके लिये मैं इतने दिनों तक शान्त भाव से धैर्य धारण किए हुए मन ही मन तप कर रही थी। वह वरदान आज मुझे

१. 'प्रतिज्ञा'।

मिल गया है, तो यह मेरे लिये लज्जा की बात नहीं, आनन्द की बात है।'[1] सोफिया तो प्रेम के निश्छल और वासना-रहित रूप की पुजारिन है, इसलिए सच्चे प्रेम की व्याख्या करते हुए वह कहती है—'प्रेम और वासना में उतना ही अन्तर है जितना कंचन और कांच में। प्रेम की सीमा भक्ति से मिलती है, और उसमें केवल मात्रा का भेद है। भक्ति में सम्मान का और प्रेम में सेवा-भाव का आधिक्य होता है। प्रेम के लिए धर्म की विभिन्नता कोई बन्धन नहीं है। ऐसी बाधायें उस मनोभाव के लिए हैं, जिसका अन्त विवाह है। उस प्रेम के लिये नहीं, जिसका अन्त बलिदान है।'

प्रेम के इस उदात्त रूप की व्याख्या करते हुये, 'कायाकल्प' की अहल्या ने इसे मानव-हृदय के सद्भावों का समुच्चय कहा है। उसका कथन है—'प्रेम हृदय के समस्त सद्भावों का शान्त, स्थिर, उद्गारहीन समावेश है। उसमें दया और क्षमा, श्रद्धा और वात्सल्य, सहानुभूति और सम्मान, अनुराग और विराग, अनुग्रह और उपकार, सभी मिले होते हैं। सम्भव है आज के दस वर्ष बाद में आपकी प्रेम-पात्री बन जाऊं, किन्तु इतनी जल्द सम्भव नहीं। इनमें से कोई एक भाव प्रेम को अंकुरित कर सकता है; उसका विकास अन्य भावों के मिलने ही से होता है। आपके हृदय में अभी केवल दया का भाव अंकुरित हुआ है, मेरे हृदय में सम्मान और भक्ति। हाँ, सम्मान और भक्ति दया की अपेक्षा प्रेम से कहीं निकटतर है; बल्कि यों कहिये कि ये ही भाव सरस होकर प्रेम का बालरूप धारण कर लेते हैं।'[3]

वासना-रहित आत्मिक मिलन—प्रेम के इस भव्य रूप के साथ-साथ प्रेम को आत्मिक मिलन के रूप में देखते हुये 'रंगभूमि' की सोफिया और विनय तथा 'कर्मभूमि' के अमरकान्त और सकीना न तो लोक-निन्दा से डरते हैं और न ही एक दूसरे का धर्म भिन्न होने से घबराते हैं। प्रेम ने उन्हें निर्भय बना दिया। इस पार्थिव जगत के बन्धनों और मर्यादाओं का उल्लंघन करना उनके लिए बहुत सहज है, क्योंकि, प्रेम को उन्होंने दो आत्माओं के मिलन के रूप में ग्रहण किया है। इसी भाव को व्यक्त करते हुये 'कर्मभूमि' का अमरकान्त कहता है 'मैं उन आदमियों में नहीं हूं, जो जिन्दगी को जिन्दगी समझते हैं, मैं जिन्दगी के आरजूओं को जिन्दगी समझता हूं। मुझे जिन्दगी रखने के लिये एक ऐसे दिल की जरूरत है जिस में आरजूयें हों, दर्द हो, त्याग हो सौदा हो, जो मेरे साथ रो सकता हो, मेरे साथ जल सकता हो। मैं महसूस करता हूं कि मेरी जिन्दगी पर रोज-ब-रोज जंग लगता जा रहा है। इन चन्द सालों में मेरा कितना रूहानी जवाल हुआ, इसे मैं ही समझता हूं। मैं जंजीरों में जकड़ा जा रहा हूं। सकीना ही मुझे आजाद कर सकती है, उसी के साथ मैं अपने को पा सकता हूं। तुम कहते हो—

---

१. 'रंगभूमि' २. वही, ३. 'कायाकल्प'।

पहले उससे पूछ लो। तुम्हारा ख्याल है कि वह मंजूर न करेगी, मुझे यकीन है – मुहब्बत जैसी अनमोल चीज पाकर कोई उसे रद्द नहीं कर सकता।'[1]

प्रेम को आध्यात्मिक धरातल पर अधिष्ठित करते हुये 'गोदान' की मिस मालती कहती है—'अगर प्रेम खूंखार शेर है तो मैं उससे दूर ही रहूंगी। मैंने तो गाय ही समझ रखा था। मैं प्रेम को सन्देह के ऊपर समझती हूं। वह देह की वस्तु नहीं, आत्मा की वस्तु है। सन्देह का वहां जरा भी स्थान नहीं और हिंसा तो सन्देह का ही परिणाम है। वह सम्पूर्ण आत्म-समर्पण है। उसके मन्दिर में तुम परीक्षक बनकर ही वरदान पा सकते हो।'[2]

वासनामूलक प्रेम और अनैतिकता—प्रेमचन्द ने प्रेम के जिस उदात्त, भव्य आध्यात्मिक तथा वासना-रहित रूप का अपनी रचनाओं में वर्णन किया है, वह आगे चलकर अपनी निश्छलता खो बैठा है—मानों हिमालय की गोद में से निकली हुई भागीरथी की स्वच्छ व निर्मल जलधारा, मैदानों में प्रवेश कर, अन्य नदी-नालों के संसर्ग से धीरे-धीरे मटमैले जलप्रवाह का रूप धारण करती जा रही है। प्रेम की स्वच्छता में वासना का समावेश होने से इसकी पवित्रता का लुप्त होना अपरिहार्य भी है। इस का परिणाम यह हुआ है कि समाज की नैतिक मर्यादाओं के तटबन्धों में बंधकर चलने वाली प्रेम की निर्मल धारा, वासना के सम्मिश्रण से, उद्दाम जलधारा का रूप धारण कर, अपने दोनों किनारों को तोड़ती हुई, जल-प्लावन करती जा रही है। उदाहरण के लिये 'कंकाल' का विजय मुक्त भोग के सम्मुख नैतिक मर्यादाओं को तुच्छ मानते हुये कहता है—'घंटी, जो कहते हैं अविवाहित जीवन पाशव है, उच्छृंखल है, वे भ्रान्त हैं। हृदय का सम्मिलन ही तो ब्याह है। मैं सर्वस्व तुम्हें अर्पण करता हूं और तुम मुझे; इसमें किसी मध्यस्थ की आवश्यकता क्यों, मन्त्रों का महत्व कितना। झगड़े की, विनिमय की, यदि सम्भावना रही तो समर्पण ही कैसा। मैं स्वतन्त्र प्रेम को स्वीकार करता हूं, समाज न करे तो क्या।'[3]

मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उन्मुक्त प्रेम का स्वरूप—प्रसाद के उपरान्त इस उन्मुक्त प्रेम की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर वेगवती होकर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में प्रकटी है। जैनेन्द्र कुमार, इलाचन्द्र जोशी, 'अज्ञेय' और यशपाल की रचनाओं में उन्मुक्त प्रेम, मुक्त भोग और प्रेम के स्वातन्त्र्य की बात बार-बार दोहरायी गयी है। जैनेन्द्र कुमार के 'सुनीता' उपन्यास की नायिका, सुनीता, कृष्ण के प्रति मीरा के प्रेम का विश्लेषण करती है, 'उस मीरा को वह समझाना चाहती है जो पति में सब श्रेय पा लेने के कर्त्तव्य से छूट गयी। मीरा के लिए दो बूंद आंसू डालकर वह पूछना चाहती है, 'अरी प्रेममयी, तैने वह कौनसा प्रेम पाया जिसने तुझे कठिनता दी कि पति के हृदय की पीड़ा को तू बिना पिघले सह ले। अरी, तू किस भयंकर प्रेम को

---

१. 'कर्मभूमि' २. 'गोदान' ३. 'कंकाल'।

दुनिया को दिये जा रही है जो अपने पति के जी को तोड़ता है और उसको टूटते हुये देखकर भी वह प्रेम, प्रेम ही रहता है। ओ मीरा, तू अपने मन की बिथा मुझे पाने दे। मैं भी आज घोर बिथा पाकर अपने ऊपर झेल लेना चाहती हूं। वह बिथा, जो अपने आनन्द की तौल के ही बराबर है, नहीं तो शेष सबसे भारी है।'[1]

स्वतन्त्र प्रेम की दीवानी जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों की नायिकायें, विवाह के बन्धन और सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ती हुई, पर-पुरुष के प्रेम को प्राप्त करने के लिए पागल हैं। सुखदा, भुवन मोहिनी, और अनिता ऐसी ही प्रेम-दीवानी मीराओं के उदाहरण हैं जो गृहस्थ के बन्धनों की उपेक्षा करने के लिए सदैव तत्पर हैं। न जाने उनके भीतर ऐसी कौन-सी ज्वाला धधक रही है जिसकी प्रचण्डता के आगे समाज की नैतिक व्यवस्था जल कर राख हो जाती है। यही विशेषता इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों की नायिकाओं में है। उनके अधिकांश नारी पात्र अपने हृदय के आवेग के कारण सामाजिक बन्धनों से अपने-आपको जकड़ना नहीं चाहते। पुरुष के आकर्षण के आगे वे परिवार और नैतिकता के सभी बन्धन तोड़ने को उद्यत हैं। 'लज्जा' की नायिका, लज्जा, 'पर्दे की रानी' की रंजना, 'प्रेत और छाया' की कांची और मंजरी, 'मुक्तिपथ' की सुनन्दा और 'जिप्सी' की शोभना, पुरुष के आकर्षण के सम्मुख बेवस हैं; प्रेम की भयंकर ज्वाला को उनका हृदय सहन करने में असमर्थ है। इस असमर्थता का कुछ-कुछ पता हमें 'पर्दे की रानी' के नायक, इन्द्रमोहन के इन उद्‌गारों में मिलता है, 'जो प्रवृत्ति मेरी आत्मा के प्रति अणु-अणु को पल-पल तुषाग्नि से जला कर उसे राख में परिणत करती जा रही है, वह चाहे और जो कुछ भी हो, हल्के रंग का रोमांटिक विलास कभी नहीं हो सकती। और यदि यही रोमांटिक विलास है तो सच मानिए कि वह विलास भी किसी महायुद्ध के प्रलयकाण्ड से कुछ कम महत्वपूर्ण नहीं है। मैं अपने को संकीर्ण और हास्यास्पद तब समझता जब मैं मृत्यु से या महायुद्ध के किसी भी सामूहिक रूप से कुछ डरता होता। मेरे प्रेम की भीषण ज्वाला के आगे मृत्यु नाचीज है, अगर आपको विश्वास न हो, तो अभी आप इस बात की परख कर सकती हैं। आप सच्चे हृदय से मुझसे जिस रूप में मरने को कहें, मैं अभी आपके सामने मर सकता हूं। अगर हँस-हँस कर प्राण न त्यागूं, मुंह पर जरा-सा भी बल पड़ जावे, तो आप कह सकती हैं कि एक निपट लबार से पाला पड़ा।'[2]

प्रेम का स्वप्निल और उन्नायक रूप—इन्द्रमोहन के हृदय में प्रेम के तीखेपन का जो आक्रोश है, वह आत्म-हत्या में ही अपना अन्त देखता है, किन्तु 'अज्ञेय' के उपन्यास में प्रेम के इस तीखेपन के बजाय इसके कोमल एवं स्निग्ध रूप का आभास मिलता है जो अपने प्रिय के उन्नयन में ही अपनी सिद्धि देखता है। समाज की नैतिक

---

१. 'सुनीता' २. 'पर्दे की रानी'।

मर्यादाओं की पकड़ से बहुत ऊपर उठ कर एक-दूसरे के प्रति स्निग्ध समर्पण के भाव को 'अज्ञेय' ने शेखर और शशि तथा रेखा और भुवन के जीवन में चित्रित किया है। भुवन के प्रति रेखा के प्रेम की गहराई का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वह जीवन में तीव्र से तीव्र व्यथा, और बुरे से बुरा लांछन सहने को तैयार है, इसलिए कि उसका कष्ट-सहन भुवन के जीवन को उन्नत बनाए। अपने आंसुओं से भुवन के भावी जीवन को सींचकर उसमें पूर्णता लाने की अपनी एकमेव आकांक्षा को प्रकट करते हुए वह कहती है—'मैं जो सोचती थी कि जो भी हुआ, मैं जो टूट गई, उसकी बड़ी व्यथा हमारे चरित्र में फैलेगी, मेरे से अधिक तुम्हारे में वह सब झूठ होगा; वह व्यथा एक अर्थहीन ट्रेजेडी हो जाएगी, क्योंकि उसमें अभियोग होगा, और उसकी अर्थहीनता हम दोनों को ले डूबेगी। मेरा तो कुछ नहीं, मैं तो डूबी ही हूं—पर तुम, भुवन तुम। मेरी सारी आशाओं के केन्द्र तुम हो—मेरे अन्तरतम की व्यथा को इस तरह व्यर्थ न कर दो, भुवन। व्यथा सृजन करती है, मेरी व्यथा बांझ रह गई, मुझे भी झुलस गई, पर मैंने मानना चाहा था कि वह तुम्हीं को बनाएगी, और मैं अपनी व्यर्थता तुम्हें अर्पित करके सार्थक हो जाऊँगी। वह सान्त्वना भी मुझे नहीं मिलेगी....'[1]

प्रेम और सौदेबाजी—'अज्ञेय' ने प्रेम के जिस उन्नायक एवं त्यागमय रूप का अपनी रचनाओं में चित्रण किया है, वह यशपाल के उपन्यासों में सौदेबाजी का रूप धारण कर गया है। प्रेम की रोमांटिक और स्वप्निल कल्पना के बजाय, यशपाल ने प्रेम को नारी द्वारा पुरुष का आश्रय प्राप्त करने के रूप में जीवन की नितान्त आवश्यकता माना है। इस सिलसिले में उन्होंने मनोरमा का आत्म-चिन्तन शब्दबद्ध किया है—'सहसा उसके मस्तिष्क में विचार कौंध गया, सभी स्त्रियां आश्रय का मूल्य, प्रेम का मूल्य अपने शरीर से चुकाती हैं। आत्म-निर्भर प्रेम तो वही है जो मूल्य में आश्रय न मांगे। प्रेम के मूल्य में जीवन भर का आश्रय पाया या कुछ रुपए। प्रेम करने का अधिकारी वही है जो आश्रय न मांगे, जो अपने पांव पर खड़ा हो। भूषण अपने पांव पर खड़े होने की बात ठीक ही कहते थे। मनोरमा अपने विषय में सोचने लगी, बाईस वर्ष की अवस्था में एम०ए० पास करके भी तो वह अपने पांव खड़ी नहीं हो सकी। सिद्धान्त रूप से जो बात सोमा के लिए ठीक है, वह बात मेरे लिए भी है।'[2]

जिस प्रकार समाज में नारी की स्थिति का चित्रण करते हुए प्रत्येक उपन्यासकार ने अपने चिन्तन का भी इसमें थोड़ा-बहुत समावेश कर दिया है, उसी प्रकार नारी और पुरुष के पारस्परिक प्रेम को भी इन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में कहीं समाज की मर्यादाओं के अनुकूल, कहीं इनका उल्लंघन करते हुए, और कहीं

---

१. 'नदी के द्वीप' २. 'मनुष्य के रूप'।

सौदेबाजी के रूप में चित्रित किया है। प्रेम के इन रंग-बिरगे रूपों में भले ही थोड़ा-बहुत अतिवाद हो, किन्तु यह तो निर्विवाद है कि प्रेमचन्द के समय में प्रेम का आदर्शवादी रूप उन्मुक्त भोग की स्वच्छन्दता, रोमांटिक स्वप्निलता और घोर यथ र्थवादिता की विविध अवस्थाओं में से गुजरते हुए अपने आदर्शवाद की पहली चमक-दमक खो बैठा है। आंखों को चकाचौंध कर देने वाला प्रेम का पहले जैसा ज्वलन्त रूप अब व्यावहारिक जीवन के ठोस धरातल पर आ टिका है, और फलस्वरूप इसकी कान्ति भी फीकी पड़ गई है।

विवाह-प्रथा

विवाह का आदर्शवादी आधार—समाज में नारी की स्थिति और प्रेम-भावना के विवेचन के उपरान्त, अब मानव के यौन-सम्बन्धों को नियन्त्रित करने वाली विवाह-प्रथा का विवेचन बाकी है। प्रेमचन्द ने विवाह को नारी-पुरुष के सहजीवन तक ही सीमित न रखकर इसे एक भारी जिम्मेदारी के रूप में देखा है। इस सम्बन्ध में 'सेवासदन' के पं० पद्मसिह शर्मा का कथन है—'यह कैसे मान लिया जाये कि विवाह आनन्दोत्सव का समय है ? मैं तो समझता हूं कि दान और उपकार के लिये इससे उत्तम और कोई अवसर न होगा ? विवाह एक धार्मिक व्रत है, एक आत्मिक प्रतिज्ञा है। जब हम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, जब हम सांसारिक कर्त्तव्यों के सामने अपने सिर को झुका देते हैं, जब जीवन का भार और उसकी चिन्तायें हमारे सिर पर पड़ती हैं, तो ऐसे पवित्र संस्कार के अवसर पर हमको गाम्भीर्य से काम लेना चाहिये। यह कितनी निर्दयता है कि जिस समय हमारा आत्मीय युवक ऐसा कठिन व्रत धारण कर रहा हो उस समय हम आनन्दोत्सव मनाने बैठें।'[1] विवाह के सम्बन्ध में ऐसे ही उदात्त भाव व्यक्त करते हुए 'कायाकल्प' में चक्रधर कहता है—'मनोरमा, हमारे यहां विवाह का आधार प्रेम और इच्छा पर नहीं, धर्म और कर्त्तव्य पर रखा गया है। इच्छा चंचल है, क्षण-क्षण में बदलती रहती है, कर्त्तव्य स्थायी है, उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता।'[2]

विवाह के आदर्शवादी रूप की आलोचना—प्रेमचन्द ने विवाह-प्रथा पर विचार करते समय दहेज-प्रथा और अनमेल-विवाह की कुरीतियों को यद्यपि उघाड़ कर सामने रखा है, तो भी, ऐसा करते समय विवाह-सम्बन्धी उनकी धारणायें आदर्शवाद से ओतप्रोत हैं। किन्तु प्रेमचन्द के उपरान्त इस आदर्शवादी चिन्तन के स्थान पर विवाह-प्रथा की तीव्रालोचना अधिक दिखायी पड़ती है। जैनेन्द्र कुमार ने समाज के अन्दर उत्पन्न होने वाली संकीर्णता और स्वार्थपरता का मूल कारण विवाह-प्रथा में ढूँढ़ा है। उन्होने 'सुखदा' के मिस्टर लाल के मुख से कहलवाया है—घर गिरस्ती में यहां का व्यक्ति अब तक जुता है और भारतीय नैतिकता उस

१. 'सेवासदन'। २. 'कायाकल्प',।

परिधि में घेर कर उसे मन्द और निस्पन्द किये जा रही है। अब पारिवारिक नहीं, सामाजिक संस्कृति चाहिये। परिवार स्थापित स्वार्थ बनाता है और सार्वजनिकता में गांठ पैदा करता है। हमारी संस्कृति ने हमें परिवार में जकड़ दिया है, इससे हम पिछड़े रहे हैं। छोटे-छोटे स्वार्थों के भंवरों में चकराते रह जाते हैं, बढ़ नहीं पाते। बिखरे बने रहते हैं, राष्ट्र में होकर सहज इकट्ठे नहीं हो पाते। मूल में है इसके हमारा विवाह, जो प्यार को बांधता है, खोलता नहीं। प्यार की एक ताकत है। वह बँधी बैठी कि सब गया।'[1]

विवाह और सामाजिक विकृतियां—जैनेन्द्र कुमार के मतानुसार विवाह ने समाज में संकुचितता और स्वार्थपरता को जन्म दिया है तो 'अज्ञेय' का कहना है कि यह तो जीवन-रस को सोखने वाली परोपजीवी लता है जो समाज को नष्ट करने पर उतारू है। 'शेखर : एक जीवनी' में शशि ने विवाह सम्बन्धी हिन्दू आदर्श पर तीव्र कटाक्ष करते हुए कहा है—'आदर्शों का अभिमान आसान है, विवाह का हिन्दू आदर्श, गृहस्थ-धर्म, सतीत्व का हिन्दू-आदर्श किन्तु अपमान की काई के नीचे आदर्श का पानी क्या अभी बहता है कि बँधकर सड़ गया है? गृहस्थ धर्म उभयमुखी होता है; किन्तु आज के जीवन में पुरुष की ओर से देय कुछ भी नहीं है; सख्य तो दूर, करुणा भी देय नहीं रही, और नारी केवल पुरुष के उपभोग का साधन रह गयी है; निरी सामग्री, जिसे वह जब चाहे, जैसे चाहे, जहां चाहे अपनी तुष्टि की आग में होम कर दे। और इसकी कहीं अपील नहीं है, क्योंकि स्त्री कभी दुहाई दे तो उत्तर स्पष्ट है कि 'और शादी किसलिए की जाती है?' 'यह आदर्श नहीं, आदर्शों की समाधि है, देह नहीं, सदियों की सूखी त्वचा में निर्जीव हड्डियों का ढांचा है।'[2]

विवाह और लाइसेंस—विवाह पर सबसे कठोर प्रहार यशपाल ने किया है। उन्होंने विवाह की आर्थिक दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए, 'दादा कामरेड' में राबर्ट के मुख से कहलवाया है—'समाज का यह दूसरा नियम है कि स्त्री का सम्बन्ध जीवन भर एक पुरुष से रहे। बताइये, अब यह नियम मेरे, फ्लोरा और पुरुष जिससे फ्लोरा विवाह करना चाहती है, और उस स्त्री, जिससे मैं विवाह करना चाहता हूं, के जीवन को मुसीबत में डाल रहा है या नहीं? जब तक स्त्री-पुरुष की सम्पत्ति समझी जाती थी, उसका एक पुरुष की बने रहना जरूरी था, परन्तु आज जब स्त्री को पुरुष के समान अधिकार देने की बात आप कहते हैं तो इस प्रकार के नियम कानून की जरूरत?······आप इनकार नहीं कर सकते कि विवाह एक बन्धन है। है। बन्धन उस समय लागू किया जाता है जब अव्यवस्था का डर रहता है। मैं हैरान हूं, समाज में इस बन्धन का इतना आदर क्यों है, और बन्धनों की तरह इसे

१. 'सुखदा'। २. शेखर : एक जीवनी।

भी आजादी का शत्रु समझना चाहिए परन्तु तमाशा यह है कि लोग इस बन्धन में बँधने के लिए बेताब रहते हैं।' अपनी इसी युक्ति को आगे बढ़ाते हुए राबर्ट इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि 'विवाह एक लाइसेंस या परवन्ना है। बन्धन तो वास्तव में यह है कि समाज में कोई पुरुष किसी स्त्री से कोई सम्बन्ध नहीं रख सकता। परन्तु जब इस ढंग से काम नहीं चलता तब एक पुरुष को एक स्त्री के लिए परवन्ना या लाइसेंस दे दिया जाता है कि वे परस्पर सम्बन्ध पैदा कर सकते हैं।'[2]

समाज में नारी की स्थिति और प्रेम-भावना के उपरान्त विवाह सम्बन्धी धारणाओं में होने वाला जो क्रमिक परिवर्तन हिन्दी उपन्यास प्रतिबिम्बित है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि विवाह को धर्म और कर्त्तव्य के रूप में देखने के बजाय इस व्यवस्था के प्रति आलोचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। इसी का यह परिणाम है कि विवाह-बन्धन को नैतिक समझ कर इसकी अनिवार्यता के आगे नतमस्तक होने के बजाय इससे होने वाले दुष्परिणामों को चित्रित करने की ओर उपन्यासकार का ध्यान है। यह सही है कि प्रेमचन्द ने वैवाहिक रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठायी थी, किन्तु ऐसा करते उनका लक्ष्य इस व्यवस्था के सुधारने का था। विपरात इसके मनोवैज्ञानिक और मार्क्सवादी उपन्यास साहित्य में इस व्यवस्था की आवश्यकता पर सन्देह करते हुए मुक्त भोग और स्वछन्द आचरण के प्रतिपादन की प्रवृत्ति बढ़ती दिखायी देती है।

हिन्दी उपन्यास में समाज-व्यवस्था तथा नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन की जो झलक दिखायी पड़ती है उसका अध्ययन करते समय धर्म-भावना, वर्ण-व्यवस्था, नारी की स्थिति, प्रेम और विवाह, इन विविध पहलुओं पर विचार किया गया है। समाज की नैतिक व्यवस्था के साथ उपर्युक्त पहलुओं का सीधा सम्बन्ध है और साथ ही नैतिक व्यवस्था के ये महत्वपूर्ण अंग होने के कारण, प्रस्तुत अध्ययन इन्हीं विविध पहलुओं तक सीमित रखा गया है। अब इसके आगे समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन का, हिन्दी उपन्यास के विकास पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका अध्ययन किया जायेगा।

उपन्यास-साहित्य और नैतिक परिवर्तन

जैसा कि पहले कहा गया है, हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में समाज की नैतिक व्यवस्था एवं नैतिक आदर्शों में होने वाले परिवर्तन की स्पष्ट झलक दिखायी देती है। वस्तुतः मानव-जीवन के विविध पहलुओं की व्याख्या करने के कारण, उपन्यास में समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन का चित्रण हो जाना अपिहार्य है। किन्तु यहां यह बात ध्यान देने की है कि हिन्दी उपन्यास में समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाला परिवर्तन ज्यों-का-त्यों चित्रित नहीं है, बहुत-कुछ

१. 'दादा कामरेड'। २. वही।

चित्रण तो वस्तुतः समाज की आदर्शवादी नैतिक व्यवस्था को ध्यान में रखकर किया गया है। इसलिये कहीं-कहीं आदर्श-विशेष का अनुसरण करने के कारण यह चित्रण काल्पनिक प्रतीत होता है। फिर भी यदि काल्पनिक चित्रण को छोड़ दें, तो यह मानना पड़ेगा कि उपन्यास-साहित्य में समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले वास्तविक परिवर्तन का सही-सही चित्र दिखाई देता है।

हिन्दी उपन्यास में चित्रित समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन का अध्ययन करने के उपरान्त, अब अपने मूल प्रश्न पर आ जायें—कि हिन्दी उपन्यास के विकास पर इस नैतिक परिवर्तन का क्या प्रभाव पड़ा है? वास्तव में इस प्रश्न के दो भाग हैं—पहला, कि समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन की मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियां कौन-सी हैं, और दूसरा, कि इन प्रवृत्तियों ने हिन्दी उपन्यास के विकास को किस प्रकार प्रभावित किया है। अतः इसके आगे, इस प्रश्न के पहले भाग पर विचार किया गया है।

नैतिक परिवर्तन की प्रवृत्तियां—समाज की नैतिक व्यवस्था में जो परिवर्तन धीरे-धीरे हो रहा है, उसकी तीन मुख्य प्रवृत्तियां दिखाई पड़ती हैं। ये तीन प्रवृत्तियां निम्नलिखित हैं—

(१) पुरातनवाद से प्रगतिवाद की ओर,
(२) धार्मिकता से बुद्धिवाद की ओर, तथा
(३) सामाजिकता से व्यक्तिवाद की ओर।

प्रगतिवादी प्रवृत्ति—इनमें से पहली प्रवृत्ति है पुरातनवाद से प्रगतिवाद की ओर की—अर्थात्, पुरातन नैतिक आदर्शों और नियमों को ज्यों-का-त्यों न अपनाकर समाज ने इनमें देशकालानुसार परिवर्तन करने की आवश्यकता अनुभव की है। देखा जाये तो नैतिक नियम एवं परम्परायें, समाज की सुव्यवस्था को कायम रखने के लिये रची जाती हैं। समाज के ये नियम अथवा परम्परायें परिवर्तनशील हैं, क्योंकि समाज स्वयं गत्यात्मक है, परिवर्तनशील है। किन्तु, जब इन नियमों को अन्तिम और अटल मान लिया जाता है, तब समाज में विषमता उत्पन्न हो जाती है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर समाज के पुरातन नियम एवं परम्परायें, रूढ़ि का रूप धारण कर समाज-जीवन की गत्यात्मकता और विकास को कुचलने लगती है। इस विषमता को देखते हुये यह मांग किया जाना स्वाभाविक है कि इन पुरानी रूढ़ियों का मोह छोड़ कर, समाज के नियमों में युगानुसार परिवर्तन अथवा संशोधन किया जाये। यह संशोधन की मांग ही प्रगतिवाद की विशेषता है। प्रगतिवाद से तात्पर्य है कि समय की गति के साथ-साथ समाज की नैतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन होना चाहिये। पुरातनवाद पुरानी रूढ़ियों के मोह की उपज है तो प्रगतिवाद इन रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का परिणाम है। इस दृष्टि से, भारतीय समाज में जहां एक ओर पुराने आदर्शों और पुरानी रूढ़ियों से चिपटे रहने का मोह है—अर्थात्, पुरातन की

पूजा है, वहाँ दूसरी ओर इन पुरानी चीजों का मोह त्याग कर आज के युग की गति के अनुसार इनमें परिवर्तन की माँग भी की जाती है—अर्थात्, प्रगति का आदर्श भी है। वर्तमान काल में पुरातन के मोह की अपेक्षा प्रगति की मांग का बोलबाला होने के कारण यह कहा जा सकता है कि आधुनिक समाज में नैतिक परिवर्तन की प्रवृत्ति पुरातनवाद से प्रगतिवाद की ओर की है।

बुद्धिवादी प्रवृत्ति—पुरातन के मोह की जकड़ ढीली पड़ने के कारण समाज में व्याप्त धार्मिकता और श्रद्धाभाव का स्थान बौद्धिक विश्लेषण लेता जा रहा है। भारतीय समाज ने नैतिकता और धार्मिकता को अलग-अलग करके नहीं देखा, इसलिए नैतिक आदेशों को धार्मिक आदेश मान कर समाज में इनके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा होना स्वाभाविक है। इतना ही नहीं, नैतिकता को धार्मिक आधार मिल जाने के कारण, नैतिक आचरण को पुण्य की, तथा अनैतिक आचरण को पाप की संज्ञा दी जाती है। नैतिकता के प्रति इस श्रद्धा-भाव का ही यह परिणाम है कि, धर्म-व्यवस्था के समान, नैतिक व्यवस्था को अटल एवं अनुल्लंघनीय समझा जाता है।

किन्तु बुद्धिवाद ने श्रद्धा-भाव को ताक में रख कर तर्क और युक्तियों के सहारे नैतिकता के औचित्य-अनौचित्य का विश्लेषण करना शुरू किया है। यह विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति प्रगतिवादी चिन्तन का परिणाम है और इसके निर्मम तर्कों के आगे पाप-पुण्य की रामदुहाई अथवा धार्मिकता का नारा निष्प्रयोजन है। बुद्धिवाद और धार्मिक श्रद्धा परस्पर विरोधी हैं, इसलिए नैतिक व्यवस्था को धार्मिक मान कर इसके सम्मुख श्रद्धापूर्वक नतमस्तक होने के बजाय, बुद्धिवाद ने तर्क के पैने औजारों से समाज की प्रचलित नैतिकता की, और फलस्वरूप, धार्मिकता की चीर-फाड़ करना शुरू कर दी है।

व्यक्तिवादी प्रवृत्ति—समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन की तीसरी प्रवृत्ति है, सामाजिकता से व्यक्तिवाद की ओर की। तदनुसार, समाज के नियमों अथवा बन्धनों के पालन को व्यक्ति का एकमेव कर्तव्य न मान कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को भी महत्व दिया जाने लगा है। नियमों और बन्धनों में जकड़े हुए व्यक्ति का विकास नियन्त्रित होने के साथ-साथ कुण्ठित होने का भी डर रहता है। समाज व्यक्तियों से बनता है, इसलिए जिस समाज के व्यक्ति बौने होंगे, उसके भावी विकास की सम्भावनायें नष्ट होने में देर नहीं लगेगी। तरह-तरह के विधि-निषेध व्यक्ति के व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए बनाए जाते हैं, न कि उसके व्यक्तित्व का गला घोंटने के लिए। सामाजिकता अथवा सामाजिक अनुशासन की इस गलघोंटू प्रवृत्ति के प्रति विद्रोह की भावना लेकर अब व्यक्ति, अपने विकास के लिए खुली हवा में सांस लेना चाहता है। उसे अपने व्यक्तित्व का विकास करने की छूट चाहिए, स्वतन्त्रता चाहिए। वास्तव में स्वतन्त्रता की यह मांग व्यक्तिवाद का मूलाधार है। इस कारण, व्यक्ति और समाज के बीच अंगांगीभाव को अस्वीकार कर, व्यक्तिवाद

ने सामाजिकता के बजाय व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और उसके निरपेक्ष स्वत्व की मांग करना शुरू की है।

नैतिक परिवर्तन का हिन्दी उपन्यास के विकास पर प्रभाव

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले क्रमिक नैतिक परिवर्तन के चित्रण तथा इस परिवर्तन की सामान्य प्रवृत्तियों के विवेचन के उपरान्त, अब हमें प्रस्तुत परिच्छेद के आरम्भ में उठाये गये मूल प्रश्न पर विचार करना है कि नैतिक परिवर्तन का उपन्यास के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा है। इस प्रबन्ध के तीसरे परिच्छेद में हमने नैतिक दृष्टिकोण से हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-विकास पर विस्तारपूर्वक के विचार किया था, किन्तु यहां पर हमें समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन के आलोक में हिन्दी उपन्यास-रचना के विकास की सामान्य प्रवृत्तियों का अध्ययन करना है।

उपन्यास और मानव-जीवन की व्याख्या—जैसा कि पहले कहा गया है, उपन्यास, कथात्मक गद्य नहीं, यह तो मानव-जीवन का गद्य है; कोरी कहानी नहीं, यह तो मानव-जीवन की कहानी है। उपन्यास में मनोरजन और तत्व-चिन्तन, साहित्य और दर्शन का अद्भुत संयोग होने के कारण जिस कुशलता एवं प्रभावोत्पादक ढंग से मानव-जीवन की कहानी कही जाती है और इसकी व्याख्या की जाती है, उसका साहित्य के इतर रूपों में प्रायः अभाव है। उपन्यास की इस विशेषता को देखते हुये, साहित्य के अन्य रूपों की तुलना में, इसकी उत्तरोत्तर लोकप्रियता का कारण सहज ही समझ में आ जाता है।

किन्तु, मानव-जीवन की व्याख्या का व्यापार इतना व्यापक है कि यह अपने में जीवन के सभी पहलुओं को समेट लेता हैं। मानव-जीवन की व्याख्या करते-करते उपन्यासकार को मानव-जीवन के लक्ष्य और आदर्श, अभाव और उपलब्धियां, तथा उत्कर्ष और अपकर्ष, सभी की व्याख्या करनी पड़ती है। जीवन के किसी पक्ष-विशेष तक वह अपने-आपको सीमित रखेगा तो उसकी व्याख्या संकुचित और अधूरी रह जायेगी। इतना ही नहीं, वह मानव-जीवन की व्याख्या-मात्र तक अपने-आपको सीमित नहीं रख सकता; उसे इसका औचित्य-अनौचित्य दिखाने के लिए मानव-जीवन का मूल्यांकन भी तो करना होगा। कहना न होगा कि इस मूल्यांकन का आधार सत्-असत् विवेक अर्थात् नैतिकता ही है। इस प्रकार, उपन्यासकार को घूम-फिर कर नैतिकता का सहारा लेना पड़ता है; उपन्यास-रचना द्वारा मानव-जीवन की व्याख्या करने के प्रयास में उसकी रचना में नैतिकता का स्वर प्रधान हो उठता है।

नैतिक परिवर्तन और सृजन स्वातन्त्र्य—समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन ने उपन्यास-रचना को परोक्ष रीति से प्रभावित किया है। इस क्रमिक परिवर्तन ने नैतिक व्यवस्था की कठोरता में क्रमिक शिथिलता लाकर, समाज के

नैतिक चिन्तन को अधिकाधिक सहृष्णु बनाने में सहायता दी है। यह सहिष्णुता उपन्यासकार के लिये मानों वरदान सिद्ध हुई है, क्योंकि इसने उपन्यासकार को बंधी-बंधायी परिपाटी और परंपरागत जीवन-आदर्शों एवं कसौटियों के अनुरूप मानव-जीवन की व्याख्या अथवा मूल्यांकन करने को विवश नहीं किया। समाज के नैतिक चिन्तन में उत्पन्न होने वाली सहिष्णुता ने उसे खुली छूट दे दी कि वह जिस नये ढंग से चाहे और जिन नयी कसौटियों के अनुसार चाहे, मानव-जीवन की व्याख्या करे। इसका कुल मिलाकर परिणाम यह हुआ है कि पुरातन के मोह से विरक्त, धार्मिकता के प्रति उदासीन, और सामाजिक वन्धनों व रूढ़ियों के प्रति उच्छृंखल होकर भी उपन्यासकार को मानव-जीवन की व्याख्या एवं मूल्यांकन करने की छूट मिल गयी।

हिन्दी उपन्यास के विकास में इस छूट का वहुत महत्व है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि उपन्यास के विकास में यह छूट वरदान सिद्ध हुई है। जब तक परम्परा-पालन का वन्धन रहा, तब तक उपन्यास-साहित्य नीति-प्रधान अथवा मनोरंजन-प्रधान रचनाओं के घेरे से बाहर नहीं निकल सका। वहुत कोशिश की तो इसने वंगला और अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद और अनुकरण की सहायता से अपना भण्डार अवश्य भरा। किन्तु यह समृद्धि उधार ली हुई थी। उपन्यास-साहित्य का स्वतन्त्र विकास तो, वस्तुतः, तभी शुरू हुआ जब समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले क्रमिक परिवर्तन ने उपन्यासकार को छूट दे दी कि वह चाहे तो परम्परा के वन्धन काटकर मानव-जीवन की अपने ढंग से व्याख्या करे। कहना न होगा कि हिन्दी के उपन्यासकार ने इस छूट का पूरा-पूरा लाभ उठाया और अनुवाद-अनुकरण अथवा परम्परा-परिपाटी की बैसाखियां परे फेंक कर वह अपने पांव चलने लगा। संक्षेप में कहा जाये तो इस छूट ने उपन्यासकार को स्वतन्त्र व्याख्या करने का अवसर देकर हिन्दी उपन्यास साहित्य के स्वतन्त्र विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

नैतिक परिवर्तन के तथा उपन्यास के विकास में साम्य—समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन से हिन्दी उपन्यास के स्वतन्त्र विकास को जो अवसर मिला है, उसे देखते हुये इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि समाज के नैतिक परिवर्तन और उपन्यास के विकास में परस्पर कोई-न-कोई संवंध भले ही तुरंत दिखायी न दे, किंतु जब दोनों की सामान्य रूपरेखा पर विचार किया जाता है तो पता चलता है कि नैतिक परिवर्तन और उपन्यास का विकास दोनों कन्धे-से-कन्धा मिलाकर आगे बढ़े हैं, इनमें चोली-दामन का साथ है। दोनों में इतनी अधिक घनिष्ठता है कि समाज की नैतिक व्यवस्था के परिवर्तन की जो प्रवृत्तियां हमें दिखायी देती हैं, लगभग वही प्रवृत्तियां उपन्यास के विकास में भी नजर आती हैं। इतना ही नहीं, जो क्रम हमें समाज के नैतिक परिवर्तन में दिखायी देता है, लगभग वही क्रम हमें उपन्यास के विकास में भी दृष्टिगोचर होता है। समाज के नैतिक

परिवर्तन और उपन्यास के विकास के बीच विद्यमान यह दोहरा साम्य जहाँ एक ओर दोनों की घनिष्ठता का सूचक है, वहां इससे हिन्दी उपन्यास के विकास की प्रवृत्तियों और इसके विकास के क्रम को भी आसानी से समझा जा सकता है। यहां पर पहले हिन्दी उन्पयास के विकास की प्रवृत्तियों पर विचार करना अधिक अच्छा रहेगा।

हिन्दी उपन्यास के विकास की प्रवृत्तियां—समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन पर विचार करते समय हमने देखा है कि इस परिवर्तन की प्रगतिवादी, बुद्धिवादी और व्यक्तिवादी—ये तीन प्रवृत्तियां हैं। इस परिवर्तन ने हिन्दी उपन्यास के विकास को प्रभावित करते हुये तीन प्रमुख प्रवृत्तियों की दागबेल डाल दी है; वे इसकी उपर्युक्त तीन प्रवृत्तियों से मिलती-जुलती हैं। उपन्यास मूलतः मानव-जीवन की व्याख्या है, इसलिए नैतिक परिवर्तन का अनुसरण करते हुये प्रगतिवादी, बुद्धिवादी और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करने के प्रयास में हिन्दी उपन्यास के विकास की भी यही तीन प्रवृत्तियां मुखर हो उठी हैं। इस विकास का प्रारम्भ प्रेमचन्द से होता है, इसलिये प्रेमचन्द और प्रेमचन्दोत्तर प्रख्यात उपन्यासकारों पर एक विहंगम दृष्टि डालना नितान्त आवश्यक है।

प्रगतिवादी प्रवृत्ति—प्रेमचन्द से पहले का उपन्यास-साहित्य नीति-प्रधान अथवा मनोरजनप्रधान रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है। इसका एक कारण तो यह है कि इस काल के उपन्यासकार, पुरातन के मोह से चिपटे हुये थे और उन्होंने नये दृष्टिकोण से मानव-जीवन की व्याख्या करने की जरूरत नहीं समझी। किन्तु ज्यों ही उपन्यासकार ने नीति-शिक्षा और मनोरंजन के लक्ष्यों को एक ओर रखकर उपन्यास-रचना द्वारा मानव-जीवन को प्रगतिवादी, बुद्धिवादी अथवा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से व्याख्या करने का प्रयास किया, त्यों ही उपन्यास के ढांचे में क्रांतिकारी परिवर्तन आना शुरू हो गया। इसके विकास का नया पथ प्रशस्त करने वालों में प्रेमचन्द अग्रणी हैं और उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा प्रगतिवादी दृष्टिकोण से मानव-जीवन की व्याख्या करने का यत्न किया है।

कहने को तो प्रेमचन्द ने मानव-जीवन की प्रगतिवादी व्याख्या की प्रवृत्ति दिखायी, किन्तु वस्तुतः उन्होने हिन्दी के सामाजिक उपन्यासों की नींव डाल दी। उन्होंने अपने सामाजिक उपन्यासों में तत्कालीन समाज में व्याप्त धार्मिक पाखण्ड सामाजिक अत्याचार, फरेब और मक्कारी का भंडाफोड़ करते हुए कहा कि ये सब बातें समाज की गिरावट के चिन्ह हैं, इसकी उन्नति के नहीं। इसलिये, यदि समाज को उन्नत बनाना है तो समाज-जीवन में व्याप्त गन्दगी और अत्याचार को दूर करना होगा, अर्थात्, समाज का सुधार करना होगा। प्रेमचन्द ने समाज में व्याप्त नैतिकता और अनाचार पर कसकर प्रहार किया और समाज को सुधारने की आवाज

को पुरातन रूढ़ियों के मोहपाश से मुक्त करने के लिए सुधारवादी सामाजिक उपन्यासों की परम्परा को पुष्ट किया।

बुद्धिवादी प्रवृत्ति—प्रेमचन्द और प्रसाद ने जहां एक ओर प्रगतिवादी दृष्टिकोण से मानव-जीवन की व्याख्या करते हुये, सामाजिक उपन्यासों की परम्परा चलायी, वहां दूसरी ओर बुद्धिवाद का सहारा लेकर मानव-जीवन की नयी व्याख्या का प्रयास किया गया और मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात हुआ। यहां उल्लेखनीय है कि प्रगतिवादी उपन्यासों में बुद्धिवादी दृष्टिकोण का यद्यपि अभाव नहीं था, तो भी इनमें बुद्धिवाद पर उतना अधिक बल दिखायी नहीं देता जितना कि मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में दिखायी देता है। जैनेन्द्र कुमार और इलाचंद्र जोशी जैसे मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने दर्शन और मनोविज्ञान की सहायता से मानव के बाहरी जीवन के प्रसार के बजाय उसके अन्तर्गत की उलझन, कुण्ठा और द्वन्द्व की व्याख्या करने का यत्न किया। उन्होंने व्यक्ति के माध्यम से समाज-जीवन की समस्याओं की जड़ तक पहुंचना चाहा। उनमें सुधारक के जोश के स्थान पर दार्शनिक का गहन चिन्तन एवं मनोवैज्ञानिक शोधवृत्ति अधिक थी, इसलिए उन्होंने चिन्तन-प्रधान मनोवैज्ञानिक उपन्यासों द्वारा मानव-जीवन की व्याख्या का जो प्रयास किया उसके कारण हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में अधिक प्रौढ़ता आयी और इसका रूप अधिक निखरा।

व्यक्तिवादी प्रवृत्ति—हिन्दी उपन्यास की उपर्युक्त दो प्रवृत्तियों के उपरांत, हमें इसकी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। मानव को समाज से अलग करके जब उपन्यासकार ने मानव की महत्ता की दृष्टि से उसके जीवन की व्याख्या का यत्न किया तब व्यक्ति-चरित्र प्रधान मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की रचना का सूत्रपात हुआ। व्यक्तिवादी चिन्तन व्यक्ति के स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष अस्तित्व को आधार मान कर चला है, इसलिये व्यक्तिवादी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार ने समाज के समस्त नियम-बन्धनों और विधि-निषेधों के प्रति व्यक्ति के विद्रोह की आवाज उठायी। उदाहरण के लिये 'अज्ञेय' के व्यक्ति-चरित्र मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में समाज के प्रति व्यक्ति के विद्रोह का स्वर गूंजता है। व्यक्ति की स्वतन्त्र एवं अबाध सत्ता के वे समर्थक हैं, इसलिये उन्होंने समाज की नैतिक व्यवस्था का मूल्यांकन व्यक्ति के हित की दृष्टि से ही किया है। व्यक्ति के स्वच्छन्द एवं विद्रोही आचरण को उन्होंने नैतिक-अनैतिक दृष्टि से देखने के बजाय व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से देखा है।

पुरातनवादी और भौतिकतावादी प्रवृत्तियां—हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास की प्रगतिवादी, बुद्धिवादी एवं व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इसकी दो और प्रवृत्तियां उल्लेखनीय हैं। पहली प्रवृत्ति पुरातन के मोह की और दूसरी भौतिकवाद के आकर्षण की है। पुरातन के मोह ने उपन्यासकार को भारत के अतीत की झांकी

प्रस्तुत करने और पुरातन जीवनादर्शों एवं मान्यताओं के आलोक में आधुनिक जीवन का मूल्यांकन करने की प्रेरणा दी है। जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा और यशपाल के ऐतिहासिक उपन्यासों में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखायी देती है। इन उपन्यासकारों ने नैतिकता की व्याख्या के लिये अतीत का सहारा लिया है। विपरीत इसके भौतिकवादी प्रवृत्ति के उपन्यासकारों ने सामाजिक एवं भौतिक विषमता को ध्यान में रखकर मानव-जीवन की आर्थिक दृष्टिकोण से व्याख्या करने का यत्न किया है और उसकी नैतिकता एवं समाज-व्यवस्था को भौतिकवाद की कसौटी पर परखने का यत्न किया है। भौतिकवादी प्रवृत्ति के उदाहरण के रूप में यशपाल के राजनैतिक-उपन्यास उल्लेखनीय हैं। इनमें उन्होंने मार्क्सवाद के भौतिकवादी चिन्तन को आधार बनाकर मानव-जीवन के आदर्श और लक्ष्य का मूल्यांकन करने तथा उसके आचरण की नैतिकता-अनैतिकता निर्धारित करने का यत्न किया है।

हिन्दी उपन्यास के विकास का क्रम—समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन की प्रवृत्तियों तथा हिन्दी उपन्यास के विकास की सामान्य प्रवृत्तियों में व्याप्त मूलभूत साम्य के अध्ययन के उपरान्त, यदि हम नैतिक परिवर्तन के क्रम और उपन्यास के विकास के क्रम पर विचार करें तो पता चलेगा कि इन दोनों में भी बहुत साम्य है। समाज के नैतिक परिवर्तन का क्रम चेतना, चिन्तन और स्वच्छन्दता का रहा है। समाज द्वारा प्रगतिवादी दृष्टिकोण अपनाने के परिणाम-स्वरूप नैतिक चेतना का उदय होना स्वाभाविक था। तदुपरान्त, बुद्धिवादी दृष्टि-कोण की सहायता से समाज ने परम्परागत नैतिक आदर्शों और मर्यादाओं के औचित्य-अनौचित्य का गहन चिन्तन आरम्भ किया। इस चिन्तन की अनिवार्य परि-णति व्यक्ति को परम्परागत नैतिक बन्धनों से मुक्त करने और उसे स्वच्छन्द आचरण की छूट देने में हुई है।

उद्बोधन, विश्लेषण, विद्रोह—समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परि-वर्तन के उपर्युक्त क्रम—अर्थात्, चेतना, चिन्तन और स्वच्छन्दता, को ध्यान में रख कर जब हमें नैतिक दृष्टिकोण से हिन्दी उपन्यास के विकास-क्रम का अध्ययन करना है। इस अध्ययन के लिए यदि हम उपन्यास के मूलस्वर को पथप्रदर्शक मानकर चलें तो यह अध्ययन सरल हो जायेगा। इस दृष्टि से प्रेमचन्द के उपन्यासों के बारे में विचार करने पर पता चलगा कि उन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा समाज की नैतिक चेतना के उद्बोधन का यत्न किया था। उन्होंने समाज के पीड़ित और उपेक्षित वर्गों के प्रति समाज की करुणा और नैतिक चेतना को जगाया और समाज की रूढ़ियों एवं कुरीतियों का पर्दाफाश करते हुए इन्हें दूर करने के लिए समाज को तैयार किया। प्रेमचन्द के उपन्यासों का मूलस्वर नैतिक उद्बोधन का है और यही स्वर जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में भी गूंजता है। प्रेमचन्द की भांति, प्रसाद

ने भी समाज के काले और उजले, दोनों पक्षों का उद्घाटन करते हुए समाज के अन्दर नैतिक चेतना उत्पन्न करने का यत्न किया।

प्रेमचन्द और प्रसाद के सामाजिक उपन्यासों के उपरान्त, जब हम जैनेन्द्र-कुमार और इलाचन्द्र जोशी के मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के मूल स्वर पर विचार करते हैं तो हमें महत्वपूर्ण अन्तर दिखायी देता है। इन उपन्यासकारों ने समाज के परम्परागत आदर्श ज्यों के त्यों स्वीकार करने के बजाय, इनका गहन विश्लेषण किया है, इसलिये नैतिक उद्बोधन के बजाय इनकी रचनाओं में नैतिक विश्लेषण का स्वर प्रधान हो उठा है। समाज के सतही जीवन के चित्रण के बजाय मानव के अन्तर्जीवन की व्याख्या का ही यह परिणाम है कि इन उपन्यासकारों ने समाज के मूलभूत नैतिक आदर्शों की सत्यता परखने और व्यक्ति की मानसिक कुण्ठा और जटिलता के माध्यम से सामाजिक विकृतियों की जांच-पड़ताल करने का प्रयास किया है। इस जांच-पड़ताल के कारण इनकी रचनाओं में नैतिक विश्लेषण का स्वर प्रधान हो उठा है।

किन्तु जब हम 'अज्ञेय' अथवा यशपाल की रचनाओं पर विचार करते हैं तो पता चलता है कि नैतिक उद्बोधन अथवा नैतिक विश्लेषण के झंझट में पड़ने के बजाय, इन उपन्यासकारों ने समाज की परम्परागत नैतिक व्यवस्था एवं मर्यादा को अस्वीकार कर, इसके प्रति विद्रोह की घोषणा कर दी है। 'अज्ञेय' ने व्यक्ति की निरपेक्ष सत्ता और स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना में समाज के नैतिक विधि-निषेधों को बाधक माना है तो यशपाल ने इसे पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का प्रतीक मानकर इस व्यवस्था को न्यस्त स्वार्थों की रक्षा का साधन माना है। दोनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से परम्परागत नैतिक मर्यादाओं एवं आदर्शों के प्रति विद्रोह किया है, इसलिए इनकी रचनाओं में नैतिक विद्रोह का स्वर प्रधान हो उठा है।

समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले उपर्युक्त परिवर्तन की प्रवृत्तियों अथवा परिवर्तन के क्रम के आलोक में यदि हम हिन्दी उपन्यास के विकास की प्रवृत्तियों अथवा विकास के क्रम का अध्ययन करें तो यह बात तुरन्त ध्यान में आ जायेगी कि प्रत्येक उपन्यासकार ने नैतिक प्रश्नों और नैतिक समस्याओं के प्रति बहुत रुचि दिखायी है। प्रेमचन्द और प्रसाद के नैतिक उद्बोधन, जैनेन्द्र और जोशी के नैतिक विश्लेषण तथा 'अज्ञेय' और यशपाल के नैतिक विद्रोह में नैतिक चिन्तन का इतना अधिक प्राधान्य है कि प्रत्येक उपन्यासकार की रचना में नैतिकता को शीर्ष-स्थान प्राप्त हो गया है। नैतिकता के प्राधान्य ने ही, वस्तुतः, हिन्दी उपन्यास के विकास की प्रमुख प्रवृत्तियों की दागबेल डाली है और इसके भावी विकास के शतशः मार्ग प्रशस्त किये हैं। उपन्यास साहित्य की इन प्रमुख प्रवृत्तियों तथा इसके उत्तरोत्तर विकास के क्रम को देखते हुए यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि भविष्य में ऐसा कोई लक्ष्य नहीं जो कि पकड़ में न आ सके, ऐसी कोई सिद्धि नहीं

जो कि साकार न हो सके, और ऐसी कोई ऊँचाई नहीं जहां तक हिन्दी का उपन्यास-साहित्य पहुंच न सके।

उपसंहार

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास का अध्ययन करते समय हमने अब तक मुख्यतः दो दृष्टिकोण अपनाये हैं। इनमें से पहला है—व्यक्तिपरक दृष्टिकोण, जिसके अनुसार हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासकारों के नैतिक चिन्तन के आलोक में हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण का अध्ययन किया गया है।[1] यह अध्ययन वस्तुतः, प्रस्तुत प्रबन्ध की इस प्रस्थापना को ध्यान में रख कर किया गया है कि उपन्यासकार का नैतिक चिन्तन, उसके नैतिक आदर्श एवं विश्वास, उसकी रचना के अंग-प्रत्यंग को प्रभावित करते हुए इसका स्वरूप निर्धारित करते हैं। उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण के साथ-साथ इसके स्वरूप-विकास की जानकारी प्राप्त करने के लिए इन प्रतिनिधि उपन्यासकारों का भी इस क्रम से अध्ययन किया गया है कि हिन्दी उपन्यास के क्रमिक विकास की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत की जा सके। इस व्यक्तिपरक दृष्टिकोण में उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन को जो प्रमुखता दी गयी है, वह अकारण नहीं है, क्योंकि मानव-जीवन की व्याख्या एवं मूल्यांकन के प्रयास में उपन्यासकार ने नैतिक प्रश्नों और नैतिक समस्याओं के प्रति बहुत रुचि दिखायी है। इस रुचि के कारण उपन्यासकार ने कहीं उपदेशक, कहीं सुधारक, कहीं दार्शनिक, कहीं विद्रोही और कहीं प्रचारक बनकर अपने-अपने ढंग से नैतिक आदर्शों की व्याख्या, विश्लेषण अथवा प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन से उसकी रचना के विविध तत्त्व इस हद तक प्रभावित हुए हैं कि प्रत्येक उपन्यासकार की रचना के स्वरूप-निर्धारण पर उसके चिन्तन की स्पष्ट छाप लगी हुई है।

हिन्दी उपन्यास के स्वरूप-निर्धारण एवं स्वरूप-विकास सम्बन्धी व्यक्तिपरक अध्ययन के उपरान्त जब हम इसके विकास का वस्तुपरक दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं तो इसका भी यही निष्कर्ष निकलता है कि, उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन के समान, समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन ने भी हिन्दी उपन्यास के विकास को बहुत प्रभावित किया है; यहां तक कि समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाली प्रवृत्तियों के अनुरूप ही उपन्यास के विकास की प्रवृत्तियां निर्धारित हुई हैं। इस प्रकार, दोनों दृष्टिकोणों से किया गया यह अध्ययन अन्त में एक ही बात की ओर संकेत करता है कि हिन्दी उपन्यास के विकास और नैतिकता का सदैव चोली-दामन का साथ रहा है। मानव-जीवन की व्याख्या के प्रयास के कारण उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन ने तथा समाज की नैतिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तन ने, उपन्यास के अंग-प्रत्यंग को प्रभावित कर इसका स्वरूप निखारा है।

---

१. तृतीय परिच्छेद।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य के विकास में उपन्यासकार के नैतिक चिन्तन और समाज के नैतिक-परिवर्तन ने जो द्विविध योग दिया है, उसे यों भी कह सकते हैं कि जहां नैतिक परिवर्तन ने समाज में हल चला कर मानों योग्य भूमि तैयार की, वहां उपन्यासकार ने इसमें अपनी कल्पना के बीज बोये। उपन्यासकार ने ज्येष्ठ-आषाढ़ की गरमी, सावन-भादों की बरसात और माघ-पूस की सर्दी की चिन्ता न कर अपने अथक परिश्रम, अपनी प्रखर निष्ठा, और अपनी तीव्र लगन से हिन्दी उपन्यास के छोटे-से पौधे को सींचकर बड़ा किया। इस छोटे से पौधे ने भूमि से जीवन-रस प्राप्त किया है और माली की चौकसी और देखरेख में यह फला-फूला है। अतएव, इस पर पृथ्वी के स्वभाव और माली के संस्कार, दोनों की अमिट छाप पड़ी हुई है। इन दोनों की देन को आत्मसात् करते हुए हिन्दी उपन्यास-साहित्य का यह पौधा जहां एक ओर मस्तक उठा कर आकाश छूने का यत्न कर रहा है, वहां दूसरी ओर अपनी जड़ें नीचे फैलाते हुए पृथ्वी के गर्भ से जीवन-रस खींचने की ओर अग्रसर है। इसके विकास की सम्भावनायें अनन्त हैं—जितना चाहे मस्तक ऊँचा उठाये, जितना चाहे पाताल भेद कर जीवन-रस प्राप्त करे।

सहायक ग्रन्थ-सूची

हिन्दी

अमिता	यशपाल
आधुनिक कथा-साहित्य	गंगाप्रसाद पाण्डेय
आधुनिक साहित्य	नन्ददुलारे बाजपेयी
इरावती	जयशंकर प्रसाद
कायाकल्प	प्रेचचन्द
काव्य-कला तथा अन्य निबन्ध	जयशंकर प्रसाद
कुछ विचार	प्रेमचन्द
कर्मभूमि	,,
कंकाल	जयशंकर प्रसाद
कचनार	वृन्दावनलाल वर्मा
कलाकार प्रेमचन्द	डा० रामरत्न भटनागर
कल्याणी	जैनेन्द्र कुमार
गोदान	प्रेमचन्द
गढ़-कुण्डार	वृन्दावनलाल वर्मा
गबन	प्रेमचन्द
जिप्सी	इलाचन्द्र जोशी
जयवर्द्धन	जैनेन्द्र कुमार
जहाज का पंछी	इलाचन्द्र जोशी
झांसी की रानी	वृन्दावनलाल वर्मा
तितली	जयशंकर प्रसाद
त्यागपत्र	जैनेन्द्र कुमार
त्रिशंकु	'अज्ञेय'
दादा कामरेड	यशपाल
दिव्या	,,
देशद्रोही	,,
निर्मला	प्रेमचन्द

नूतन ब्रह्मचारी	बालकृष्ण भट्ट
नदी के द्वीप	'अज्ञेय'
पार्टी कामरेड	यशपाल
परख	जैनेन्द्र कुमार
परीक्षा-गुरू	ला० श्रीनिवास दास
प्रेत और छाया	इलाचन्द्र जोशी
प्रेमाश्रम	प्रेमचन्द
प्रेमचन्द और उनका युग	डा० रामविलास शर्मा
प्रतिज्ञा	प्रेमचन्द
पर्दे की रानी	इलाचन्द्र जोशी
मुक्तिपथ	,,
मनुष्य के रूप	यशपाल
रंगभूमि	प्रेमचन्द
लज्जा	इलाचन्द्र जोशी
विचार और विवेचन	डा० नगेन्द्र
विराटा की पद्मिनी	वृन्दावनलाल वर्मा
विवर्त	जैनेन्द्र कुमार
व्यतीत	,,
शेखर : एक जीवनी	'अज्ञेय'
साहित्य का श्रेय और प्रेय	जैनेन्द्र कुमार
साहित्य-चिन्ता	डा० देवराज
साहित्य-चिंतन	इलाचन्द्र जोशी
साहित्य-जिज्ञासा	डा० ललिता प्रसाद सुकुल
सुखदा	जैनेन्द्र कुमार
सुनीता	,,
सेवासदन	प्रेमचन्द
सौ अजान एक सुजान	बालकृष्ण भट्ट
सन्यासी	इलाचद्र जोशी
हिंदी साहित्य का इतिहास	रामचद्र शुक्ल

संस्कृत

महाभारत	....

पत्रिका

साप्ताहिक हिंदुस्तान, नयी दिल्ली

ENGLISH

A Preface to Literature—Edward Wagenknecht.
American Literary Criticism—Charles I. Glicksberg.
An Introduction to the Study of Literature—Willian Henry Hudson.
A Note on Literary Criticism—James T. Farrel.
Background of American Literary Thought—Rod. W. Horton and Herbert W. Edward.
Foundation of Ethics—Sir W. David Ross.
History, It Purpose and Method—G. J. Reneer.
Humanism as a Philosophy—Corliss Lamount.
Human Value—Henry Stuart.
Literature and Life—Maxim Gorky.
Literary Criticism in America—Albert D. Van. Norstand.
Literary Essays of Ezra Pound—T. S. Eliot.
Literary Opinion in America—Morton Dauwen.
Moral Progress—Morris Ginsberg.
New Literary Values - David Daiches.
'Personality in Literature'—R. A. Scott James.
Practical Ethics—Mary Stuart and Margaret Hobling.
Realms of Value—Ralph Barton Perry.
Society—An Introductory Analysis—R. M. Maciver and Charles H. Page.
Society and Self in the Novel—Mark Schorer.
Studies in Literature and Belief—Martin Jarett-Kerr.
The Arts in Renewal—The Benjamin Franklin Lectures.
The Meaning of Truth in History—Rt. Hon. Viscount Haldane.
The Novel and the People—Ralph Fox.
The Novel and the World's Dilemma—Edwin Berry Burgem.
The Philosophy of Fiction—Grant Overton.
'The Twentieth Century Novel - Joseph Warren Beach.
The Writer's Art—G. Henry Warren.